कृष्णदास संस्कृत सीरीज-९७

भर्तृहरेः

वाक्यपदीयम्

ब्रह्मकाण्डम्

शब्द-सृष्टेरावर्तः

शब्द-तत्वम्

विवर्तः

विवर्तः

सवाक् (मनुष्याः)

अवाक् (पदार्थाः)

दर्शनानुभवौ

अवधारणम्

ज्ञानम्-

वामदेव आचार्यः

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

१७

****

पद-वाक्य-प्रमाणज्ञस्य

श्रीभर्तृहरेः

वाक्यपदीयम्

[ब्रह्मकाण्डम्]

श्रीवामदेवाचार्यस्य

संस्कृत-हिन्दी-

'प्रतिभया' व्याख्यया

समन्वितम्

सम्पादकः

आचार्य पं० सत्यनारायणशास्त्री खण्डूड़ी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : पुनर्मुद्रित 100/-

ISBN : 81-218-0042-0

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८,
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन,
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

97

VĀKYAPADĪYAM

[BRAHMAKĀṆḌAM]

of

BHARTRIHARI

The great scholar of Pada, Vakya and Pramana

With

'PRATIBHA'

Sanskrit-Hindi Commentary

By

Shri Vamdev Acharya

Edited by

Acharya Pt. Satyanarayan Shastri Khanduri

KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.
Edition : 3rd Edition, 2000
Price : Rs. [illegible].00

ISBN : 81-218-0042-0

Oriental Publishers & Distributors,
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

समर्पणम्.........

श्रीमत्सु तातपादेषु

येषां

सत्प्रेरणया

भूतसङ्घातेऽपि मे वपुषि

प्रतिभोन्मेषः।

श्रीपण्डितबिहारीलालशर्माणः, '*कविचक्रवर्तिनः*'

'प्रतिभा' कर्तुस्तातपादाः।

विदुषां मत्युन्माथादृते न मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
सफलं, नवनीतार्थीत्पादनापरं च तच्चेत्स्यात्॥

— वामदेव आचार्यः

श्रीः

सम्पादकीय

"वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे"

श्रुतिप्रमाणित वाक्‌रूपी शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है और यही शब्दब्रह्म वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इसे लक्ष्य कर ही वाक्यपदीयकार आचार्य भर्तृहरि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण के माध्यम से मङ्गलस्वरूप शब्दब्रह्म का स्मरण किया है।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

जो शब्दतत्त्व उत्पत्ति और विनाश से रहित है, जो विकारहीन और व्यापक है तथा जिससे सम्पूर्ण संसार का समस्त क्रिया-कलाप सञ्चालित होता है, वही शब्दतत्त्वात्मक अक्षर ब्रह्म अर्थरूप में विवर्तित होता है।

स्वयं भर्तृहरि ने इसी मङ्गलाचरण की वृत्ति में स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

वाक्यपदीय व्याकरण-निकाय में आकरग्रन्थों में प्रतिष्ठित है, यह निर्विवाद सिद्ध है। जैसा कि वाक्यपदीय-ग्रन्थनाम से स्वयं व्यक्त होता है। 'वाक्य-पद-प्रतिपादक' ग्रन्थ अथवा 'वाक्य (व्याकरणशास्त्र) प्रतिपादक' ग्रन्थ। विचारकों की यहाँ तक धारणा है कि वाक्यपदीय की प्रत्येक कारिका 'महाभाष्य के किसी-न-किसी अंश को उद्देश्य कर लिखी गयी है। जो भी हो, यह सर्वमान्य है कि वाक्यपदीय व्याकरणशास्त्रीय व्यावहारिक (भाषावैज्ञानिक) तथा दार्शनिक (शब्दब्रह्म) उभयविध सिद्धान्तों का प्रतिपादक प्रामाणिक ग्रन्थ है और इसमें भी यह प्रथम ब्रह्मकाण्ड ही प्रधान रूप से व्याकरणशास्त्र को दार्शनिक महत्त्व प्रदान करता है। दार्शनिक-मूलतत्त्व-प्रदाता एकमात्र वेद है और तत्त्वज्ञाताओं द्वारा वेद का यह प्रधान अङ्ग माना गया है।

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥
अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यंश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम्॥

इतना ही नहीं, आचार्यप्रवर भर्तृहरि ने मोक्ष का द्वारस्वरूप व्याकरण शास्त्र को सिद्ध किया है।

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥

मात्र मोक्षद्वार ही नहीं, अपितु यह सरल सोपान-मार्गस्वरूप भी है। इस माध्यम से सरलतापूर्वक श्रुतिप्रतिपादित दार्शनिक तत्त्व को अनायास प्राप्त किया जा सकता है। इससे मोक्ष सुलभ है—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥

एतावता व्याकरणशास्त्र का मर्ममाहात्म्य दिखाया गया है—

प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते ॥
वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम्।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं समुपासते ॥
अथर्वणामङ्गिरसां साम्नाम् ऋग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णा पृथक्स्थितिपरिग्रहाः ॥
यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते।
तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥

इस प्रकार व्याकरणशास्त्र का माहात्म्य प्रदर्शित कर, भर्तृहरि ने "नित्या शब्दार्थसम्बन्धाः"—'शब्द, अर्थ और इनका सम्बन्ध' तीनों की नित्यता युक्तियुक्तपूर्वक शास्त्रसम्मत प्रतिपादित करते हुए सिद्धान्त रूप में स्वीकार की, तथा इसी का व्यावहारिक एवं दार्शनिक पक्ष वाक्यपदीय का प्रतिपाद्य विषय बनाया, जो मर्मज्ञ-मनीषियों द्वारा सर्वमान्य प्रमाणित हुआ और वाक्यपदीय आकरग्रन्थों में प्रतिष्ठित हुआ।

प्रस्तुत संस्करण की विशेषता

वाक्यपदीय एवं ब्रह्मकाण्ड का यह प्रतिपाद्य शास्त्रीय विवेचन भूमिका-भाग तथा ग्रन्थ के प्रतिभा-भाग में पाठकों को स्वयमेव सविस्तृत प्राप्त होगा। यहाँ अनावश्यक बिस्तार को छोड़कर सूत्ररूप से दिग्दर्शन मात्र कराकर सम्प्रति प्रस्तुत संस्करण की आवश्यक विशेषताओं का उल्लेख उचित प्रतीत होता है, जिससे विज्ञ पाठकों को इसके अध्ययन-अध्यापन के प्रति रुचि एवं प्रवृत्ति जागृत हो।

वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड का यह संस्करण आज तक छपे संस्करणों से सर्वथा

भिन्न है। वाक्यपदीय पर आज तक जितनी भी टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं, वे सब एक बँधी-बँधायी परिपाटी पर चलती हैं। इसलिए उनमें नया कुछ नहीं मिलता। 'प्रतिभा' के विद्वान् लेखक ने इस बँधी-बँधाई लीक से हटकर वाक्यपदीय को समझने की एक नई दिशा दिखाई है। मूल-कारिकाओं और स्वोपज्ञ-वृत्ति का गहन अध्ययन करके इसमें वाक्यपदीय के मर्म को नये ढंग से उद्घाटित किया है। नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से की गई इस टीका में एक ओर जहाँ भर्तृहरि के मूल-आशय को सुरक्षित रखते हुए उसके रहस्यों का विशद रूप में उद्घाटन किया गया है, वहीं नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्धियों और अवधारणाओं के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाया गया है। इससे वाक्यपदीय का भाषाशास्त्रीय स्वरूप अत्यधिक उजागर होकर सामने आया है।

वाक्यपदीय एक दार्शनिक ग्रन्थ है। विशेषतः ब्रह्मकाण्ड में व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप का चित्रण और निर्धारण मिलता है। इसलिए इसको समझने में एक दार्शनिक दृष्टिकोण और भारतीय दर्शनों के विशद अध्ययन की आवश्यकता होती है। विद्वान् लेखक ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा अपनी तर्कपूर्ण गवेषणा-शैली से इसे सर्वसुलभ बना दिया है।

साथ-ही, वास्तविकता तो यह है कि सम्प्रति संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के साहित्यसृजन के प्रति संस्कृत-समाज की अभिरुचि ही दृष्टिगोचर नहीं होती। अथवा यह कहा जाय कि पुरातन परम्परा को छोड़कर नवीन अन्वेषणात्मक दृष्टि से कार्य करने की क्षमता आधुनिक संस्कृत-अध्येताओं में है ही नहीं; तो अनुपयुक्त न होगा। जो स्थिति वर्तमान में संस्कृत-अध्ययन-अध्यापन की प्रचलित है, वह महान् कष्टकर तथा लज्जास्पद है। कहने को भले-ही संस्कृत का प्रचार, प्रसार, विकास अधिक कह लिया जाय, उपाधिधारियों की बहुलता भी सत्य है, किन्तु वस्तुस्थिति क्या है? यह तो मर्मज्ञ ही समझते हैं, जो अतीव दुःख का प्रसङ्ग है। भविष्य क्या होगा? प्रश्नचिह्न सामने है······??? । ऐसे विकराल काल में यदि इस प्रकार का गवेषणात्मक रचना-कार्य किसी मर्मज्ञ विद्वान् रचनाकार द्वारा सम्पन्न किया जाता है; तो निःसन्देह वह रचना एवं रचनाकार स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है तथा मर्मज्ञों, संस्कृत-संस्थानों एवं शासन द्वारा पुरस्कृत होने योग्य है। जिससे संस्कृत-अध्येताओं में इस प्रकार के अन्वेषणात्मक कार्य के प्रति जागरूकता हो; अभिरुचि बढ़े। संस्कृत-साहित्य का, संस्कृत-समाज का उत्थान हो सके। भविष्य का प्रश्नचिह्न मिट सके और जिस संस्कृत तथा संस्कृति के आधार पर भारत विश्व का शिरमौर है, वह आज के विज्ञानयुग में भी वैज्ञानिक

अन्वेषण के माध्यम से अपना शिरमौर सुरक्षित रख सके। विद्वान् प्रतिभाकार की प्रतिभा द्वारा विवेचित अणु, परिमाणु, ऊर्जा आदि सिद्धान्तों का सटीक विश्लेषण इस व्याकरणग्रन्थ वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड की प्रतिभा में देखिये। भाषा-विज्ञान के स्फोट आदि केन्द्र-बिन्दुओं का मार्मिक शास्त्रीय विवेचन का भी अध्ययन करिये। यह है आधुनिक मर्मज्ञ विद्वान् की 'प्रतिभा'।

वस्तुतः यह 'प्रतिभा' स्वतन्त्र में एक गवेषणात्मक प्रबन्ध है और वह भी संस्कृत-हिन्दी दोनों पृथक्-पृथक् अपने-आप-में स्वतन्त्र। अर्थात् सम्पूर्ण संस्कृत-प्रतिभा को यदि क्रमबद्ध कर दिया जाय तो वह एक स्वतन्त्र संस्कृत-प्रबन्ध, तथा हिन्दी-प्रतिभा को भी यदि क्रमबद्ध कर दिया जाय तो वह भी एक स्वतन्त्र हिन्दी-प्रबन्ध-रूप में सामने आयेगा, जो वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड के गूढ़-रहस्यों को उद्घाटित करने वाला एक प्रामाणिक गवेषणात्मक स्वतन्त्र प्रबन्ध-ग्रन्थ के रूप में सिद्ध होगा, जिसमें मूल ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार के मौलिक उद्देश्यों को सुरक्षित रखते हुए नवीन अवधारणाओं एवं मान्यताओं को युक्तियुक्त-शास्त्रीय-प्रमाणों के आधार पर स्थान दिया गया है। यह लीक को छोड़कर नवीन पद्धति एवं खोज है—प्रतिभाकार की 'प्रतिभा' की।

अनेक रेखाचित्रों से सुसज्जित इस 'संस्कृत-हिन्दी प्रतिभा' से वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्ड छात्रों, अध्यापकों, अध्येताओं, गवेषकों और मर्मज्ञ विद्वानों के लिए अत्यधिक रुचिकर और हितकर बन गया है। जिन विषयों को आज तक भारी बौद्धिक परिश्रम करके भी समझ पाना कठिन था, अब चित्रों की सहायता से दृष्टिक्षेप-मात्र से समझा जा सकता है।

ग्रन्थ की विशद भूमिका में प्रतिभाकार ने व्याकरण का दार्शनिक स्वरूप समझाने के लिए व्याकरण-दर्शन के तत्त्वों—शब्दतत्त्व, वाक्, शब्द, स्फोट, चिदचित् सृष्टि, विवर्त आदि का विवेचन करके संस्करण को अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। अतः यह संस्करण परीक्षार्थियों, अध्यापकों तथा गवेषकों के लिए अनिवार्यरूप से संग्रहणीय एवं पठनीय है।

एवंविध उत्कृष्ट संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्टकोटि के प्रकाशक कृष्णदास अकादमी के सञ्चालक-गण संस्कृत-समाज द्वारा सर्वथा प्रशंसा के पात्र हैं। हम इनके अभ्युदय की शुभकामना करते हैं तथा विज्ञ-पाठकों से सानुनय अनुरोध करते हैं कि कृष्णदास अकादमी के संस्कृत-साहित्य को अपनाकर लाभान्वित होवें। इति शम्।

दीपमालिका २०४४
वाराणसी।

—सत्यनारायण खण्डूड़ी

भूमिका

वाक्यपदीय व्याकरण का अद्भुत ग्रन्थ है। पाणिनि-अष्टाध्यायी के सूत्र 'जम्बाल' में उलझा हुआ और वृत्ति, प्रक्रिया, टीका, अनुटीका के भँवर में चक्कर खाता हुआ व्याकरण का अध्येता जब वाक्यपदीय के रमणीय मणिद्वीप में पहुँचता है तो उसे एक अद्भुत आनन्द का साक्षात्कार होता है। नव्यों के 'ननु-नच'-जनित घाव सहसा भर जाते हैं। वर्षों तक झेले कष्टों से मानों उसे मुक्ति मिल जाती है। उसे अपने परिश्रम की सार्थकता मिल जाती है। अपनी सुदीर्घ वैयाकरण-यात्रा में उसे महाभाष्य के अतिरिक्त कहीं कोई ऐसा पड़ाव नहीं मिला जो उसे दो घड़ी की भी विश्रान्ति दे सके। ऐसा थका-माँदा वैयाकरण-यात्री जब इस वाक्यपदीय-मणिद्वीप में पहुँचता है तो निश्चय ही उसे अपूर्व अलौकिक शान्ति प्राप्त होती है।

वाक्यपदीय वैयाकरण-निकाय में आकरग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। महाभाष्य के बाद सर्वाधिक प्रामाण्य इसी ग्रन्थ का है। महाभाष्य के समान ही यह ग्रन्थ वैयाकरणों के लिए श्रद्धा का आस्पद है। बाद के वैयाकरणों, जैसे—कैयट, हरदत्त, जिनेन्द्रबुद्धि, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश आदि ने अपने ग्रन्थों और कथनों की प्रामणिकता के लिए बार-बार वाक्यपदीय को उद्धृत किया है। न केवल वैयाकरणों ने अपितु वैयाकरणेतर ग्रन्थकारों ने भी आकरण या निराकरण के लिए वाक्यपदीय को उद्धृत किया है। इनमें अत्यन्त प्रतिष्ठित दार्शनिक भी हैं। जैसे—शङ्कराचार्य, कुमारिलभट्ट, महेश्वर, अभिनवगुप्त, कमलशील (बौद्ध), पार्थसारथि मिश्र, वाचस्पति मिश्र, हरिस्वामी, जयन्तभट्ट और अनेक अन्य। वर्तमान युग में भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से विदेशों में भी वाक्यपदीय का अध्ययन अत्यन्त रुचि और सम्मान के साथ किया जा रहा है।

वाक्यपदीय : स्वरूप—

वाक्यपदीय मुख्यतः वाक्य-प्रातिपादक ग्रन्थ है। वाक्य का व्यावहारिक और दार्शनिक स्वरूप इसका प्रतिपाद्य विषय है और इसका प्रतिपादन करते हुए व्याकरण के समस्त सिद्धान्तों, प्रमेयों का विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। साथ ही आनुषङ्गिक रूप से भारतीय दर्शन की सभी धाराओं का आकलन भी इसमें स्वभावतः हो गया है। महाभाष्य में जिन न्यायबीजों के दर्शन सूत्रों और वार्तिकों के व्याख्यानों में यत्र-तत्र बिखरे रूप में होते है, वे वाक्यपदीय में एक व्यवस्थित क्रमबद्धता के साथ दिखाई देते हैं। काशिका ने इसे 'शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणम्" कहा है।

लगभग दो सहस्र कारिकाओं में फैले हुए इस ग्रन्थ में तीन काण्ड हैं। पहला काण्ड "ब्रह्मकाण्ड" के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु काण्ड की समाप्ति–पुष्पिका में इस काण्ड का नाम "आगम-समुच्चय" मिलता है। विषय की दृष्टि से ये दोनों नाम सङ्गत लगते हैं, यह इस ग्रन्थ की भूमिका जैसा है। द्वितीय काण्ड का नाम "वाक्य-काण्ड" है। इसमें वाक्य का सङ्गोपाङ्ग विवेचन है। इसे वाक्यपदीय का मुख्य कलेवर माना जाता है। तृतीय काण्ड को पदकाण्ड या प्रकीर्णकाण्ड कहते हैं। इसमें जाति, द्रव्य, काल, दिक्, आदि का विशदता के साथ विवेचन किया गया है। आकार की दृष्टि से भी यह काण्ड बहुत विशद है। इसकी कारिका-सङ्ख्या आरम्भ के दोनों काण्डों की कारिका-सङ्ख्या से लगभग दुगुनी है। यह चौदह समुद्देशों में विभक्त है। सम्भवतः इसमें दो समुद्देश और भी थे, जो अब अनुपलब्ध हैं।

ब्रह्मकाण्ड—

ब्रह्मकाण्ड यद्यपि वाक्यपदीय की भूमिका-जैसा है, तथापि व्याकरण को दार्शनिक आधार प्रदान करने वाला काण्ड यही है। यहाँ हम इस काण्ड के प्रमेयों का उल्लेख करना चाहेंगे, जिससे अध्येताओं को इस काण्ड को समझने में सुविधा होगी। यहाँ जो कुछ कहा गया है, उसका आधार वाक्यपदीय की मूल कारिकाओं, वृत्ति और उनके फलितार्थों में मिल जाता है।

शब्दतत्त्व—

व्याकरणागम में शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है। ब्रह्मविषयक जो धारणाएँ औपनिषद् वेदान्तियों की ओर से प्रस्तुत की गई हैं, वे सभी शब्दतत्त्व के साथ जुड़ जाती हैं, जब हम उसे शब्दतत्त्व के रूप में स्वीकारते हैं। परन्तु ब्रह्म के साथ जुड़ी कोई भी उलझन शब्दतत्त्व के साथ नहीं जुड़ती, यह शब्दतत्त्व की अतिरिक्त विशेषता है। शब्दतत्त्व के विषय में न कोई द्वैत है, न अद्वैत है और न विशिष्टाद्वैत। न यह प्रधान है, न परमाणु। न शिव, न नारायण। किसी भी प्रकार या प्रक्रिया की यहाँ आवश्यकता नहीं। एकदम सीधी-सी बात है—"यह सर्वप्रकृति है।" किसी भी उल्टी-सीधी बात या वस्तु का मूल खोजने यदि आप चलें तो आपको अन्त में शब्दतत्त्व ही मिलेगा। वस्तुएँ (संसार) कहाँ से आती हैं और कहाँ चली जाती हैं? इसका सीधा और निर्भ्रम उत्तर एक ही है—

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

(वा० प० १।१ पर, वृषभवृत्ति)

(यह विद्यात्मक और अविद्यात्मक उभयविध ब्रह्म शब्द का निर्माण, निर्मिति या रचना है। (शब्देनोपादानेन हेतुना निर्माणं यस्य तत् शब्दनिर्माणम्) शब्द की

शक्तियाँ इसका कारण है। शब्द की शक्तियों से यह विवृत्त होता है और उन्हीं शब्द-शक्तियों में विलीन हो जाता है।)

वेदों और उपनिषदों में इस तथ्य को बार-बार[1] कहा गया। प्रसङ्ग कुछ और भी हो, तब भी श्रुतियाँ इस तथ्य का सङ्केत किये बिना नहीं रहतीं। वेदों का वेदत्व ही शब्दतत्त्वात्मक है। आश्चर्य यही है कि बाद के दर्शनों में यह प्रकटतम 'शब्दब्रह्म' गौण और 'मायामय' ब्रह्म मुख्य[2] कैसे हो गया? हमारा विचार है कि व्यास के 'ब्रह्मसूत्र' से शब्दतत्त्व के गौणत्व का सूत्रपात हुआ। बाद के दार्शनिक इसी ब्रह्म-सूत्र से लटक कर रह गये। हमें तो व्यास की दक्षता पर भी आश्चर्य होता है। अन्य दार्शनिकों को ब्रह्मसूत्र से लटका कर वह स्वयं महाभारत और पुराणों में प्राधा-निक बन गया। पुराणों और महाभारत का दार्शनिक स्वर साङ्ख्य है, यह अध्येताओं को सरलता से ज्ञात हो जाता है।

तन्त्रागम में शब्दतत्त्व को अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक स्पष्टता और अनि-वार्यता के साथ स्वीकारा गया है, तथापि उसकी गौणता वहाँ भी बनी रही। अपने-अपने सम्प्रदाय की स्थापना या प्रवर्तना के लिए उन्होंने देव-विशेष शिव-आदि को मुख्यता दी। वेदान्तियों ने भी ऐसा किया है। व्यास के पुराणों ने इन सबको आधार प्रदान किया है।

योग और सङ्गीत शास्त्र इन सभी की अपेक्षा शब्दतत्त्व को नाद और श्रुति के रूप में सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। परन्तु इसी कारण इनका क्षेत्र सीमित हो जाता है, क्योंकि इन दोनों शास्त्रों के नाद और श्रुति की स्थिति मानव-देह में मानी जाती है, साथ ही नाद और श्रुति शब्दतत्त्व के एक ही पक्ष को उजागर करते हैं, दूसरा पक्ष "अर्थभाव" अछूता रह जाता है। सङ्गीत का क्षेत्र योग की अपेक्षा विस्तृत है। योग का नादतत्त्व जहाँ अत्यन्त व्यक्तिनिष्ठ, रहस्यमय तथा इन्द्रियातीत है, वहीं सङ्गीत का श्रुतितत्त्व समष्टिगत, सर्वजनग्राह्य और इन्द्रियगम्य भी है। व्याकरण के शब्द की तुलना में सङ्गीत के शब्द में आह्लादकता और कर्णप्रियता अधिक है, किन्तु दैनिक व्यवहार में इसकी उपयोगिता कुछ कम है। एक क्षेत्र में सङ्गीत व्याकरण से बहुत आगे है। वह क्षेत्र है—"अवाक् पदार्थों से भी श्रुतितत्त्व का प्रत्यक्ष" सितार और कण्ठ दोनों से निष्पन्न संगीत का बाह्य और आन्तरिक प्रभाव समान

---

(१) एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनैव वर्तते॥ (वा० प० १।२)

(२) द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ (महाभारत शां० १।२३२।३०)

ही होता है। 'अवाक्' पदार्थों की वाणी व्याकरण-प्रक्रिया के क्षेत्र से बाहर ही रह जाती है।

शब्दतत्त्व की व्याकरण-दर्शन में क्या स्थिति है? इसे समझने के लिए नीचे एक चित्र दे रहे हैं—
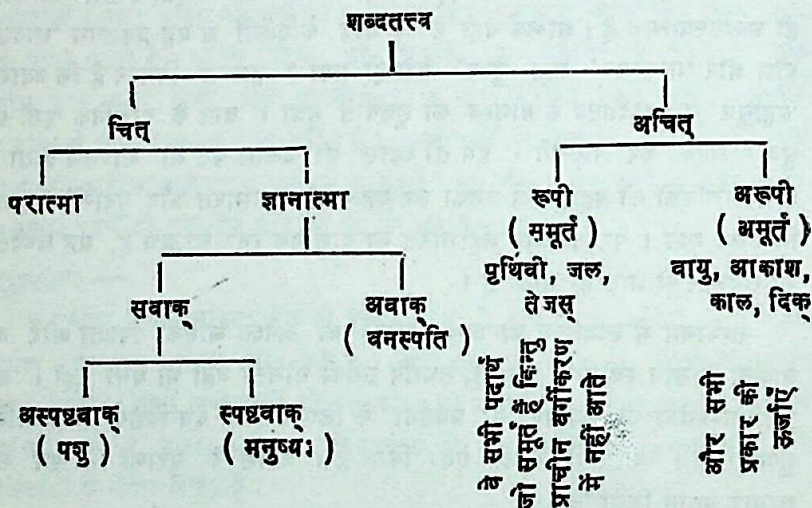
शब्दतत्त्व सर्वप्रकृति है, जो विवर्तवशात् ऊपर चित्र में प्रदर्शित प्रकार से दो प्रधान भागों में विवृत्त होकर प्रतीयमान होता है। इसमें चित्तत्त्व और अचित्तत्त्व दोनों ही समान मात्रा में एकाकार और अविभक्त दशा में होते हैं। इस बोधगम्य बात को यदि चित्र में प्रदर्शित करना हो तो वह कुछ इस प्रकार होगी—

इन तीन वृत्तों को काल्पनिक रूप से शब्दतत्त्व के तीन विभिन्न कोणों से खींचे गये चित्र समझना चाहिए। दाहिनी ओर झुकी हुई रेखा-रश्मियों को 'चित्'-तत्त्व और बाईं ओर झुकी हुई रेखा-रश्मियों को अचित्-तत्त्व समझना चाहिए। वृत्त

एक केवल चित्तत्त्व को दर्शाता है, वृत्त दो अचित् तत्त्व को। वृत्त तीन में दोनों हैं। चित्र को देखकर शब्दतत्त्व को चिदचिन्मिश्र नहीं समझना चाहिए। वास्तविकता यह है कि शब्दतत्त्व से ये दोनों तत्त्व विवृत्त होकर उद्भूत होते हैं। शब्दतत्त्व संवर्तावस्था है। चिदचिन्मिश्र अवस्था का ठीक उदाहरण मनुष्य है, जिसकी भौतिक काया और इन्द्रियाँ अचित् तथा शेष मनुष्यत्व चित् होता है। वास्तव में शब्दतत्त्व की दो शक्तियाँ हैं—श्रुतिशक्ति और अर्थशक्ति। ये शक्तियाँ चित् और अचित् के रूप में संसार की रचना करती हैं।

हमारे सामने सारा विश्व फैला है। इसमें मनुष्य हैं, पशु हैं; पेड़-पौधे हैं। नदी-पर्वत हैं, आग है, सूर्य है, हवा है, आकाश है। इनमें से कुछ आँखों से दिखते हैं, कुछ का अनुभव-भर होता है। कुछ चलते-फिरते हैं, कुछ अचल हैं। कुछ बोलते हैं, कुछ बोल नहीं पाते। कुछ संवेदनशील हैं, कुछ नहीं।

इनका वर्गीकरण किया जाय तो सारा संसार हमें दो भागों में बंटा हुआ दिखाई देगा—चित् और अचित्।

चित् की प्रतीति तीन लक्षणों को देख कर होती है—

१. संवेदन
२. स्पन्दन
३. वचन

जिसमें ये तीनों लक्षण हों, अथवा इनमें से कोई एक या दो हों, उसे चित्पदार्थ कहा जायगा। जिसमें ये तीनों न हों, उसे अचित्पदार्थ कहा जायगा। इन चितों और अचितों के पुनः दो-दो भाग दिखाई देते हैं। यथा चित् के दो भाग—ज्ञानात्मा और परात्मा।

ज्ञानात्मा में संवेदन, स्पन्दन और वचन ये तीनों शक्तियाँ न्यूनाधिक मात्रा में एक दूसरे का पर्य्यायेण कारण बनती हुई रहती हैं। जैसे मनुष्यों में ये तीनों शक्तियाँ समानरूप से तुल्य-प्रधानता के साथ दिखाई देती हैं, किन्तु पशुओं और वनस्पतियों में इनका अनुपात समान नहीं है। इसी प्रकार कभी संवेदन के कारण स्पन्दन और वचन की उत्पत्ति होती दिखाई देती है, तो कभी वचन के कारण संवेदन और स्पन्दन की। कभी स्पन्दन के कारण ये दोनों उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। संवेदन (बोध) विवक्षावशात् कण्ठ तालु आदि में स्पन्दन का कारण बनता है। यही स्पन्दन वचन का कारण बनता है। फिर वचन श्रोता और वक्ता दोनों के लिए संवेदन

---

(१) व्याकरण में यही शब्दार्थ के कार्यकारणभाव का नियामक तत्त्व है।'
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिता। (वा० प० ११२९)

का कारण बनता[1] है। यह एक अविच्छिन्न चक्र है। किसी भी बिन्दु से इसका प्रारम्भ माना जा सकता है।

परात्मा इन तीनों की ऐसी साम्यावस्था है जिसमें ये तीनों अनुद्बुद्ध या अन्तर्मुख रहते हैं। इसे समाधि या शब्दसमाधि या शब्दपूर्वक[2] योग कह सकते हैं। योगदर्शन में अनाहत-नाद की स्थिति यही हो सकती है। यह एक 'स्वानुभूत्यैकमान' अवस्था है। इसका देखने-परखने योग्य बाह्य उदाहरण सोया हुआ मनुष्य हो सकता है, जब वह बाह्य संवेदनों, स्पन्दनों और वचनों से सर्वथा निरपेक्ष होता है, फिर भी चित् होता है। कोई महान् योगी भी इसका उदाहरण माना जा सकता है। यद्यपि इस परावस्था में संवेदन और स्पन्दन के साथ वचन भी सुषुप्त रहता है, तथापि यह सुषुप्ति वाङ्मयी होती है। यहाँ वाक् दृश्य और द्रष्टा को, भोग्य और भोक्ता की भूमिका निभाती है। यह परात्मा की स्वप्नप्रवृत्ति है। इसे अविभाग[3] अवस्था भी कहते हैं।

परात्मा क्योंकि अविभाग अवस्था है, इसलिए उसके आगे कोई भाग नहीं है।

ज्ञानात्मा वचनशक्ति के आधार पर पुनः दो भागों में विभक्त है—अवाक् और सवाक्। अवाक् ज्ञानात्मा वनस्पतियाँ हैं। इनमें संवेदन और स्पन्दन तो है, किन्तु वचन नहीं। सवाक् ज्ञानात्मा के दो भाग हैं—स्पष्टवाक् और अस्पष्टवाक्, मनुष्य स्पष्टवाक् श्रेणी में आता है। पशु-पक्षी अस्पष्टवाक् श्रेणी में आते हैं। वनस्पतियों, पशुपक्षियों और मनुष्यों में जितना जडांश है, वह अचित् सृष्टि का भाग है। चित् सृष्टि का भाग संवेदन, स्पन्दन और वचन ही हैं। चित् को अपनी अवस्थिति के लिए अचित् का आश्रय लेना ही पड़ता है। केवल चिन्मयता सम्भवतः अपना अस्तित्व ही खो बैठे। व्याकरण-प्रक्रिया का सम्बन्ध केवल स्पष्टवाक् से है।

---

(१) एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते। (वा० प० १।४४)
तथा "अथायमान्तरो ज्ञाता"। (वा० प० १।११२-१५) देखें।

(२) यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥ (वा० प० १।२०)

(३) देखें—प्रविभागे यथा कर्ता तथा कार्ये प्रवर्त्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते॥ (वा० प० १।१२७)
प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते॥ (वा०प० १।१२७ की ह. वृ. वृत्ति)
भोक्तृ-भोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः। (वा० प० १।४)

अचित् भी दो भागों में बँटे है--अमूर्त और समूर्त अथवा अरूपी और रूपी। इनका विवरणचित्र से सरलता से ज्ञात हो जाता है।

इस दृश्यमान जगत् का कारण कौन है ? यह जिज्ञासा अनादि-काल से मनुष्य को उद्वेलित करती आई है। इसका उत्तर भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न अनुभवों के आधार पर भिन्न-भिन्न समय और परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न दिया। परन्तु इसका शुद्ध और पूर्ण शुद्ध उत्तर है—शब्दतत्त्व !

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी॥ (वा० प० १।९)

शब्दतत्त्व को जगत्कारण मान लेने से किसी भी भारतीय या अभारतीय दर्शन को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उन्हें न कोई अपनी रीति-नीति बदलनी पड़ेगी, न पारिभाषिक शब्दावलियों में फेर-बदल करना पड़ेगा। उन्हें करना है तो बस इतना कि—जगत्कारण की खोज में चलते-चलते अन्त में उन्हें जो मिले, उसे 'शब्दतत्त्व' के नाम से पहिचानें। हमारा विश्वास और दावा है कि इससे उन्हें अनिर्वचनीय सुख मिलेगा।

वेदों ने, उपनिषदों मे इस तथ्य को खूब पहिचाना, सराहा और बखाना है। यह पहले कह आये हैं। सैकड़ों श्रुतिवाक्य साक्षात् और सहस्रों अभिप्रायानुसार इस प्रसङ्ग में उद्धृत किये[१] जा सकते हैं।

यहाँ हम "शब्दतत्त्व ही जगत्कारण है" या "जगत्कारण का नाम शब्दतत्त्व ही है" ऐसा मानने के कुछ कारण प्रस्तुत करना चाहेंगे—

१. समस्त चिदचित् जगत् शब्द से प्रतीत होता है (शब्दे ज्ञाने भासते।) यदि जागतिक पदार्थों का उपादान शब्दतत्त्व न हो, तो शब्द से उनकी प्रतीति न हो।

२. समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध होता है।
ज्ञान, जो कि ज्ञेय-पदार्थों की बौद्धिक परिणति होती है, शब्दमय होता है। कोई भी ज्ञान, जानकारी, शब्द के बिना न संजोया जा सकता, न व्यक्त किया जा सकता है।

३. समस्त पदार्थों के नाम होते हैं।
नाम-हीन, वाग्व्यवहार से रहित पदार्थ की वस्तुसत्ता सिद्ध करना असम्भव है। नाम (शब्द) ही वस्तुसत्ता का कारण है।

---

(१) शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥ (वा० प० १।२०)

४. शब्दों से पदार्थों का विभिन्न-भेद-रूपों में परिच्छेदन होता है। घड़े और कपड़े का भेद, कपड़े और लड़के का भेद, लड़के और माता का भेद, सब शब्दों के द्वारा होता है। शब्दों के बिना वस्तु-भेद-निरूपण असम्भव है।

५. सत्, असत् और सदसत्, तीनों प्रकार की वस्तुसत्ता शब्दों से सम्भव होती है। शशशृङ्ग, गन्धर्वनगर, अलातचक्र जैसे सर्वथा असत् पदार्थ भी शब्द के कारण मुख्यसत्तायुक्त प्रतीत होते हैं।

६. समस्तपदार्थ टकराने पर या विक्षोभ होने पर शब्द करते हैं। न रूप, न रस, न गन्ध, न स्पर्श; केवल शब्द। स्पष्ट है कि शब्द पदार्थों के कण-कण में समाया हुआ है।

अतः शब्दतत्त्व के अतिरिक्त चिदचित् जगत् का उपादान-कारण कौन हो सकता है!

हरिवृषभवृत्ति में (वा० प० १।१३०) शब्दतत्त्व के विषय में जो विवरण दिया गया है; वह दर्शनीय है—

"इह द्वौ शब्दात्मानौ—नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही।

नित्यस्तु—सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः सर्वेषामन्तःसन्निवेशी प्रभवो विकाराणम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी, प्रवृत्ति-निवृत्ति-पदाभ्यां पर्जन्यवद् दावाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः, सर्वेश्वरः, सर्वशक्तिः, महान् शब्दवृषभः। तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तनिर्विभागेन संसृज्यन्ते।"

विवर्त और परिणाम—

शब्दतत्त्व को 'जगत्कारण' कहने पर एक समस्या खड़ी होती है। वह यह कि "कार्यों में कारण-धर्म का समन्वय" देखा जाता है। उपादान-कारण का धर्म अनिवार्य रूप से तज्जनित कार्य में दिखाई पड़ना चाहिए। जैसे—घड़े में मिट्टी का धर्म। निमित्त-कारण चक्र या दण्ड का धर्म घड़े में न हो, परन्तु मिट्टी का धर्म तो होना ही चाहिए। इसी प्रकार जगत्, जिसके गुण-धर्म अनन्त हैं, में शब्द का क्या धर्म दिखाई देता है? उदाहरणार्थ—पत्थर में शब्द का क्या धर्म है?

यद्यपि इस समस्या का उत्तर दिया जा चुका है, तथापि विवर्त-सिद्धान्त के अधीन यह समस्या उठाई ही नहीं जा सकती। शाब्दिक जगत् को शब्दतत्त्व का विवर्त मानते हैं, परिणाम नहीं।

विवर्त की परिभाषा हरिवृषभवृत्ति में इस प्रकार दी गई है—"एकस्य तत्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत् ।" (वा० प० १।१ वृत्ति) इस परिभाषा के अधीन कारण को स्वरूपतः या स्वभावतः कार्यवस्तु में सम्मिलित होने की आवश्यकता नहीं होती, अवास्तविक अन्यरूप-ग्रहण इस सिद्धान्त की मुख्य विशेषता है। विवर्त अवास्तविक रूपान्तरण है, जब कि परिणाम वास्तविक रूपान्तरण होता है। विवर्त के उदाहरण हैं—सीपी में चाँदी और रस्सी में साँप। विवृत्त साँप में रस्सी का कोई अंश नहीं होता; तो क्या हम उसे भासमान साँप का कारण नहीं कहेंगे ?

एक बात और भी है—परिणामवाद में भी कार्यवस्तुओं में कारण के आंशिक गुण-धर्म ही मिलते हैं। शेष गुण-धर्म विवर्त से ही आते हैं। उदाहरणार्थ—घड़े को लीजिए। घड़े में उसका उपादान कारण मिट्टी स्वरूपतः होती है, यह तो ठीक; किन्तु जलाहरणक्षमता उसमें कहाँ से आती है ? शब्दविवर्तवाद में इसका उत्तर मिल सकता है, परिणामवाद में नहीं। विवर्तवाद में भी विवृत्त-वस्तुओं में कारण के आंशिक गुण-धर्म मिलते हैं। यथा—विवृत्त साँप में कारणभूत रस्सी का दैर्घ्य दिखाई देता है, शेष विवर्त है। विवृत्त चाँदी में कारणभूत सीपी का शौक्ल्य दिखाई देता है, शेष विवर्त है। इसी प्रकार परिणत घड़े में कारणभूत मिट्टी स्वरूपतः दिखाई देती है, शेष विवर्त है। लगता है वाक्यपदीय ने इसीलिए एक ही कारिका में एक ही तथ्य को कहने के लिए विवर्त और परिणाम शब्दों का प्रयोग किया है—

> शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः ।
> छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत ॥ (वा० प० १।१२०)

वाक्—

साधारणतया वाक् और शब्दतत्त्व एक ही प्रतीत होते हैं। वेदों, उपनिषदों, महाभारत और पुराणों में इनका उल्लेख सङ्कीर्ण, आपस में घुला-मिला-सा मिलता है। तन्त्रागम और योगशास्त्र में इसी सङ्कीर्णता के कारण शब्दतत्त्व को गौण स्थान मिला है। शब्दानित्यतावादी दर्शन इसी सङ्कीर्णता के कारण शाब्दिकों से उलझते हुए दिखाई देते हैं। इसी सङ्कीर्णता ने नागेश-जैसे प्रखर-बुद्धि विचारक को भी उलझा दिया है। हमें यह कहने में भी कोई हिचक नहीं कि वाक्यपदीय के रचयिता और वृत्तिकार भी इस उलझन से पूर्णतया मुक्त नहीं हैं।

वास्तव में वाक् और शब्दतत्त्व स्पष्टरूप से अलग-अलग तत्त्व हैं। इनको पृथक् करने वाली दीवार यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, तथापि इन्हें पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है।

वाक्, सवाक्-सृष्टि का अन्तःसन्निविष्ट[1] तत्त्व है, जबकि शब्दतत्त्व चिदचित्-सृष्टि का उपादान है। इस अन्तर को निरूपित किये विना जब इन दोनों के विषय में कुछ कहा जाता है तो स्वभावतः साङ्कर्य उत्पन्न हो जाता है। जब प्राणियों के मूलाधार-चक्र में रहने वाले 'रव' या 'नाद' को 'शब्दब्रह्म' कहा जायगा तो उससे हिमालय की उत्पत्ति की बात असङ्गत तो लगेगी ही। श्रद्धालुओं के अतिरिक्त कोई इस पर विश्वास नहीं कर पायेगा। परन्तु जब यह कहा जायगा कि यह उस वाक् का अन्तरतम स्वरूप है, जिसे हम बोलते-सुनते हैं, तो बात एकदम बुद्धिगम्य हो जाती है। सब समझ जाते हैं कि हिमालय का अर्थाकार 'हि-मा-ल-य' शब्द से उत्पन्न होता है। जब वाक्यपदीय कहता है—

"पदार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः" (वा० प० १।१५)।

तो बात समझ में आती है। परन्तु जब महाभारत कहता है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(महाभारत शान्तिपर्व २३१।६५)।

तो बात उलझ जाती है। जब स्वयम्भू ने उसे उत्सृष्ट किया तो वह 'अनादि' कैसे हुई? यदि वह वेदमन्त्रमयी है, तो उससे 'रेलगाड़ी' कैसे चल सकती है? इसमें वाक्-शब्दतत्त्व का साङ्कर्य है। इसी बात को जब वाक्यपदीय कहता है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वा० प० १।१)

तो बात एकदम समझ में आ जाती है। इसका कारण है—महाभारत के वाक् के स्थान पर शब्दतत्त्व का प्रयोग। इसमें साङ्कर्य नहीं है।

वेदमन्त्रों में भी यह साङ्कर्य मिलता है। यथा—

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा: चाकशीति॥ ऋग्वेद

और फिर साथ ही—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाह॥
(श० प० ब्रा० ६।५।३।४)

---

(१) सूक्ष्मार्थेनाप्रविभक्तत्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपात्मनि सन्निविष्टाम्॥
(वा० प० १।१ की वृत्ति)
और—प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते। (वही)

पहले इन्द्र से छन्दस्, छन्दस् से अन्न, अन्न से नाम और रूप। इनमें भी प्राण से नाम और छन्दस् से रूप की उत्पत्ति बताई गई है। इस ऋचा में छन्दस् और अन्न का अर्थ बुद्धि हो, तब भी नाम=शब्द जगत्कारण नहीं बनता, क्यों कि वह तो प्राण से उत्पन्न बताया गया है। यह उच्चार्यमाण शब्द अर्थात् वाक् की ही चर्चा है, शब्द-तत्त्व की नहीं। परन्तु दूसरे मन्त्र में वाक् स्वयं अखिल भुवन बन गई है। नश्वर और अनश्वर पदार्थ भी वाक् ही बनी। वही भोक्त्री, वही भोग्य। यह वर्णन जगत्कारण का है, जो वाक् होने के कारण शब्दतत्त्व ही हो सकता है। यह वाक् और शब्दतत्त्व का साङ्कर्य ही तो है।

इस साङ्कर्य से मुक्ति पाये बिना इस विषय में आगे बढ़ना हितकर नहीं हो सकता। अतः 'वाक्' का स्वरूप निश्चित करना आवश्यक है।

"वाक् सवाक् सृष्टि का अन्तःसन्निविष्ट स्वपरसम्बोधक चित्तत्त्व है।" इस तथ्य का उल्लेख वाक्यपदीय में इस प्रकार हुआ है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ (वा० प० १।१३०)

यही महान् ऋषभ या वृषभ पुरुष का आत्मचैतन्य अन्तरवस्थित-तत्त्व वाक् है। अन्य सभी तत्त्वों की अपेक्षा शब्दतत्त्व के आसन्नतम होने के कारण इसे कभी-कभी शब्दतत्त्व से अभिन्न मान लिया जाता है।

जब महाभाष्य—

चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
(ऋग्वेद ३।८।१०।५८)

इस वेदमन्त्र की व्याख्या में—चार सींग=नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात; तीन पैर=तीन काल; दो सिर=नित्य कार्यशब्द, स्फोट नाद; सात हाथ=सात विभक्तियाँ; तीन प्रकार से बंधा हुआ=हृदय-कण्ठ-शिरस् में बंधा हुआ, कहता है और 'वृषभो वर्षणात्', 'रौतिः शब्दकर्मा' कहकर इस महान् देव का मनुष्यों (मरणधर्माणो मनुष्यास्तान्) में आविष्ट होने का वर्णन करता है तो वह इसी 'वाक्' का वर्णन करता है। इसमें पूर्ववर्णित साङ्कर्य नहीं है।

वाक् के भेद—

वाक् के चार भेद ऋग्वेदसंहिता के इस मन्त्र में वर्णित हैं—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
(ऋ० सं० २।३।२२)

इस ऋङ्मन्त्र का सीधा-सा अर्थ यही है कि—वाक् के चार पद हैं। उन चारों पदों को वे ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञ विद्वान् जानते हैं, जो मनीषी हैं, मन के स्वामी हैं; जिन्होंने मनोवृत्तियों को नियन्त्रित कर लिया है। इनमें से तीन पद गुहा में रहते हैं और स्पन्दन नहीं करते। वाक् का चौथा पद वह है, जिसे मनुष्य बोलते हैं।

यह मन्त्र महाभाष्य ने पस्पशाह्निक में उद्धृत किया है और अर्थ वही किया है, जो ऊपर दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि—"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" यह कहकर "चत्वारि" का अर्थ दिया है।

वाक् के इन चार पदों की-सी बात तन्त्रागम की यह कारिका भी कहती है—

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

नन्दिकेश्वरकाशिका में भी कुछ इसी आशय का उल्लेख मिलता है—

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्॥
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम्॥
वक्त्रे विशुद्धचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः॥

वैयाकरण-निकाय में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन चार वाक्पदों की प्रसिद्धि भी है। परन्तु वाक्यपदीय में—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ (वा० प० १।१४२)

इस कारिका में नाम और सङ्ख्या देकर वाक् के तीन ही पद स्वीकार किये गये हैं। इससे वाक्-भेदों के विषय में कुछ मतभेद दिखाई देता है।

कुछ लोगों का विचार है कि वाणी के तीन ही भेद होते हैं। चार भेदों की बात तन्त्रवासना के कारण प्रारम्भ हुई है। तन्त्रवासना का दोष मुख्यतः नागेश पर मढ़ा जाता है। क्योंकि नागेश ने 'लघुमञ्जूषा' में जो शब्दसृष्टि-प्रक्रिया दर्शायी है, वह तन्त्रागम से मेल खाती है। नागेश ने "चत्वारि वाक्परिमिता" इस भाष्य के उद्योत में परा वाक् के सम्बन्ध में एक कारिका उद्धृत की है—

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी।
तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते॥

यह कारिका कुछ अन्य कारिकाओं के साथ हरिवृषभवृत्ति में इस प्रकार पढ़ी गई है—

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
सेयमाकीर्यमाणापि नित्यमागन्तुकैर्मलैः।
अन्त्याकलेव सोमस्य नात्यन्तमभिभूयते॥

तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते ।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ॥

वृत्ति में उद्धृत ये कारिकाएँ सम्भवतः महाभारत की हैं । नागेश के पाठ में जहाँ 'परा' है, वृत्ति में वहाँ सूक्ष्मा है । बीच की पङ्क्तियाँ नागेश ने छोड़ी हैं । मूलपाठ क्या था ? मूलपाठ में परिवर्तन नागेश ने किया या वृत्ति ने ? कहना कठिन है । दोनों के अपने-अपने आग्रह हो सकते हैं ।

नागेश ने परा-वाक् का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए मञ्जूषा में दो युक्तियाँ दी हैं--

क्योंकि वाक्यपदीय ने "अनादिनिधनम्" इस कारिका में शब्दब्रह्म का उल्लेख किया है और शब्द-ब्रह्म रव या परा को कहते हैं, अतः पश्यन्ती आदि के अतिरिक्त 'रव' या 'परा' वाक् भी है । समर्थन में उसने यह कारिका उद्धृत की है--

बिन्दोस्तस्माद्भिद्यमानाद्रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत् ।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ॥

यह कारिका 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्रग्रन्थ की है ।

दूसरी युक्ति यह कि--"वैखर्या मध्यमायाश्च" इस कारिका में 'त्रय्या वाचः परं पदम्' कहकर वाक्यपदीय ने पश्यन्ती आदि त्रयी वाक् को व्याकरण के प्रक्रियाक्षेत्र में रखा है । शब्दब्रह्म उससे बहिर्भूत है । वही परावाक् है । इस युक्ति में साङ्कर्य दोष है और यह तभी ठीक हो सकती है, जब परा वाक् किसी अन्य युक्ति से सिद्ध हो जाय ।

इस प्रसङ्ग में नागेश की एक बात एकदम सही है । वह है—"चत्वारि वाक्परिमिता" मन्त्र के भाष्य "चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" का अर्थ । कैयट ने "नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" को पदजातानि का विवरण, नामोल्लेख मानकर आगे—"पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागः" यह अर्थ 'तुरीयम्' का किया । यह अर्थ एकदम गड़बड़ घोटाला है ।......भाष्य में "......निपाताश्च" में 'च' किसका समुच्चायक है ? यदि "नामाख्यातोपसर्गनिपाताः" यह चार पदजातों का एक-एक करके नामोल्लेख है । यदि कहें कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों का समुच्चायक 'च' है तो यह सम्भव नहीं, क्योंकि समुच्चय में यहाँ पहले ही द्वन्द्वसमास है । "उक्तार्थानामप्रयोगः" की याद तो भाष्यकार को रही ही होगी । निरुक्तकार ने यहाँ—"नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणः ।" (निरुक्त० १ः।१।७) में 'च' का समुचित प्रयोग किया है । हम सोच सकते हैं कि भाष्यकार ने निरुक्त का वचन देखते हुए भी 'च' का गलत प्रयोग किया होगा ? या "नामाख्यात......" वाले पक्ष की गौणता दिखाने के लिए ही साभिप्राय प्रयोग किया होगा । यद्यपि निरुक्त के साक्ष्य के अनुसार

नामाख्यातपक्ष वैयाकरणों का और पश्यन्तीपक्ष, सायण के साक्ष्य के अनुसार, मातृकों, शाक्तों, तान्त्रिकों का सिद्ध होता है। 'चत्वारि वाक्परिमिता' मन्त्रव्याख्यान में सायण लिखता है—"अपरे तु मातृकाः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयन्ति—परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति।" इन दो स्पष्ट साक्ष्यों के होते हुए भी भाष्याभिप्राय को समझते हुए इस समुच्चायक 'च' का ठीक अर्थ नागेश ने किया—"पदजातानि–परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः, नामादीनि च।" इस अर्थ में 'च' की उचित उपयोगिता है।

कैयट के अर्थ में और भी दोष हैं। यथा—"तत्र चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थभागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति।" इसका अभिप्राय यह हुआ कि कुल संज्ञाओं का चौथाई, कुल आख्यातों का चौथाई इत्यादि अवैयाकरण बोलते हैं। क्या इसका कभी कोई सर्वेक्षण किया गया है? या सिर्फ अटकलबाजी है? फिर अवैयाकरण तो अपभ्रंश बोलते हैं। साधुसंज्ञाओं का तो वे शतांश भी नहीं बोलते। वैयाकरण ही क्या पूर्णसाधु-व्यवहार करते है? क्या वैयाकरणों को अपने जीवन में यावत्साधुसंज्ञाओं, आख्यातों का प्रयोग करने का अवसर मिल पाता है? वास्तव में यह 'तुरीयांश'-सिद्धान्त ही एक घोटाला है और यह कैयट ने ही खड़ा किया है। बेचारे नागेश को भी कैयट के दबदबे में आकर कहना पड़ा—"नामादिमध्ये चैकैकं चतुष्पादम्"। भाष्यकार ने तो सीधी बात कही थी। कैयट ने उसे मरोड़कर रख दिया। कैयट के कहने पर न जायें तो स्पष्ट है कि भाष्यकार ने वाक् के चार पदों का उल्लेख किया है। उनके नाम क्या हैं? यह उक्त भाष्य से स्पष्ट नहीं होता। नामाख्यातादि यह एक पक्षान्तर है।

ऊपर के विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि भाष्यकार को वाक् के चार पद अभीष्ट हैं। इतना ही नहीं अपितु यह भी कि वे चारों पद इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके नाम गिनाने की भी आवश्यकता नहीं। हाँ, नामाख्यातादि वाला एक अप्रसिद्ध पक्ष भी भाष्यकार को ठीक लगा, इसलिए उसके नाम गिना दिये। भाष्यवचनों में तुरीयांश का सङ्केत बिल्कुल नहीं है। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि भाष्यकार को इष्विज्ञ कोचवानों और प्राष्विज्ञ वैयाकरणों का अच्छा परिचय[1] था। वह कदापि वैयाकरणों और अवैयाकरणों का बँटवारा इस प्रकार नहीं कर सकता, जैसा कि कैयट ने सुझाया है। भाष्यकार ने केवल इतना कहा है कि—वाक् के चौथे पद को मनुष्य बोलते हैं। (जिसका अभिप्राय वैखरी है।) जब कि पहले तीन पद निष्पन्द होकर अन्तर्गुहा में रहते हैं। तुरीयांश का सिद्धान्त केवल "नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" की सङ्गति बैठाने के लिए पैदा हुआ है। अन्यथा 'मनुष्यों' के हिस्से केवल निपात हो आते। "एकैकस्य चतुर्थ-

---

१. 'अजेर्व्यघञपोः' (पा० अ० २।४।५६) का भाष्य। प्राजिता का वचन–वैयाकरण के प्रति–प्राष्विज्ञो भवान्, न इष्विज्ञः।

भाग।" को मान लेने पर भी अवैयाकरणों के हिस्से कुल बाइस उपसर्गों में से केवल साढ़े पाँच उपसर्ग आते हैं। प्रथम तो यही असम्भव है कि पाँच उपसर्गों के बाद का आधा उपसर्ग प्रयोग किया जाय, दूसरे—साढ़े पाँच को छः, लगभग चतुर्थभाग, मानकर भी क्या कोई यह कह सकता है कि अवैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त अपभ्रंश, प्राकृत आदि में केवल छः उपसर्गों का ही प्रयोग होता है। इस गणितीय प्रहार से बचने के लिए हरिवृषभवृत्ति ने "सैषा त्रयी वाक् चैतन्यग्रन्थिविवर्तवदनाख्येयपरिमाणा तुरीयेण मनुष्येषु प्रत्यवभासते। तत्रापि चास्याः किञ्चिदेव व्यावहारिकम्। अन्यत्तु सामान्यव्यवहारातीतम्। आह च चत्वारि......।" (वा० प० १।१४२ वृत्तौ) यह कहा है। वृत्ति का यह कथन 'तुरीय'-गणित तोड़ने का प्रयास है। 'तुरीय' की गणितीय विसङ्गति सबको दिखाई देती है।

मानना होगा कि भाष्यकार का कथन सीमित उद्देश्य से ही है, पूरे मन्त्र की सङ्गति बैठाने के लिए नहीं।

वाक् के चार पद हैं। भाष्यकार ने इनके नाम नहीं दिये। तीन नाम वाक्यपदीय ने दिये हैं। चौथा नाम तन्त्रागम में उपलब्ध होता है। नागेश ने इस चौथे नाम को ग्रहण किया है, परन्तु उसमें तन्त्रवासना का दोष है। अतः व्याकरणागम में यह चौथा नाम ढूँढना होगा।

वाक् के चौथे पद को ढूँढने से पहले हम वाक्यपदीय में दिये गये पदों का परिचय प्राप्त करना चाहेंगे।

शब्दतत्त्व का वर्णन करते हुए हमने चित्सृष्टि के दो भाग 'ज्ञानात्मा' और 'परात्मा' बताये थे। वाक् का सम्बन्ध ज्ञानात्मा और परात्मा दोनों से है। ज्ञानात्मा एक ऐसा त्रिकोणात्मक सङ्घटन है जिसके तीनों कोणों पर अहङ्कार, बुद्धि और मन रहते हैं। या प्रचलित शब्दावली में सचेतन प्राणी के अन्तःकरण को ज्ञानात्मा कह सकते हैं। यह ज्ञानात्मा समस्त दृष्टानुभूत संवेदनों (बोधों) का भण्डार है। फिर भी यह केवल शब्दमय है। शब्द के अतिरिक्त इसका कोई स्वरूप ही नहीं। दर्शनान्तरों में भले ही अन्तःकरण की, मन की, बुद्धि की विविध वृत्तिस्थिति दिखाई गई हो, परन्तु सत्य
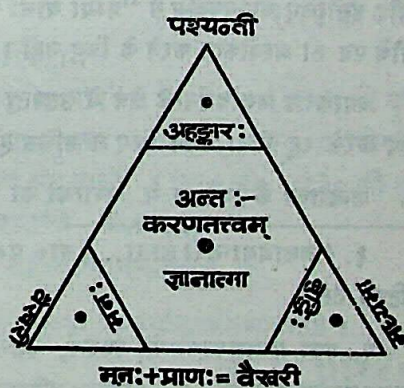
केवल यह है कि अन्तःकरण या ज्ञानात्मा शब्दमय[1] है, वाङ्मय है, क्योंकि ज्ञान[2] स्वयं शब्दमय है। जब भी आप अपने ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय वस्तुओं के विषय में अन्तःकरण में झाँकेंगे तो वहाँ आपको प्रत्येक वस्तु शब्दाकार में मिलेगी। यह इसका स्वतः सिद्ध प्रमाण है।

ज्ञानात्मा का कर्त्तव्य या ज्ञातृत्व भाग अहङ्कार है। वाक् की यह 'पश्यन्ती' स्थिति है। इसमें ज्ञेय का पृथक् अवभास नहीं होता। बुद्धि में ज्ञानोन्मेष होता है। इस स्थिति में भी ज्ञेय विषय का परिच्छेद नहीं होता। केवल अखण्ड, अनवयव, अक्रम ज्ञान होता है। यह मध्यमा की स्थिति है। ज्ञेय विषय का परिच्छेद मन के द्वारा सम्पन्न होता है। यहाँ ज्ञान सविकल्प, सावयव और सक्रम होता है। यह वैखरी की स्थिति है। ध्यान रहे कि ये सभी स्थितियाँ वाङ्मयी और अश्रवणीया होती हैं। मनोमयी वैखरी परश्रवण योग्य तभी होती है, जब वह प्राण से अनुप्राणित होती है। प्राण से यहाँ बलन और श्वसन दोनों अभीष्ट हैं। श्रवणीयता के लिए ऊर्जा (Energy) और कम्प (Vibration) दोनों की आवश्यकता है। ये दोनों तत्त्व प्राणवायु में हैं।

वाक्यपदीय में वर्णित 'त्रयी वाक्' की भी यही स्थिति है। इस त्रयीतन्त्र के क्षेत्र में वाक् का व्यावहारिक स्वरूप स्थित है। इस तन्त्र में प्रविष्ट होकर बाह्यार्थ शब्दमय हो जाता है और इसी तन्त्र से बाह्यपदार्थों की शब्दमयी अर्थ-सृष्टि होती है। यह त्रिकोणात्मक 'शब्दार्थयन्त्र' अर्थ को शब्द में और शब्द को अर्थ में, अपनी सतत प्रक्रिया द्वारा ढालता चलता है, जिससे व्यवहार की पूर्ति होती रहती है। व्याकरण का काम यहाँ यह होता है कि यन्त्र में प्रयुक्त होने वाले पदार्थों (पद + अर्थ) में किसी अपद्रव्य का मिश्रण न होने पाये। यह काम व्याकरण के प्रक्रिया-भाग से पूरा हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि त्रयी वाक् व्याकरण-प्रक्रिया के क्षेत्र-सीमा में आती है। और इसीलिए वाक्यपदीय ने "त्रय्या वाचः परं पदम्" व्याकरण को कहा है। वाक् के चौथे पद को अस्वीकार करने के लिए नहीं।

व्याकरण जब दर्शन के क्षेत्र में उतरता है तो केवल व्यावहारिक पक्ष पर ही दृष्टिक्षेप करके रह जाना उसके लिए न उचित होता है, न सम्भव।

शब्दतत्त्व के विवेचन में परात्मा का उल्लेख किया गया है। परात्मा संवेदन,

---

१. "अथायमान्तरो ज्ञाता....(वा० प० १।११२) कारिका की प्रतिभा और हिन्दी प्रतिभा देखें।

२. यथा प्रकाशकत्वमग्नेः स्वरूपं, चैतन्यं वान्तर्यामिणः, तथा ज्ञानमपि सर्वं वाग्रूपमात्रानुगतम्। (वा० प० १।१२४ हरिवृषभवृत्ति)

स्पन्दन और वचन की सुषुप्त[1] चिदवस्था है। यहाँ चित् के सभी बाह्य लक्षण संवेदन, स्पन्दन और वचन अविभक्त एकाकार चिद्घन होकर रहते हैं। यही वाक् की परावस्था है। यहाँ ज्ञातृत्व भी सुषुप्त रहता है। जब कि पश्यन्ती में ज्ञातृत्व का उन्मेष पूर्णरूपेण रहता है। "अविभागा तु पश्यन्ती" जैसे वचनों में अविभाग का अर्थ केवल ज्ञाता और ज्ञेय का अविभाग है। चिद्घनत्व की स्थिति यह नहीं है। चिद्घन अवस्था परा वाक् की है। यही वाक् का चौथा पद है। यही परात्मा है। यह शब्दतत्त्व के इतने सन्निकट है कि दोनों में भेद करना अत्यन्त कठिन है। इसी कारण इनमें प्रायशः साङ्कर्य दिखाई देता है। यह पद नितान्त स्वानुभूत्येकमान है। अतः इसे सिद्ध करने के लिए बाह्यप्रमाण उतने प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सकते। यह त्रयी वाक् का स्रोत भी है और आकर भी।

वाक्यपदीय में प्रत्यक्षतः परा वाक् का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु वृत्ति में ऐसे अनेक उल्लेख हैं, जिनसे परा वाक् के प्रति वृत्ति के दृष्टिकोण का पता चल जाता है। जैसा कि हमने पहले कहा—परात्मा और शब्दतत्त्व में साङ्कर्य है। यह साङ्कर्य परा और पश्यन्ती में भी है। इसका भेदक-तत्त्व है—अहङ्कार! अहङ्कार की उपस्थिति में पश्यन्ती और अहङ्कार की अनुपस्थिति में परा को समझना चाहिए। वाक्यपदीय-वृत्ति में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे शब्दतत्त्व, परा और पश्यन्ती तीनों का अभिप्राय निकाला जा सकता है। शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म परब्रह्म शब्दात्मा, पर-शब्दात्मा नित्य-शब्दात्मा वाक्तत्त्व वाक् महत् वाक्तत्त्व जैसे शब्दों का प्रयोग करके वृत्ति में जो कहा गया है, वह उक्त तीनों से अन्वित हो जाता है। इनके भेदक-तत्त्व अहङ्कार को ध्यान में रखकर इनका अन्तर करना होगा।

यहाँ हम कुछ उद्धरण देते हैं, जिनसे परा के प्रति वाक्यपदीय के दृष्टिकोण का अनुमान लगाया जा सकता है—

"सोऽव्यतिकीर्णां वागवस्थामधिगम्य वाग्विकाराणां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति। तस्माच्च प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते।" (वा० प० १।१४ की वृत्ति)

"भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वशास्त्रेषु वागेव प्रकृतिः परा"॥ (वा० प० १।१२६ की वृत्ति)

"नित्यस्तु......सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्तनिर्विभागेण संसृज्यन्ते"। (वा० प० १।१३० की वृत्ति)

"प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि॥

---

१. याप्य सञ्चेतितावस्था तस्यामपि सूक्ष्मो वाग्धर्मानुगमोऽभ्यावर्तते। (वा० प० १।१२४ वृत्ति)

वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ॥
ज्योतिरान्तरमासाद्यच्छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः ।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥"

(वा० प० १।३१ की वृत्ति)

अतः हमारी दृष्टि में व्याकरणागम सम्मत वाक् के चार पद हैं और वे इस प्रकार हैं—
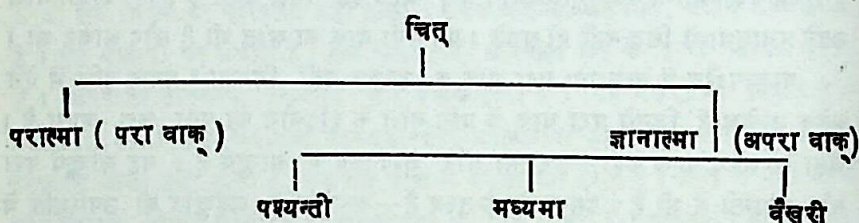
इसमें मध्यमा का मध्यमात्व पूर्णतया सुरक्षित है।

शब्द और उसके भेद—

जैसे वाक् और शब्दतत्त्व का पृथक् निरूपण करना कठिन है, वैसे ही वाक् और शब्द को भी पृथक् निरूपित करना आसान नहीं। इसलिए इनके विषय में भी साङ्कर्य पाया जाता है।

फिर भी—शब्द एक ऐसे तत्त्व का नाम है, जो व्यवहार में अर्थबोध का कारण बनता है। शब्द के इस सामान्य परिचय को लेकर हमें आगे बढ़ना है। भाष्यकार ने शब्द के विषय में चार बिन्दु दिये हैं। इन्हीं बिन्दुओं से बनी वर्गाकृति के बीच शब्द का पूरा स्वरूप, पूरा चित्र उभरता है। वाक्यपदीय में इस स्वरूप का अनुपालन हुआ है।

भाष्यकार द्वारा दर्शाये गये चार बिन्दु ये हैं—

१. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः। (पस्पशाह्निक)

२. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। (पस्पशाह्निक)

३. श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।

('अइउण्'-सूत्रभाष्य)

४. स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः। ('तपरस्तत्कालस्य'-सूत्रभाष्य)

(पा० अ० १।१।७०)

सामान्यतया मुख से उच्चरित होने वाले और कानों से सुने जाने वाले ध्वनि-

समूह को शब्द कहा जाता है, किन्तु यह शब्द का एक पहलू है। इस ध्वनि-रूप शब्द का कारणभूत एक और शब्द है, जो मध्यमा वाक् के रूप में बुद्धि में विराजमान रहता है। ध्वनिरूप शब्द की उत्पत्ति इसी बुद्धिस्थ शब्द के कारण होती है। इधर बुद्धिस्थ शब्द के कारण उत्पन्न ध्वनियाँ श्रोता के श्रवणेन्द्रिय तक पहुँचकर उसे अर्थबोध कराती हैं। यह एक बड़ा ही रोचक चक्र (आवर्तन) है। इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त कोई भी संवेदन बुद्धिगत होकर द्रष्टा पुरुष का ज्ञान बन जाता है। ज्ञान का स्वरूप शब्दमय होता है। उदाहरणार्थ—यदि हमने गाय देखी, हमें गो-वस्तु का चाक्षुष ज्ञान हुआ, इस ज्ञान की स्थिति में गोवस्तु कदापि हमारी बुद्धि में, अपने सास्नाविषाणादियुक्त आकार में, नहीं समा सकता। तब वह किस रूप में हमारी बुद्धि का विषय बना? केवल शब्द के रूप में। यही बुद्धिस्थ शब्द है। इसी बुद्धिस्थ शब्दमय ज्ञान को दूसरों को बताने का प्रयत्न करें तो उसी का समरूप या प्रतिबिम्बोपग्राही ध्वनि-समूह मुख से उत्पन्न होता है। फिर यह ध्वनिरूप शब्द श्रोता की बुद्धि में बोध्य-वस्तु 'गो' को शब्दमय बनाकर स्थापित करता है। फिर यह प्रथम श्रोता यदि द्वितीय श्रोता को सम्बोधित करना चाहे तो प्रथम श्रोता का बुद्धिस्थ 'गो' ध्वनिरूप में उत्पन्न होगा, द्वितीय श्रोता की बुद्धि में स्थित होगा। और फिर तृतीय श्रोता, चतुर्थ श्रोता...क्रम चलता रहेगा। इस बात को वाक्यपदीय ने इस प्रकार कहा है—

> द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
> एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ (वा० प० १।४४)

और हरिवृषभवृत्ति ने—

"यदधिष्ठाना यदुपाश्रया यदाधाराः श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थं प्रतिपद्यन्ते तस्य निमित्तत्वम् ॥"

"कारणव्यापारात्तु प्रतिलब्धविक्रियाविशेषः श्रोत्रानुपाती प्रकाशकभावेन नित्यं प्रत्याय्यपरतन्त्रोऽर्थेषु प्रयुज्यते ॥"

शब्द के इन दोनों स्वरूपों में परस्पर कार्यकारणभाव दिखाई देता है। कुछ लोग इन दोनों का परस्पर भेद मानते हैं, परन्तु कुछ इस भेद को केवल बुद्धिकृत मानते हैं। इनका तात्त्विक भेद यह है कि इनमें पहला अर्थात् बुद्धिस्थ शब्द अध्वनिक या अश्रवणीय है और दूसरा उच्चरित शब्द ध्वनिमय या श्रवणीय है। शब्द और अश्रवणीय! शायद सामान्य लोगों को अजीब लगे। परन्तु सत्य तो यही है। शब्द का एक बहुत बड़ा भाग अश्रवणीय होता है, केवल बौद्धिक व्यापार के रूप में। श्रवणीय भाग तो बहुत अल्प होता है।

शब्द का स्वरूप और स्वभाव ज्ञान तथा प्रकाश के समान है। इसमें अपना स्वयं का स्वरूप तथा इससे सम्बद्ध अर्थ का स्वरूप दोनों भासित होते हैं। जैसे प्रकाश

में प्रकाश्य वस्तु का स्वरूप तो दिखता ही है, प्रकाश स्वयं भी दिखता है। अन्तर इतना है कि प्रकाश जहाँ प्रकाशित वस्तु के रूप में दृष्टि-गोचर होता है, वहाँ शब्द बोधित वस्तु को शब्दरूप बनाकर प्रतीत कराता है। बोधित वस्तु शब्द-रूप होकर बुद्धिगत होती है; जब कि प्रकाश वस्तुरूप होकर बुद्धिगत होता है। यद्यपि दोनों प्रकाशक का ही काम करते हैं। ज्ञान की स्थिति भी शब्द-जैसी है। "मैं राम को जानता हूँ" इस प्रकार के ज्ञान में ज्ञेय राम का बोध तो होता ही है, साथ ही स्वयं ज्ञान जानकारी की भी प्रतीति होती रहती है। ठीक इसी प्रकार शब्द से घट-पट आदि अर्थों का बोध तो होता ही है, इस बोध के साथ-साथ शब्द का स्वरूप 'घ्-अ-ट्-अ' आदि झलकता रहता है।

शब्द के मुख्यतः दो भेद हैं—उपादान और अनुपादान। जो शब्द अर्थ-विशेष या वस्तुविशेष को बोधित करने के लिए ग्रहण किये जाते हैं, वे उपादान शब्द कहलाते हैं। इन्हें सार्थक या अर्थवान् शब्द कह सकते हैं। जिन शब्दों को वक्ता अर्थबोध के लिए ग्रहण नहीं करता वे अनुपादान शब्द हैं। ऐसे शब्द प्रायः मनुष्य की वाणी से सम्बद्ध नहीं होते। प्रकृति में अपने-आप होने वाले शब्द इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु इन्हीं शब्दों को जब कोई श्रोता कुछ अर्थबोध के लिए ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ—नदी के कल-कल को जल के अस्तित्व के रूप में लेता है, तो इसमें भी उपादानता आ जाती है। मनुष्य से सम्बन्ध जुड़ने के बाद शायद ही कोई शब्द अनुपादान बना रह सके। इसलिए व्याकरण से इनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। वाक्यपदीय में इनका कोई उल्लेख नहीं है।

एक अन्य दृष्टि से शब्द के दो भेद हैं—अन्वाख्येय और प्रतिपादक। शब्द को सुनकर कभी-कभी उसके खण्डों से भी एक अर्थ की प्रतीति होती है। यथा—'राजप्रासाद। भवति पाठकः' इत्यादि। अतः ऐसे शब्दों का खण्डशः अन्वाख्यान करके अर्थबोध किया जाता है। प्रासाद को देव के साथ रखकर, 'ति' को पठ के साथ रखकर उनके खण्डगत अर्थ का निर्धारण हो जाता है। इस अन्वाख्यान के कारण ये अन्वाख्येय कहलाते हैं। प्रकृतिप्रत्ययविभाग द्वारा व्युत्पत्तिलभ्य ये शब्द साधारणतया व्युत्पन्न शब्द कहलाते हैं। जिन शब्दों में खण्डगत सार्थकता नहीं होती, प्रकृति-प्रत्यय विभाग नहीं होता, वे प्रतिपादक शब्द कहलाते हैं। 'भू' आदि प्रकृति, 'ति' आदि प्रत्यय और मणि-नूपुरादि अव्युत्पन्न रूढ शब्द प्रतिपादक शब्दों की श्रेणी में आते हैं।

खण्डगत सार्थकता की दृष्टि से देखें तो वाक्य सभी अन्वाख्येय होते हैं। अखण्ड वाक्यस्फोट-पक्ष में पूरा वाक्य प्रतिपादक होता है।

एक और दृष्टिकोण से शब्द के फिर दो भेद होते हैं—साधु और असाधु।

शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व--

नित्य और अनित्य, ये भी शब्द के दो भेद हैं। इन दो भेदों के पीछे दो दार्शनिक सिद्धान्त दिखाई देते हैं। शब्दनित्यता के सिद्धान्त का बीज भेदों में ही पड़ गया था। शब्दतत्त्व और वाक् के विषय में वेदवचनों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वेद की नियतानुपुर्वी के सिद्धान्त के कारण उच्चार्यमाण शब्द के नित्यत्व को मानना भी अनिवार्य हो गया। अतः मीमांसकों ने शब्द की मूल इकाई वर्ण को नित्य माना। शाबरभाष्य लिखता है—"अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः[1]।" शाबरभाष्य के 'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः'? इस आक्षेप वाक्य को महाभाष्य ने ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है, परन्तु समाधान उपवर्ष के समाधान से भिन्न दिया है—"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः।" शाबरभाष्य और महाभाष्य का फलितार्थ लगभग समान है। महाभाष्य के कथन का भेदकतत्त्व है—'सम्प्रत्यय', जो कि अन्ततोगत्वा शाबरभाष्य को भी स्वीकार करना ही है। 'सोऽयं गकारः' की प्रत्यभिज्ञा से दो भिन्न-भिन्न कालों में वर्तमान वर्ण यदि इतने समय तक सत्ता में रह सकता है तो बाद में उसे कौन नष्ट करेगा[2] ? इस युक्ति के बल पर वर्ण का नित्यत्व, सर्वत्र उपलब्ध होने के कारण विभुत्व, और लाघव के लिए एकत्व मीमांसक स्वीकार करते। शब्दजाति मीमांसकों को स्वीकार नहीं। वर्ण को नित्य मानने के कारण तद्घटित पद तथा वाक्य भी स्वभावतः नित्य माने जा सकते हैं। वास्तव में मीमांसक क्रमोपलक्षित क्रमसन्निविष्ट वर्णों को ही पद या वाक्य मानते हैं। इस विषय में नैयायिक भी मीमांसकों के साथ हैं। नैयायिकों[3] की दृष्टि में भी—वर्ण-समूह पद और पदसमूह वाक्य है। वेदान्तियों और साङ्ख्यीयों का भी यही दृष्टिकोण है।

नैयायिक शब्द को सर्वथा अनित्य मानते हैं। जिन वर्णों को मीमांसकों ने नित्य माना, उन्हीं को उच्चरित-प्रध्वंसी देखकर नैयायिकों ने अनित्य माना "शब्दोऽनित्यः, कार्यत्वात्, घटवत्" यह अनुमिति नैयायिक जगत् में खूब प्रचलित है। नयायिकों का शब्द एक गुण है, जब कि मीमांसक वर्ण को द्रव्य मानते हैं।

वैयाकरणों ने शब्द को नित्य माना है। उन्होंने शब्द को ब्रह्मत्व के महनीय पद पर आसीन किया, यह एक अलग बात है। यहाँ हम जिस शब्द की चर्चा कर रहे हैं, वह अर्थ का वाचक शब्द है। शाब्दिकों ने इसको दो पहलुओं से देखा---श्रवणीयता

---

१. शाबरभाष्य. १। १। १

२. तावत्कालं स्थिरं चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति ॥ (श्लोकवार्तिक–३७७)

३. वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सुप्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति। श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते। प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति। (न्यायसूत्रभाष्य–३।२।६२)

के पहलू से और वाचकता के पहलू से। इसका श्रवणीय पक्ष अनित्य है, यह शाब्दिकों को भी स्वीकार है। परन्तु इसका जो वाचक-पक्ष है, उसे वे नित्य मानते हैं। "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" कह कर वार्तिककार और भाष्यकार ने, पाणिनि[1], व्याडि आदि पूर्वाचार्यों द्वारा रखी गई आधारशिला पर शब्दनित्यतावाद का जो भव्य-भवन निर्मित किया, वाक्यपदीय ने उसकी सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। अत्यन्त रोचक और तर्कपूर्ण युक्ति से उपमा आदि के द्वारा वाक्यपदीय ने विषय को प्रस्तुत किया है।

श्रूयमाण ध्वनियाँ इस नित्यता-पक्ष में वाचक शब्द की केवल अभिव्यञ्जक मानी गई हैं। अतः उनके अङ्कुर होने पर भी शब्द की नित्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे श्रूयमाण शब्द भी आकृति-पक्ष में नित्य ही होते हैं। गो, गो, गो, इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों में उच्चरित ध्वनिरूप शब्दों की 'गोशब्दत्व' आकृति (जाति) नित्य है। यही आकृति शब्द भिन्न-भिन्न 'गो' पदार्थों (वास्तविक गायों) की 'गोत्व' अर्थजाति का वाचक बनता है। यह आकृति-पक्ष केवल शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए नहीं किया गया है। व्याकरणशास्त्र की यह अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना शास्त्र-प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं। गो आदि अर्थ-व्यक्तियाँ अनन्त हैं, उन सबके लिए एक-एक करके वाचक शब्द-व्यक्तियों का प्रयोग करना असम्भव है। यही स्थिति शब्दव्यक्तियों की है। प्रत्येक शब्दव्यक्ति के साधुभाव के लिए शास्त्र के लक्षणों (सूत्रों) का प्रयोग करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। अतः "अर्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।" यही मान्य सिद्धान्त है।

शब्द और अर्थ—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥ (वा० प०)

शब्द और अर्थ का आपसी सम्बन्ध उतना ही नित्य है जितना ये स्वयं है। शब्द की नित्यता पर विचार किया जा चुका है। वस्तुरूप अर्थों की नित्यता इस बात पर निर्भर करती है कि यह वस्तुमय संसार स्वयं कितना नित्य है। भौतिक विज्ञानियों के लिए यह एक बड़ी समस्या हो सकती है। वेदान्तियों को संसार नश्वर दिखाई दे सकता

---

१. तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् (पा० अ० १।२।५३) में पाणिनि ने शब्दों का स्वतः प्रामाण्य मानकर उनके नित्यत्व का समर्थन किया है।

"संग्रहे तावत्कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति" इस भाष्योक्ति से ज्ञात होता है कि व्याडि ने अपने संग्रहग्रन्थ में शब्द को नित्य माना है। व्याडि पाणिनि के समकालीन थे।

है। परन्तु शाब्दिकों के लिए ऐसी कोई समस्या नहीं। किसी एक घड़े के टूटने से घट पदार्थ का नाश यहाँ नहीं होता, न ही घट शब्द इसके बिना अर्थहीन होता है। शब्द में आकृति-पक्ष की भाँति अर्थ में भी आकृतिपक्ष यहाँ मान्य है। न शब्द-आकृति कभी नष्ट होती, न अर्थ-आकृति। अतः शब्द और अर्थ दोनों नित्य हैं।

अर्थ के विषय में वचनव्यापार में एक अनोखी बात है। शब्द को अपने प्रयोग या प्रवृत्ति के लिए अनिवार्य रूप से सचमुच की वस्तु अर्थ के रूप में अपेक्षित नहीं होती। यदि घट का अर्थ घड़ा है तो घट शब्द का प्रयोग करते समय सचमुच के घड़े की आवश्यकता नहीं है। सामान्य जीवनव्यापार में घट का प्रयोग करते समय सचमुच के घड़े का होना अनिवार्य है। वचनव्यापार में यदि वक्ता की इच्छा घट अर्थ का बोध कराने की हो तो विवक्षा मात्र से घट शब्द का प्रयोग करते ही अर्थ-रूप घट को प्रतीति का विषय बनना ही पड़ेगा। इस मिट्टी के बिना बने घट की अनित्यता का कोई प्रश्न ही नहीं। इसलिए हरिवृषभवृत्ति में कहा गया है—"अर्थस्य प्रवृत्तितत्त्वं विवक्षा, न तु वस्तुरूपतया सत्त्वमसत्त्वं वा। (वा० प० १।१३ की वृत्ति।) अपनी इस अनोखी विशेषता के कारण शब्द एक ऐसे पदार्थ को भी साकार कर देता है, जिसका भौतिक जगत् में कोई अस्तित्व ही नहीं होता। जैसे—खरगोश के सींग।

नित्य शब्द के साथ नित्य अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य हो, यह स्वाभाविक ही है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का है—कार्यकारणभाव और योग्यता। शब्द सुनकर अर्थ की प्रतीति होती है तो शब्द अर्थ का कारण बनता है। ज्ञात अर्थ से विवक्षावशात् शब्द की उत्पत्ति होती है तो अर्थ शब्द का कारण बनता है। ये परस्पर एक दूसरे के कार्य और कारण हैं। इसी प्रकार शब्द में अर्थ का बोध कराने की योग्यता है और अर्थ में शब्द का बोध्य होने की योग्यता है। यह इनका योग्यता-सम्बन्ध है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की घनिष्ठता को सङ्ग्रहकार ने अभेद के रूप में स्वीकार किया है। यथा—

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत्समवस्थितम्॥
सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्धः स्यात् कृतः कथम्॥

(वा० प० १।२६ की वृत्ति में सङ्ग्रहकार के नाम से उद्धृत पद्य)

शब्द-शक्तियाँ—

शब्दशक्तियों का उल्लेख करते हुए साधारणतया अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना की ओर ध्यान जाता है। परन्तु यहाँ यह एक ध्यान खींचने वाली बात है कि उक्त शब्द—

शक्तियों का इस "शब्दार्थसम्बन्धीय प्रकरण" वाक्यपदीय में कोई उल्लेख नहीं है। इसका क्या कारण है? इस पर विचार न करते हुए उन शब्दशक्तियों पर ध्यान दें, जिनका उल्लेख यहाँ है।

शब्द की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—श्रुति-शक्ति और अर्थ-शक्ति। इनका सम्बन्ध सामान्य व्यवहार्य शब्द, वाक् और शब्दतत्त्व तीनों से एक-समान है। शब्दतत्त्व इन्हीं दो शक्तियों के द्वारा चित् और अचित् के रूप में विवृत्त होता है। वाक् इन्हीं के द्वारा सर्वमूर्तियों के बहिरन्तश्चर होकर व्याप्त है। और व्यवहार्य शब्द इन्हीं से अपनी श्रवणीयता और अर्थवत्ता को प्राप्त करता है।

विश्व में जो कुछ चित् है, वह शब्दतत्त्व की श्रुतिशक्ति का विवर्त है। समस्त ज्ञान और क्रिया श्रुतिशक्ति में निहित है। यही आगे चलकर संवेदन, स्पन्दन और वचन बनती है। वेदों का 'श्रुतित्व' इसी शक्ति का अनुकार मात्र है। लोक और वेद में ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा इसी शक्ति से होती है। उधर समस्त अमूर्त–समूर्त अचित् जगत् अर्थशक्ति की देन है, वाक् चिदचित् की 'संज्ञा' बनकर दोनों पर छाई हुई है। यह 'संज्ञा' सर्वभूतों की नाम भी है, चेतना भी है और पहिचान (आकार, धर्म, स्वभाव) भी। (संज्ञानं, संवित्, नाम च संता) व्यवहार्य शब्द की श्रवणीयता और अर्थवत्ता स्पष्ट ही हैं।

शब्द में कारणात्मिका शक्ति भी है। इसी से इसे जगत्कारण माना गया है। व्यवहार में भी यह पदार्थ भेद का मुख्य कारण है। शब्द के द्वारा निरूपित होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होती है। वस्तुसत्ता-मात्र से पदार्थ भिन्न होते हुए भी अभिन्न-से पड़े रहते हैं। व्यावहारिक भेद उनमें तभी पैदा होता है, जब वे शब्द से निरूपित होते हैं। मैदान में चरते हुए पशु-समूह के समान शून्य में बिखरे पदार्थ तब तक निरुपयोगी हैं, जब तक 'पृथ्वी' 'जल' 'वायु' आदि शब्दों से उन्हें निरूपित न किया जाय। चरता हुआ पशु-समूह भी 'गाय लाओ' 'घोड़ा लाओ' जैसे शब्द-प्रयोग के बिना व्यर्थ ही होता है। दूध देने या सफर करने को उपयोगिता उसमें नहीं होती, होते हुए भी नहीं होती, शब्द के बिना। अतः शब्द में कारणात्मिका और भेदिका शक्ति है।

प्रत्यवमर्शिनी शक्ति शब्द की एक और शक्ति है। वाक्यपदीय का कथन है कि यदि शब्द न हो तो प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो सकता! सच भी है। वस्तुओं का प्रकाशित होना न होना, बराबर है, यदि शब्दतः उन्हें घट या पट के रूप में निर्दिष्ट न किया जाय। प्रकाश का प्रकाशकत्व इसी बात पर निर्भर है कि वह वस्तुभेद को निर्दिष्ट करे। वस्तुभेद-निर्देश की प्रक्रिया प्रकाश पड़ने-भर से पूरी नहीं होती। अतः अनुव्यवसाय के रूप में शब्द तुरन्त भेदनिर्देशन का कार्य कर डालते हैं—घड़ा, कपड़ा, मेज, आलमारी,

आदि । ध्यान रहे, ज्ञान सभी शब्दमय होते हैं । अतः प्रकाश के कारण उत्पन्न दर्शन-जन्य चाक्षुष ज्ञान भी शब्दमय ही होता है । मुंह से "घड़ा" "कपड़ा" बोलने के बाद शब्द-प्रयोग हुआ, ऐसा सोचना ठीक नहीं । यह सच है कि जहाँ कोई द्रष्टा नहीं होता, वहाँ प्रकाशित वस्तुएँ विना भेदनिरूपण के यों ही पड़ी रहती हैं । वहाँ प्रकाश का होना, न होना बराबर है ।

स्फोट और ध्वनि—

स्फोट व्याकरणशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अति-प्रसिद्ध एवं अद्भुत तत्त्व है । हमारी दृष्टि में यह शाब्दिकों का ऐसा विजयस्तम्भ है, जिसे देखकर अन्य शब्दचिन्तकों की असंख्य युक्ति-सेनाएँ स्तम्भित रह जाती हैं । यह अद्भुत रत्न शाब्दिकों के हाथ कब आया ? इसका इतिहास ज्ञात करने की बड़ी आवश्यकता है । मीमांसकों का वर्ण-नित्यता का सिद्धान्त पहले से वर्तमान है । पाणिनि, कात्यायन ने शब्दनित्यता का उल्लेख किया है । पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य नित्यतावादी थे या अनित्यतावादी ? प्रातिशाख्य और निरुक्त क्या कहते हैं ? इस पर विचार किया जाना चाहिए । वेदों, उपनिषदों में अक्षर और वाक् के रूप में निष्ठा के साथ शब्दनित्यता की गाथा गायी है । परन्तु 'स्फोट' शब्दनित्यता का गायक तो नहीं है । 'स्टोफ' होने के नाते शब्द को नित्य सिद्ध करना सरल अवश्य हो जाता है ।

'स्फोट' शब्द का प्रथम प्रयोग सम्भवतः महाभारत में हुआ है । "वायुस्फोटाः सनिर्घाताः" (महाभारत ३।४३।५) यहाँ 'स्फोट' का अर्थ बिखरना या फटना है, परन्तु साथ ही निर्घात का प्रयोग सूचित करता है कि स्फोट का सम्बन्ध शब्द से अवश्य है । यह एक भौतिक सत्य है—जहाँ फटन, फूट या स्फोट होगा; वहाँ शब्द, ध्वनि या आवाज होगी । ध्वनि स्फोट का परिणाम है । उक्त महाभारतीय प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है ।

यह उद्धरण शब्द-नित्यतावादियों के बहुत अनुकूल पड़ता है । शाब्दिकों के स्फोट रूपी अस्त्र को वे इसी प्रत्यस्त्र से निष्क्रिय करने का प्रयत्न करते हैं । वाक्यपदीय में अनित्यतावादियों के दृष्टिकोण को इस प्रकार दिखाया गया है—

> यः संयोग-वियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
> सः शब्दः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ (वा० प० १।१०२)

दूसरा प्रयोग महाभारत के खिल 'हरिवंश' में मिलता है—"अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः ।" (हरिवंश, भविष्यपर्व १६।५२) इस पद्यार्थ का आधा भाग "भगवद्गीता" में भी मिलता है—'अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।" (गीता० १०।३३) इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महाभारत में 'स्फोट'

का प्रयोग व्याकरणशास्त्रीय शब्द के रूप में हुआ है। परन्तु 'स्फोट' को 'वर्णसंश्रय' बताना वाक्यपदीय के "पदे वर्णा न विद्यन्ते" के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता। वर्ण-स्फोट को वैयाकरण बहुत ही मन मार कर स्वीकार करते हैं। वह भी प्रकृति-प्रत्यय आदि के रूप में।

स्फोट के सम्बन्ध में यद्यपि महाभाष्य का वचन—"स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्द-गुणः" (महाभाष्य १।१।७० सूत्रभाष्य) बहुधा उद्धृत किया जाता है, तथापि भाष्य के पूरे प्रसङ्ग को देखकर महाभाष्य का वचन भी स्फोट के उस स्वरूप को सङ्केतित नहीं करता जो बाद में शाब्दिकों में स्थापित हुआ है। इस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने 'भेर्याघातवत्' का उदाहरण दिया है। वह स्फोट को फिर संयोग-विभाग-जनित "धमाके" (फटाक् या धम् का शब्द) के साथ जोड़ देता है। इस कथन से इतना ही सिद्ध होता है कि स्फोट और ध्वनि अलग-अलग पदार्थ हैं। इतना तो अनित्यतावा-दियों के भौतिक नियम से भी सिद्ध हो जाता है। भाष्यकार का उदाहरण "नगाड़ा" भः नितान्त भौतिक है। (वैसे यह भाष्यकार की शैली है कि बिल्कुल लौकिक उदा-हरणों के माध्यम से बड़ी बात कह जाते हैं।) वाक्यपदीय ने अनित्यतावादियों के दृष्टिकोण से इस प्रकार से कहा है—

दूरात् प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते॥

इस कारिका से भाष्यकारिका कितनी मिलती-जुलती है—

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥ ('तपर'सूत्रभाष्य)

स्फोट का वास्तविक स्वरूप उपादान शब्द का वह भाग है जो श्रुतिरूप शब्द का कारण बनता है।

"यदधिष्ठाना यदुपाश्रया यदाधारा श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थं प्रतिपद्यन्ते तस्य निमित्तत्वम् (श्रुतिरूपशब्दनिमित्तत्वम्) (वा० प० १।४४ की वृत्ति)

इस स्फोट के मुख्य लक्षण ये हैं—

१—यह बुद्धिस्थ होता है। २—यह अरणि में छुपे हुए तेजस् के समान होता है। ३—यह ध्वनिव्यङ्ग्य होता है। ४—यह अक्रम होता है। ५—यह ध्वनियों में प्रतिबिम्ब की तरह भासमान होता है। ६—यह एक ऐसी बुद्ध्यवस्था है, जो समस्त प्रत्याय्य को उसी प्रकार अपने में समेटे रखती है, जिस अण्डे में पक्षी सिमटा रहता है। ७—यह कालभेदरहित होता है। ८—यह अध्वनिक होता है। ९—यह अविकार होता है, इसमें उपचय अपचय नहीं होता। १०—और 'स्फुटत्यर्थोऽनेन सः स्फोटः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह अर्थ का प्रकाशक होता है।

वक्ता की बुद्धि में एक शब्दमय ज्ञान मध्यमा वाक् के रूप में रहता है। इस अव्यक्त शब्द को व्यक्त होने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है। यह माध्यम ध्वनियाँ हैं। सामान्य व्यवहार में ध्वनियों को ही शब्द कहा जाता है। इनमें ह्रास-वृद्धि, क्रमवत्ता और कालभेद होता है। परन्तु इन ध्वनियों के श्रवण के बाद जो ज्ञान (वस्तुज्ञान, जो शब्दमय ही होता है।) होता है, उसमें न तो ध्वनियाँ होती हैं और न उनका ह्रास-वृद्धि आदि। उधर ध्वनि-उच्चारण से पूर्व जिस अव्यक्त को व्यक्त करने के लिए ध्वनि का जन्म हुआ उसमें भी न तो ध्वनियाँ थीं और न ह्रास-वृद्धि आदि। यह ध्वनि-उत्पत्ति से पूर्व और ध्वनि-समाप्ति के बाद का अव्यक्त-तत्त्व ही स्फोट है। श्रोता और वक्ता की दृष्टि से देखें तो यह भिन्न-भिन्न प्रतीत होगा, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह एक ही है। वाक्यपदीय कहता है---

आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ॥ (वा० प० ११४५)

स्फोट का यह स्वरूप मुख्यतः वैयाकरणों के 'ज्ञान की शब्दात्वापत्ति[1]' पक्ष पर आधारित है। बाद के वैयाकरण इसी स्वरूप को अपनी विचार-चर्चा में स्थान देते हैं और इसी में अपने नित्यतावाद को सुरक्षित समझते हैं। परन्तु हमारे विचार में वाक्यपदीय ने वर्णोच्चारण के समय कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्य स्फोट (धमाके) को ही स्फोट माना है और उसी में अक्रमता आदि पूर्वोक्त स्फोट के मुख्य लक्षण माने हैं। वाक्यपदीय का विचार है कि स्फोट के प्रथम-क्षण में ही वर्ण या शब्द का आत्मस्वरूपलाभ हो जाता है, इस पर कालवृत्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रथमक्षणीय काल तो स्फोट में भी लगता ही है। स्थितिकाल का न्यूनाधिक्य ध्वनिगत होता है। ध्वनियों को सुनकर ही यह मालूम हो पाता है कि स्फोट हुआ है, अतः ध्वनियाँ स्फोट की व्यञ्जक होती हैं। शब्दोपलब्धि का यही क्रम है। इस प्रकार शब्दोपलब्धि की पूर्ण प्रक्रिया का प्रथमक्षणीय व्यापार स्फोट है। 'तपर'सूत्रस्थ भाष्य का भी यही अभिप्राय है। भौतिकशास्त्रीय और भाषाशास्त्रीय दृष्टि से यह उचित ही है। इससे शब्द-नित्यतावाद को कोई क्षति नहीं पहुँचती। बल्कि स्फोट की रहस्यमयी उलझावपूर्ण स्थिति अधिक स्पष्ट होती है।

इस प्रथम क्षणोत्पन्न एवं अश्रूयमाण स्फोट की उत्पत्तिमत्ता के कारण स्फोट में यत्किञ्चित् अनित्यता की सम्भावना को देखकर "जातिस्फोट" का पक्ष स्वीकार किया गया है। इस पक्ष में पूर्वोक्त स्फुटित शब्द या वर्ण-व्यक्तियाँ स्वगत जाति की अभिव्यञ्जिकाएँ होने के कारण ध्वनि मान ली जाती हैं। और स्फुटित-व्यक्तिगत

---

१. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते। (वा० प० ११०७) और
"अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मेवागात्मनि स्थितः। (वा० प० १।११२)
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥

जाति को 'स्फोट' कहा जाता है। क्योंकि जाति नित्य पदार्थ है, अतः स्फोट की अनित्यता की आशङ्का सर्वथा समाप्त हो जाती है। वाक्यपदीय कहता है—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।
कैश्चिद्व्यक्तय एवास्या ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः॥ (वा० प० १।९३)

यद्यपि वैयाकरण निकाय में—१. वर्णस्फोट २. पदस्फोट ३. वाक्यस्फोट ४. अखण्ड-पदस्फोट ५. अखण्ड-वाक्यस्फोट ६. वर्ण-जातिस्फोट ७. पद-जातिस्फोट ८. वाक्य-जातिस्फोट, ये आठ प्रकार के स्फोट माने जाते हैं, तथापि वाक्यपदीय में इनका प्रत्यक्षतः कोई उल्लेख नहीं है।

जहाँ तक ध्वनियों का प्रश्न है, वे स्फोट की व्यञ्जिकाएँ मानी जाती हैं। इनके दो भेद हैं—प्राकृत-ध्वनि और वैकृत-ध्वनि। प्राकृत-ध्वनि स्फोटाभिव्यक्ति के प्रथम श्रावण प्रत्यक्ष का नाम है। इसके विना स्फोट होते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। इन दोनों में इतनी निविडता है कि इन्हें अलग करना असम्भव-सा ही है। इसलिए प्रायः प्राकृत-ध्वनि का कालभेद ह्रास-वृद्धि स्फोट का ही मान लिया जाता है। यथा—

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः काल शब्दस्येत्युपचर्यते॥ (वा० प० १।७६)

इतना ही नहीं, स्फोट और प्राकृत-ध्वनि की निविडता के कारण इसके सम्बन्ध में मतभेद भी पैदा हो गये हैं—

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः॥ (वा० प० १।८१)

ध्वनियों में क्रम होता है। क्रमशः उत्पन्न और विलीन होती हुई ध्वनियाँ श्रोता की बुद्धि में एक अवर्णनीय-सा बोध-संस्कार छोड़ती चली जाती हैं और अन्तिम ध्वनि के साथ पूर्व-पूर्व ध्वनियों के छोड़े हुए बोध-संस्कारों के परिपक्व हो जाने पर शब्द-स्वरूप या स्फोट-स्वरूप बुद्धि में स्थिर हो जाता है।

वैकृत-ध्वनियाँ वे ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत-ध्वनियों द्वारा स्फोट के अभिव्यक्त हो जाने बाद कुछ अधिक समय तक सुनाई देती हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, इन तीन मात्रा-कालों तक प्राकृत-ध्वनि का क्षेत्र है। इसके बाद सुनाई पड़ने वाली वैकृत है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्राकृत और वैकृत ध्वनियों का सम्बन्ध केवल स्वरों से है। व्यञ्जन में कालभेद करना सम्भव नहीं है। कालभेद से अप्रभावी रहने की दृष्टि से व्यञ्जन स्फोट के बहुत निकट जान पड़ता है। ध्वनि होने का लक्षण उसमें इतना ही है कि वह सुनाई पड़ता है। काल-सम्बन्धी खींचा-तानी से मुक्त इस व्यञ्जन के विषय में वाक्यपदीय ने कुछ नहीं कहा। अन्य किसी व्याकरण-ग्रन्थ में भी इस विषय में कुछ देखने को नहीं मिला।

वाक्य में वर्ण और पद की स्थिति—

वाक्य-स्फोट वैयाकरण-सिद्धान्तों में परमसिद्धान्त है। इसकी चमत्कृत करने वाली विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त उच्चकोटि का दार्शनिक-सिद्धान्त है, गम्भीर शास्त्रीय सिद्धान्त है और सरल-सा लौकिक सिद्धान्त है।

इसकी लौकिक सरलता के दर्शन घर-घर, गली-गली जब चाहें तब किये जा सकते हैं। घरेलू बात-चीत में श्रोता-वक्ता कभी भी इस बात का विचार नहीं करते कि उन्होंने किन और कितने वर्णों या पदों का प्रयोग किया। वर्ण और पद उनकी बात-चीत में थे भी या नहीं? उनको इस बात का न ज्ञान होता है, न परवाह होती है, इस व्यावहारिक सत्य को शास्त्रीय दृष्टि से परखने पर वाक्यगत पदों और वर्णों का अस्तित्व अव्यावहारिक दिखाई देता है। यदि वाक्य में पदों का अस्तित्व स्वीकार कर लें तो पदों में वर्णों का, वर्णों में वर्णभागों (जैसे—ऐ=आ+इ, औ=अ+उ) आदि का और उनमें भी चतुर्थांश, अष्टमांश, षोडशांश जैसे अव्यावहारिक भागों तक पहुँचते-पहुँचते वाक्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। और इसमें दार्शनिकता की बात यह आता है कि उक्त प्रकार से शब्द की नित्यता ही समाप्त हो जाती है। अतः—

पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ (वा० प० १।७३)

यद्यपि व्याकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया पदों और वर्णों के विवेचन से भरी पड़ी है, तथापि वह वाक्याधिगम का उपाय-मात्र मानी जाती है। जैसा कि वाक्यपदीय का कहना है—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालना।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ (वा० प० २।२३८)

यह शिक्षा-शास्त्रीय सिद्धान्त सामान्यशिक्षा और व्याकरण-प्रक्रिया पर अच्छा प्रकाश डालता है। और—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥ (वा० प० २।१४)

इतना सब होते हुए भी पद और वर्ण का तस्तित्व शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा नकारा नहीं जा सकता। अश्वः, अर्कः, अर्थः, इत्यादि "यह वही 'अ' है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। इसके अतिरिक्त शास्त्र-प्रवृत्ति का आधारभूत आकृति-पक्ष भी पदादि के अभाव में उपपन्न नहीं होता।

प्रतिभा—

प्रतिभा वर्ण-पद-प्रतीति-रहित अखण्ड अनवय वाक्य की प्रतिभासमान बौद्धिक-

परिणति है। अतः व्याकरणागम में इसे "वाक्यार्थं" माना जाता है। वाक्यार्थं में यद्यपि पदार्थं, पदों के अर्थं ही इसे प्रतिपादित करते हैं, तथापि पदों के अपने-अपने अर्थों से भिन्न ही 'प्रतिभा' वाक्यार्थं से होती है। "चन्द्र उदेति" का अर्थं केवल उतना ही नहीं जितना चन्द्र और उदेति का है।

∵ पद+पद+पद······=वाक्य,

∴ पदार्थं+पदार्थं+पदार्थं······=वाक्यार्थं।

यह समीकरण शुद्ध नहीं है। इसका कारण है प्रतिभा, जो सर्वथा असमाख्येय है, फिर भी सबको इसका अनुभव होता है। पदों का अभिधेयार्थं भले ही सदा समान हो, परन्तु प्रत्येक वाक्यगत प्रयोग में उनका प्रातिभ अर्थं भिन्न-भिन्न होता है। और फिर वाक्यगत सामुदायिक प्रतिभा और भी भिन्न होती है। कुएँ में झाँकते हुए बालक से यदि कोई प्रश्न करे कि—मरोगे ? तो निश्चित जानिए कि यहाँ प्रश्नकर्ता को "बालक की मरने की इच्छा है या नहीं" ऐसी जिज्ञासा बिल्कुल नहीं है। न ही यह बालक से प्रश्न है, न बालक इसका उत्तर हाँ या ना में देता है। कोई भी सोच सकता है कि इस छोटे से वाक्य में कितना 'प्रातिभ' अर्थं भरा पड़ा है।

प्रतिभा में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, तीनों शब्दशक्तियों का समावेश हो जाता है। क्योंकि—"विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।" (वा० प० २।१४३) जब प्रत्येक प्रयोग में प्रयोगानुसारिणी 'प्रतिभा' स्वयं उत्पन्न होती है तो प्रयोगस्थ पद या वाक्य का वह अभिधेयार्थं ही हुआ। लक्षक, व्यञ्जक वाक्यों में भी प्रातिभ, अर्थं ही काम करता है। सम्भवतः वाक्यपदीय में इसीलिए इन शब्द-शक्तियों का उल्लेख नहीं है।

प्रतिभा क्योंकि असमाख्येय तत्त्व है इसलिए उसके अनन्त भेद होने सम्भव हैं। फिर भी छः प्रकार की प्रतिभाओं का उल्लेख वाक्यपदीय ने किया है। यथा—१. स्वाभाविकी, २. चरणनिमित्ता (चरण=आचरण, सदाचार) ३. अभ्यासनिमित्ता, ४. योगनिमित्ता, ५. अदृष्टनिमित्ता और ६. विशिष्टोपहिता।

प्रतिभा का उल्लेख ब्रह्मकाण्ड में नहीं है। अतः अध्येताओं की सुविधा के लिए वाक्यकाण्ड की कारिकाएँ उद्धृत कर रहे हैं—

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
वाक्यार्थं इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ॥
इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ॥
उपश्लेषमिवार्थानां साकरोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ॥

साक्षाच्छब्देन जनिता भावनानुगमेन वा ।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ॥
प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति ।
समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि तद्वशात् ॥
यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजा ।
मन्दादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा ॥
स्वरवृत्तिं विकुरुते मधौ पुंस्कोकिलस्य कः ।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः ॥
आहार-प्रीत्य-भिद्वेष-प्लवनादिक्रियासु कः ।
जात्यन्वयप्रसिद्धासु प्रयोक्ता मृगपक्षिणाम् ॥
भावनानुगतादेतदागमादेव जायते ।
आसत्तिविप्रकर्षाभ्यामागमस्तु विशिष्यते ।
स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम् ।
विशिष्टोपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः ॥
(वा० प० २।१४३-१५२)

वेद और आगम—

वाक्यपदीय में वेद को शब्दतत्त्व की प्राप्ति का उपाय और उसकी अनुकृति बताया गया है। साथ ही बाद की स्मृतियों, शास्त्रों तथा विद्याओं का आधार भी बताया गया है। ब्रह्मकाण्ड के समग्र अध्ययन करने से ऐसा लगता है, मानों व्याकरण-शास्त्र का परमलक्ष्य उस शब्दतत्त्व की अनुकृति को पाना ही है। "तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः" (वा० प० १।१३१)। तुरन्त बाद "बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थिता" कह कर वाक्यपदीय मानो याद दिलाती है कि "त्रयी" परमात्मा की अनुकृति शब्दात्मिका प्रणवमयी बनकर सिद्धिस्वरूप हमारे सामने है और सब वादों और विवादों के बाद भी रहेगी।

'छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।' (वा० प० १।१२०)

यह कह कर वाक्यपदीय ने वेदों को जगत् का मूल-कारण माना है। क्योंकि वह जानता है कि—

"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्नवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्तः।"

प्रणवात्मा वेद एक है। उसके शाखाभेद केवल कर्मसम्पादन की दृष्टि से ही दिखाई देते हैं।

आगमों का प्रामाण्य वाक्यपदीय में वेदसदृश ही दिखाई देता है। क्योंकि आगमों, स्मृतियों, शास्त्रों आदि का प्रणयन वेद के सङ्केतों के आधार पर ही किया गया है। ईश्वर सम्बन्धी द्वैत और अद्वैत के विविध वाद वेद के अर्थवादों पर ही आधारित हैं। आगम मानव-जीवन के समस्त क्षेत्रों को नियन्त्रित करता है। वाक्यपदीय का विचार ऐसा प्रतीत होता है कि आज जो आगम-बोधित धर्म है वह यदि इसके ठीक विपरीत होता तब भी लोग अनुसरण करते—

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात्प्रतिपद्यते।
विपरीतं च सर्वत्र शक्यते वक्तुमागमे॥ (वा० प० १।१४०)

वाक्यपदीय आगम के रूप में परम्पराओं का दृढ़-पोषक प्रतीत होता है। परम्पराओं के सामने शास्त्रों का प्रभाव भी कम ही होता है। सामान्य जन, जिनका शास्त्रों से सीधा सम्पर्क नहीं होता, परम्पराओं के अनुसार ही अपना जीवन यापन करते हैं।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचाण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्॥ (वा० प० १।४०)

व्याकरण में प्रामाण—

प्रमेयों की चर्चा में प्रमाण का उल्लेख न करना उचित न होगा, परन्तु स्वयं वाक्यपदीय ने व्याकरण दर्शन के प्रमाणों का कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया।

प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सता॥ (मनुस्मृति० १२।१०५)

मनु के इस श्लोक में तीन प्रमाणों का उल्लेख है। इन तीनों को वेदान्त, सांख्य और व्याकरण मे मान्यता प्राप्त है। वास्तव में ये बुनियादी प्रमाण हैं। किसी भी प्रमेय की सिद्धि के लिए इनकी अनिवार्य आवश्यकता है। बाद के उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, ऐतिह्य, सबका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

व्याकरण शब्दशास्त्र है। अतः इसमें शब्दप्रमाण को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। यह प्रवृत्ति हमें वाक्यपदीय में भी दिखाई देती है। यहाँ आगम को (शब्द को) सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और अनुमान की हीनता दिखाने का पूरा प्रयत्न किया गया है।

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठिते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्॥ (वा० प० १।३०)

अनुमान की न्यूनता प्रकट करने के लिए वाक्यपदीय ने सात कारिकाओं का उपयोग किया है। उसने अभ्यास और अदृष्ट तक को अनुमान पर अधिमान्यता दी

है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे "शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद्घटवत्" का अनुमान करके शब्दनित्यता पर प्रश्न-चिह्न लगाने वाले तार्किक की वह धज्जियाँ उड़ा देना चाहता हो।

आगम को वाक्यपदीय प्रत्यक्ष के समान मानता है। जैसे—

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नाभिशङ्कते।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ॥ (वा० प० १।३९)

वाक्यपदीय का आगम हेतुवादों से निरस्त की जाने वाली वस्तु नहीं। वह तो प्राणिचैतन्य की तरह अविच्छिन्न है, अनवरत और अकाट्य है—

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥ (वा० प० १।४१)

और अनुमान ! वह तो बस एक अन्धा है, जो टटोल-टटोल कर चलते हुए गिरेगा अवश्य—

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥ (वा० प० १।४२)

अनुमान की इतनी खिल्ली उड़ाने के बाद भी वाक्यपदीय को अनुमान-प्रमाण मान्य नहीं है, ऐसा नहीं है। वाक्यपदीय के अनेक प्रमेय अनुमान से सिद्ध होते हैं। जैसे—श्रूयमाण ध्वनियों से स्फोट की सत्ता। शब्दतः भी अनुमान की स्वीकृति दिखाई देती है। जैसे—

रूपादयो यथा दृष्टाः प्रत्यर्थं यतशक्तयः।
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु ॥
यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयते।
साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभिः ॥ (वा० प० १।१३७,३८)

यहाँ "शब्दो धर्मसम्पादने समर्थः, अदृष्टार्थजननशक्तिमत्त्वात्, विषापहारकमन्त्र-वत्" यह अनुमान स्पष्ट ही सङ्केतित है।

और—"ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः" (वा० प० १।१४९) अनुमान का स्पष्ट नाम लिया है।

जहाँ तक प्रत्यक्ष का प्रश्न है, वह सबके लिए स्वीकार्य है, वाक्यपदीय को भी। परन्तु—

२ वा० मू०

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो दृश्यवाडिव।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः॥

तस्मात्प्रत्यक्षमप्यर्थं विद्वानीक्षेत युक्तितः।
न दर्शनस्य प्रामाण्याद् दृश्यमर्थं प्रकल्पयेत्॥

(वा० प० २।१४०,४१)

यह कहकर प्रत्यक्ष को प्रत्यक्षता पर भी वाक्यपदीय ने प्रश्नचिह्न लगा दिया और अनुमान की महत्ता भी सिद्ध कर दी।

इसके अतिरिक्त अभ्यास और अदृष्ट की प्रमाणता की ओर भी वाक्यपदीय ने सङ्केत किया है। मणि का मूल्य-निर्धारण करना अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, तीनों प्रमाण अनुपयोगी सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार राक्षसादियों (जिनका अस्तित्व अब समाप्त-प्रायः है।) की सिद्धियाँ, अदृष्ट-प्रमाण के बिना इनको कोई सङ्गति नहीं बैठती।

इस प्रकार वाक्यपदीय में—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, अभ्यास और अदृष्ट प्रमाणों का उल्लेख है, जो प्रसङ्गतः आया है।

अपभ्रंश—

संस्कृत और अपभ्रंश, ये दो शब्द भाषा के क्षेत्र में काफी विवादग्रस्त हैं। जिस भाषा को आज हम संस्कृत नाम से जानते हैं, क्या उसका यह मूल नाम है? वैदिक साहित्य, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि की रचनाओं में भी 'संस्कृत' नाम नहीं है। स्वयं वाक्यपदीय ने इसे संस्कृत न कहकर 'दैवी वाक्' कहा है। यह नाम वैदिक समय से चला आ रहा है। रामायण में 'संस्कृत' शब्द भाषा के सन्दर्भ में ही मिलता है, परन्तु वहाँ वह 'नाम' या 'विशेषण'? यह स्पष्ट नहीं होता। दण्डी ने काव्यादर्श में स्पष्ट रूप से वाक्यपदीय की 'दैवी वाक्' को 'संस्कृत' कहा है—'संस्कृतं नाम दैवी वाक्'', सम्भव है मध्यकालीन साहित्य में यह नाम अन्यत्र भी आया हो। प्राचीन साहित्य में इसका नाम भाषा, मानुषीवाक्, लोक या लौकिक भाषा, देववाणी, जैसा ही मिलता है। कुछ नये युग के लोगों का विचार है कि यह भाषा सुधार कर संस्कृत करके बनाई गई है, इसलिए इसका नाम 'संस्कृत' है। इसका मूल रूप प्राकृत था जो प्रकृतिभवा प्राकृतिक थी। यह विचार उठाया जरूर गया, परन्तु सम्मान नहीं पा सका, इसके कई कारण हैं।

उधर अपभ्रंशों का अस्तित्व भाषा के क्षेत्र में अपशब्द, असाधु, म्लेच्छ जैसे रूपों

में आरम्भ से ही हैं। इनकी संख्या और प्रयोग-क्षेत्र साधु-शब्दों की अपेक्षा बहुत विस्तृत है। फिर भी इनके प्रयोग से अधर्म, अनभ्युदय, सामाजिक अप्रतिष्ठा-जैसे दोष भाष्यकार-जैसे लोकादरप्रणयी विचारक ने भी बार-बार गिनाये हैं। "न म्लेच्छितवै नापभाषितवै" जैसे वचनों को व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन बताया है। अपशब्द-प्रयोग शिष्ट-समाज में एक गुरुतम अपराध समझा जाता है। (सम्भवतः इसका एक कारण बौद्ध-जैन आदि वेदेतर धर्मों में इसका प्रयोग किया जाना भी हो।)

जो हो वाक्यपदीयकार इस विषय में सच्चे भाषाशास्त्री के रूप में आया है। उसने स्पष्टरूप से अपभ्रंशों की वाचकता स्वीकार की है और साधुशब्दों की अवाचकता अङ्गीकार की है—

पारम्पर्य्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।
प्रसिद्धिमागता ये तु तेषां साधुरवाचकः ॥ (वा० प० १।१५३)

उसने साधुओं की तरह ही असाधुओं की अविच्छन्न परम्परा स्वीकार की है। साधुओं के समान ही असाधु भी प्रारम्भ से ही प्रयुक्त होते चले आये हैं। यह वस्तुस्थिति की स्वीकारोक्ति है और भाषाप्रकृति के अनुरूप है। वाक्यपदीय ने व्याकरण-प्रक्रियाहीनता को अपभ्रंश का मुख्य लक्षण न मानकर अनभिधायकता को अपभ्रंश का मुख्य लक्षण माना है। यथा—

उभयेषामविच्छेदादन्यशब्दविवक्षया ।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ॥
(वा० स० १ १५५)

व्याकरण का महत्त्व—

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥ (वा० प० १।११)

वेद के प्रधान अङ्ग के रूप में व्याकरण के महत्त्व को दर्शाते हुए वाक्यपदीय ने वाङ्मलों का अपाकर्ता, विद्याओं में श्रेष्ठ, मुक्ति का सरलतम मार्ग, शब्दाशुद्धि और अज्ञान के अंधेरे में ज्योतिःस्तम्भ, व्याकरण को बताया है। इसका वर्णन ब्रह्मकाण्ड की कारिका ११ से २२ तक बड़े ही रमणीय ढंग से हुआ है। और अन्त में—

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ (वा० प० १।२२)

कहकर व्याकरण का महत्त्व दर्शाया है।

वाक्यपदीय : संज्ञा—

इस महनीय ग्रन्थ का नाम 'वाक्यपदीय' क्यों है ? इसका प्रथम उल्लेख 'वामन-जयादित्य' की 'काशिका' में मिलता है। काशिकाकारों ने अपने ग्रन्थ में 'वाक्यपदीयम्' यह उदाहरण "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः" (पा० अ० ४।३।८८) सूत्र में दिया है। यह उक्त सूत्र में पठित 'द्वन्द्व' का उदाहरण है। उक्त सूत्र "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" (पा० अ० ४।३।८७) के अधिकार में है, अतः 'वाक्यपदीयम्' की व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई—वाक्यं च पदं च वाक्यपदे। वाक्यपदे अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, प्रकरणम्, वाक्यपदीयम्। स्पष्ट है कि वाक्य और पद इस ग्रन्थ के विवेच्य विषय हैं, अतः इसकी संज्ञा 'वाक्यपदीय' अन्वर्थ संज्ञा है। एकाध हस्तलेख में इसका नाम "वाक्यप्रदीप" लिखा हुआ पाया गया है। यदि ऐसा लेखकप्रमादवश न हुआ हो तो इसकी संज्ञा "वाक्यप्रदीप" भी रही होगी। इसकी सम्भावना कम ही है। क्योंकि अधिकांश हस्त-लेखों, मुद्रितप्रतियों, टीकाओं तथा अन्य ग्रन्थकारों द्वारा दिये गये उद्धरणों में 'वाक्य-पदीय' ही मिलता है। वैसे 'वाक्यप्रदीप' भी अन्वर्थ संज्ञा है।

वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में कुछ परिचयात्मक श्लोक दिये गये हैं। उसमें इस ग्रन्थ का नाम "आगमसङ्ग्रह" बताया गया है। यथा—

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः॥

यहाँ निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त श्लोक में ग्रन्थ का नामोल्लेख ही है। यह केवल परिचय-भर हो सकता है। परन्तु प्रथम काण्ड के अन्त में प्रसिद्ध "ब्रह्मकाण्ड" नाम न होकर 'आगम-समुच्चय'' नाम दिया है, जो कि 'आगम-संग्रह' का ही पर्य्याय या नामान्तर लगता है। इससे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता को 'आगम' शब्द से कितना स्नेह है। इससे पहले भी कहा जा चुका है कि वाक्यप-दीयकार "आगम" को कितना महत्त्व देता है। द्वितीय काण्ड के अन्तिम-श्लोकों में वह फिर 'आगम' पर जोर देता है—

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥

तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥

(वा० प० २।४८६, ८७)

इन पङ्क्तियों से यही लगता है कि इस ग्रन्थ का नाम ही 'आगमसंग्रह' है, जिसको पढ़ने के लाभ और न पढ़ने की हानियाँ उक्त पङ्क्तियों में गिनाई गई हैं। इससे पहले भी आगम की ही चर्चा है—

यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
स काले दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥ (वा०प० २।४८२,८३)

इस विवरण को देखकर ऐसा लगता है कि कदाचित् इस संग्रह का नाम 'आगम-संग्रह' रहा हो। जहाँ तक प्रसिद्धि का प्रश्न है, वह तो इसी 'आगम' शब्द के कारण प्रथम काण्ड के नामकरण में भी टूट गयी है।

वाक्यपदीय संज्ञा कितने भाग की ?—

वाक्यपदीय नाम से इस ग्रन्थ का कितना और कौन-सा भाग अभिप्रेत है? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। यह प्रश्न यहाँ पहली बार ही नहीं उठाया जा रहा है। इस विषय में पहले भी पूर्वाचार्यों में सन्देह, मतभेद और अनिर्णय की स्थिति रही है। इसका मुख्य कारण वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड के अन्त में समाप्तिसूचक कारिकाओं का होना है। ये कारिकाएँ इस प्रकार हैं—

प्रायेण सङ्क्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान्।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् सङ्ग्रहेऽस्तमुपागते॥ ४७८॥[1]
कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ ४७९॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः॥ ४८०॥
बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे सङ्ग्रहप्रतिकञ्चुके॥ ४८१॥
यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
स काले दक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥ ४८२॥

---

१. यह कारिकासङ्ख्या अभ्यङ्कर-लिमये-सम्पादित वाक्यपदीय (पूना १९८५) के अनुसार है।

पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः ।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः ॥ ४८३ ॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः ॥ ४८४ ॥
वर्त्मनामत्र केषांचिद्वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥ ४८५ ॥
प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥ ४८६ ॥
तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना ।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ॥ ४८७ ॥
इति श्रीभर्तृहरिविरचिते वाक्यपदीये द्वितीयं काण्डं समाप्तम्[1] ॥

इन कारिकाओं को देखकर स्पष्ट रूप से यही लगता है कि ग्रन्थकार ने अपना ग्रन्थ यहीं समाप्त कर दिया है। ग्रन्थ का उद्देश्य, आवश्यकता, पूर्ववृत्त, गुरुक्रम, ग्रन्थ की विषयवस्तु, पदों की हीनता और फलश्रुति सब कुछ इसमें है। यदि ''काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा'' इतना अंश निकाल दिया जाय तो इस ग्रन्थ के यहीं समाप्त होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

टीकाकार पुण्यराज ने इस पद्यार्थ की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है—

''शिष्टे तु तृतीयेऽस्य ग्रन्थस्य काण्डद्वयनिष्यन्दभूते न्यक्षेणादरविशेषेण स्वसिद्धान्तपरसिद्धान्तवर्तिनां विचारणा युक्तायुक्तविचारपूर्वकनिर्णीतिर्भविष्यति। ततो नायमेतावान् व्याकरणागमसंग्रहः।''

पुण्यराज की दृष्टि में यह ग्रन्थ यहीं समाप्त नहीं हुआ। पुण्यराज, जिसका समय दसवीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध है, निश्चय ही उस प्रसिद्धि से प्रभावित रहा होगा, जो इसी पद्यार्थ के कारण विगत ५-६ सौ सालों में हो चुकी थी। परन्तु इसी स्थल पर उसने विषय की दृष्टि से तृतीय काण्ड को जो विशेषण दिया है—''काण्डद्वयनिष्यन्दभूते'' वह

---

१. आ० पुस्तक का पाठभेद—''इति भर्तृहरिकृते वाक्यपदीये द्वितीयं काण्डम्। समाप्ता च वाक्यप्रदीपकारिका।'' यहाँ आ० पुस्तक का अर्थ है—Central Library Department, Baroda में सुरक्षित पाण्डुलिपि, जिसका लेखन-सम्बन्धी विवरण इस प्रकार है—''शालिवाहनशके १४५६ जयाब्दे शरदृतौ आश्विनमासे शुक्लपक्षे एकादश्यां गोदातीरे दक्षिणकूले नृसिंहक्षेत्रे सिद्धेश्वरदेवसन्निधौ विश्वनाथस्य मुकुन्देन लिखितम्।''

एक और-ही सङ्केत देता है। पुण्यराज का विचार है, जो कि उचित है, कि तृतीय काण्ड पहले दो काण्डों का निचोड़ है। अर्थात् इस काण्ड में पदविषयक विचार नहीं, अपितु ब्रह्म-शब्दतत्त्व और वाक्य के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। उक्त कारिका के प्रथमार्ध में यह बात कही गई है कि प्रथम दो काण्डों में न्यायमार्गों का वस्तुमात्र है। इसका भी यही अभिप्राय हुआ कि तृतीय काण्ड स्वतन्त्र रूप से पदविषयक न होकर पूर्व दो काण्डों का विस्तार है। ऐसी स्थिति में दो बातें हो सकती हैं— या तो तृतीय काण्ड पदकाण्ड नहीं है, या पूर्ववर्ती दोनों काण्डों में भी पदविषयक विचार है। दूसरी बात को सभी आसानी से स्वीकार कर लेंगे।

पदकाण्ड नाम क्यों ?—

तब प्रश्न उठता है कि यदि तीनों काण्डों में पदविषयक विचार है तो केवल तृतीय काण्ड का ही नाम पदकाण्ड क्यों है ? साथ ही यह भी कि इस तृतीय काण्ड की पद-संज्ञा है भी या नहीं ? अभ्यङ्कर-लिमये-सम्पादित पूना से प्रकाशित तृतीय काण्ड की समाप्तिसूचक पुष्पिका इस प्रकार है—"इति श्री भर्तृहरिकृते वाक्यपदीये तृतीयं काण्डं समाप्तम्। इस संस्करण के सम्पादकों का कहना है कि—तृतीय का पाठ हमने वास्तव में डेकन कालेज, पूना द्वारा अब तक प्रकाशित पाठों से लिया है[1]। स्पष्ट है कि डेकन कालेज के पाठों में उक्त पुष्पिका को देखते हुए 'पदकाण्ड' नाम नहीं है। डेकन कालेज से 'सुब्रह्मण्यम् अय्यर' के संस्करण निकले हैं। अतः अय्यर को भी पदकाण्ड नाम से परिचय नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्करण तैयार करने में अभ्यङ्कर-लिमये ने जिन मुद्रित-अमुद्रित ग्रन्थों का उपयोग किया है (इनकी संख्या दस है।) एक को छोड़कर सभी अपूर्ण हैं। आठ में या तो तृतीय काण्ड है नहीं, या अधूरा है। जो पूर्ण है वह अत्यन्त अशुद्ध, अपेक्षाकृत नया तथा अनुपयोगी है। दसवें का नाम "वाक्यपदीयप्रकीर्णप्रकाश" है। यह भी अधूरा है। अतः इनमें 'पदकाण्ड' नाम ढूँढ़ना व्यर्थ है। 'प्रकीर्णप्रकाश' हेलाराज की तृतीयकाण्ड-व्याख्या है, जो पहले 'डेकन कालेज' से और अब वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से मुद्रित हो चुकी है। उसकी पुष्पिका इस प्रकार है— "श्रीभूतिराजतनयहेलाराजकृते प्रकीर्णप्रकाशे वृत्तिसमुद्देशश्चतुर्दशः।" फिर पाँच श्लोकों के बाद "समाप्तोऽयं प्रकीर्णप्रकाशः।"

हेलाराज (१०वीं शती) तृतीय काण्ड को प्रकीर्णकाण्ड कहता है, उपलब्ध मुद्रित-

---

1. For aur third Kanda, we have practically adopted the text so far published by the Deccan College (Vakyapadiya, Introduction P.P. II Poona 1985)

अमुद्रित पुस्तकों में 'पदकाण्ड' नाम नहीं है, विषय की दृष्टि से यह एक-मात्र पदविषयक काण्ड नहीं, तो फिर यह पदकाण्ड कैसे हुआ ?

पुण्यराज ने इस काण्ड को पदकाण्ड नाम से व्यवहृत किया है। यथा—"एतेषां च वितत्य सोपपत्तिकं सनिदर्शनं स्वरूपं पदकाण्डे लक्षणसमुद्देशे विनिर्दिष्टमिति ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्," यहाँ "ग्रन्थकृतैव स्ववृत्तौ प्रतिपादितम्" से ऐसा लगता है कि वृत्तिकार ने 'पदकाण्ड' का नाम लिया हो, परन्तु ऐसा है नहीं। "स्ववृत्तौ" से जिस वृत्त्यंश का उल्लेख है, वह इस प्रकार है—"तत्र द्वादश षट् चतुर्विंशतिर्वा लक्षणानि, इति लक्षणसमुद्देशे सापदेशं सविरोधं व्याख्यास्यते[1]।" यह प्रथम काण्ड की वृत्ति के अनुरूप है—"जातिसमुद्देशे सत्ताविभागे न्यक्षेण भावविकारा वक्ष्यन्ते।" दोनों जगह केवल 'समुद्देश' का नाम दिया है, काण्ड का नाम नहीं। पुण्यराज का कथन भ्रान्ति हो सकती है।

गणरत्नमहोदधि का कर्ता जैन वैयाकरण वर्धमान सूरि (११४० ई०) जो पुण्यराज का प्रायः समकालीन था, गणरत्नमहोदधि में लिखता है—"भर्तृहरिर्वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता, महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।" इसी विद्वान् ने अन्यत्र भर्तृहरि को "हरिदाकुमारमखिलाभिधानवित्" "वेदविदामलङ्कारभूतः" "प्रमाणितशब्दशास्त्रः" जैसे विशेषणों से अपने ग्रन्थ में निर्दिष्ट किया है। जिससे पता चलता है कि वर्धमान को भर्तृहरि के प्रति अच्छी श्रद्धा और समझ थी। उसका भर्तृहरि को "वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोः कर्ता" कहना केवल हल्की-फुल्की सूचना नहीं हो सकती, वह भी हेलाराज के 'प्रकीर्णप्रकाश' के प्रकाश में। वर्धमान स्पष्ट ही 'वाक्यपदीय' और 'प्रकीर्ण' को दो स्वतन्त्रकृतियाँ बता रहा है, साथ ही तृतीय काण्ड को प्रकीर्ण भी। इस काण्ड का नाम यदि केवल प्रकीर्णकाण्ड ही होता और 'पदकाण्ड की बात', भले ही किसी भी कारण से, न चली होती तो इस काण्ड का यह नाम सर्वजनग्राह्य निश्चित रूप से होता। इस पर विवाद की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। प्रथम दृष्टि में ही इसे 'प्रकीर्णकाण्ड' कहने को जी करता है।

पदकाण्ड नाम पड़ने का एक कारण वामन-जयादित्य (६५० ई०) की काशिकावृत्ति में प्रस्तुत की गई 'वाक्यपदीय' शब्द की व्युत्पत्ति भी है। काशिकाकारों ने 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (पा० अ० ४।३।८७) के अधिकार में "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः (पा०अ० ४।३।८८) का उदाहरण देते हुए द्वन्द्व का उदाहरण 'वाक्यपदीयम्'[2]

---

१. वाक्यपदीय अभ्यंकर-लिमये संस्करण के (Introduction) से उद्धृत।
२. काशिका "शिशुक्रन्द० (पा० अ० ४।३।८८) की वृत्ति में लिखती है—द्वन्द्वात् छः प्रत्ययो भवति, अधिकृत्य कृते ग्रन्थे...शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणम्, वाक्यपदीयम्।

बताया है। इसके अनुसार 'वाक्यपदीयम्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बनती है—वाक्यं च पदं च वाक्यपदे। वाक्यपदे अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः वाक्यपदीयम्।

वैसे यह उदाहरण अपने-आप में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें 'वृद्धाच्छः' (पा० अ० ४।२।११४) से भी छ प्रत्यय हो सकता है। उदाहरण कोई ऐसा होना चाहिए था, जिसमें "शिशुक्रन्द०" (पा० अ० ४।३।८८) से छ प्रत्यय हो सके, जैसा कि भट्टोजिदीक्षित (१५५० ई०) ने सिद्धान्तकौमुदी में दिया है—'किरातार्जुनीयम्' पता नहीं काशिकाकारों को यह उदाहरण क्यों नहीं सूझा ? जब कि इसी काव्य का उद्धरण "संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः" (किरातार्जुनीयः ३।१४) यह श्लोकांश "प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (पा० अ० १।३।२३) में दिया है।

जो हो, इस बात को छोड़कर इस उदाहरण का प्रभाव देखें। इस उदाहरण से एक लाभ यह तो हुआ कि वाक्यपदीय और भर्तृहरि के कालनिर्णय में बड़ी सहायता मिली परन्तु दूसरी ओर 'पद' शब्द कुछ अधिक ही प्रकाश में आ गया और पदकाण्ड-प्रकीर्णकाण्ड का विवाद या सन्देह उत्पन्न हो गया।

जैसा कि पहले कहा गया है, 'वाक्यपदीयम्' "शिशुक्रन्द०" (पा० अ० ४।३।८८) का उपयुक्त उदाहरण नहीं है, अतः पदशब्द का अर्थ काशिकाकारों के अनुसार न लेकर "पद्यते, प्राप्यते, ज्ञायते येन" इस करणव्युत्पत्ति से लिया जाय तो 'वाक्यपदम्' का अर्थ होगा—"वाक्यस्य पदम्", "वाक्यस्य प्रतिपादकम्", वाक्य का प्रतिपादक। इस "वाक्यपदम्" शब्द या "पदम्" शब्द को "क्रियतेऽनेन तत्करणम्" (इन्द्रियपर्याय) की तरह संज्ञा शब्द न भी माने तो शास्त्र का विशेषण तो माना ही जा सकता है। "वाक्यपदं शास्त्रमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, वाक्यपदीयम्"। "वृद्धाच्छः" (पा० अ० ४।२।११४) से 'छ' प्रत्यय करके रूप निष्पन्न हो जाता है। वाक्य-शास्त्र व्याकरण का नाम है। वाक्य को या वाक्य-विषयक सिद्धान्तों को प्राधान्य देने के लिए यदि व्याकरण का नाम लेना हो तो 'वाक्य' ही कहा जायेगा। 'पदम्' का अर्थ प्रतिपादक है, इसका उल्लेख "अस्या वाचः परं पदम्' (वा० प० १।१४२) की व्याख्या करते हुए 'हरिवृषभवृत्ति' में लिखा है—"निरपराधस्तु लक्षणप्रपञ्चवाननेकमार्गोऽयं शब्दानां प्रतिपत्युपायो दर्शितः।" यह वाक्य का प्रतिपत्युपाय है, यह 'पदम्' है। 'पदम्' का अर्थ 'स्थान' या 'आस्पद' भी लिया जाय तो भी ऊपर वर्णित प्रकार और 'छ' प्रत्यय की उपपत्ति हो जाती है। अतः एक लम्बे समय तक विद्वानों को 'वामन-जयादित्य' के बताये मार्ग पर न चलना पड़ा होता तो तृतीय काण्ड को पद-काण्ड कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुण्यराज को इसी कारण भ्रान्ति हुई है।

अभ्यङ्कर-लिमये के संस्करण की भूमिका में 'पदकाण्ड' नाम की सङ्गति बैठाने

का उपक्रम कुछ इस प्रकार किया गया है—प्रथम काण्ड का नाम—ब्रह्मकाण्ड, इस काण्ड की प्रथम कारिका में आये "अनादिनिधनं ब्रह्म" के आधार पर; द्वितीय काण्ड का नाम–वाक्यकाण्ड, इस काण्ड की द्वितीय कारिका में आये "वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना" के आधार पर (निर्विवाद है तो); तृतीय काण्ड का नाम–पदकाण्ड, इस काण्ड की प्रथम कारिका में आये "द्विधा कैश्चित् पदं भिन्नम्" के आधार पर है। इसमें एक युक्ति जरूर है, परन्तु आगे किये जाने वाले विचार से यह तुकबाजी से अधिक कुछ नहीं।

क्या पदकाण्ड पदपरक है ?—

पदकाण्ड में "द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नम्" से पद की चर्चा आरम्भ तो हुई है, परन्तु उसका स्वरूप दूसरी ही कारिका से इतना ऊँचा और दार्शनिक धरातल पर पहुँच गया कि व्याकरण-प्रसिद्ध "सुप्तिङन्तं पदम्" का कहीं अता-पता ही नहीं मिलता। यह काण्ड आरम्भ होते ही तुरन्त जाति-व्यक्ति, द्रव्य-गुण, काल-दिक् आदि की चर्चा में लीन हो जाता है। यह सैद्धान्तिक विवेचन उसे प्रथमकाण्ड के सङ्केतों और अपेक्षाओं से जोड़ देता है। तभी तो प्रथम काण्ड की तृतीय कारिका की न्यक्ष-विचारणा तृतीय काण्ड के पहले ही समुद्देश जातिसमुद्देश में होने लगती है। प्रथम काण्ड की तीसरी कारिका यह है—

> अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिता ।
> जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः ॥ (वा० प० १।३)

और इसकी 'न्यक्ष-विचारणा' यह है—

> सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
> जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥ ३३ ॥
> प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते ।
> क्रमरूपस्य संहारे तत् सत्त्वमिति कथ्यते ॥ ३५ ॥
> सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते ।
> क्रमेण शक्तिभिः स्वाभिरेवं प्रत्यवभासते ॥ ३६ ॥
> आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्या यत्रेदं कालदर्शनम् ।
> पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम् ॥ ३७ ॥
> तिरोभावाभ्युपगमे भावानां सैव नास्तिता ।
> लब्धक्रमे तिरोभावे नश्यतीति प्रतीयते ॥ ३८ ॥

पूर्वस्मात् प्रच्युता धर्मादप्राप्ता चोत्तरं पदम् ।
तदन्तराले भेदानामाश्रयाज्जन्म कथ्यते ॥ ३९ ॥
आश्रयः स्वात्समात्रा वा भावा वा व्यतिरेकिणः ।
स्वशक्तयो वा सत्ताया भेददर्शनहेतवः ॥ ४० ॥ (वा०प० ३।१।३३,४०)

अब इसको पद-चर्चा कौन कहेगा ?

इस काण्ड का वृत्तिसमुद्देश, जो कि पूरे काण्ड का लगभग आधा है और अन्तिम है, पदों की सीधी चर्चा उठाता है । इस आधे भाग का सम्बन्ध भी दूसरे काण्ड से है । दूसरे काण्ड, जो वाक्य-काण्ड के नाम से ही प्रसिद्ध है, में भी साथ-साथ पदों की चर्चा है । वास्तव में वाक्य की चर्चा करते हुए पदों की चर्चा करना अनिवार्य होता है । चाहे त्याग के लिए या स्वीकार के लिए । प्रथम काण्ड में जब वाक्य की एकमात्र सत्ता स्वीकार करने की बात कही गई तो कहा गया—

पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ (वा० प० १।७३)

यहाँ वाक्य की अपेक्षा पदों की चर्चा अधिक है । स्पष्ट है कि वृत्तिसमुद्देश में आयी पदों की सीधी चर्चा भी उसी उद्देश्य से आयी है, जिस उद्देश्य से द्वितीय काण्ड में आई है ।

तृतीय काण्ड का प्रतिज्ञा-वाक्य भी, जिसमें पद शब्द का प्रयोग हुआ है, और जिसके कारण अभ्यङ्कर-लिमये ने तथा अन्य विद्वानों (बलदेव उपाध्याय आदि) ने भी 'पदकाण्ड' नाम स्वीकार किया है, पदपरक नहीं है । देखें—

द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृति-प्रत्ययादिवत् ॥ (वा० प० ३।१।१)

(तुलना करें—'पदे वर्णा न विद्यन्ते....'(वा० प० १।७३), क्या ये दोनों कारिकाएँ एक विषय पर नहीं है ?)

"पद दो प्रकार का हो, चार प्रकार का या पाँच प्रकार का, वह प्रकृति-प्रत्यय की भाँति वाक्य का अपोद्धार ही होता है ।" यह वर्णन वाक्य का है, न कि पद का । 'अपोद्धृत्यैव' ध्यान देने योग्य है । सत्ता तो वाक्य की है, पद तो अपोद्धार करके ही अस्तित्व में आते हैं । और फिर इन अपोद्धृत पदों की भी क्या स्थिति है ? देखें—

पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा ।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ ॥ (वा० प० ३।१।२)

अपोद्धृत पदों का जाति या द्रव्य ही बोध्य होता है । तुलना करें—"जातिः

सङ्घातवर्तिनी" (वा० प० २।१) या "अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।" (वा० प० १।९३)। और तुलना करें—

यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृति-प्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्णितः॥ (वा० प० २।१०)

यह भी कि—द्रव्यम् आत्मा, शब्दात्मा, स्फोटः। यह एक अलग विषय है कि स्फोट वास्तव में द्रव्य के रूप में होता है या जाति के रूप में। इसीलिए "जातिर्वा द्रव्यमेव वा" कहा गया है। परन्तु इससे यह तो समझा ही जा सकता है कि इस काण्ड के 'प्रतिज्ञावाक्य' में पद की चर्चा है या वाक्य की।

सार यह कि—वाक्यपदीय का तृतीय काण्ड "पदविषयक है" आपाततः ऐसा नहीं कहा जाना चाहिए।

हेलाराज इसे स्पष्टतः 'काण्डद्वय' का 'शेषभूत' और प्रपञ्च कहता है—

काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः॥
तच्छेशभूते काण्डेऽस्मिन् सप्रपञ्चे स्वरूपतः।
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते॥

(हेलाराजीय प्रकीर्णप्रकाश के प्रारम्भिक श्लोक। वाक्यपदीय, तृतीयकाण्ड—डेकन कालेज, पूना, १९६३)

वाक्यपदीय का प्रतिपाद्य विषय—

पुण्यराज ने भी, जिसने सम्भवतः पहले-पहल इस काण्ड को 'पदकाण्ड' नाम दिया, इसको पूर्ववर्ती काण्डों का निष्यन्दभूत[1] माना है। काशिकाकारों ने 'वाक्य-पदीयम्' को द्वन्द्व का उदाहरण बता कर 'पद' को 'वाक्य' के समान महत्त्व तो दिया, किन्तु साथ ही उसे "शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणम्" बता कर उसकी विषय-वस्तु का सङ्केत एक दूसरे ही रूप में किया। स्वभावतः इस सङ्केत को बाद के विद्वानों ने कात्यायन के "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्तिक के साथ जोड़ा। बल्कि अधिक उचित तो यह है कि काशिकाकारों के समय में वाक्यपदीय की प्रसिद्धि शब्दार्थ-सम्बन्धीय प्रकरण के रूप में ही रही हो और इसके तीनों काण्डों का नाम केवल प्रथम, द्वितीय और तृतीय काण्ड रहे हों। काशिका में दिये गये द्वन्द्व के उदाहरण के बाद ही लोगों का ध्यान वाक्य और पद पर अलग-अलग गया होगा।

---

१. तुलना करें—निष्यन्दभूत—शेषभूत। पुण्यराज और हेलाराज के दिये हुए विशेषण कितने मिलते-जुलते हैं।

काशिकाकारों के समय में वाक्यपदीय की प्रसिद्धि "शब्दार्थसम्बधीय प्रकरण" के रूप में ही थी। काशिका ने उसका उल्लेख-भर किया है। वास्तव में वाक्यपदीय का प्रतिपाद्य विषय शब्दार्थसम्बन्ध ही है। यथा—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥ (वा० प० १।२३)

यहीं से वाक्यपदीय का आरम्भ होता है। यहाँ हरिवृषभवृत्ति लिखती है—
"नित्यः शब्दो नित्योऽर्थो नित्यः सम्बन्ध इत्येषा शास्त्रव्यवस्था।"
आगे फिर—अपोद्धारपदार्था ये······(वा० प० १।२४–२६)
और फिर—आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम्। (वा०प० १।४३)
और फिर—द्वावुपादानशब्देषु······(वा० प० १।४४)

स्पष्ट ही वाक्यपदीय का विषय वही है, जो "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" का है या पूरे व्याकरण-शास्त्र का है।

अतः 'वाक्यपदीय' नाम के कारण 'पद' नाम का कोई अलग काण्ड होना आवश्यक नहीं। यह पूरा ही ग्रन्थ, तृतीय काण्ड सहित, वाक्यपदीय है। अर्थात् इसके सभी काण्ड वाक्यीय भी हैं और पदीय भी। तृतीय काण्ड इसका मुख्य अङ्ग है या नहीं, इस पर अलग विचार करेंगे।

युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने "व्याकरण शास्त्र का इतिहास" में एक और ही बात सुझाई है। मीमांसक का विचार है कि केवल द्वितीय काण्ड का ही नाम 'वाक्यपदीय' है। शेष प्रथम और तृतीय काण्डों का नाम क्रमशः आगमकाण्ड और प्रकीर्णकाण्ड है। जब पूरा 'वाक्यपदीय' द्वितीय काण्ड का ही नाम हो, तब 'पदकाण्ड' का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अपने मत की पुष्टि में मीमांसक ने हेलाराज का यह श्लोक उद्धृत किया है—

त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता।
तस्मै समस्तविद्याश्रीकान्ताय हरये नमः॥

(हेलाराजीय प्रकीर्णप्रकाश का उपान्त्य श्लोक)

मीमांसक का कहना है कि इस श्लोक में 'त्रिपदी' त्रिकाण्डी का विशेषण है, जिसका अर्थ है तीन पदों वाली अर्थात् तीन पदों से अभिहित होने वाली 'त्रिकाण्डी', इनमें दो पद हैं—'आगम' और 'प्रकीर्ण'। तृतीय पद प्रसिद्ध नहीं। अतः परिशेषात् तीसरा पद 'वाक्यपदीय' हुआ, जो कि उक्त दोनों आगमकाण्ड और प्रकीर्णकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध काण्डों को छोड़कर द्वितीय काण्ड की संज्ञा है।

हम मीमांसक के इस कथन से तो सहमत हैं कि केवल द्वितीय काण्ड को वाक्य-

पदीय कहा जा सकता है, क्योंकि उसका वर्ण्यविषय वाक्य और पद दोनों हैं। साथ ही हम 'वाक्य-पद' में द्वन्द्व-समास मानना भी आवश्यक नहीं मानते, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है। तृतीय काण्ड का नाम 'प्रकीर्णकाण्ड' भी हमें अभीष्ट है। परन्तु उक्त श्लोक की जिस प्रकार की व्याख्या करके यह मत व्यक्त किया गया है, उसे हम स्वीकार नहीं करते।

उक्त श्लोक का ठीक अर्थ यह है—

"येन हरिनामकेन, यशोरूपेण त्रैलोक्यगामिनी त्रिकाण्डी वाक्यपदीयमिति रचना, त्रिपदी पाणिन्यष्टाध्याय्याः प्रथमाध्यायस्य त्रिपादपर्यन्तं पातञ्जल-भाष्यव्याख्या च कृता, समस्तनिगमागमादिविद्यारूपिण्याः श्रियः कान्ताय वराय तस्मै हरये तन्नामकाय विदुषे नमः। अथवा समस्तविद्यानां श्रिया शोभया कान्तः कमनीयो यस्तस्मायिति।

यह श्लोक श्लेष में है। इसका दूसरा अर्थ है—

येन त्रिविक्रमेण त्रैलोकगामिनी लोकत्रयं व्याप्ता त्रिकाण्डी पाताल-भू-स्वरित्यूर्ध्वाधरं स्थितस्य लोकस्तम्भस्य काण्डत्रयं, त्रिपदी त्रयाणां पदानां समाहारः, पदं चात्र पदन्यासमितदैर्घ्यं, कृता सम्पादिता, अथवा 'त्रिपदीकृता' इत्यभूततद्भावे कृञो योगे—अत्रिपदं त्रिपदायोग्यं त्रिपदं कृतमिति त्रिपदीकृतम्, त्रिकाण्डी-विशेषणत्वेन त्रिपदीकृता इति। विद्या नाम अविद्याभावः, समस्ता अविकला पूर्णविद्या एव श्रीः विष्णुपत्नी तस्याः कान्ताय हरये विष्णवे नमः। सर्वाविद्या-ध्वंसाप्रतियोगि हि शब्दतत्त्वं नारायणश्चेत्युभयमपि ध्वन्यते।

यहाँ त्रिपदी-त्रिपादी का विवाद उठाना व्यर्थ होगा। किसी वस्तु के चतुर्थांश को पद और पाद दोनों ही कहा जाता है। पाणिनि के अध्याय-चतुर्थांश की 'पाद' नाम से प्रसिद्धि से श्लोककार को अवश्यमेव त्रिपादी कहने को बाध्य नहीं किया जा सकता। छन्दोऽनुरोध रचना करते समय बड़ी चीज होती है। श्लेष के क्षेत्र में यह और भी आवश्यक हो जाता है। यह सोचना भी व्यर्थ होगा कि हरि की टीका पूरे महाभाष्य पर रही होगी, तो वह त्रिपदी-त्रिपादी कैसे हो गई? भले ही भर्तृहरि ने पूरे महाभाष्य पर 'दीपिका' लिखी हो, परन्तु हेलाराज और वर्धमान के समय वह 'त्रिपादी' टीका के नाम से ही प्रसिद्ध थी। इत्सिग ने भी 'दीपिका' का जो परिमाण बताया है, वह भी उसके त्रिपादी होने का सङ्केत देता है।

वाक्यपदीय—तृतीयकाण्ड का कर्ता कौन?—

यह प्रश्न नया भले हो हो, अनावश्यक और निर्मूल नहीं है। इस प्रश्न का बीज

भी द्वितीय काण्ड की समाप्ति पर पूर्व-उद्धृत कारिकाओं ने ही डाला है। उन कारिकाओं में लिखा है—

प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ।

"हमारे गुरु ने यह आगमसंग्रह बनाया।" इसका अर्थ हुआ इन कारिकाओं के लेखक ने यह आगमसंग्रह नहीं बनाया। इनका लेखक यह भी समझता है कि इससे पूर्व का, द्वितीय काण्ड तक का, आगमसंग्रह बहुत सूक्ष्म है। इसमें केवल 'वस्तुमात्र' का वर्णन है। इसलिए वह "न्यक्षेण विचारणा" के लिए एक और काण्ड, तृतीय काण्ड रचने की प्रतिज्ञा भी करता है—

वर्त्मनामत्र केषाञ्चिद्वस्तुमात्रमुदाहृतम् ।
काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा ॥

इस कथन से स्पष्ट है कि द्वितीय काण्ड की ४७७ वीं कारिका के बाद के श्लोक किसी अन्य लेखक के हैं, जिसने तृतीय काण्ड की रचना की है और द्वितीय काण्ड ४७७ वीं कारिका—

तथा द्विर्वचनेऽचीति तन्त्रोपायादिलक्षणः ।
एकशेषेण निर्देशो भाष्य एवोपवर्णितः ॥

पर ही समाप्त है।

हम ही पहली बार यह आशङ्का उठा रहे हैं, ऐसी बात नहीं है। पुण्यराज ने स्वयं यह शङ्का उठाई है और अपने प्रकार से समाधान भी किया है। यथा—

"अथ कदाचिद् योगतो विचार्य तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय प्रणीत इति स्वरचितस्यास्य ग्रन्थस्य गुरुपूर्वक्रममभिधातुमाह"—

न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम् ।
प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसंग्रहः ॥

न्यायस्य प्रतिष्ठा प्रस्थानं तस्य मार्गान् न्यायप्रस्थानमार्गान् । न्यायप्रतिष्ठितैर्बहुभिर्मार्गैरिति यावत् । न्यायप्रस्थानमार्गांस्तांस्तान् स्वं च दर्शनं व्याकरणसिद्धान्तलक्षणमभ्यस्यायं प्रणीतः । अनेन संज्ञाय न तथा ममायमागमसंग्रहः प्रणीतः, येन सन्देहो भवेदपितु सावधानेनेत्युक्तं भवति । अस्माकमिति बहुवचनादन्येषामपि सहाध्यायिनां ग्रहणम् । अथवा मया तु तदनुच्छेदायायमुपनिबन्धः कृत इत्यात्मनो बहुमानः प्रकटितः ॥ ४८२ ॥

पुण्यराज ने 'प्रणीतः' का अर्थ बड़ी चतुराई से किया और सीधे अर्थ को दूसरी दिशा में मोड़ दिया। 'प्र' पूर्वक 'नी' धातु का अर्थ रचना करना तो संस्कृत-वाङ्मय में

सहस्रशः लक्षशः मिलेगा, परन्तु देने या सिखाने-पढ़ाने के अर्थ में कदाचित् ही कहीं मिले। जिस अर्थ को पुण्यराज ने यहाँ दिखाया है, उस अर्थ में 'उप' पूर्वक 'नी' धातु का प्रयोग होता है। उपनी=देना या समर्पित करना। तभी पुण्यराज को अपने किये हुए अर्थ से सन्तोष न हो सका और उसने "अथवा मया तु तदनुच्छेदायायमुपनिबन्धः कृतः' कह कर लेखक को लिपिकार बना दिया। न जाने किस लोभ में आकर पुण्यराज ने सीधे-साधे अर्थ को इधर-उधर घुमाया। इसी प्रसङ्ग में रघुनाथ शर्मा अम्बाकर्त्री में लिखता है—"अयमागमसङ्ग्रहो गुरुणास्माकं कृते प्रणीत इति वा योजना।" शर्मा को भी पुण्यराज का उलट-फेर पसन्द नहीं। शर्मा स्पष्ट लिखता है—"वाक्यपदीयाख्यो गुरुणा प्रणीतो न तु मया।"

स्पष्ट है कि द्वितीय काण्ड की ४७७वीं कारिका तक का रचयिता कोई और ही व्यक्ति है। या यों कहें कि "वसुरात"[1] है।

'आगे तृतीयकाण्ड का रचयिता भी वसुरात है' ऐसा न मानने का कारण भी ये ही श्लोक हैं। यदि आगे की रचना भी उसी लेखक की होती तो ये समाप्तिसूचक श्लोक बीच में न आते। इतनी बात तो बिल्कुल साधारण बुद्धि से भी समझी जा सकती है।

जो हो इन श्लोकों के लिखे जाने तक यह रचना यहीं तक पूर्ण मानी जाती रही। गुरु वसुरात "अनादिनिधनम्" से लेकर "तथा द्विर्वचनेऽचीति" तक अपने शिष्यों को पढ़ाते रहे। शिष्यों में एक योग्य शिष्य था, जिसने इसका उपनिबन्धन (आजकल की भाषा में सम्पादन) कर दिया। क्योंकि उसे मालूम था कि—'संग्रह' जैसे ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं। महाभाष्य भी लुप्त होकर बड़ी कठिनाई से प्रकाश में आया है। अतः गुरु के इस 'आगमसङ्ग्रह' का उपनिबन्धन उसे आवश्यक प्रतीत हुआ। अन्यथा इसके भी लुप्त हो जाने की आशङ्का थी। यह तो निश्चित है कि गुरु शिष्यों को विस्तार से पढ़ाते रहे होंगे। कारिकाओं में उतना नहीं था, जितना गुरु ने पढ़ाया था। अतः उपनिबन्धक ने अधीत विषय को विस्तार-पूर्वक लिखने का विचार भी किया। गुरु के संग्रह को 'वस्तुमात्र' कहने का यही आशय है। अतः उसने यह प्रतिज्ञा भी साथ ही कर डाली—"काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा।"

कौन था यह योग्य शिष्य ?—

मानना होगा कि यह योग्य शिष्य भर्तृहरि था, जिसका नाम तृतीय काण्ड की पुष्पिका में और अन्य दो काण्डों की पुष्पिकाओं में है। जिसका उल्लेख हेलराज और

1. पुण्यराज की वाक्यपदीय २।४८४ कारिका की अवतरणिका के अनुसार। यह नाम 'वसुरात' पुण्यराज ने ही सुझाया है। इसका अन्य कोई प्रमाण नहीं।

वर्धमान सूरि ने किया है, इत्सिग ने किया है, तथा जो वाक्यपदीयकर्ता के रूप में वैयाकरण-निकाय में प्रसिद्ध है।

वृत्ति का कर्ता : हरि—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यपदीय के आरम्भ के दो काण्डों का रचयिता अलग व्यक्ति है और तृतीय काण्ड का अलग। इन दोनों में इतनी घनिष्ठता रही है कि शीघ्र-उत्तर-काल में दोनों एक ही माने-जाने लगे और तीनों काण्ड एक के ही नाम पर प्रसिद्ध हो गये। वाक्यपदीय गुरु के समय शायद उतना प्रसिद्ध नहीं हुआ, जितना शिष्य के काल में। इसके दो कारण स्पष्ट हैं—

१. प्रथम, द्वितीय काण्डों पर वृत्ति की रचना।

२. तृतीय काण्ड की रचना।

तृतीय काण्ड की रचना से पहले हरि ने प्रथम और द्वितीय काण्डों पर वृत्ति लिखी। वृत्तिलेखन के समय उसे वाक्यपदीय के विस्तार की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसने तृतीय काण्ड लिखने का निश्चय कर डाला। इसका प्रमाण वृत्ति में मिलता है—

वाक्यपदीय की १।३ कारिका की वृत्ति में लिखा है—"जातिसमुद्देशे तु सत्ता-विभागे न्यक्षेण भावविकारा वक्ष्यन्ते," यहाँ आये 'न्यक्षेण' की तुलना करें—"काण्डे तृतीये न्यक्षेण भविष्यति विचारणा" इस पर वृषभदेव की टिप्पणी है—न्यक्षेण इति। अभिमुख्येन कात्स्न्येन वा। यदि तृतीय काण्ड भी प्रथम लेखक की ही रचना होती तो 'वक्ष्यन्ते' का भविष्यत्काल ग्रन्थकृत पौर्वापर्य के कारण माना जा सकता था। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं है, इसलिए 'वक्ष्यन्ते' वृत्ति और तृतीय काण्ड के कालकृत पौर्वापर्य का ही सूचक है। 'न्यक्षेण' के द्वारा यह भी पता चलता है कि वृत्ति, द्वितीय काण्ड के अन्तिम श्लोक तथा तृतीय काण्ड का कर्ता एक ही व्यक्ति है।

हमारा विचार है कि—द्वितीय काण्ड के अन्त में दिये गये दस श्लोक वृत्ति की समाप्ति पर लिखे गये श्लोक हैं, जो मूल-कारिकाओं में मिल गये हैं। प्रथम काण्ड की वृत्ति के कई श्लोक कुछ हस्तलिखित पुस्तकों में मूल-कारिकाओं में लिखे गये हैं और बहुत समय तक मूलकारिकाएँ ही माने जाते रहे हैं। दिङ्नाग ने 'यथा विशुद्धमाकाशम्' और 'तथेदममृतं ब्रह्म' इन वृत्तिगत कारिकाओं को मूलकारिका समझ कर अपने 'त्रैकाल्य-प्रकाश' में उद्धृत किया है। सोमानन्द (८८० ई०) ने भी 'अविभागा तु पश्यन्ती' (१।१४२ की वृत्ति) को वाक्यपदीय-कारिका समझ कर उद्धृत किया है।

और भी—शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

और—अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत् ॥

ये दो वृत्ति में उद्धृत कारिकाएँ प्रथम काण्ड की कारिकाओं में क्रमशः कारिका-सङ्ख्या ७६ और १२६ के बाद मुद्रित पुस्तकों में पाई जाती हैं। इन दस श्लोकों की भी यही स्थिति है। यदि द्वितीय काण्ड की पूर्ण वृत्ति उपलब्ध हो जाय तो हमारी इस सम्भावना की परख हो जाय।

वृत्ति में हरि ने अपनी वैदुषी को जिस प्रकार स्थापित और प्रमाणित किया, उससे गुरु की मूल-कारिकाएँ अधूरी-अधूरी-सी लगने लगीं। इसलिए कुछ आधुनिक विद्वान् वृत्तिसहित वाक्यपदीय को ही वाक्यपदीय मानते हैं। चारुदेव शास्त्री और को० अ० सुब्रह्मण्यम् अय्यर इन्हीं लोगों में से हैं। पूर्वकाल में भी ऐसा हुआ, परन्तु वह इस प्रकार हुआ कि —वृत्तिकार हरि को ही वाक्यपदीय का कर्ता माना जाने लगा। इसी का उल्लेख वर्धमान सूरि आदि ने बाद में किया है।

परन्तु वृत्तिकार और कारिकाकार भिन्न व्यक्ति थे, यह वृत्ति के अन्तरङ्ग विवेचन से भी पुष्ट होता है। यथा—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ (वा० प० १।१)

इस कारिका की वृत्ति में लिखा है—"सर्वावस्थास्वनाश्रितादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते।" इस शब्दार्थसम्बन्धीय प्रकरण का प्रतिज्ञावाक्य ब्रह्मविषयक प्रतिज्ञा क्यों करता है ? सारे ब्रह्मकाण्ड में ही नहीं सारे व्याकरण निकाय में शब्दतत्त्व अनादि-निधन है, परन्तु इस वृत्तिकार का अनादिनिधन ब्रह्म है। वृत्तिकार की दृष्टि में ब्रह्म प्रमुख है, शब्दतत्त्व गौण, जैसा कि उसने आगे लिखा है—"तत्तु······ शब्दतत्त्वमिव्यभिधीयते।" जब कि कारिकाकार के लिए "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः (वा० प० १।२३) या "······शब्दमन्तरवस्थितम् । प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।" (वा०प० १।१३०) के द्वारा शब्दतत्त्व मुख्य है, ब्रह्म गौण। कारिका के आधार पर और ग्रन्थ के पूर्वापर को देखते हुए—"अनादिनिधनं शब्दतत्त्वमिति प्रतिज्ञायते। तत्तु दर्शनान्तरेषु ब्रह्मेति वर्ण्यते।" ऐसा कहा जा सकता था, परन्तु वृत्तिकार का इधर ध्यान ही नहीं गया। यदि कारिका और वृत्ति का कर्ता एक होता तो यह अन्तर नहीं पड़ता।

और—प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः ।
रक्षःपितृपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः ॥ (वा० प० १।३६)

इसकी वृत्ति में—"स्वप्ने हि बधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनम्···सर्वप्रवादेषु सिद्धम्।" इत्यादि कहकर रक्षस्, पितृ, पिशाच को उदाहरण के रूप में न लेकर स्वप्न में बधिरों

का उदाहरण लिया गया है। इसका कारण यह रहा कि राक्षसों आदि की सिद्धियाँ प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं की जातीं। यह तो ठीक है, परन्तु यदि कारिका और वृत्ति का कर्ता एक होता तो, या तो वह उन सिद्धियों को अप्रमाण मानकर कारिका में ही 'रक्षः' आदि का प्रयोग नहीं करता, या फिर सिद्धियों को प्रमाण मानकर वृत्ति में भी उन्हीं का उल्लेख करता।

मूलकारिकाओं और वृत्ति का कर्ता एक व्यक्ति नहीं, यह निश्चित है।

तृतीय काण्ड की रचना हो जाने पर तो हरि वाक्यपदीय के कर्ता के रूप में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो गये। वाक्यपदीय को त्रिकाण्डी कहा जाने लगा। वृत्ति को स्वोपज्ञ वृत्ति कहा जाने लगा। महाभाष्य-दीपिका की रचना से हरि की ख्याति और प्रति और-भी बढ़ी। योग्य शिष्य के प्रचण्ड प्रताप में गुरु का जलाया हु दीपक जैसे खो गया। यदि योग्य शिष्य ने—"प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रह लिखकर अपने शिष्यत्व को सुरक्षित न रखा होता तो यह सब लिखने का अवसर किसी को न मिलता।

हरिवृषभ कौन था ?—

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि—"अनादिनिधनम्" से लेकर द्वित काण्ड की ४७७ वीं कारिका तक का कारिका-भाग गुरु वसुरात की रचना है दोनों काण्डों की वृत्ति, द्वितीय काण्ड के अन्तिम दस श्लोक, तथा तृतीय का हरि की रचनाएँ हैं। परन्तु तृतीय काण्ड की पुष्पिका में जहाँ ग्रन्थकार का न भर्तृहरि लिखा गया है, वहाँ प्रथम काण्ड की वृत्ति की पुष्पिका में लेखक का न 'हरिवृषभ' बताया गया है। द्वितीय काण्ड की वृत्ति क्योंकि अपूर्ण ही प्राप्त होती इसलिए उसके लेखक का नाम क्या था, कुछ कहा नहीं जा सकता। पुण्यराज टीका से भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। हेलाराज ने द्वितीय काण्ड पूरी वृत्ति देखी थी, परन्तु उसकी द्वितीय काण्ड की 'शब्दप्रभा' (?) भी अ उपलब्ध नहीं है।

जो हो, परन्तु 'यह हरिवृषभ कौन था ?' यह प्रश्न बना ही रहता है। य यह भर्तृहरि से भिन्न व्यक्ति है तो वृत्ति का लेखक और तृतीय काण्ड का रचयि भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध होते हैं। परन्तु यदि ये दोनों एक हों तो प्रश्न उठता है कि इनके नाम अलग-अलग क्यों हैं ?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारे पास कोई साधक-बाधक युक्ति नहीं है। इतना अवश्य है कि—वाक्यपदीय के कर्ता का नाम तीन रूपों में प्रचलित है— भर्तृहरि, हरि और हरिवृषभ। इन तीनों नामों में एक पद सर्वनिष्ठ है—'हरि'।

उत्तरकालीन विद्वानों ने "तदुक्तं हरिणा" जैसे कथनों में 'हरि' पद का प्रयोग बहुत किया है। सम्भव है, इसका मूलनाम 'हरि' ही रहा हो और 'भर्तृ' तथा 'वृषभ' बाद में सम्मानार्थ जुड़ गये हों। फिर भी उत्तरकालीन लेखकों ने 'हरि' और भर्तृहरि का उल्लेख तो उद्धरणों में किया है, परन्तु 'हरिवृषभ' का नहीं। यहाँ तक कि वृत्ति, जिसकी पुष्पिका में केवल हरिवृषभ नाम मिलता है, के उद्धरण भी हरिवृषभ के नाम से नहीं, हरि या वृत्ती या स्वोपज्ञवृत्तो के नाम से दिये गये हैं।

यदि हरिवृषभ और भर्तृहरि या हरि एक ही व्यक्ति के नाम न हों तो सवृत्तिक सप्रकीर्ण वाक्यपदीय को तीन व्यक्तियों के गम्भीर प्रयास का सुफल मानना होगा।

आगे भर्तृहरि-विषयक उल्लेख तीनों को अभिन्न मान कर किया जायगा। फिर भी आवश्यकतानुसार इनके अन्तर को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

भर्तृहरि : परिचय—

"कृती का परिचय उसकी कृति ही होती है।" यदि यह कथन सत्य है तो भर्तृहरि उन्हीं कृतियों में से एक था जिनका 'कृति' के अतिरिक्त और कोई परिचय नहीं होता।

भर्तृहरि कौन था ? उसके माता-पिता कौन थे ? वह कहाँ का निवासी था ? इसका कुछ भी ज्ञान आज हमें नहीं है। हम यदि कुछ जानते हैं, तो केवल इतना कि वह वाक्यपदीय का कर्ता था। या फिर वर्धमान सूरि के शब्दों में—"भर्तृहरिर्वाक्य-पदीय-प्रकीर्णकयोः कर्त्ता, महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च"। भर्तृहरि ने स्वयं अपने विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा, गुरु का नाम तक नहीं। अतः उसके विषय में उसकी कृतियों के आन्तरिक अनुशीलन तथा बहिरङ्ग साधनों से ही कुछ जाना जा सकता है। भारतीय मनीषियों की आत्मगोपन की यह प्रवृत्ति उनके लिए भले ही भूषण रही हो, भविष्य के अध्येताओं और अनुसन्धाताओं के लिए दूषण ही बनकर रह गई है।

काल—

भर्तृहरि ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर दीपिका टीका लिखी। अतः उसका जन्म-काल और कार्यकाल पतञ्जलि के पश्चात् होना चाहिए। वामन-जयादित्य की काशिका वृत्ति में 'वाक्यपदीयम्' को 'शब्दार्थसम्बन्धीयं प्रकरणम्' कहकर उद्धृत किया गया है। अतः इसके रचनाकार का काल वामन-जयादित्य से पूर्व होना चाहिए। ये भर्तृहरि के काल की पूर्वापर सीमाएँ मानी जानी चाहिएँ। पतञ्जलि के कितने समय बाद भर्तृहरि ने दीपिका की रचना की ? यह जानना भी सरल नहीं, फिर भी वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड के अन्तिम श्लोकों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि

भर्तृहरि पतञ्जलि से सैकड़ों वर्ष बाद हुए। इसी बीच महाभाष्य के लुप्त होने और पुनरुद्धार की दो बड़ी घटनाएँ हो चुकी थीं। इसमें कम से कम पाँच सौ वर्ष का समय तो लगा होगा। आधुनिक इतिहासकार पतञ्जलि का समय १५० वर्ष ईसा-पूर्व मानते हैं। और युधिष्ठिर मीमांसक १२०० वि० पू० से अधिक। मीमांसक की कालगणना पद्धति भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप तो है परन्तु इतिहासकारों में मान्यता-प्राप्त नहीं। आधुनिक इतिहासकारों के मत को मानते हुए भी भर्तृहरि का काल चार सौ ईसवी के आस-पास (४०० ई०) होना चाहिए।

काशिका का रचना-काल ६५० ई० के आस-पास माना जाता है। वाक्यपदीय की रचना काशिका से पहले हो चुकी थी। अतः ६५० ई० से पहले ही भर्तृहरि का स्थितिकाल हो सकता है। कितना पहले? इस विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा किये गये प्रयास का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

१. सायण के अनुसार काशिका (७।४।९३) में कातन्त्रव्याकरण की दुर्गसिंह-वृत्ति का प्रत्याख्यान किया है। अतः दुर्गसिंहवृत्ति काशिका से प्राचीन है।

२. दुर्गसिंहवृत्ति (कातन्त्र० १।१।९) में वाक्यपदीय की कारिका ३।८।१ उद्धृत की गई है। अतः काशिका से दुर्गसिंह वृत्ति प्राचीन है और उससे प्राचीन है वाक्य-पदीय।

३. शतपथब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामिन् ने "वाग्वा अनुष्टुब्, वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति" (श० प० ब्रा० १।३।२।१६) की व्याख्या करते हुए मनु, तैत्तरीयोपनिषत् और यह वाक्यांश लिखा है—"अन्ये तु शब्दब्रह्मैवेदं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया इत्यत आहुः।" यह वाक्यांश "विवर्ततेऽर्थभावेन जगतो प्रक्रिया यतः" (वा० प० १।१) का शब्दक्रमान्तरण है, इसमें सन्देह नहीं। हरिस्वामिन् ने शतपथब्राह्मण की व्याख्या रचने का काल इस प्रकार लिखा है—

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम्॥
यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत् समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

इस काल निर्देश में दो भिन्न-भिन्न कलिगत संवत् बनते हैं सप्त+(त्रिंशत् × शतानि)+चत्वारिंशत् = ३०४७ और (सप्तत्रिंशत् × शतानि)+चत्वारिंशत् = ३७४०, कलिगतसंवत् ३०४७ मानने पर यह समय विक्रम संवत् ००४ अथवा ईसवी सन् ५३ B. C. पड़ता है, जो अवन्तिनाथ विक्रमादित्य (संवत् प्रवर्तक) की स्थिति से मेल खाता है। यदि यह मत ठीक मानें तो वाक्यपदीय का रचनाकाल प्रथम शती

B. C. सिद्ध होता है। ऐसा हो तो कोई आपत्ति या विप्रतिपत्ति नहीं है। परन्तु गतकलिसंवत् ३७४० मानने पर शतपथभाष्य का रचनाकाल विक्रम संवत् ६९६ या ईसवी सन् ६३९ बैठता है। इस सन् में किसी विक्रमादित्य का अवन्तिनाथ होना इतिहास-प्रसिद्ध नहीं है, तो हरिस्वामिन् का उसका धर्माध्यक्ष होना कैसे सम्भव होगा। कुछ लोगों का कहना है कि हूणों के विजेता यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और विक्रम संवत् का प्रवर्तन ५४४ ई० में ६०० वर्ष पहले से अर्थात् ५६ B. C. से किया। हरिस्वामिन् का आश्रयदाता यही यशोधर्मन् था। यह विक्रम संवत् सम्बन्धी मत डॉ० फर्गुसन ने प्रचारित किया था जो अब श्रद्धेय नहीं रहा। इस मत में और जो भी कमियाँ हों, पर यहाँ हरिस्वामी के सम्बन्ध में यह कतई उचित नहीं। हरिस्वामी द्वारा उल्लिखित कलिगत संवत् का दूसरा अर्थ लेने पर शतपथभाष्य का जो रचनाकाल बनता है वह यशोधर्मन् के उक्त काल से सौ वर्ष बाद का ठहरता है। उस समय विक्रमादित्य उपाधि धारण करने वाले यशोधर्मन् का जीवित रहना सम्भव नहीं है।

इसी यशोधर्मन् के सम्बन्ध में अभ्यङ्कर-लिमये संस्करण की भूमिका में लिखा है—

"Lakshan Surup in his commentaries of Skand–Maheswar on Yaska's Nerukta (Vol. III, P. 57) abserues : Yashodharman Consolidated his kingdom ofter his great victory over the Hunas in 528 A. D. and could thus be the patron of Hariswaruin, the commentator of the Shatpatha Brahmana in 538 A. D." इस कथन का अभिप्राय भी वही निकलता है। और हरिस्वामिन् का स्थितिकाल ६ठीं शताब्दी ई० सिद्ध होता है।

४. हरिस्वामिन् ने शतपथ-व्याख्या में प्राभाकर-मत उद्धृत किया है। प्रभाकर के गुरु कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक (१।३।८) में वाक्यपदीय की कारिका (१।१३) को उद्धृत कर उसका खण्डन किया है। अतः हरिस्वामिन् से पूर्ववर्ती प्रभाकर, प्रभाकर से पूर्ववर्ती कुमारिल सिद्ध हुआ। कुमारिल और हरिस्वामिन् में सौ वर्ष का अन्तर हो तो वाक्यपदीय का रचनाकाल ५ वीं शती ई० सिद्ध होता है।

५. 'अष्टाङ्गसंग्रह' के रचयिता वाग्भट के शिष्य इन्दु ने—"तासु च तत्रभवतो हरेः श्लोकौ" लिखकर "संसर्गो विप्रयोगश्च......" इत्यादि वाक्यपदीय की दो कारिकाएँ (वा० प० २।३१५–१६) उद्धृत की हैं। वाग्भट को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन माना जाता है। इस चन्द्रगुप्त का समय ५ वीं शती ई० है। अतः भर्तृहरि का काल विक्रम की ४ थी शती के बाद का नहीं हो सकता।

६. दिङ्नाग का समय ४८०–५४० ई० के मध्य माना जाता है। दिङ्नाग ने 'त्रैकाल्य-प्रकाश' में (तिब्बती अनुवाद के रूप में ही उपलब्ध) वाक्यपदीयवृत्ति की दो कारिकाएँ "यथा विशुद्धमाकाशम्" और "तथा तथेदममृतं ब्रह्म···" उद्धृत की हैं। भर्तृहरि को दिङ्नाग से पूर्ववर्ती होना चाहिए। (ये कारिकाएँ स्वोपज्ञवृत्ति की हैं।)

इस प्रकार अधिकांश विद्वानों के विचार में भर्तृहरि का स्थितिकाल ४००-५०० ई० के मध्य है। इत्सिंग के सुझाये हुए काल पर अब कोई ध्यान नहीं देता।

देश—

बलदेव उपाध्याय ने भर्तृहरि को कश्मीर का निवासी माना है। वामन-जयादित्य, सोमानन्द, उत्पलाचार्य, हेलाराज, पुण्यराज, अभिनवगुप्त, कल्हण आदि काश्मीरक विद्वानों के द्वारा समादृत होने के कारण ही भर्तृहरि के कश्मीर निवासी होने की सम्भावना उपाध्याय ने व्यक्त की है। यह सम्भावना असङ्गत और असम्भव नहीं लगती। इस विषय में कोई अन्तरङ्ग या बाह्य पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

वैदुष्य—

भर्तृहरि के वैदुष्य की परिचायिका उसकी कृतियाँ हमारे सामने हैं। भर्तृहरि व्याकरण, न्याय और मीमांसा शास्त्रों का पारङ्गत विद्वान् था। उसे 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' की उपाधि प्राप्त थी। व्याकरण के गम्भीर अध्ययन और शब्दतत्त्व की सूक्ष्मता के पारखी होने के कारण वह 'महावैयाकरण' के रूप में प्रसिद्ध था। वेदों का गम्भीर अध्ययन भर्तृहरि ने किया था और वेदों पर उसकी अपार श्रद्धा थी। वर्धमान ने भर्तृहरि को "वेदविदामलङ्कारभूतः" उचित ही कहा है। महामहोपाध्याय भी उसकी एक उपाधि थी। निश्चय उसके शिष्यों-प्रशिष्यों का एक बड़ा वर्ग रहा होगा। वृत्ति के व्याख्यान में उसके गुरु-गौरवान्वित विवेचन की अद्भुत छटा देखने को मिलती है। महाभाष्य के समान सरलता भले ही उसमें नहीं दिखाई देती, परन्तु शास्त्रीय गम्भीरता पग-पग पर छलकती है। दर्शनों और मत-मतान्तरों का सहज और सकल ज्ञान उसकी कृतियों में भरा पड़ा है। तृतीय काण्ड में उसकी विश्लेषण-क्षमता विशेष रूप से परिलक्षित होती है। व्याकरण जैसे विषय पर प्रसाद गुण से भरी कारिकाएँ उसकी रचना-चातुरी का परिचय देती हैं। विषय-प्रतिपादन के लिए उसने उपमा आदि अलङ्कारों का प्रयोग भी किया है।

वास्तव में व्याकरण निकाय में भर्तृहरि का अवतरण व्याकरण को सभी दृष्टियों से कृतकृत्य कर गया।

क्या भर्तृहरि बौद्ध था ?—

भर्तृहरि के विषय में यह प्रश्न विद्वानों और अध्येताओं के बीच बहुत समय से बना हुआ है। इस प्रश्न को जन्म देने वाला है चीनी यात्री 'इत्सिंग'। इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में लिखा है—"हमारे भारत पहुँचने से लगभग चालीस वर्ष पूर्व लगभग ६१५ ई० में भर्तृहरि नामक एक वैयाकरण की मृत्यु हो गई थी, जो निश्चय ही भारतीय व्याकरण शास्त्र की अन्तिम मौलिक कृति वाक्यपदीय का लेखक था।" इसमें भर्तृहरि के मृत्युकाल के अतिरिक्त कुछ भी गलत नहीं है। इत्सिंग ने यह भी लिखा है कि उसने बार-बार बौद्धधर्म और वैदिक धर्म में आवागमन किया। वाक्यपदीय और दीपिका में भर्तृहरि के वैदिक ज्ञान और निष्ठा को देखकर इत्सिंग का कथन असङ्गत लगता है। हमारा विचार तो यह है कि भर्तृहरि की वेदनिष्ठा आवश्यकता से अधिक थी। वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड में उसने अनावश्यक रूप से वेदों के प्रसङ्ग सम्मिलित किये हैं। उदाहरणार्थ 'न जात्वकर्तृकं कश्चिद्' (वा० प० १।१३२) से लेकर 'शब्दानामेव सा शक्तिः' (वा० प० १।१३७) तक वेदों का प्रसङ्गहीन उल्लेख है। इससे उसकी वेद-निष्ठा में सन्देह करना व्यर्थ है। परन्तु रामानुज के गुरु यामुनाचार्य तथा वाचस्पति मिश्र ने भी भर्तृहरि को प्रच्छन्न बौद्ध तथा वेदबाह्य कहा है, ऐसा अभ्यङ्कर लिमये का कहना है। हमारे विचार में किसी भी अद्वैतवादी को किसी-न-किसी स्थिति में प्रच्छन्न बौद्ध बन ही जाना पड़ता है। शङ्कराचार्य द्वैतवादियों के इस प्रहार का प्रधान लक्ष्य रहा है। इसे द्वैतवादियों की असहिष्णुता कहें या अद्वैतवादियों की विवशता! जैन वैयाकरण वर्धमान सूरि तो भर्तृहरि को 'वेदविदामलङ्कारभूतः' ही मानता है।

एक बात और—वाक्यपदीय २।४८ में जिस चन्द्राचार्य का उल्लेख है उसे विद्वान् लोग चान्द्रव्याकरण के कर्ता बौद्ध चन्द्रगोमिन् से अभिन्न मानते हैं या मानने को तैयार हैं। पुण्यराज के अनुसार किसी ब्रह्मराक्षस ने चन्द्राचार्य, वसुरात और कुछ अन्य लोगों को 'व्याकरणागम प्रदान'[1] किया। इससे लगता है कि चन्द्राचार्य और वसुरात सहकर्मी और सहधर्मी भी थे। वाक्यपदीय का मूलरचयिता वसुरात है और उसका सहधर्मी चन्द्राचार्य बौद्ध है। भर्तृहरि वसुरात का साक्षात् शिष्य था। उसका धर्म क्या रहा होगा?

---

१. 'पर्वतात् त्रिकूटैकदेशवर्तित्रिलिङ्गैकदेशादिति। तत्र ह्युपलतले रावणविरचितं मूलभूत-व्याकरणागमस्तिष्ठति, केनचिच्च ब्रह्मरक्षसानीय चन्द्राचार्यवसुरातगुरुप्रभृतीनां दत्त इति।' वाक्यपदीय २।४८१ की पुण्यराज व्याख्या। यद्यपि यह बात अवि-श्वसनीय-सी है। परन्तु यदि सत्य हो तो!

रचनाएँ—

निम्नलिखित रचनाएँ भर्तृहरि से सम्बद्ध बताई जाती हैं—

१. महाभाष्यदीपिका ।
२. वाक्यपदीय । तीनों काण्ड ।
३. वाक्यपदीय-वृत्ति, प्रथम-द्वितीय काण्ड ।
४. शतकत्रय ।
५. जैमिनीयमीमांसावृत्ति ।
६. वेदान्तसूत्रवृत्ति ।
७. शब्दधातुवृत्ति ।
८. भट्टिकाव्य ।
९. भागवृत्ति ।

इसमें से प्रथम तीन निर्विवाद रूप से भर्तृहरि की रचनाएँ हैं । वाक्यपदीय और वृत्ति के विषय में जो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, उनका उल्लेख हमने पहले ही कर दिया है । अन्तिम दो भर्तृहरि की नहीं हैं, यह भी प्रमाण-सिद्ध है । शेष चार रचनाओं में 'शतकत्रय' विवादास्पद है । कुछ विचारक इसके रचयिता भर्तृहरि को वाक्यपदीय-कर्ता से अभिन्न मानते हैं, परन्तु कुछ अन्य इसे स्वीकार नहीं करते । जैमिनीयमीमांसा-वृत्ति, वेदान्तसूत्रवृत्ति और शब्दधातुवृत्ति ये तीन रचनाएँ वाक्यपदीयकार की विद्वत्ता और प्रकृति को देखते हुए, उसकी हो सकती हैं । इन तीनों रचनाओं की सूचना मात्र उपलब्ध है । जब तक कोई विरुद्ध प्रमाण नहीं मिलता, तब तक इन्हें वाक्यपदीयकार की रचनाएँ मानने में कोई हानि नहीं ।

दीपिका । यह भर्तृहरिकृत महाभाष्य टीका का नाम है । इस बात की पूरी सम्भावना है कि यह पूरे महाभाष्य पर की गई होगी । परन्तु वर्धमान सूरि के समय (११४० ई०) में ही यह 'त्रिपादी' टीका के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी । अर्थात् उस समय यह पाणिनि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के तीन पादों तक के महाभाष्य पर ही उपलब्ध थी । हेलाराज (१०वीं शती ई०) के 'त्रिकाण्डी त्रिपदी कृता' से भी यही सङ्केत मिलता है । परन्तु आजकल यह पा० अ० १।१।५५ सूत्रभाष्य तक ही उपलब्ध होती है । कैयट ने अपना 'प्रदीप' लिखने के लिए दीपिका को मुख्य आधार माना है । कीलहार्न का मत है कि 'प्रदीप' लिखते समय कैयट (१२वीं शती ई०) के सामने सम्पूर्ण दीपिका रही होगी । परन्तु वर्धमान सूरि जो कि कैयट का समकालीन था, ने केवल 'त्रिपादी' व्याख्या देखी थी । सूरि स्वयं वैयाकरण था । अतः यदि कैयट के पास पूरी भाष्य-दीपिका होती तो वर्धमान को उसका पता अवश्य होता । कम से

कम वह त्रिपादी तो न लिखता। युधिष्ठिर मीमांसक ने प्रदीप में कैयट द्वारा स्मृत भर्तृहरि के 'सार'[1] को सारवान् वाक्यपदीय माना है, दीपिका नहीं। अतः कैयट ने पूरी दीपिका देखी हो, इसकी सम्भावना नहीं है। इत्सिंग ने दीपिका का परिमाण २५००० श्लोक[2] बताया है। उपलब्ध त्रिपादी दीपिका का परिमाण लगभग इतना ही है। इसका अर्थ यह हुआ कि इत्सिंग के समय (७वीं शती ई०) में भी दीपिका त्रिपादी ही उपलब्ध थी।

आज दीपिका जितनी उपलब्ध है उतनी ही भर्तृहरि के वैदुष्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। दीपिका के लुप्त हो जाने से निश्चय ही हम भर्तृहरि की एक महत्त्वपूर्ण देन से वञ्चित रह गये हैं।

वाक्यपदीय के टीकाकार—

वाक्यपदीय पर निम्नलिखित टीकाकारों की टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—

१. भर्तृहरि (हरिवृषभ) ··· ··· ··· ··· स्वोपज्ञवृत्ति।
२. वृषभदेव ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· पद्धति।
३. पुण्यराज ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· प्रकाश।
४. हेलाराज ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· प्रकीर्ण-प्रकाश।
५. फुल्लराज ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· अज्ञात।
६. धर्मपाल ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· अज्ञात।
७. गङ्गादास ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· अज्ञात।
८. द्रव्येश झा ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· अज्ञात।
९. नारायणदत्त त्रिपाठी ··· ··· ··· ··· ··· अज्ञात।
१०. चारुदेव शास्त्री ··· ··· ··· ··· ··· सम्पादन।
११. सूर्यनारायण शुक्ल ··· ··· ··· ··· ··· भावप्रदीप।

---

१. भाष्याब्धिः क्वातिगम्भीरः क्वाहं मन्दमतिस्ततः।
छात्राणामुपहास्यत्वं यास्यामि पिशुनात्मनाम्॥
तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्॥
(कैय्यट-प्रदीप के आरम्भ के छठें सातवें श्लोक)

२. गद्य टीका आदि की श्लोक-संख्या जानने की विधि यह है कि गद्यपाठ के कुल अक्षरों को गिनकर अनुष्टुप् की अक्षरसंख्या ३२ से भाग देते हैं। जो संख्या प्राप्त होती है वही उस ग्रन्थ की श्लोक-संख्या मानी जाती है।

१२. को० अ० सुब्रह्मण्यम् अय्यर ... सम्पादन एवं आंग्लानुवाद।
१३. रघुनाथ शर्मा ... ... अम्बाकर्त्री।
१४. सत्यकाम वर्मा ... ... त्रिभाषी अनुवाद।

स्वोपज्ञवृत्ति--

सर्वप्रथम भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम-द्वितीय काण्डों पर वृत्ति लिखी। यह वृत्ति मूलग्रन्थ का अभिन्न अङ्ग मानी जाती है। इसके आकार-प्रकार को देखते हुए ऐसा मानना उचित प्रतीत है। इसके बिना वाक्यपदीय का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। यह सम्प्रति केवल प्रथम काण्ड पर ही अविकल रूप में उपलब्ध होती है। द्वितीय काण्ड पर बहुत ही स्वल्प त्रुटितांश मिलता है। इसकी पुष्पिका में रचयिता का नाम 'हरिवृषभ' मिलता है। इसके लघु और बृहत् दो संस्करण मिलते हैं, जो क्रमशः काशी और लाहोर से मुद्रित हुए हैं। इसके विषय में पहले काफी-कुछ लिखा गया है।

वृषभदेव और पद्धति--

वृषभदेव का काल और वृत अज्ञात है। उसकी पद्धति के आरम्भिक श्लोक से ज्ञात होता है कि वृषभदेव के पिता का नाम देवयश था जो किसी राजा विष्णुगुप्त का आश्रित था। वृषभदेव की टीका का नाम पद्धति है। इसका प्रकाशन डेकन कालेज पूना से श्री को० अ० सुब्रह्मण्यम् के सम्पादकत्व में आंग्लानुवाद सहित हुआ है। पद्धति वास्तव में स्वोपज्ञवृत्ति की टीका है। इससे वृत्ति को समझने का रास्ता खुल गया है, अन्यथा अल्पज्ञों के लिए वृत्ति को समझना और भी कठिन होता। पद्धति से पहले भी बहुत-सी टीकाएँ हुईं थीं, ऐसा पद्धति से ही ज्ञात होता है। अतः वृत्ति और पद्धति के बीच पर्य्याप्त कालव्यवधान होना चाहिए। यह केवल प्रथमकाण्ड पर ही उपलब्ध होती है।

पुण्यराज का प्रकाश--

पुण्यराज का जीवनवृत्त और रचनाकाल भी अज्ञात ही है। वाक्यपदीय द्वितीय काण्ड की टीका की समाप्ति पर पुण्यराज ने इतना लिखा कि शशाङ्क के शिष्य से वाक्यकाण्ड को सुनकर उसने यह रचना की। इसका अपरनाम राजानकशूरवर्मन् था। चारुदेव शास्त्री के अनुसार वामनीय अलङ्कार शास्त्र के टीकाकार शशाङ्कधर वही है, जिसका उल्लेख पुण्यराज ने अपने अध्यापक के गुरु के रूप में किया है। यदि ऐसा हो तो पुण्यराज का समय ११वीं शती ई० होना चाहिए। पुण्यराज का प्रकाश वाक्यपदीय पर प्रकाश डालने वाली एकमात्र प्राचीन उपलब्ध टीका है। यह स्वोपज्ञवृत्ति के आधार पर रची गई है। वृत्ति के अनुपलब्ध होने के कारण यही उसका प्रतिनिधित्व करती है।

हेलाराज का प्रकीर्ण-प्रकाश—

हेलाराज काश्मीर के राजा मुक्तापीड के मन्त्री लक्ष्मण के वंशज भूतिराज का पुत्र था। भूतिराज लक्ष्मण की कितनी-वीं पीढ़ी में था, यह ज्ञात नहीं है। अतः इस सूचना से हेलाराज का समय निश्चित करना सम्भव नहीं है। कल्हण की राजतरङ्गिणी में हेला-राज का नाम आया है। बूल्हर के अनुसार अभिनवगुप्त का गुरु भट्टेन्दुराज भूतिराज का पुत्र था। यह सूचना अभिनवगुप्त के 'गीताभाष्य' पर आधारित है। बलदेव उपा-ध्याय के अनुसार हेलाराज स्वयं अभिनवगुप्त का गुरु था। अभिनवगुप्त का काल उसी के ग्रन्थों के आधार पर ९५० से लेकर १०२० ई० तक निश्चित है। अतः हेलाराज का समय १०वीं शती ई० सिद्ध होता है। हेलाराज ने तृतीय काण्ड की 'प्रकीर्ण-प्रकाश' टीका के अतिरिक्त प्रथम और द्वितीय काण्ड पर भी 'शब्दप्रभा' नाम की टीका लिखी थी। इसका उल्लेख उसने 'प्रकीर्ण-प्रकाश' में किया है। परन्तु यह 'शब्दप्रभा' आज उपलब्ध नहीं है। 'प्रकीर्ण-प्रकाश' में हेलाराज ने अपने तीन अन्य ग्रन्थों 'क्रियाविवेक', 'अद्वयसिद्धि' तथा 'वार्तिकोन्मेष' का उल्लेख किया है। सम्प्रति तृतीय काण्ड पर एक-मात्र प्रामाणिक टीका हेलाराज की ही है।

फुलराज धर्मपाल और गङ्गादास की टीकाओं के अस्तित्व की सूचना मात्र प्राप्त है। इससे अधिक इनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनमें से धर्मपाल की टीका इत्सिंग के समय से पहले की है।

द्रव्येश झा और नारायणदत्त त्रिपाठी की टीकाएँ वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध में रची गई हैं। ये कारिकार्थबोध के लिए उपयुक्त हैं।

चारुदेव शास्त्री ने सन् १९३४ में वृत्तिसहित वाक्यपदीय प्रथम काण्ड का संस्करण लाहौर से निकाला था। इसे प्रामाणिक संस्करण के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस पर अन्य कोई टीका नहीं है।

को० अ० सुब्रह्मण्यम् अय्यर ने १९६६ में डेक्कनकालेज पूना से वाक्यपदीय-प्रथम काण्ड स्वोपज्ञवृत्ति और वृषभदेव की पद्धति सहित संस्करण निकाला था। इस पर अय्यर का आंग्लानुवाद भी है।

सूर्यनारायण शुक्ल की प्रथम काण्ड पर 'भावप्रदीप' टीका इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रकाश में आई है। यह द्रव्येश झा और नारायणदत्त त्रिपाठी की टीकाओं की अपेक्षा विशद है। इस पर शुक्ल के पुत्र रामगोविन्द शुक्ल का हिन्दी अनुवाद भी है।

रघुनाथ शर्मा की अम्बाकर्त्री टीका इस शताब्दी की महत्त्वपूर्ण टीका है। यह सम्पूर्ण वाक्यपदीय पर रची गई है। तत्तत्काण्डों में स्वोपज्ञवृत्ति, पुण्यराज-टीका और

हेलाराज-टीका के साथ यह वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। शर्मा को इसे लिखने में सोलह वर्ष का समय लगा और सन् १९७४ में इसका अन्तिम भाग समाप्त हुआ यह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका है। वृत्ति, प्रकाश और प्रकीर्ण सभी का विवेचन इस एक ही टीका में हो गया है।

सत्यकाम वर्मा का प्रथम काण्ड पर संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी में त्रिभाषी अनुवाद विश्वविद्यालयीय छात्रों के लिए लिखा गया है।

अभ्यङ्कर-लिमये का संस्करण—

वाक्यपदीय का यह संस्करण पूना से प्रकाशित १९६३ई० में हुआ है। इसमें तीनों काण्ड मूलमात्र छपे हैं, परन्तु वाक्यपदीय सम्बन्धी प्रचुर सामग्री इसमें है। यह वाक्यपदीय का प्रामाणिक संस्करण है।

प्रतिभा की बात—

"विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।"

वाक्यपदीय का यह कथन हमारी इस 'प्रतिभा' का आधार है। वाक्यपदीय पर व्याख्याएँ/टीकाएँ समय-समय पर होती रही हैं। हमारा प्रयास इनके बीच हेलाराज के इस कथन के अनुसार ही है—

तमोध्वंसः सूर्यादिभिरिह कृतो यद्यपि भुवि,
प्रदीपः साफल्यं क्वचिदपि तथाप्यत्र विषये।
प्रयात्येव प्रायो जगति खलु भावाः कृतधियाम्,
न शक्या निह्नोतुं स्फुरदभिनवस्फारस्चिराः॥

प्रतिभा लिखते समय हमने सरल संस्कृत लिखने का प्रयास किया है। ननु, चेत् की पद्धति को नहीं अपनाया। फिर भी विषयानुरोध से यदि ऐसा हुआ हो तो वह बाधक नहीं होगा। वाक्यपदीय का समर्थन करने के लिए वाक्यपदीय से अर्वाचीन लेखकों के उद्धरणों और मतों का उपयोग हमने नहीं किया। वाक्यपदीय का समर्थन महाभाष्य और श्रुतिवाक्यों से ही करने का प्रयत्न किया है। यदि कहीं कोई अर्वाचीन लेखक या दर्शनान्तर का उद्धरण हो तो वह हमारी अपनी बात के समर्थन में होगा।

हिन्दी-प्रतिभा संस्कृत-प्रतिभा का अक्षरानुवाद नहीं है, बल्कि वह अपने-आपमें एक पूर्ण प्रबन्ध है। संस्कृत-प्रतिभा भी अपने-आपमें पूर्ण है। यह हो सकता है कि जो बात संस्कृत-प्रतिभा में हो वह हिन्दी-प्रतिभा में न हो। इसके अतिरिक्त भी हो सकता है। अतः दोनों प्रतिभाओं को मिलाकर पढ़ना ही उपयुक्त होगा।

भूमिका में कुछ ऐसी बातों का समावेश किया है, जो प्रतिभा में नहीं दी जा सकी थीं, किन्तु उन बातों को समझना वाक्यपदीय को समझने के लिए आवश्यक है। अतः भूमिका को ध्यान से पढ़कर वाक्यपदीय का अध्ययन रुचिकर और हितकर होगा तथा वाक्यपदीय को देखने की नवीन, निर्मल दृष्टि मिलेगी।

भूमिका में स्वनाम-धन्य लेखकों/ग्रन्थकारों का नामोल्लेख हमने एकवचन में किया है। उसे अपमान-सूचक नहीं समझना चाहिए। यह संस्कृत की अपनी स्वीकृत परम्परा है।

आभार प्रदर्शन-शृङ्खला के अन्तर्गत अपने धर्माग्रज भाई सत्यनारायण खण्डूड़ी, साहित्याचार्य का स्मरण आवश्यक है। आत्मीय-आप्तजनों के प्रति मात्र आभार-प्रदर्शन कर सन्तोष की सांस लेना हम अपना ओछापन समझते हैं। सच तो यह है कि भाई खण्डूड़ी के सर्वविध सहयोग से ही यह प्रतिभा-प्रकाशन का कार्य सम्भव हो सका है। अतः प्रतिभा के प्रति प्रेरणा से लेकर प्रकाशन-सम्पादन तक का पूरा-पूरा श्रेय भाई खण्डूड़ी को ही जाता है। एतावता हम हृदय से उनके दीर्घायुष्य एवं सात्त्विक अभ्युदय की कामना करते हैं तथा आशा करते हैं कि वे हमें सतत सत्प्रेरणा, सहयोग एवं आशिष प्रदान करते रहेंगे। इस सन्दर्भ में अपनी विदुषी भ्रातृजाया श्रीमती विजया शास्त्री खण्डूड़ी के भी हम चिरऋणी हैं।

सर्वान्ते संस्कृत एवं संस्कृति के सजग रक्षक, उपासक एवं प्रकाशक श्री कृष्णदास अकादमी के सुयोग्य सञ्चालकवर्ग की हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तथा अन्तःकरण से शुभाशिष व्यक्त करते हैं कि वे अपनी परम्परागत अन्ताराष्ट्रिय ख्याति को अक्षुण्ण बनाये रखने में अग्रगामी बनें एवं अपने अथक् सेवायास से भारतीय संस्कृति, संस्कृत का देदीप्यमान स्वरूप विश्व में प्रकाशित करें।

हमारी इस प्रतिभा में कुछ त्रुटियाँ, कमियाँ हैं, वे हमारी अपनी हैं और जो-कुछ नवीन, सुन्दर और उत्तम हैं, वह वाक्यपदीय की अपनी ही प्रतिभा है। क्योंकि—

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः। (वा० प० १।१३७)

और—

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते। (वा० प० २।१४३)

—वामदेव आचार्य

विषय-सूची

॥ वाग्देव्यै नमः ॥

भर्तृहरिकृतं

वाक्यपदीयम्

ब्रह्मकाण्डम्

संस्कृत-हिन्दी-'प्रतिभा'-प्रतिभाषितम्

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥

प्रतिभा

परायापररूपाय नित्यायाक्षररूपिणे ।
सर्वप्रकृतिभूताय तस्मै वागात्मने नमः ॥ १ ॥
जयत्यखिललोकस्य धात्री सा प्रतिभा हरेः ।
यया प्रवर्तते लोको वागात्मा बुध्यते यया ॥ २ ॥
वाचः परं पदं बुध्वा ग्रन्थं वाक्यपदीयकम् ।
प्रवृत्ता वामदेवस्य प्रतिभा प्रतिभाषितुम् ॥ ३ ॥
अध्येतृणां सुखायैव विदुषां रञ्जनाय च ।
भवेद्देवगिरा चेयं प्रथिता राष्ट्रभाषया ॥ ४ ॥
किमप्यपूर्वमेतस्यामस्ति नास्ति परस्परम् ।
तत्समादीयतां विज्ञा बोद्धारो ह्यनसूयकाः ॥ ५ ॥

अथ महावैयाकरणः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भर्तृहरिर्व्याकरणशास्त्रस्य परमसाध्यत्वेन प्रतिष्ठितं शब्दतत्त्वाख्यं ब्रह्म प्रतिपादयिष्यन् स्ववाक्यपदीयनामकाकरग्रन्थादौ मङ्गलमाचरन् निबन्धाति–**अनादिनिधनमिति** ।

अनादिनिधनं–उत्पत्तिविनाशरहितं, शब्दतत्त्वं-शब्दात्मकं, यद् अक्षरं–न क्षरणशीलं, अविनाशि, व्यापकं, अक्षरात्मकं वा ब्रह्म–बृंहणशीलं तथा प्रख्यातं च, यतश्च–यस्माद् ब्रह्मणः, जगतः–संसारस्य, प्रक्रिया–क्रियाकलापः

प्रवर्तते, तत्–शब्दतत्त्वं, अर्थभावेन–गोघटाद्यर्थस्वरूपेण, विवर्तते–विवृतं भवति।

अनादिनिधनमिति वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलम्। मङ्गलस्य ग्रन्थपरिसमाप्तौ कारणत्वे सन्दिग्धेऽपि शिष्टपरम्परानिर्वाहार्थमिदम्। वैयाकरणैरपीयं परम्परा स्वीकृता। वृद्धिरादैच् (पा० अ० १।१।१) इति प्रथमसूत्रे वृद्धिपदं भिन्नक्रममपि पूर्वं प्रयुक्तवता पाणिनिना मङ्गलमाचरितम्। "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इति वार्तिककृदपि नित्य इति वक्तव्ये सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते मङ्गलार्थं कात्यायनः। भाष्यकारस्तु––"मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते" इति ब्रुवन् मङ्गलस्य शास्त्रप्रथायामपि हेतुत्वं स्वीकरोति। हरिणा च वाधाध्वंसनेऽभ्युदयसम्पादने च शब्दानां सामर्थ्यमङ्गीकृतम्–– "शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु" (वा. ब्र. का. १३९) "यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम्" (वा. ब्र. का. १४०) इत्यादिना। अतः मङ्गलवाचकानां शब्दानां विघ्नविघात–ग्रन्थपरिसमाप्ती प्रति कारणता हरेरभिमतेति निसृतं भवति।

स चायं वाक्यपदीयनामकग्रन्थः काण्डत्रयात्मकः। ब्रह्मकाण्डं वाक्यकाण्डं पदकाण्डञ्चेति काण्डत्रयमस्मिन् ग्रन्थे वर्तते। तत्र वाक्यकाण्डे वाक्यविचारः, पदकाण्डे पदविचारश्च। प्रस्तुते ब्रह्मकाण्डे शब्दस्य सर्वार्थिप्रकृतिभूतत्वेन ब्रह्मत्वनिरूपणपुरःसरं व्याकरणागमसिद्धान्ताः प्रतिपादिताः। अत एवास्य ब्रह्मकाण्डमिति नामसार्थक्यम्। 'आगमसमुच्चयः' इत्यस्य काण्डस्यापरं नाम। वाक्यं च पदञ्चेत्यनयोः समाहारो वाक्यपदम्, तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः "वाक्यपदीयम्" इति "शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः" (पा. अ. ४. ३. ८८) इति छ-प्रत्यये निष्पन्नं मुख्यतया वाक्य–पद–विचारणा–परोऽयं ग्रन्थः।

तत्र विषय–प्रयोजन–सम्बन्धा–धिकारीत्यनुबन्धचतुष्टयं चेत्थम्— शब्दानामर्थानां तेषां सम्बन्धानाञ्चोपवर्णनमस्य ग्रन्थस्य विषय इति "अपोद्धारपदार्था ये" इत्यादिकारिकात्रयेण (ब्र. का. २४, २५, २६) प्रदर्शितः। "साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः" (ब्र. का. १४१) "तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः" (ब्र. का. २९) इत्यादिना च। महावृषभरूपेणान्तरवस्थितेन शब्दतत्त्वेन सायुज्यञ्चास्य प्रयोजनम्—"अपि प्रयोक्तुः" (ब्र. का. १३०) इति कारिकया निरूपितम्। वाक्यं पदं चाधिकृत्य प्रवृत्तस्यास्य ग्रन्थस्य नाम्नैवाभिसम्बन्धः स्पष्टः। शब्दब्रह्मसायुज्यकामो जिज्ञासुरधिकारीत्यर्थत आयातम्।

शब्दतत्त्वमिति। उत्पत्तिविनाशरहितं प्रागभाव-प्रध्वंसाभावप्रतियोगि यद् दर्शनान्तरप्रतिष्ठितं ब्रह्म तदत्र व्याकरणदर्शने शब्दतत्त्वमिति प्रतिज्ञायते। सर्वेषां रूपादिपदार्थानां शब्दानुगतत्वेन शब्द एव सर्वप्रकृतिः। अत एव शाब्दे ज्ञानेऽर्थाः प्रतीयन्ते। यद्यर्थः शाब्दो न स्यात्, शाब्दे ज्ञाने न प्रतीयेत। वक्ष्यति चाग्रे—"अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते" (ब्र. का. १२३) "अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्" (ब्र. का. १३) "शब्दस्य परिणामोऽयम्" (ब्र. का. १२०) "शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी" (ब्र. का. ११८) "शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्" (ब्र. का. २०) तस्मात् शब्दतत्त्वं प्रकृतिः, गोघटादयः पदार्थास्तस्य विकृतिः।

केचित्तु अनादिनिधनं ब्रह्मेति प्रतिज्ञायते इति ब्रुवन्ति, तन्न समीचीनम्। दर्शनान्तरेषु सडिण्डिमं ब्रह्मणोऽनादिनिधनत्वे प्रतिज्ञातेऽस्मिन् शब्दशास्त्रे पुनः प्रतिज्ञानस्यौचित्यानर्हत्वात्।

उपादानोपादेययोः सारूप्यदर्शनात् शब्दस्य घटाद्यर्थप्रकृतित्वासम्भवस्तु न शङ्क्यः। मूर्तिमतामेव तत्सम्बन्धस्य सम्भवाच्छब्दार्थयोरुपादानोपादेयसम्बन्धाभावात्। भिन्नेन्द्रियग्राह्यतया चापि न तयोस्तथासम्बन्ध इत्यपि न, त्वगिन्द्रियग्राह्यस्योष्मणश्चक्षुरिन्द्रियग्राह्यप्रकाशरूपेणाभिव्यक्तेर्दर्शनेन विसदृशेन्द्रियग्राह्याणामपि कार्यकारणतासम्भवात्।

वस्तुतस्तु शब्दात्मनः शक्तीनामानन्त्यात्, अर्थात्मकस्य जगतस्तस्य विवर्तरूपेण स्वीकाराच्चेयं विचारणानपेक्षितव।

यदक्षरमिति। व्यापकमक्षरणशीलं वेत्यर्थः। विभुत्वं कूटस्थत्वं च शब्दतत्त्वस्य निर्दिश्यते। हरिवृषभस्तु—"अक्षरनिमित्तत्वादक्षरमित्युच्यते। प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते" इत्याह। तदयं नितरां सुललितोऽर्थः। यथा भारतभूपवनार्थो हिमवतोऽभिष्यन्दो गङ्गा तथैवान्तःसन्निवेशितस्य शब्दतत्त्वस्य परसम्बोधनार्थोऽभिष्यन्दोऽक्षरव्यक्तिः वैखरीवर्णः। निमित्तकार्ययोरभेदोपचारादक्षरमिति। ब्रह्मवर्णनप्रसङ्गे श्रुत्या पुराणादिभिश्च बहुधा "अक्षर"—पदस्य प्रयोगः कृतः। व्याख्यातृभिश्च विभु-कूटस्थाविनाशिरूपोऽर्थः प्रदर्शितः। परं प्रत्यक्षस्य वर्णमात्रिकस्य ॐकारस्य, अप्रत्यक्षस्य सर्वप्रकृतेर्वर्णनीयत्वात् वैखरीरूपस्याक्षरस्य निमित्तमक्षरमेव ब्रह्मेत्यभिमतमासीच्छ्रुत्यादीनाम्। येन ते पौनःपुन्येनाक्षरं ब्रह्मेति समामनन्ति। कथमेतस्याभिमतस्य दीर्घकालमपलापोऽभवदिति विवेचयन्तु सुधियः।

जगतः प्रक्रियेति । उपसंहृतक्रमाच्छब्दतत्त्वाख्याद्ब्रह्मणः जगतः सर्वे विकाररूपा भावा भवन्ति। शब्दादेव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः। उत्पत्ति-स्थिति–विनाश–रूपा विकारा अपि शब्दब्रह्मणः कालशक्तिवशादेव भवन्ति इत्यग्रे वक्ष्यति।

विवर्तते इति । एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्य-रूपेणोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत्। स च द्विविधः। मूर्ति-विवर्तः क्रियाविवर्तश्च। तथा हि—क्षीणालोके निपतितायां रज्जौ कस्य-चिदागन्तुकस्य सर्पप्रतिभासः सर्परूपोपग्राहिता वा भवति, तदयं मूर्ति-विवर्तः। यदि च प्रसर्पणजिह्वासञ्चालनप्रतिभासोऽपि भवति, तदयं क्रिया-विवर्तः। रज्जुस्तूभयत्रापि रज्जुत्वादप्रच्युता। शब्दतत्त्वप्रसङ्गे तु–'घटो-ऽयम्' इति मूर्तिविवर्तः, 'घटो नष्टः' इति क्रियाविवर्तः। शब्दतत्त्वं त्वप्रच्युत-मेव। एवमेव जगति पृथिव्यादिमूर्तयः, उत्पद्यते तिष्ठति वर्धते नश्यति इत्येवंरूपा प्रक्रिया चैकस्यैव शब्दतत्त्वस्य विभक्तान्यरूपोपग्राहिता।

अत्रेदं तत्त्वम् । वागेव ब्रह्म। तत एव च दृश्यं जगत्। "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात्। दर्शनान्तरप्रतिष्ठितब्रह्मणि यद्ब्रह्मत्वं तत्सर्वं वाच्येवोपपद्यते। द्रव्यगुणकर्मादयो ये पदार्थास्तथाप्रति-ष्ठितब्रह्मणः स्वप्नविषयप्रतिभासवद्विवर्ताः स्वीक्रियन्ते, ते वस्तुतः पदस्य (शब्दस्य) अर्थाः सन्ति। अतो वैशेषिकैः "पदार्थ"–नाम्ना स्वीकृता वेदान्तिभिश्च ब्रह्मणो विवर्तरूपेणाङ्गीकृता यावन्तो भावास्ते शब्दस्यैव विवर्ता इत्येव स्वीकर्तुमुचितम्। अत्रार्थे हरिवृषभवृत्तावुपन्यस्ता कारिका द्रष्टव्या भवति—

> ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
> विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

मुण्डकोपनिषदपि—

> तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः
> सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
> तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः
> प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥
> —(मुण्डक० २।१।१)॥ १॥

जो शब्दतत्त्व उत्पत्ति और विनाश से रहित है, जो विकारहीन और व्यापक है तथा जिससे संसार का सारा क्रिया-कलाप सञ्चालित होता है, वह शब्दतत्त्वात्मक अक्षर ब्रह्म अर्थ के रूप में विवर्तित होता है।

विवर्त अतात्त्विक अन्यथाभाव को कहते हैं, अर्थात् किसी वस्तु में वस्तुतः कोई परिवर्तन हुए बिना जो परिवर्तन दिखाई देता है, दूसरी आकृति या क्रिया का भान होता है, वह विवर्त है। जैसे कभी-कभी चमकीली सीपी चांदी प्रतीत होती है या रस्सी सांप दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में सीपी या रस्सी में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं होता, फिर भी चांदी या सांप की प्रतीति होती है। सीपी या रस्सी का विवर्त चांदी या सांप है।

ठीक इसी प्रकार गो, घट आदि अर्थ (गो—सास्नादिमत् मांसपिण्ड, आकृतिविशेष, इसी प्रकार समस्त पदार्थ) शब्दब्रह्म के विवर्त हैं। स्थिर रस्सी न केवल सांप दिखाई देती है, अपितु उसका जीभ लपलपाना और सरकना भी दिखाई देता है। अर्थात् विवर्त केवल आकार का ही नहीं, क्रिया का भी होता है। इसी लिए शब्दब्रह्म के विवर्त गो-घटादि पदार्थ अपने-अपने रूपों में भी दिखाई देते हैं और चलते-फिरते, बनते-बिगड़ते भी दिखाई देते हैं। उधर रस्सी को सांप देखने वाले में, वास्तविक सांप की भांति, भय का उद्वेग भी पैदा होता है और पलायन की प्रतिक्रिया भी। सांप वास्तव में नहीं है, परन्तु सांप के होने पर जो कुछ होना चाहिये, वह सब घटित हो जाता है। जगत् की प्रक्रिया भी इसी प्रकार चलती है। शब्दतत्त्व के 'अक्षर' होते हुये भी विवर्त के कारण सारा क्रिया-कलाप सञ्चालित होता रहता है।

विवर्त को 'स्वप्नप्रतिभासवत्' माना गया है। स्वप्न में भी ऐसा ही होता है, जो सचमुच नहीं है, उससे सम्बद्ध सभी प्रक्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ स्वप्न में हो जाती हैं।

सम्भवतः किसी के मन में यह विचार उठे कि शब्द का विवर्त जगत् कैसे हो सकता है? क्या नदी के कलकल से, मेघ के गर्जन से, वीणा के स्वरों से या कारखाने की खट-खट से जगत् की उत्पत्ति होती है? ये सब भी तो शब्द हैं? परन्तु वास्तव में ऐंसा नहीं है। इनसे जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। ये 'कार्य' शब्द हैं और वैशेषिकों के "चतुर्विंशतिः गुणाः" की सूची में से एक गुण है, कर्णेन्द्रिय का विषय है। यह 'शब्दतत्त्व' नहीं है। वैयाकरण इन्हें 'अनुपादान-शब्द' कहते हैं। इसकी चर्चा यथास्थान आयेगी।

शब्दतत्त्व वह है जिसके विवर्तरूप संसार के सभी नामवत् पदार्थ हैं। (क्योंकि अनाम पदार्थ कोई नहीं, इसलिए सभी पदार्थ शब्दब्रह्म के विवर्त हैं।) इसका व्याकरण-दर्शन में वही स्थान है जो अन्य दर्शनों में ब्रह्म का है। शब्दब्रह्म की विशेषता यह है कि वह अपने विवर्तों से, वैखरी रूप में पदार्थों से सीधा जुड़ा हुआ हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने नाम से (शब्द से) अनुविद्ध है। मानो नाम के

अतिरिक्त पदार्थ की कोई सत्ता ही नहीं। यदि पदार्थ शब्द के विवर्त न होते तो शब्द से उनकी प्रतीति भी नहीं होती। 'मीठा' कहने से लड्डू जलेबी आदि की प्रतीति होती है, अचार की नहीं। क्यों? अचार मीठे से नहीं बना है। जो जिससे नहीं बनता, उससे उसकी प्रतीति नहीं होती। शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होती है, इसलिए प्रत्येक अर्थ (पदार्थ) शब्द से बना है। यही सिद्ध होता है।

इस दृष्टि से देखने पर अन्य दर्शनों में वर्णित ब्रह्म जगत् का मूलकारण नहीं दिखाई देता। ब्रह्म का कोई तत्त्व जागतिक पदार्थों में अनुस्यूत नहीं दिखाई देता। सच्चिदानन्दमयता, जो इस कथित ब्रह्म के तत्त्व माने जाते हैं, वे दार्शनिकों ने इसमें इस दृष्टि से आरोपित किये हैं कि—सत्ता, चैतन्य और आनन्द जो जागतिक पदार्थों में यत्र तत्र पाये जाते हैं, वे उसमें अवश्य होंगे जो जगत् का मूलकारण है। विडम्बना यह है कि यह दर्शन अन्योन्याश्रयग्रस्त है। ब्रह्म जगत्कारण इसलिए है कि उसके सत्ता आदि तत्त्व जगत् में पाये जाते हैं और ब्रह्म का सच्चिदानन्द होना इस बात पर निर्भर है कि जगत् में पाये जाने वाले सत्तादि उसमें भी होने चाहिये। क्या बेढब गुत्थी है! हाँ, गुत्थी ही है, जो आज तक नहीं सुलझ सकी। ये दार्शनिक स्वयं इससे त्रस्त हैं। 'नेति' 'नेति' या 'सदसतः परम्' कह-कहकर साँसे भरते रहते हैं।

शब्दब्रह्म के विषय में यह गड़-बड़ नहीं है। शब्दब्रह्म का प्रकटतम रूप वैखरी सब पदार्थों में अनुस्यूत है। सब उससे अनुविद्ध हैं। पदार्थों के सभी गुण-धर्म शब्द के ही हैं। वैखरी का दर्शन और प्रयोग सभी कर सकते हैं। यह प्रत्यक्ष ब्रह्म है। इसके मध्यमा, पश्यन्ती और परा रूपों में सभी पदार्थ वैसे ही सिमटे हैं जैसे अण्डे में सारा पक्षी। अतः शब्द को ही ब्रह्म कहना उचित होगा। वैयाकरणों का यही दर्शन है।

कुछ लोग शब्दतत्त्व का अर्थ अंग्रेजी के Speach element (स्पीच ऐलीमेन्ट) से करते हैं। किन्तु इसकी सीमा स्फोट तक ही है ॥ १ ॥

शब्दब्रह्मण एकत्वम्—

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते ॥ २ ॥

यच्छब्दब्रह्म एकं सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्यमेवाम्नातम् पौनःपुन्येन कथितम्, श्रुत्यादिभिरिति शेषः, तद्ब्रह्म शक्ति-व्यपाश्रयात् विविधशक्तीनामाश्रयणात्, स्वीकारादुद्बोधनाद्वेति यावत्, भिन्नमनेकरूपं भवति। तस्य च शक्तिभ्यः स्वयोग्यतारूपाभ्यः अपृथक्त्वे

भेदाभावे सत्यपि तत्पृथक्त्वेनेव भिन्नरूपेणेव वर्तते वर्तमानं दृश्यते, वस्तुतो भिन्नं न भवतीतीवेनार्थः।

एकमेवेति। शक्तिमतः परस्परं विरोधिन्योऽपि शक्तयः शक्तिमन्तं न विरुन्धन्ति, न च शक्तीनां भेदाच्छक्तिमत्यनेकत्वं सम्पद्यते, नैव च विकारानेकत्वं प्रकृत्येकत्वमतिक्रामत्यत एव श्रुतौ शास्त्रेषु च ब्रह्मैकत्वमाम्नातम्—तथा च काचन श्रुतयः—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" "सलिल एवैको द्रष्टाद्वैत एवाभवत्।" "असद्वा इदमग्र आसीत्।" "प्रणव एवैकस्त्रेधा व्यभज्यत।" इत्यादयः। तच्च ब्रह्म शब्दतत्त्वमेवेति पूर्वं प्रतिपादितम्।

नन्वेकं तच्छब्दात्मकं ब्रह्म घटपटादिरूपेण कथं भिद्यतेऽत आह—**शक्तिव्यपाश्रयादिति**। शब्दस्य योग्यतारूपा अनेकाः शक्तयः सन्ति, ताभिरेव शब्दात्मा घटपटाद्यर्थरूपेण प्रतिभासमानो भवति। यदा स जला-हरणयोग्यतारूपां शक्ति समाश्रयति तदा घटरूपेण गृह्यते, यदा चावरण-योग्यतारूपां शक्तिमाश्रयति तदा पटरूपेण गृह्यते, तत्तद्रूपेण भिन्नं च प्रतीयते। शक्तिशक्तिमतोरभेदस्वीकाराच्च शक्तिभ्यः पृथक्त्वेन वर्त-मानस्यापि तस्य स्वशक्तिभ्योऽभेद एवात आह—**अपृथक्त्वेपीत्यादि**। यथा प्रकाशस्य प्रकाश्यवस्त्वाकारेणावग्रहस्ततश्चैकोऽपि प्रकाशः प्रकाश्यभेदा-द्भिन्नः, तथैवाहरणावरणयोग्यतारूपेण भिन्नोऽपि शब्दात्माभिन्न एव।

क्वचित्तु "भिन्नशक्तिव्यपाश्रयादि"ति पाठभेदः। अस्मिन् पाठभेदे—'यदेकमेवाम्नातं तत् शक्तिभ्योऽपृथक्त्वे सत्यपि सर्वासु शक्तिषु युगपत्तस्मिन् वर्तमानास्वपि भिन्नशक्तिव्यपाश्रयात्–अग्निबुबोधयिषया दाहकशक्त्या-श्रयात्, जलबुबोधयिषया शैत्य-सेकशक्त्याश्रयात्, इत्येवं प्रयोजनवशात्काले काले विविधशक्तिसमाश्रयणात् पृथक्त्वेनेव वर्तत' इति योजनानुसन्धेया।

यथोक्तपाठेऽपि च—यदेकमेवाम्नातं तत् शक्तिव्यपाश्रयणात् भिन्नं भवतीत्येकं वाक्यम्। अथ च तस्य–अपृथक्त्वेऽपि भेदाभाववत्त्वे सत्यपि शक्तिभ्यो हेतुभूताभ्यस्तत् पृथक्त्वेनेव वर्तते, इत्यप्यर्थः सम्भवति। अत्रार्थे चायं विशेषः—शब्दब्रह्मण एकत्वेऽपि भेदोपग्रहंनिरूपणपरायामस्यां कारिकायां तस्य शक्तयस्ततो भिन्ना अभिन्ना वेति स्मारणमप्रासङ्गिकं प्रतीयते। उक्तार्थे तन्न स्यात्॥ २॥

"शब्दब्रह्म एक है," यह बात वेद, उपनिषद् और अनेक शास्त्रों में बार-बार प्रतिपादित की गई है। फिर भी भिन्न-भिन्न शक्तियों से समन्वित होने पर, उन्हें

अपनाकर, वह अनेक हो जाता है। वह अपनी शक्तियों से अलग तो नहीं होता, क्योंकि शक्ति और शक्तिमत् में भेद नहीं होता, तथापि अलग-सा दिखाई देता है।

शक्ति का अर्थ योग्यता है। घट, पट, अग्नि, जल आदि शब्दों की धारण (जलाहरण), आवरण, दाह और शैत्य आदि भिन्न-भिन्न योग्यताएँ हैं। इन्हीं विभिन्न योग्यताओं से समन्वित होने पर एक शब्दब्रह्म घट, पट, अग्नि, जल आदि शब्द-रूपों में प्रतीत होता है। इन सबके पीछे मूलतः शब्द-तत्त्व एक ही होता है। (चित्र-संख्या–१)।
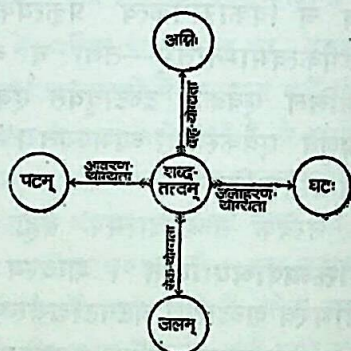
चित्र-संख्या–१

शब्दब्रह्म अपनी इन योग्यताओं या शक्तियों से भिन्न नहीं होता, फिर भी व्यावहारिक कारणों से भिन्न-जैसा दिखाई देता है। "राम में रावण को मारने की शक्ति थी।" इस प्रकार व्यावहारिक व्यपदेश प्रायः देखने में आते हैं, परन्तु शक्ति और शक्तिमत् कभी भी अलग-अलग नहीं किये जा सकते। "शक्ति-शक्तिमतोरभेदः" का सिद्धान्त इसी कारण मान्य है। भिन्नता केवल प्रतीति है।

इस पूरे विषय को इस उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है— मान लीजिये, कोई छात्र पढ़ने में मन्द है किन्तु दौड़ने में तीव्र है। अतः वह कक्षा में मन्द कहा जायगा, किन्तु क्रीडाङ्गण में तीव्र। अपनी ही दो भिन्न योग्यताओं के कारण वह एक होते हुए भी अनेक कहा जाता है। तीव्रता और मन्दता नामक योग्यताएँ भी उससे भिन्न नहीं हैं। जैसे दौड़ने की योग्यता से युक्त छात्र तीव्र और अध्ययन-मन्दता से युक्त वही छात्र मन्द कहलाता है, उसी प्रकार एक ही शब्दब्रह्म धारण (जलाहरण), आवरण, दाह और सेक आदि योग्यताओं के समन्वय से घट, पट, अग्नि, जल आदि के रूप में विवर्तित होकर अनेक प्रतीत होता है॥ २॥

कालशक्तिर्भावभेदस्य कारणम्—

अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥ ३॥

यस्य च शब्दात्मनो ब्रह्मणः अध्याहितकलां, अध्याहिता आरोपिता कला भेदः यस्यां तां कालशक्तिं कालाख्यां स्वातन्त्र्यशक्तिं उपाश्रिताः तदाश्रयेण वर्तमानाः जन्मादयः जन्म–स्थिति–वृद्धि–विपरिणाम–क्षय–

नाश–रूपाः षट्संख्यकाः विकाराः अवस्थाभेदाः भावभेदस्य पदार्थभेदस्य योनयः कारणानि भवन्ति ।

अध्याहितकलामिति । अत्र "अव्याहताः कला यस्य" इति पाठान्तरम् । तस्यायमर्थः–यस्य शब्दब्रह्मणोऽव्याहता नित्याः कलाः शक्तयः कालशक्तिमुपाश्रिताः सत्यः भावभेदस्य योनयः कारणरूपा जन्मादयः षड् विकाराः जायन्ते, इति । अयं चापि रुचिरोऽर्थः । शक्तीनामेव वर्णन-प्रसङ्गात् । नित्या अपि ता योग्यतारूपाः शक्तयः कालशक्तिवशात् जन्मादिविकाररूपा जायन्ते, इत्यर्थः ।

अयं भावः । सर्वे हि भावा आद्यन्तवन्तः । तेषां च जन्मादयः षड-वस्थाः शब्दात्मनो ब्रह्मणः कालशक्तिवशादेव भवन्ति । यथाङ्कुरो जायते, तिष्ठति, विपरिणमति, वर्धते, क्षीयते, नश्यति चेत्यवस्थाभेदः कालशक्ति-कृत एव । सा च कालशक्तिस्त्रुटचादिपरार्धपर्यन्तं भेदवती । त्रुटचादिभेद-मादधातीत्यर्थः । कालो हि सर्वेषां भावविकाराणां प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां सहकारिकारणम् । तेन वसन्ते पुष्पोद्गमः, ग्रीष्मे चानुद्गमः एतदेवाह हरिः—

उत्पत्तौ च स्थितौ चापि विनाशे चापि तद्वताम् ।
निमित्तं कालमेवाहुर्विभक्तेनात्मना स्थितम् ॥
यदि न प्रतिबध्नीयात् प्रतिबद्धं च नोत्सृजेत् ।
अवस्था व्यतिकीर्येरन् पौर्वापर्यं विना कृताः ॥
(वा. प. ३. ९. ३, ५) ॥ ३ ॥

ये योग्यताएँ या शक्तियाँ नित्य हैं नाशशील नहीं । परन्तु जब ये निमिष से लेकर परार्ध तक भेदों वाली काल-शक्ति का अनुसरण करती हैं, अर्थात् काल से प्रभावित होती हैं, तो उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, क्षय और नाश, इन छह विकारों के रूप में पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं का कारण बन जाती हैं । काल से प्रभावित शब्दब्रह्म की योग्यताएँ समस्त पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति आदि छह अवस्थाओं का नियमन करती हैं ।

उदाहरणार्थ—पुष्प-फल-उत्पादन की योग्यता से युक्त शब्दब्रह्म वृक्ष के नाम और रूप से प्रतीत होता है । इस वृक्ष की सत्ता उत्पत्ति से विनाश तक क्रमवती दिखाई देती है । क्योंकि उपर्युक्त उत्पादन-योग्यता कालशक्ति से समन्वित होकर अपना कार्य करती है । यहाँ अङ्कुर निकलने की अवस्था उत्पत्ति, उसी तरह बने रहने की अवस्था स्थिति, कोमल से कठोर होने की अवस्था विपरिणाम, छोटे से बड़ा होना वृद्धि, वृद्धि में रुकावट आना और शाखाओं का गिरना क्षय तथा पूर्णतया समाप्त होना नाश है । यही पुष्प-फल-उत्पादन की योग्यता

कालक्रम से इन छह अवस्थाओं को पैदा करती है। इसी से 'उत्पन्न हुआ,' 'नष्ट हुआ' यह व्यवहार चलता है ॥ ३ ॥

एकस्याप्यनेकधा स्थितिः शब्दतत्त्वस्य—

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा ।
भोक्तृ-भोक्तव्य-रूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥ ४ ॥

यस्य शब्दब्रह्मणः एकस्याद्वितीयस्य च अपि, चोऽप्यर्थे, सर्वबीजस्य सर्वोत्पत्तिकारणत्वाद्बीजरूपस्य, इयं सर्वैरनुभूयमाना भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च, भोक्तृरूपेण, भोक्तव्यरूपेण, भोगरूपेण च, अनेकधा अनेकप्रकारिका, स्थितिः लोकव्यवहारः, अस्ति।

तस्य शब्दब्रह्मणः प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च वेद इत्यग्रेऽन्वयः ।

सर्वबीजस्येति । बीजं हि परस्परविरुद्धरूपरसगन्धस्पर्शवतां पर्णफलकुसुमकाष्ठानामेकमेवोद्गमः। शब्दात्मापि तद्वत् सर्वेषां विरुद्धाविरुद्धपदार्थानामुद्गम इति बीजशब्दस्वारस्यम्। साधारणं पार्थिवं बीजमाम्रस्याम्रं न्यग्रोधस्य न्यग्रोधमुत्पादयति। पार्थिवबीजस्य हि प्रतिबद्धा शक्तिः। शब्दब्रह्मणस्तु तत्त्वान्यत्वाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यां चानिर्वाच्याः परस्परविरोधिन्योऽपि स्वाधिष्ठाने शब्दात्मनि योगपद्येन वृत्तेरविरोधिन्यो विविधाः शक्तयः सन्ति "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यादिभिः श्रुतिसमर्थिताः। अत एवास्य सर्वबीजत्वम् ।

भोक्तृभोक्तव्येति । भोक्तृ-भोक्तव्य-भोगेति तूपलक्षणं कर्तृ-कर्म-करणानां साधक-साध्य-साधनानामेवमन्येषां च। यश्चायं करोति, यच्च येन यथा च क्रियते, इत्येतत्सर्वं शब्दब्रह्मैव। तथा तथा विवर्तमानस्य तस्येयमनेकधा स्थितिः, भिन्नशक्तिव्यपाश्रयणात् ।

अत्र भोक्ता पुरुषः, भोक्तव्या विषयाः, भोगश्च तदनुकूला क्रिया ॥४॥

घट, पट आदि सभी पदार्थ शब्दब्रह्म के विवर्त हैं और उसी की योग्यताओं से पदार्थों और उनकी अवस्थाओं का नियमन होता है। अतः वह एक होते हुए भी सभी पदार्थों का मूल-कारण है। जैसे पेड़ के सभी भागों का कारण उसका बीज होता है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म की सत्ता भोक्ता–भोक्तव्य–भोग, कर्ता–कर्म-करण, साधक–साध्य–साधन आदि अनेक रूपों में वर्तमान है। मूर्तिकार वही है, मूर्ति भी वही है और हथौड़ी–छेनी भी वही है। विश्वमञ्च पर अभिनीत होने वाली "संसृति" नाटिका का द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, सब कुछ वही है, परन्तु लोकव्यवहार के लिए उसे कर्ता, कर्म, करण संज्ञाएँ दी गई हैं।

इस प्रकार पूर्व-कारिकाओं में वर्णित "शब्दतत्त्व की प्राप्ति का उपाय और प्रतिमा वेद है" यह अगली कारिका में दिखाया गया है ॥ ४ ॥

शब्दब्रह्मणः प्राप्त्युपायो वेदः—

प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

तस्य पूर्ववर्णितस्य शब्दब्रह्मणः, प्राप्त्युपायः प्राप्तेरुपायः, अनुकारः अनुकृतिः प्रतिमा वा, वेदः वेदनाम्ना प्रसिद्धो ब्रह्मराशिः, एकोऽपि सन् अनेकवर्त्मा इव अनेकमार्ग इव, ऋग्यजुःसामाथर्वभेदेन वाजसनेय-तैत्तरीय-माध्यन्दिनादितत्तच्छाखाभेदेन संहिता-पद-क्रम-घन-जटादि-भेदेन चानेक-मार्ग इव, महर्षिभिस्तत्तच्छाखाप्रवर्तकर्षिभिः, पृथक् पृथक् समाम्नातः पठितः ।

प्राप्त्युपाय इति । ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रमः, विकाराणां प्रकृतिभावापत्तिः, वैकरण्यं, अबहिःसाधना परितृप्तिः, आत्मतत्त्वं आत्मकामत्वं, अनागन्तुकार्थत्वं परिपूर्णशक्तित्वं, कालशक्तीनामात्म-मात्रास्वसमावेशः, सर्वात्मना नैरात्म्यम् इत्येवं प्राप्तिविकल्पास्तत्र तत्र पूर्वेषामभिमताः । एतेषु परिपूर्णशक्तिमत्त्वादृते सर्वेऽपि नकारात्मकाः । प्राप्तिस्तु स्वीकारात्मिकैव भवितुमर्हति । तथाप्रतिष्ठितब्रह्मणो दुर्बोध-त्वादविस्पष्टस्वरूपत्वाच्चैवैते प्राप्तिविकल्पा नकारात्मकाः, अप्राप्तौ अपाये वापि प्राप्तिसन्तोषरूपा अविस्पष्टा एव । एतेषां शब्दब्रह्मणः प्राप्तिरूपता नैव सम्भवति । शब्दतत्त्वं तु शब्दस्वरूपेणैव जगत्कारणम्, ज्ञातृरूपेण वा । शब्दात्मकतया ज्ञानात्मकतया वा वेदस्तस्य प्राप्त्यु-पायः । तथा चेयमभियुक्तोक्तिः—"वेदाभ्यासात्परमान्तरं शुक्लमजरं ज्योतिरस्मिन्नेवापारे तमसि वीते विवर्तते ।" तच्च ज्योतिः "स्वरूप-ज्योतिरेवान्तःपरावागनपायिनी" इत्यादिना आन्तरज्योतिष्ट्वेन परा-वाग्रूपेण स्वीकृतम् ।

तदेतस्यान्तरज्योतीरूपस्य ओमित्येकाक्षरात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य प्राप्त्युपायो वेदः । यदपि "सलिल एवैको द्रष्टाद्वैत" "द्वा सुपर्णा" इत्यादयो ब्रह्मविषयका अर्थवादाः, यानाश्रित्य चैकत्विनां द्वैतिनां च दार्शनिकानां वादाः, अतः शब्दतत्त्वातिरिक्तस्य कस्यापि ब्रह्मणः प्राप्त्युपायो वेद इति तन्न । "प्रवादा बहुधा मताः" (वा. प. १. ८) "सत्या विशुद्धि-

स्तत्रोक्ता" (वा. प. १. ६) इत्यादिना तेषां वादानां प्रवादमात्रत्वाभ्युपगमात्, तेषु सत्याया विशुद्धेरस्वीकाराच्च ।

अनुकारश्चेति । शब्दात्मकतया ज्ञानात्मकतया वा वेदः शब्दब्रह्मणोऽनुकारः । वेदः ज्ञानम् । ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्टैव । शब्दस्यानुकारो शब्दः, ज्ञानस्यानुकारो ज्ञानमित्युचितमेव । हरिवृषभोऽपि स्ववृत्तौ—"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति, तामसाक्षात्कृतधर्मभ्योऽपरेभ्यः प्रवेदयिष्यमाणाः बिल्मं समामनन्ति स्वप्नप्रवृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिरव्यासन्त इत्येषः पुराकल्पः ।" इति पुराकल्पमनुस्मारयन् नित्याया अतीन्द्रियाया वाचो बिल्मरूपं वेदानुपूर्वी निरूपयति स्वप्नवृत्तवत् । एतेनापि वाग्ब्रह्मण एवानुकारो वेद इति सिध्यति ।

एकोऽपीति । यथा देशभेदाद् भाषाभेदाच्चैकाभिधेयत्वेन वाक्यस्यैकत्वं न निवर्तते तथैव शाखाचरणादिभेदाद् एककर्माभिधेयत्वेनानेकवर्त्मत्वेऽपि वेदस्यैकत्वं न विहन्यते । एतच्च प्रणवाख्याद्ब्रह्मणश्चत्वारो वेदाः समुद्भूता इति मतमनुसृत्यैव । 'प्रणवादेक एव वेदः सम्भूतः, स च पश्चात् चतुर्धा व्यस्तो व्यासेन' इति मते तु वेदस्यैकत्वं व्यवस्थितमेव ॥ ५ ॥

शब्दब्रह्म की प्राप्ति का साधन और अनुकृति या प्रतिमा वेद है । नादात्मक प्रणव के रूप में भी स्वयं एक है । तत्त्वदर्शी महर्षियों ने अध्ययन की सुविधा के लिए संहिता, पद, क्रम आदि पाठ-भेद तथा अनेक शाखा-भेद करके शिष्यों को उपदेश दिया है । शाखादिभेद उपदेश के अलग-अलग प्रकार मात्र हैं ॥ ५ ॥

वेदस्य भेदेऽप्येकत्वम्—

> **भेदानां बहुमार्गत्वं कर्मण्येकत्र चाङ्गता ।**
> **शब्दानां यतशक्तित्वं तस्य शाखासु दृश्यते ॥ ६ ॥**

यद्यपि वेदस्य भेदानां ऋग्यजुःसामाथर्वणां तैत्तरीयमाध्यन्दिनादिशाखाभेदानां संहिता-पद-क्रमादिभेदानां वा, बहुमार्गत्वं अनेकत्वमस्ति, तथापि कर्मणि ज्योतिष्टोमादौ याज्ञे कर्मणि, तेषामङ्गताप्यस्ति । यज्ञकर्मणस्ते सर्वे भेदा अङ्गभूताः सन्तीत्यर्थः । तस्य विविधासु शाखासु, शब्दानां यतशक्तित्वं पदार्थबोधसामर्थ्यनियमः, अभ्युदयनिःश्रेयससम्पादकत्वनियमो वा दृश्यते ।

बहुमार्गत्वमिति । भेदानां बहुमार्गत्वेन वेदस्यैकत्वं न विरुध्यते, एकस्या नित्याया वाचोऽनुकारत्वेन तस्य स्वीकारात् । एकत्र कर्मणि च

शाखाभेदानामङ्गताप्यत्र प्रमाणम् । अन्यथा शाखाभेदानामेकत्र कर्मण्यङ्गता-नियमो न स्यात् । तत्तच्छाखासु शब्दानां यतशक्तित्वं चाप्यमुमेवार्थं समर्थयति, येन रूपेण यस्यां शाखायां स्वरादिनियमो दृश्यते, तेनैव रूपेण सोऽभ्युदयनिःश्रेयससम्पादकः । अभ्युदयनिःश्रेयसरूपमुद्देश्यन्तु सर्वशाखा-साधारणम्, सर्वभिषक्शाखानां चिकित्सितमिव ।

यतशक्तित्वमिति । यथा यद्देशे या भाषा तयैव प्रवृत्तिनिवृत्ती । शवतिर्गतिकर्मा काम्बोजेषु, विकारे आर्यप्रदेशेषु । शवतिर्यतशक्तिः । यथा वाधुना 'राण्डि' इत्युक्ते तमिला एवागच्छन्ति, 'आओ' इत्युक्ते वाराणसेयाः । एकाभिधेयेऽपि 'राण्डि' इत्यस्य वाराणस्यां न प्रवर्तकत्वम् । एवमेव "देव-सुम्नयोर्यजुषि काठके" (पा० अ० ७. ४. ३८) इति कृतात्वस्य 'देवायन्त' इत्यस्य काठकभिन्नशाखायां नाभ्युदयहेतुत्वम् ।

बुद्धि की प्रतिभा के अनुसार वेद की अनेक शाखाएँ और संहिता, पद, क्रम, घन, जटा आदि अनेक पाठ-प्रकार हैं, परन्तु ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ कर्मों में उनकी उपयोगिता समान है । तैत्तरीय, माध्यन्दिन, वाजसनेय आदि सभी शाखायें ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ का प्रतिपादन करती हुई उस यज्ञकर्म की अङ्ग-भूत ही हैं । जैसे एक ही स्थान में पहुँचने के लिए अनेक मार्ग होते हैं और उन सब का लक्ष्य, स्वयं भिन्न होते हुए भी, एक ही होता है । वैसे ही वेद की शाखाएँ, स्वयं भिन्न होती हुई भी, लक्ष्यभूत कर्म की ही प्रतिपादिकाएँ हैं । अतः विभिन्न शाखाओं में रूपभेद और स्वरभेद होते हुए भी विधेय कर्म में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होती । प्रत्येक शाखा में शब्दों की अर्थबोधजनिका शक्ति अथवा अदृष्टप्रतिपादिका शक्ति निश्चित है । अतः अर्थगत या फलगत अनवस्था नहीं हो पाती ॥ ६ ॥

स्मृतीनां वेदमूलकत्वम्—

स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ ७ ॥

वेदविद्भिः वेदार्थज्ञैः, मनुयाज्ञवल्क्यादिभिश्चरकसुश्रुतादिभिश्च तमेव वेदमाश्रित्य आधारीकृत्य, लिङ्गेभ्यः तत्तदभिप्रायबोधकसङ्केतेभ्यः, दृष्टादृष्टप्रयोजनाः, दृष्टं चादृष्टं च दृष्टादृष्टे ते प्रयोजनं यासां ताः, प्रत्यक्षफलवत्योऽप्रत्यक्षफलवत्यश्च, स्मृतयः स्मृतिशास्त्राणि, प्रकल्पिताः निर्मिताः ।

स्मृतय इति। स्मृतिः खलु व्यवहारशास्त्रम्। स्मरणमूलकत्वात्तत् स्मृतिरिति कथ्यते। वेदविहितधर्मव्यवहारस्य समये समये वेदविद्भिर्मन्वादिभिर्ये स्मारकसंग्रहाः प्रकल्पितास्ताः स्मृतयः। तासु काश्चिच्छब्दतो वेदमूलिकाः, काश्चिच्च शब्दतो वेदेऽनुपलभ्यमानमूला अपि शिष्टसमाचारप्राप्ताः। तास्वपि काश्चिद्दृष्टप्रयोजनाश्चिकित्साशास्त्राणि नीतिशास्त्राणि, अर्थशास्त्राणि वा। अदृष्टप्रयोजनाश्च भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यादिविधयः। भक्ष्याभक्ष्ये "अयं भक्ष्यः, अयमभक्ष्यः" इत्युभयत्रापि प्राणवियोगानुकूलव्यापारस्य हिंसनस्य समत्वे भक्ष्यविधेर्निषेधस्य चादृष्टप्रयोजनत्वमेव। काश्चित्स्मृतय दृष्टादृष्टप्रयोजना अपि। एतासां सर्वासां वेदमूलकत्वमेव। वेदश्च शब्दब्रह्मणोऽनुकारः॥ ७॥

वेद का अनुसरण करते हुए वेद के ही सङ्केत लेकर वेद के मर्मज्ञ विद्वानों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष फलवाली अनेक स्मृतियों का निर्माण किया है॥ ७॥

वादा अर्थवादमूलकाः—

तस्यार्थवादरूपाणि निश्रिताः स्वविकल्पजाः।
एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः॥ ८॥

तस्य वेदस्य अर्थवादरूपाणि, इदं द्वितीयान्तं, तानि निश्रिताः नितरामाश्रिताः, स्वविकल्पजाः स्व-स्व-मतिविकल्पोद्भूताः, एकत्विनां ब्रह्मैकत्ववादिनां, द्वैतिनां अनेकत्ववादिनां, प्रवादाः पृथक् पृथक् वादाः, बहुधा बहुप्रकारेण, मताः प्रचलिताः सन्ति।

अर्थवादेति। अर्थार्थो प्रयोजनार्थो वा वादोऽर्थवादः। स्तुत्यादिप्रयोजनमुद्दिश्य प्रस्तुतेऽप्रस्तुतधर्मारोपेणोपवर्णनमिति यावत्। यथा— "असद्वा इदमग्र आसीत्" (श० ब्रा० ६. १. १. १) इदमग्निचयनस्थानवर्णनम्। इदं स्थानमग्निचयनात्पूर्वमसदासीदित्यर्थः। इदं वाक्यं जगतः सत्ताभावपरकं प्रकल्य ब्रह्मैकत्वप्रवादः प्रचलितः। नित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनयः, यासु रूपि चारूपि च, स्थूलं च सूक्ष्मं चेदं भुवनं विषक्तम्. "द्वा सुपर्णा सुयजा सखाया" इत्यादि वाक्यानि च स्वविकल्पानुसारं प्रकल्य द्वैतिनां प्रवादः प्रचलितः।

रूपाणीति। अर्थवादरूपाणीत्यत्रार्थवादस्य रूपाणि भेदान् प्रकारान् निश्रिताः प्रवादा इत्यर्थो बोध्यः। अर्थवादरूपाणि तु—"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत एक एवाभवत्," "प्रणव एवैकस्त्रेधा व्यभज्यत", "अजामेकां लोहितकृष्णवर्णाम्" इत्यादयः। केचित्तु—अर्थवादरूपाणीत्यत्र अर्थवादान् च

अर्थवादरूपाणि चेति द्वन्द्वे, "गुणो यङ्लुको" इत्यत्र यङि च यङ्लुकि चेति यङ्लुकोः, इतिवदेकशेषमिच्छन्ति, अर्थवादरूपाणीत्यस्य चार्थवाद-सदृशानीत्यर्थमभिप्रियन्ति, तन्न समीचीनं, गौरवात्, अभिप्रायेऽविशेषाच्च ।

प्रवादा इति । प्रवादा इत्यस्य प्रकृष्टा वादा इत्यर्थस्तु हरेरभिप्रेतो न प्रतीयते, अग्रेतनकारिकायां प्रवादेषु सत्याया विशुद्धेरसत्ववर्णनात् । तेन प्रवादा इत्यस्य प्रलापा इत्येवार्थः सङ्गच्छते । स्वविकल्पजा इत्यनेनाप्यय-मेवार्थो ध्वन्यते ॥ ८ ॥

वेद के अर्थवाद के विभिन्न प्रकारों को देखकर या अर्थवाद को आधार बनाकर अद्वैतवादियों और द्वैतवादियों ने अपने-अपने अनुभव और कल्पना के द्वारा अनेक प्रकार के सिद्धान्तों, मतवादों को ब्रह्म के विषय में स्थापित किया है ॥ ८ ॥

व्याकरणमेव सत्या विशुद्धिः—

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥ ९ ॥

तत्र पूर्वोक्त--दृष्टादृष्टप्रयोजनानां स्मृतीनां द्वैताद्वैतिनां बहुविध प्रवादानां च मध्ये, प्रणवरूपेण ॐ-इत्येकाक्षरेण, युक्ता सहिता, सर्ववादा-विरोधिनी सर्ववादाविरोधेन वर्तमाना सर्वैर्वादिभिर्मानिता, एकपदागमा एकपदं ओंकाररूपं आगम उद्गमो यस्याः सा एकपदागमा विद्या, एव निश्चयेन, सत्या वास्तविकी, विशुद्धिः विशिष्टा शुद्धिः, उक्ता कथिता स्वीकृता वा । बुधैरिति शेषः ।

तत्रेति । अत्र केचित् 'तत्र'पदेन वेदं परामृशन्तः प्रणवरूपेण युक्ता-मेकपदां विद्यामेव वेदे सत्यां विशुद्धिमुररीकुर्वन्ति, तन्न रुचिरम्, एकपदा-गमाया एव सत्यत्वेन विशुद्धत्वेन च स्वीकारेऽवशिष्टवेदस्याशुद्धत्वापत्तेः । उषःसूक्त-पृथ्वीसूक्तादीनामविशुद्धत्वस्वीकारे तु वेदमहात्म्यस्य सुमहान् हानिः स्यात् । अतः प्रसङ्गप्राप्ततया तत्र-पदेन स्मृतीनां वादानामेव च परामर्श उचितः, तेषामव्यवहितपूर्वं वर्णनात् ।

एकपदागमेति । एकपदागमा विद्या च व्याकरणस्मृतिः । सर्वतः संहृतक्रमं शब्दतत्त्वं तदेवैकपदमागमो यस्याः सा व्याकरणविद्या । पश्यन्त्यां मध्यमायां वा ओमिति नादस्वरूपेण प्रणवेन युक्ता सर्वोपकार-कत्वात्सर्ववादाविरोधिनी च ।

एवेति । अवधारणे परिसंख्याने वा ॥ ९ ॥

उपर्युक्त द्वैत और अद्वैत आदि वादों में तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष फलवाली स्मृतियों में नादात्मक प्रणव से युक्त एकपदागमा विद्या ही सभी वादों से अविरुद्ध होने के कारण वास्तविक और विशुद्ध अर्थात् दोष-रहित है।

एकपदागमा विद्या व्याकरण है। इस विद्या का उद्गम एक शब्दतत्त्व है। इसी शब्दतत्त्व का प्रकटतम रूप वैखरी वाणी है, जो प्रकृति–प्रत्यय विभाग वाले तथा उत्सर्गापवाद विधि से शब्द-साधुभाव का नियमन करने वाले व्याकरण शास्त्र का विषय है। यद्यपि व्याकरण विद्या का यह स्वरूप केवल बाह्य स्वरूप है, तथापि वैखरी के माध्यम से मध्यमा, पश्यन्ती को पार करता हुआ यही स्वरूप उस परात्मक शब्दतत्त्व से जुड़ जाता है। प्रकृति–प्रत्यय-विभागवाला व्याकरण-स्वरूप बालकों को बहलाने के उपायों-जैसा है, असत्य मार्ग से सत्य की प्राप्ति का एक साधन-भर है। अतः असंख्य शब्दों में बिखरे हुए व्याकरण के इस बाह्य स्वरूप को देखकर यह सोचना ठीक न होगा कि—"व्याकरण एकपदागमा विद्या कैसे हो सकती है ?" व्याकरण के सम्पूर्ण विस्तार का आगम वही एक शब्दतत्त्व है, जो सर्वबीज होकर सभी लोकों का विधाता है ॥ ९ ॥

शब्दब्रह्मण एव सर्वे विद्याभेदाः—

विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥ १० ॥

तस्य पूर्वप्रतिपादितस्य, लोकानां भूर्भुवादिलोकानां तद्वसतिमतां च, विधातुः स्रष्टुः प्रणवात्मनः शब्दब्रह्मणः, अङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः अङ्गोपाङ्गमूलकाः, अङ्गानि शिक्षाकल्पनिरुक्तादीनि, उपाङ्गानि दर्शन-पुराणादीनि निबन्धनानि येषां ते, ज्ञानसंस्कारहेतवः ज्ञानस्य संस्कारस्य, हेतवः कारणानि, विद्याभेदाः विद्यानां भेदाः, प्रतायन्ते विस्तार्यन्ते ।

विधातुरिति। लोकानां विधाता प्रणवस्वरूपो वेदः। स च नादात्मकत्वात् शब्दब्रह्म। वेदश्च तस्यानुकारः। अत एव "सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः" "ओङ्कार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।" "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्" इत्येवमादयः श्रुतयः प्रवर्तन्ते। वेदस्य मन्त्रसंहिताकारेण लोकविधातृत्वं तु न सम्भवति, वेदपुस्तकात् वैखरीरूपेणोच्चार्यमाणमन्त्रसमूहाद्वा सर्वसम्भवापत्तेः। यदपि हरिणा "छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत" इत्युक्तम्, तदपि "वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः" (महाभा० शान्तिप० २३२. २६). "वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"

(मनु० १. २१) इत्यादि पुराणसरणिमनुपालयतस्तस्यानेनैव पथा सङ्गच्छते । एवमन्यत्राप्यनुसन्धेयम् ।

ज्ञानसंस्कारेति । ज्ञानस्य संस्कारस्तस्य हेतवो विद्याभेदा इति । ज्योतिर्वद् ज्ञानानि भवन्ति, इति ज्योतिःस्वरूपं ज्ञानमविद्यावशात् विषयव्यासङ्गाद्वा भसितोपहताङ्गार इवानुद्बुद्धं भवति, विद्याभेदैस्तस्य संस्कारः क्रियते, तृणखण्डेनाङ्गारस्येव । अथवा ज्ञानं च संस्कारश्चेति द्वन्द्वे तयोर्हेतव इति । ज्ञानस्य हेतवः, अध्येतृपुरुषसंस्कारहेतवश्च विद्याभेदाः प्रतायन्ते इति । ज्ञानमेव वा संस्कारः । तस्य हेतव इति ।

विद्याभेदा इति । प्रणवात्मनोऽङ्गोपाङ्गेभ्यो विद्याभेदा भवन्तीत्यर्थः । तत्र मन्त्रब्राह्मणोपनिषदः प्रणवाङ्गेभ्य उद्भूता विद्याभेदाः । यथोक्तम्– "ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा" इति (भ० गी० १७. २३) उपाङ्गेभ्यः स्मृतयश्चिकित्साव्याकरणादयः । अन्येऽपि शकुनविज्ञानादयः । पारम्परिकोऽयमर्थः । विश्वस्मिन् जगति यावन्तो विद्याभेदाः, भौतिकरसायन–परमाणु–विज्ञानादयस्ते सर्वेऽपि तस्य शब्दात्मनोऽङ्गोपाङ्गनिबन्धनाः । अतश्च "सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टाः" इत्युपपद्यते ॥ १० ॥

नाम-रूप वाले समस्त चर-अचर पदार्थों के विधाता प्रणव के अनेक विद्याभेद किये गये हैं, जिनमें व्याकरण आदि प्रधान अङ्गों तथा दर्शन-पुराणादि उपाङ्गों का समावेश है । इन अङ्गोपाङ्गों के भी आगे अनेक विद्याभेद हैं । ये विद्याभेद मनुष्य के ज्ञान का संस्कार करती हैं अथवा इन विद्याओं से मनुष्य में ज्ञानोदय होता है और पुरुष का संस्कार भी होता है ॥ १० ॥

व्याकरणस्य वेदाङ्गेषु प्राथम्यम्––

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥११॥

बुधाः मनीषिणः, तस्य पूर्ववर्णितस्य, ब्रह्मणः शब्दतत्त्वस्य, आसन्नं निकटतमं, साक्षादुपकारि वा, तपसां ब्रह्मचर्य-चान्द्रायण-स्वाध्यायादि-वाक्कायमनःपावनानां तपसां मध्ये, उत्तमं श्रेष्ठं तपः, छन्दसां वेदस्य, निरुक्त-छन्दः-शिक्षा-कल्प-ज्योति-प्रभृतिषडङ्गेषु प्रथमं प्रधानं, अङ्गं व्याकरणं प्राहुः ।

आसन्नमिति । अथ शब्दतत्त्वं व्याख्याय तत्प्राप्त्युपायतयानुकारत्वेन च प्रणवात्मकं वेदं व्यवस्थाप्य तस्यैव विद्याभेदेषु व्याकरणस्य प्राधान्यं

निरूप्य व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनमन्वाख्यातुमुपक्रामति–आसन्नमिति। आसत्तिरत्रोपकारविशेषः। वेदाख्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपसंस्कारद्वारको व्याकरणकृत उपकारविशेषः। तथा च भाष्यम्–"लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यक् वेदान् परिपालयिष्यति" (म. भा. १. १. १.) एतेन भाष्योक्तं 'रक्षा' प्रयोजनं निर्दिष्यते। ऊहः खल्वप्युपकारविशेषः। "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इत्यतिदेशबलेन "सौरं चरुं निर्वपेत्, ब्रह्मवर्चसकामः" इत्यादि-स्थले "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" इत्याग्नेययागमन्त्र ऊह्यते "सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि" इति। इदमूह्यमिदमनूह्यमिति मीमांसया लिङ्गवचन-विभक्तिलकारादीनामूहस्तु व्याकरणेनैव क्रियते। तथा च भाष्यम्—"तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमितुम्।" (म. भा. १. १. १) तदियमूहरूपासत्तिरुपकारविशेषः। अनेनोहरूपं प्रयोजनं निर्दिश्यते।

प्रथममिति। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति आगमप्रयोजनं च व्याकरणस्य षट्स्वङ्गेषु प्राथम्यान्निर्दिष्टं भवति। यस्याक्षरसमाम्नायस्य ज्ञानमात्रेण सर्ववेदफलावाप्तिरागमनेन स्मर्यते, तच्छन्दसां प्रधानमङ्गं व्याकरणमिति।

तप इति। तपो धर्मस्यैका विधा। व्याकरणं च ब्रह्मचर्यादिवाक्काय-मनःपावनानां तपसां मध्ये दृष्टादृष्टफलजनकतयोत्तमं तपः। इदमपि च "निष्कारणो धर्मोऽध्येयो ज्ञेयश्चेत्यागमप्रयोजनमेव दर्शयति"।

वस्तुतस्तु—शब्दार्थसम्बन्धव्याक्रियारूपा शब्दसाधुत्वज्ञानविषया व्याकरणस्मृतिः शब्दात्मकस्य ब्रह्मण आसन्नतमा। यतः शब्दात्मार्थ-भावमाप्नोति, इयं च स्मृतिः शब्दार्थसम्बन्धं व्याकरोति। स्वरूपाभि-व्यक्तये विवृत्तमानस्य शब्दात्मनः प्रकृति–प्रत्यय–व्याक्रियया तस्यार्थ-सम्बन्धाभियोजनया च सुमहानुपकारो व्याकरणस्य। तेन स्वरूपसाम्यात्सा-क्षादुपकारित्वाच्चासत्तिः "तपसा चीयते ब्रह्म" (मुण्डकोपनिषत् १. १. ८) इत्यादिना ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वं यस्य तपस उच्यते तत् शब्दात्मकस्य ब्रह्मणः प्राप्तौ केनान्येन भवितव्यं व्याकरणमन्तरा। तत्प्राप्तावनन्यत-योत्तमं तप इति। वेदाङ्गेषु सर्वोपकारकत्वात्प्राधान्यं व्याकरणस्य व्यवस्थितम्। वेदश्च प्रणवात्मकस्य शब्दब्रह्मणोऽनुकारस्तदङ्गेषु प्राधान्यं व्याकरणस्येत्यनेनैव पथावगन्तव्यम्।

इदञ्चाप्यत्र ध्येयम्—शब्दसाधुत्वं व्याकरणस्य विषयः। शब्दश्च जगत्प्रकृतिरिति सिद्धान्ताभ्युपगमे "आसन्नं ब्रह्मणः" इत्यादिकारिकासु "रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" इति भाष्योक्तप्रयोजनानि यदा-

विष्क्रियन्ते व्याख्यातृभिः, यच्च "रक्षार्थं वेदाना"मित्यादिवेदपरकत्वं व्यवस्थाप्यते, तत्तत्र देशे भाषायां वा कथं सङ्गच्छते यत्र देशे भाषायां वा वेदा न सन्ति, वेदरक्षा मन्त्रोहः, वेदोऽध्येय इत्यागमः, एतत्किमपि नास्ति, किं तत्र व्याकरणं नास्ति ब्रह्मण आसन्नम् ? नापि वा तत्रत्याः शब्दा अर्थाः शब्दतत्त्वस्य विवर्ताः ? किमफ्रीका-अरब-ईरान-चीन-जापान-इंगलैण्ड-फ्रांसादिदेशेषु वसतां जनानां मुखान्निसृताक्षरव्यक्तिर्नास्ति तदन्तःसन्निवेशितस्य शब्दतत्त्वस्य परसम्बोधनार्थोऽभिष्यन्दः ? यद्येवं तर्हि कथं शब्दो जगत्प्रकृतिः ? कथं वा "संसारिणां" संज्ञा ?

अत्रेदं विदाङ्कुर्वन्ताम्--पतञ्जलिसमये कैश्चिदैतिह्यैः कारणैः सर्वेषां शास्त्राणां काव्यकलाकौशलादीनां वेदानुगुण्यमावश्यकमासीत्। तत्समकाले सर्वोऽपि बौद्धिकसमुदायो वेदानुकूल्यमाकलयितुं लालायितमासीत्। वैयाकरणानां समक्षं निरुक्तस्य प्रातिशाख्यानां च परम्परासीत्। अत एव पतञ्जलिः कात्यायनश्च नितरां लौकिकस्यास्य शास्त्रस्य यथावसरं वेदपरत्वमपि व्यवस्थापयामासतुः। (वेदोऽपि नितरां लौकिक इत्यन्यत्) सैव सरणिः परैः परिपालिता बभूव। हरिरप्यस्मिन् वाक्यपदीये यत्र तत्र तमेवानुसरन्दृश्यते। हरेः पतञ्जलेश्च लौकिकी दृष्टिः नितरां सूक्ष्मा तीक्ष्णा चास्तीति तु नैव तिरोधेयम् ॥११॥

ज्ञान का संस्कार करने वाली विद्याओं में व्याकरण-विद्या सर्वश्रेष्ठ है। क्योंकि यह शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म की निकटतम और साक्षात् उपकारक विद्या है। प्रकृति-प्रत्यय-विभाग-पूर्वक शब्दतत्त्व का साक्षात्कार इसी से होता है। ब्रह्म के प्राप्त्युपाय और प्रतिमा प्रणवस्वरूप वेद की भी यह विद्या निकटतम और उपकारक है। ब्रह्मचर्यादि मन-वचन-कर्म को पवित्र करने वाले तपों में यह सर्वश्रेष्ठ तप है। वेद के छहों अङ्गों में व्याकरण प्रथम है ॥ ११ ॥

शब्दाख्यज्योतिषोऽधिगममार्गो व्याकरणम्--

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥ १२ ॥

रूपविभागं प्राप्तायाः वाचः शब्दात्मनः शब्दतत्त्वस्य, यः परमः सर्वोत्कृष्टः, रसः आस्वादः, अथ च यत् तत् प्रसिद्धं, पुण्यतमं अतिशयेन पुण्यं, ज्योतिः प्रकाशः, तस्य अयं व्याकरणागमः, आञ्जसः ऋजुः, मार्गः पन्था।

प्राप्तरूपेति। शब्दतत्त्वं संहृतक्रमं जगत्कारणम्। तदेव प्रत्यक्-चैतन्येऽन्तःसन्निविष्टं च मात्रावर्णपदवाक्यरूपेण परसम्बोधनार्थम-भिष्यन्दते। अचैतन्येऽसम्भवात्तदन्तःसन्निविष्टं न भवति। वनस्पतौ मूकजन्तुषु चैतन्येष्वपि यदि प्रकटतया न दृश्यते, तत्तत्र तदनुकूलकरणा-भावः करणवैकल्यं वा कारणं बोध्यम्। चैतन्यमचैतन्यं च क्रमसंहारे शब्दतत्त्वे प्रविलीयते। संहृतं च तत्सर्गे तत्तद्रूपविभागेन विवृत्तं भवतीति शब्दसृष्टिक्रमः। एवं चैतन्यसम्बन्धेनान्तःसन्निवेशिनः शब्दतत्त्वाद्वर्ण-पदवाक्यरूपविभागं प्राप्ताया वाचो यः परमो रसस्तस्यायमाञ्जसो मार्गः। चैतन्याचैतन्यसम्बन्धेन चाभिधेयत्वेन घटपटाद्यर्थात्मकं रूपविभागं प्राप्ताया वाचो यः परमो रसस्तस्यायमाञ्जसो मार्ग इति। घट-पटादयः पदार्था वाच एव रूपविभागा विवर्तवशाद्वहिरुपलभ्यन्ते, त एव च चैतन्यवक्तुः सम्बन्धेन श्रुतिरूपेण विपरिणमन्ते। तथा चोक्तम्—

नामैवेदं रूपत्वेन ववृते, रूपं चेदं नामभावेऽवतस्थे।
एके तदेकत्र विभक्तं विभेजुः प्रागेवान्ये रूपभेदं वदन्ति॥इति॥

परमो रस इति। एवं वर्ण–पद–वाक्यात्मकं, घटपटाद्यर्थात्मकं प्राप्ताया वाचः परमो रसः साधुभावः, शब्दस्य सम्यग्ज्ञानप्रयोगाभ्यां शब्दसाक्षात्कार-जनित आस्वादश्च। "ऋजीषमेतद्वाचो यः संस्कारहीनः शब्दः।" इत्यु-क्त्या संस्कृतः शब्दो वाचो रसः, यथेक्षुदण्डस्य निष्यन्दो रसः, अवशिष्ट-मृजीषम्, सोमस्य[1] वा पूयमानस्यावशिष्टमृजीषम्। शब्दस्य व्यवस्थित-साधुभावो वाचः परमो रस इत्यर्थः। "रसो वै सः" इति श्रुत्या शब्द-ब्रह्मणो रसात्मकतया पश्यन्ती–मध्यमा–वैखरीणां क्रमेणाल्पाल्परसात्म-कत्वेन, अपभ्रंशस्य चर्जीषत्वेन, शब्दतत्त्वस्य परात्मकत्वात्परमरसात्मक-त्वमित्यपि बोध्यम्।

ज्योतिरिति। ज्योतिः प्रकाशः तच्च त्रिविधम्-"योऽयं जातवेदाः, यश्चायं पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः, यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशस्तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धं, यावत्स्थास्नुचरिष्णु च" इति श्रुत्युक्तं प्रसिद्धम्। शब्दाख्यं ज्योतिः प्रकाशस्य दृष्टस्य, अप्रकाशस्यादृष्टस्य च प्रकाशकमतः पुण्यतमम्।

आञ्जसो मार्ग इति। एवं व्याकरणं वाचः परमरसस्य पुण्यतमस्य शब्दाख्यज्योतिषो लक्षणप्रपञ्चाभ्यामाञ्जसः सरलतम उपायः।

---

१. यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषम्। (निरुक्तम् ५. १२)

व्याकरणमन्तरा शब्दविस्तारस्याधिगमोऽसम्भवः। तथा च श्रूयते--"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम।" इति। व्याकरणेन तूपसर्गापवादाभ्यां लक्षणेन तस्य प्रपञ्चेन च लघुनोपायेन शब्दप्रतिपत्तिः साध्यते। येऽपि पृषोदरादय उत्सर्गापवादाभ्यां न साध्यन्ते ते शिष्टप्रयुक्तत्वाद् व्याकरणनिष्पन्नाः साधव एवानुमीयन्ते, तथाहि--"अनन्वाख्याताः पृषोदरादयः साधवः, शिष्टप्रयुक्तत्वात्, अन्वाख्यातवत्" इति। अनुमितसाधुभावाः शब्दा अपि व्याकरणलक्ष्यभूताः शिष्टैः स्वीक्रियन्ते। तथा चोक्तम्--

शब्दार्थसम्बन्धनिमित्ततत्त्वं, वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून्।
साधुप्रयोगानुमिताँश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद॥ इति॥

अनेन भाष्योक्तं लघुप्रयोजनं निर्दिश्यते। लघुप्रयोजनं च भाष्योक्तप्रयोजनेषु लौकिकं प्रयोजनं सर्वभाषाव्याकरणसाधारणम्॥ १२॥

प्राणियों में अन्तःसन्निविष्ट अक्रम एवं निस्पन्द रहने वाली वाणी लोकव्यवहार के लिए वैखरी के रूप में प्रकट होती है तो उसके वर्ण, पद, वाक्य ये रूप विभाग हो जाते हैं। लोकव्यवहार के लिए इन विभागों को प्राप्त करने वाली वाणी का परम रस वैखरी रूप में उसका साधुभाव है। इस साधुभाव या साधुत्व को जानने का व्याकरण सरलतम उपाय है। साथ ही वर्ण, पद आदि विभागों से युक्त वैखरी वाणी का प्रकृति-प्रत्ययार्थ-ज्ञानपूर्वक वाक्यार्थ-ज्ञान द्वारा अभिव्यक्त परमरस ज्योतिस्वरूप शब्दतत्त्व की प्राप्ति का सरलतम उपाय व्याकरण है॥१२॥

व्याकरणं विना न शब्दतत्त्वावबोधः—

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते॥१३॥

अर्थस्य यान्यपि प्रवृत्तितत्त्वानि तेषां निबन्धनं कारणं, शब्दाः गोघटादय एव भवन्ति. शब्दं विनार्थप्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थः, अर्थप्रवृत्तौ शब्दा अपेक्ष्यन्त इति यावत्। शब्दानां तत्त्वावबोधश्च, तत्त्वं यथार्थमविकलं वा, अवबोधः ज्ञानं, तस्य भावस्तत्त्वं, शब्दानां भावः शब्दत्वं अर्थबोधजनकत्वं, तस्यावबोधो व्याकरणादृते नास्ति। शब्दार्थव्यवहारो व्याकरणादृते न सम्भवति। अतो व्याकरणस्य विशिष्टं महात्म्यं वर्तते।

अर्थप्रवृत्तीति। अर्थस्य प्रवृत्तिर्व्यवहारः। अर्थश्च गोघटादिः। सा चेयमर्थप्रवृत्तिर्द्विधा–भौतिकी शाब्दिकी च। गोघटादयश्चन्द्रतारकादयश्च

पदार्था भौतिकरूपाकारवन्तः तत्तद्भौतिकशक्तिभ्यो वर्तन्ते प्रवर्तन्ते च। सेयं भौतिकी प्रवृत्तिः। परन्तु यावदस्याः कश्चिच्चेतनो द्रष्टा वक्ता[1] वा नास्ति तावदियं व्यर्था। यथाद्यत्वेऽनन्तान्तरिक्षे सन्तोऽपि पिण्डा अज्ञाता अतो वाग्विषयत्वमनापन्ना व्यर्था एव। अपि चानुपलब्धाः सम्भावनामात्रेण वाग्विषयत्वमापन्ना वैज्ञानिकमहत्त्वस्य विषयाः सञ्जाताः (यथा हेलिनो धूमकेतुः पूर्वं हेलिनामकेन विदुषा सम्भावितो वैज्ञानिकानां वाग्विषयतामाप।) एतेन ज्ञायते नास्ति भौतिकी अर्थप्रवृत्तिः शाब्दिक्येव सा वक्तुरिच्छानुवर्तिनी च।

एवमर्थस्य प्रवृत्तितत्त्वं विवक्षा न तु वस्त्वाकारेणार्थस्य सत्त्वमसत्त्वं वा। अत एव शयानेऽपि गवि "गौर्गच्छतीति" प्रयोगः सम्भवति तथा विवक्षायाम्। वक्ता हि प्रतिविवक्षितार्थं योग्यशब्दमुपादत्ते, यथा दिदृक्षुर्दिदृक्षितार्थं प्रति योग्यमिन्द्रियं चक्षुः प्रहिणोति। नितरामसत्पदार्थेष्वपि शाब्दिकी प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति, विवक्षया परं भौतिकी प्रवृत्तिस्त्वसम्भवैव। न केवलं खपुष्प-वन्ध्यापुत्रादौ, अपि तु "अहो अहोभिर्महिमा हिमागमे" "हा हा, देवि स्फुटति हृदयम्" "आः दास्याःपुत्र," इत्यादि प्रयोगेष्वपि भौतिकार्थप्रवृत्तेरसम्भवेऽपि शाब्दिक्यर्थप्रवृत्तिर्भवत्येव। एतस्या अर्थप्रवृत्ते शब्दा एव निबन्धनम्।

जातिः प्रवृत्तिनिमित्तम्, द्रव्यं निमित्तं कृत्वा प्रवृत्तेरभावदर्शनात् न हि "घट" इत्युक्ते घटद्रव्यमभिप्रेतं भवति। घटत्वमात्रे घटशब्दप्रवृत्तिः, घटसामान्ये प्रवृत्तो घटशब्दो घटत्वावच्छिन्नं घटद्रव्यं तत्र तत्र ग्राहयति।

संसर्गः प्रवृत्तिनिमित्तमित्यपि पक्षः। संसर्गश्चाखण्डवाक्यान्तर्गतक्रियाकारकादीनां परस्परानुगतत्वम्। घटनाक्रममापतितस्य पदार्थस्य तत्तत्क्रियासु कर्तृत्व-कर्मत्वादिना प्रवृत्तिसम्भवः। क्रियायाश्चापि द्रव्यसंसर्गेणैव प्रवृत्तिः। केवलं वस्तु "घटः" "अयं घटः" इत्यादौ सत्तामात्रेण, इदन्त्वेन सर्वनामविषयत्वेन वा प्रवर्तते ॥ १३ ॥

---

१. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ (काव्यादर्शः १. ४)
हरिवृषभोऽपि—सदपि वाग्व्यवहारेणानुपगृहीतमर्थरूपमसता तुल्यम्। अत्यन्तासच्च प्रसिद्धं लोके शशविषाणादि, प्राप्ताविर्भावतिरोभावं च गन्धर्वनगरादि वाचा समुत्थाप्यमानं मुख्यसत्तायुक्तमिव तेषु तेषु कार्येषु भासते। इति।
—(वाक्यपदीयवृत्तिः १. १२१)

अर्थप्रवृत्ति तत्त्व का कारण शब्द ही है। अर्थविषयक समस्त प्रवृत्ति शब्दों के द्वारा ही सम्भव होती है और शब्दों का तात्त्विक बोध व्याकरण के बिना नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि अर्थविषयक व्यवहार के लिए व्याकरण एक अनिवार्य तत्त्व है।

ध्यान देने की बात यह है कि–अर्थप्रवृत्ति का मूलतत्त्व विवक्षा है, न कि किसी वस्तु (अर्थ, पदार्थ) का होना या न होना। तपती जेठ की दुपहरी में यदि कोई कहे "आज तो आकाश से अंगारे बरस रहे हैं।" तो जलते अंगारे और बारिस इन दो पदार्थों के वहाँ न होने पर भी अर्थप्रवृत्ति होती है। "घटनाक्रम क्या है ?" अर्थप्रवृत्ति में इसका कुछ भी महत्त्व नहीं, "वक्ता क्या कहना चाहता है ?" इसी का महत्त्व है। वक्ता की यह चाह (इच्छा) ही विवक्षा है और यह अर्थों को जैसे चाहे वैसे प्रवृत्त कर देती है। इसीलिए "वन्ध्यासुत" "खपुष्प" जैसे अत्यन्त अप्रसिद्ध पदार्थों से भी अर्थप्रवृत्ति होती है।

यह विवक्षा शब्दाधीन है और शब्दों का तत्त्वावबोध व्याकरण से ही होता है ॥ १३ ॥

मोक्षस्य द्वारं व्याकरणम्––

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥१४॥

तद् व्याकरणशास्त्रं, अपवर्गस्य मोक्षस्य, द्वारं द्वारमिव प्राप्तिसाधनं (अस्ति), वाङ्मलानां वाचोऽशुद्धीनां, चिकित्सितं भैषज्यं रोगापनयन-क्रिया (अस्ति), सर्वविद्यानां आन्वीक्षिक्यादिविद्यानां मध्ये [1]पवित्रं, तासां विद्यानां शुद्धिरूपपावनताहेतु वा (अस्ति), अत एव अधिविद्यं विद्यासु, प्रकाशते प्रकाशमानं वर्तते। विभक्तावव्ययीभावः।

अपवर्गस्येति। शब्दतत्त्वं ब्रह्मेति पूर्वं प्रतिज्ञातं व्यवस्थापितं च। तेनान्तरवस्थितेन महावृषभेण सायुज्यं, संहृतक्रमस्य तस्य तत्त्वतः साक्षात्कारो वापवर्गः। यो हि वाग्योगविद्वैयाकरणः सः प्रकृति-प्रत्यया-दिरूपविभागं प्राप्ताया वैखर्या वाचः प्रकृतिभूतां प्रतिभाख्यां समनुगच्छति।

---

१. आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥

ततश्च प्रत्यस्तमितसर्वविकारां सत्तामात्रां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते। अयमेव हि शाब्दिकानामपवर्गः[१]।

वाङ्मलानामिति। अपभ्रंशानामित्यर्थः। वाचः वैखरीरूप एवायमपभ्रंशरूपवाङ्मलानां सम्भवः। तत्रैव व्याकरणेन चिकित्सा क्रियते। तेषामर्थप्रत्ययनाभेदाभ्युपगमे तु मध्यमादौ स्फोटवस्थायां च तेषामपि साधुशब्दवन्निर्मलत्वमक्षुण्णमेव। 'ग्रस्तं [२]निरस्तमि'त्यादिस्वरव्यञ्जनदोषाणामपि मलरूपाणां व्याकरणं चिकित्सा। इदमपि वैखर्य्यामेव। समानायामर्थावगतौ शास्त्रेण धर्मनियमोऽप्येवमेव ॥ १४ ॥

व्याकरण मोक्ष का द्वार है। प्रकृति-प्रत्ययज्ञान एवं तत्तदर्थज्ञान से शब्दतत्त्व का साक्षात्कार व्याकरण द्वारा अनायास ही हो जाता है। वाणी के दोषों की व्याकरण चिकित्सा है। आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं में भी शब्दसंस्कार की अपेक्षा होने से वह सभी विद्याओं में पवित्र है। अतः सभी विद्याओं में उत्कृष्ट एवं प्रकाशमान् है ॥ १४ ॥

सहेतुकं व्याकरण-विद्यायाः प्राधान्यम्—

यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धना।
तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ॥१५॥

यथा येन प्रकारेण, सर्वा अर्थजातयः, अर्थत्वेन शक्या अर्थगता जातयः, शब्दाकृतिनिबन्धनाः, शब्दाकृतिः निबन्धनं यासां ताः, शब्दाकृतिः गौः, गौः, गौरिति प्रत्युच्चारणं भिद्यमानासु शब्दव्यक्तिष्वनुगतं सामान्यभूतमिति शब्दत्वेन शक्ता, सा निबन्धनं कारणं यासां तास्तथाभूताः, शब्दत्वेन ज्ञाप्या इत्यर्थः। एवं यथार्थजातयः शब्दाकृतिनिबन्धनाः, तथा तेनैव प्रकारेण एषा व्याकरणविद्या अन्यासां सर्वासां विद्यानां, परायणं

---

१. तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ (वा० प० १. १३१)
सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥ (पा० शिक्षा ३१. ४२)

२. ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम्।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥
अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ॥ (महाभाष्यम् १. १)

परमयनम्, श्रेष्ठोऽवबोधमार्गः। यथा अर्थः शब्दज्ञाप्यः शब्दं विना ज्ञातुमशक्यस्तथैव सर्वा विद्या व्याकरणबोध्याः, व्याकरणं विना बोद्धुमशक्याः।

अथ जातय इति। "घट" इत्यर्थो घटसामान्ये व्यवस्थितम्। "घट" इति शब्दश्च घटशब्दसामान्ये व्यवस्थितम्। प्रत्येकं शब्दव्यक्तौ शक्तिकल्पने गौरवात्, शास्त्रप्रवृत्तेरसम्भवाच्च। अत एवार्थजातयः शब्दाकृतिनिवन्धना इत्युक्तम्।

केचित्तु--शब्दाकृतिनिवन्धना इत्यस्य "शब्दाकारेण निवन्धनं नियमनं यासां ता" इति विगृह्य "अर्थमात्रं शब्दाकारे निवद्ध"मिति ब्रुवन्ति ॥१५॥

ज्ञानात्मा शब्दतत्त्व बाह्यजगत् में दो रूपों में दिखाई देता है--एक श्रुतिरूप में और दूसरे प्रतीतिरूप में। यह पहला श्रुतिरूप शब्दात्मा है, जो ध्वन्याकार है। दूसरा प्रतीतिरूप प्रत्ययात्मा है, जो अर्थाकार होता है। यह प्रत्ययात्मा[1] अर्थाकार होकर प्रत्येक बाह्यवस्तु में समाया रहता है। प्रतीति और श्रुति दोनों के मूल में एक ही शब्दतत्त्व होता है, क्योंकि प्रत्यय की प्रतीति अभिधेय के रूप में ही सामने आती है, इसलिए प्रत्येक अर्थ (अर्थाकार प्रतीति) का मूल कारण शब्द होता है। और क्योंकि शब्दों का तत्त्वावबोध व्याकरण के विना नहीं होता, इसलिए हम कह सकते हैं कि--

जैसे अर्थज्ञान का कारण शब्द है, उसी तरह व्याकरणविद्या सब विद्याओं में श्रेष्ठ है। जिस प्रकार शब्द के विना अर्थज्ञान असम्भव है, उसी प्रकार व्याकरण के विना अन्य विद्याओं का ज्ञान असम्भव है ॥ १५ ॥

व्याकरणागमो मोक्षस्य राजमार्गः--

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥१६॥

इदं व्याकरणम्, सिद्धिसोपानपर्वणां, सिद्धेः यः सोपानमार्गः, तस्य पर्वणां, सिद्धिः शब्दतत्त्वसाक्षात्कारः, तस्य सोपानमार्गः "वर्ण--पद--प्रकृति--प्रत्यय--वाक्य--मध्यमा--पश्यन्ती" इत्येवं पर्वदण्डैर्युता निश्रेणिः, तस्य पर्वणां पदन्यासदण्डानां मध्ये, आद्यं प्रथमं, पदस्थानं पदन्यासदण्डः, अस्ति। इयम् अत्र प्रकरणे व्याकरणमिति वर्णिता, सा प्रसिद्धा। (कुत्रचित् केनचित् यदि काचिद्राजपद्धतिः कथिता, सेयमेवेत्यर्थः।) मोक्षमाणानां मोक्षे

---

(१) अर्थरूपाकारः प्रत्ययात्मा बाह्येषु वस्तुषु प्रत्यस्तः। स च शब्दनिबन्धनः।
—(हरिवृषभः, वाक्यपदीयवृत्तिः १. १३)

इच्छावतां, अजिह्मा अकुटिला, सरलेति यावत्, राजपद्धतिः सुरक्षितः सुखमयो विशदश्च प्रधानो मार्गः।

आद्यमिति। कल्प्यते, शब्दतत्त्वाख्यं ब्रह्म कस्मिंश्चिदुच्चस्थाने "परमे व्योमन्" इति श्रुतिसङ्केतिते परमे पदे स्थितम्। तत्सायुज्यावाप्तये सोपानमार्गरूपा काचिन्निश्रेणिः स्थापिता वर्तते, तस्या इदं व्याकरणमाद्यं पदस्थानम्। आद्यमित्यधस्तादुपरिष्टाद्वा ? अथेदमाद्यन्तद्वितीयं तृतीयं चतुर्थं वा किम् ? अत्रेदं बोध्यम्--व्याकरणं प्रायो वाङ्मलानां चिकित्सा-रूपेण शब्दाशुद्धिनामपाकर्तृ शुद्धीनां च व्यवस्थापयितृ शास्त्रं स्वीक्रियते। एतच्च वैखरीवाण्या सम्बद्धम्। तेनाधस्तादेवाद्यं पदस्थानं व्याकरणम्। यदि च तस्य दार्शनिकस्वरूपमपि गृह्यते तर्ह्युपरिष्टादप्याद्यमेव पद-स्थनम्। अस्यां दृशि नाद्यं नान्तिममपित्वेकमात्रम्। यदि तु शब्दतत्त्वा-तिरिक्तं किमपि ब्रह्म स्वीक्रियते तदा त्विदमधस्तान्मोक्षमाणपुरुषदिश आरभ्याद्यम्। द्वितीय-तृतीयादिकं तु--भक्ति-योग-कर्म-तत्त्वज्ञानादिकम्। व्याकरणन्तु सर्वोपकारकत्वादाद्यम्। इदमेवाभिप्रेत्य योग-शास्त्रप्रसिद्ध-सप्तभूमिकाः पदस्थानानीति ब्रुवन्ति केचित्। अस्मिन्नर्थे व्याकरणस्य गौणत्वमापद्यते। शाब्द एव ब्रह्मणि तु योगशास्त्रस्य संगीतशास्त्रस्य (एते नादतत्त्वोपासके शास्त्रे) द्वितीयं तृतीयं स्थानं वक्तुं शक्यते। व्याकरणस्य च प्राधान्यात्मकमाद्यत्वं तिष्ठति।

राजपद्धतिरिति। एकस्यैव वस्तुनो रूपकद्वयेनोपवर्णनमिति ॥१६॥

व्याकरण शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म की प्राप्ति का सोपानमार्ग है। मानो श्रुतियों में वर्णित "परमे व्योमन्" जैसे किसी सर्वोच्च स्थान पर स्थित शब्दब्रह्म के पास पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनाई गई हों। यह व्याकरण केवल सीढ़ियाँ ही नहीं राजमार्ग भी है, सीधा और सरल मार्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिए।

वैखरी के समस्त दोषों को दूर कर मध्यमा-पश्यन्ती के रूप में विशुद्ध अखण्ड शब्दतत्त्व का साक्षात्कार होता है। प्राणिमात्र के अन्तस् में विद्यमान उस महान् वृषभस्वरूप शब्दतत्त्व का सायुज्य प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

व्याकरणज्ञश्छन्दोयोनिं शब्दात्मानं पश्यति—

अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति।
छन्दस्यश्छन्दसां योनिमात्मा छन्दोमयीं तनुम् ॥१७॥

अत्र व्याकरणे, अतीतविपर्यासः व्यपगतभ्रमः, छन्दस्यः छन्दसि साधुः, समुचित-लोपा-गम-वर्ण-विकारज्ञानेन सम्यग्वेदानां परिपालयिता,

आत्मा आत्मवान्पुरुषः, केवलां अनन्यां, छन्दसां वेदानां, योनिं कारणात्मिकां, छन्दोमयीं संवर्ते सर्वच्छादनसमर्थां, तनुं शब्दतत्त्वविग्रहं, प्रणवस्वरूपं शब्दतत्त्वं, अनुपश्यति अनुभवति।

प्रतीतविपर्यास इति। सर्वे हि जागतिकाः पदार्थाः शब्दतत्त्वाख्यस्य ब्रह्मणो विवर्ताः। तत्र प्राकृतानां केषांचित् दार्शनिकानां च बुद्धिविपर्यासः। शाब्दिकास्तु सर्वार्थप्रकृतिभूतमर्थमात्रप्रत्यस्तं शब्दतत्त्वं सञ्जानानाः सर्वविपर्यासमतीताः।

छन्दसां योनिमिति। छन्दसां योनिः प्रणवः। तत एव सर्वेषां वेदानां श्रुतिरूपाणामुद्भवस्य सिद्धान्तितत्वात्। स च नादात्मकः शब्दस्वरूपः।

छन्दोमयीमिति। छादनाच्छन्दः, इति व्युत्पत्या सर्वच्छादनसमर्थामित्यर्थः। प्राशस्त्ये मयट्। शब्दात्मा हि संवर्ते सर्वतः प्रतिसंहृतक्रमोऽत्यन्तसंसृष्टो विवर्तरूपं समस्तमर्थजातं स्वात्मना छादयतीति तस्य छन्दोमयत्वम्।

तनुमिति। लोके हि--आकृतिमन्तः पदार्थाः पदार्थान्तिरं छादयन्तीति लौकिकार्थमादायाशरीरिण्यपि तस्मिन् "तनु"मित्युपचारः। तनमिति सूक्ष्मावस्थामिति वा ॥ १७ ॥

इस व्याकरणशास्त्र में भ्रमहीन आत्मवान् पुरुष वेद की भली-भाँति रक्षा करता हुआ वेदों के कारणभूत प्रणव के छन्दोमय स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

ओंकार-स्वरूप प्रणव सब वेदों की प्रकृति है। वेदों की उत्पत्ति प्रणव से ही हुई है। शब्दात्मक प्रणव संवर्तकाल में समस्त चराचर जगत् को, समस्त भावाभाव को स्वयं में समेट लेता है, मानो वह सब पर छा जाता है। इसीलिए वह सर्वछादक या छन्दोमय कहलाता है। व्याकरण का अध्येता शब्द के स्वरूप को और शब्दार्थ-सम्बन्ध को भलीभाँति समझ लेने पर प्रकृति-प्रत्ययादि के भेद-भाव से ऊपर उठकर शब्दतत्त्व की प्रणवात्मिका मूर्ति को पहचान लेता है ॥ १७ ॥

व्याकरणद्वारा शब्दब्रह्मणोऽधिगमः—

(पञ्चभिः कुलकम्)

प्रत्यस्तमितभेदाया[1] यद्वाचो रूपमुत्तमम्।
यदस्मिन्नेव[2] तमसि ज्योतिः शुद्धं प्रवर्तते[3] ॥ १८ ॥

---

१. 'प्रत्यस्तमितरूपाया' इति पाठान्तरम्। अर्थेऽविशेषः।
२. 'यदग्निनेव तमसि' इति पाठान्तरम्। अग्निना तुल्यं ज्योतिरिति पाठान्तरे योजना। इवस्तुल्यार्थे, ततस्तृतीया।
३. 'विवर्तते' इति पाठान्तरम्।

प्रत्यस्तं इताः भेदाः यस्याः, वर्णपदादिभेदा अस्तं गता यस्यास्तस्याः, संहृतक्रमायाः, वाचः वागात्मनः, यद् उत्तमं रूपं शब्दतत्त्वाख्यं, यच्च अस्मिन् व्यवह्नियमाणे, तमसि असत्ये, अवास्तवे करवादिरूपे ध्वनिप्रपञ्चे प्रकृति-प्रत्ययागमादेशरूपे प्रपञ्चे च, एव प्रपञ्चेऽसत्येऽप्यस्मदादिप्रतीतय अत्रैव न तु कस्मिंश्चिददूरस्थाने, शुद्धं ध्वनिकृतवृद्धिह्रासादिविकारैर्लोपागमवर्णविकारैश्च निर्लिप्तं, ज्योतिः स्फोटाख्यः प्रकाशः, अखण्डवाक्यार्थबोधकत्वेन ज्योतीरूपः,[1] प्रवर्तते विविधार्थबोधजनकतया प्रवर्तमानं, तद् ब्रह्म व्याकरणमागम्याधिगम्यत इत्यग्रेऽन्वयः ॥ १८ ॥

व्याकरणशास्त्र के अध्ययन से शब्दब्रह्म की प्राप्ति होती है। आगे की पाँच कारिकाओं में उस ब्रह्म का वर्णन किया गया है, जो व्याकरण-शास्त्र का प्राप्तव्य है —

भेदरहित वाणी का जो सर्वोत्तम स्वरूप है और जो इस अन्धकार में ज्योति के समान जगमगा रहा है, वह ब्रह्म व्याकरण के ज्ञान से प्राप्त होता है।

अखण्ड वाक्य स्फोट की अवस्था में वैखरी वाणी का वर्ण-पद-भेद तथा प्रकृति-प्रत्यय-विभाग समाप्त हो जाता है। स्फोटात्मा का उत्तम स्वरूप प्रकृति-प्रत्ययादि के प्रपञ्चात्मक अन्धकार में अर्थप्रकाशक ज्योति बनकर जगमगाने लगता है। यह शब्दात्मा "मध्यमा" स्वरूप है ॥ १८ ॥

वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम् ।
व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥१९॥

वैकृतं सर्वप्रकृतेर्विकृतिरूपं, मूर्तिव्यापारदर्शनं मूर्तेः व्यापारस्य च दर्शनं प्रत्यक्षानुभवं, समतिक्रान्ताः अतिक्रमितवन्तः, तस्य पारं गता इत्यर्थः, ज्ञानवन्तः शाब्दिका जनाः, आलोक-तमसी प्रकाशं अप्रकाशं च, व्यतीत्य समुल्लङ्घ्य, यं प्रकाशं प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयितारं शब्दाख्यं प्रकाशं, उपासते ध्यायन्ति, तद् ब्रह्म व्याकरणमागम्याधिगम्यते, इत्यग्रेऽन्वयः ।

वैकृतमिति । शब्दतत्त्वं प्रकृतिः, यावन्तः पदार्थास्तस्य विकृतिः, विवर्तसिद्धान्ताभ्युपगमात् । विकृतिसम्बन्धि वैकृतम् ।

---

१. "यस्य कस्यचिदवभासकं तज्ज्योतिःशब्देनाभिधीयते" इति ज्योतिश्चरणाभिधानात् (ब्रह्मसूत्रम् १. १. २४) इति सूत्रे शाङ्करभाष्यम् ।

मूर्तिव्यापारदर्शनमिति। अत्र मूर्तिर्नाकारमात्रमपि तु सत्तामात्रम्, निराकारे वाय्वाकाशादावप्रसक्तेः। यावन्तः सत्तावन्तः पदार्थाः स्व-स्वभौतिकशक्तिभिर्भौतिकगुणधर्मैश्च तत्तत्क्रियासु व्याप्रियन्ते। प्रकृताश्च जनास्तान् स्वसत्ताकारेण व्यापारवतः पश्यन्त्यनुभवन्ति च। तदिदं मूर्ति-व्यापारदर्शनम्। एतद्दर्शनं समतिक्रान्तास्तु प्रकाशस्याप्रकाशस्य च पारं गत्वा तयोरपि प्रकाशकं प्रकाशं सर्वप्रकृतिभूतं शब्दतत्त्वमुपासते। अत एवाह—

व्यतीत्यालोकतमसीति। प्रकाशमप्रकाशं च। विद्याविद्ये इत्यर्थः ॥१९॥

बाह्यपदार्थों के रूप और क्रिया-कलापों से पार निकले हुए मनीषी प्रकाश और अन्धकार को लांघकर जिस प्रकाशस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह व्याकरण का अध्ययन करने से प्राप्त होता है।

प्रकृति-प्रत्यय-विभाग के उलझन और अवास्तविकता के अप्रकाश से परे, विवर्तमय बाह्य पदार्थों के रूप-भेद और क्रिया-भेद के अन्धकार से परे, साथ ही स्फोट-रूपी प्रकास से भी परे पश्यन्ती-स्वरूप मध्यमा और वैखरी दोनों को प्रकाशित करने वाले शब्दब्रह्म की उपासना व्याकरण के द्वारा मनीषी लोग करते हैं॥ १९॥

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥२०॥

यत्र शब्दतत्त्वे अक्षरस्मृतेः "अ इ उ ऋ" इत्यक्षरसमाम्नायस्य वर्णमातृकायाः, चिह्नानि ऋजुवक्राकाररेखारूपाणि लिपिशङ्केतानि, इव वाचः वैखर्या मध्यमाया वा वाचः, निमित्तानि कारणानि, विवक्षारूपप्रवृत्ति-निमित्तानि घट-घटत्वादीनि, शब्दपूर्वेण शब्दः पूर्वो यस्मिन् तेन, योगेन सम्बन्धेन हेतुभूतेन, प्रतिबिम्बवत् प्रतिच्छायावत्, भासन्ते भासमानानि भवन्ति. तद् ब्रह्म व्याकरणमागम्याधिगम्यत इत्यग्रेऽन्वयः।

अक्षरस्मृतेरेति। अक्षरलिपयः खलु अक्षरस्य स्मारिकाः, अर्थावबोधे स्वाकारेणर्जुवक्रत्वेन न गृह्यन्ते, परन्तु पठनकाले तासां चाक्षुषाभ्युप-गमोऽपरिहार्यः। एवमेव शब्दतत्त्वावबोधे वैखर्या मध्यमाया वा वाचो निमित्तानि यान्यपि सन्ति, यत्कारणेन वाचः प्रवृत्तिर्भवति, तानि प्रवृत्ति-निमित्तानि शब्दतत्त्वे प्रतिबिम्बवद्भासन्ते। पठनकाले लेखनकाले शब्दो-च्चारणे शब्दचिन्तने च लिपिज्ञस्य लिप्याकारावभासो भवत्येव, अन्यथा

"शब्दतत्त्वम्" इति "अश्व" इति वा चिन्तने "श्" "अ" "ब्" "व्" "त्" इत्यादि ऋजुवक्ररेखाणामापतनं लेखन्यां कथं स्यात्? शब्दतत्त्वे ब्रह्मणि वाङ्निमित्तानां तथैवाभासः।

वाचो निमित्तानीति। वाचो, वाग्व्यवहारस्य किं निमित्तम्? विवक्षा। इत्येव व्याकरणशास्त्रव्यवस्था। अथ विवक्षायाः किं निमित्तम्? ज्ञान-मिति। तदुक्तम्—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मनि स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ इति॥
—(वा० प० १. ११२)

ज्ञानं च दृष्टानुभूतपदार्थानामेव। पुरुषेणेह यदपि वस्तु दृश्यतेऽनुभूयते च तदेव तस्य ज्ञानम्। ज्ञानं च तद्विवक्षायाः कारणम्। ततो विवक्षा वाग्व्यवहारस्य कारणम्। एवं बाह्यपदार्था एव परम्परया वाचो निमि-त्तानि। ते च शब्दतत्त्वे ब्रह्मण्यक्षरस्मृतेश्चिह्नानीव प्रागुक्तप्रकारेण भासन्ते।

शब्दपूर्वेणेति। शब्दतत्त्वे वाग्व्यवहारनिमित्तानां पदार्थानामवभासस्तु शब्दपूर्वेण योगेन प्रतिबिम्बवद्भवति। शब्दः पूर्वो यस्मिन् सः शब्दपूर्वः। पश्यन्त्यां मध्यमारूपावभासः, मध्यमायां च वैखरीशब्दानां बाह्यपदार्थानां चावभासः। पश्यन्तीदिश आरभ्य पूर्वं मध्यमारूपाः शब्दास्ततो मध्यमा-वैखरीक्रमेण बाह्यपदार्थाः पश्यन्त्यामाभासन्ते। अयमेव शब्दपूर्वो योगः।

प्रतिबिम्बवदिति। बिम्बः प्रतिबिम्बतया यत्र तले पतति तत्र तस्य सत्ता वास्तविकी न भवति। अतः शब्दतत्त्वे यथोक्तबाह्यपदार्थानां वास्तवी (गोघटाद्याकारेण भौतिकी) सत्ता न भवत्यपि तु शब्दात्मिकैव सत्ता भवतीति प्रतिबिम्ब-सादृश्येन ध्वन्यते। रुचिरमिदं सादृश्यम्—स्वच्छ-जलतलादौ पतितं प्रतिबिम्बं स्वबिम्बापेक्षया हृदयग्राहि भवतीति॥ २०॥

जहाँ हमारे वाग्व्यवहार के सभी कार्य-करण उसी प्रकार गौण होकर रह जाते हैं, जैसे भाषा में लिपि-संकेत। या फिर स्वच्छ तल में पड़े हुए प्रतिबिम्ब की भाँति जहाँ ये प्रवृत्ति-निमित्त शब्दों के साथ घुल-मिल कर प्रतिभासित होते हैं। वह शब्दब्रह्म व्याकरण के अध्ययन से प्राप्त होता है।

अर्थों और अर्थगत क्रियाओं को देखकर वाग्व्यवहार की प्रवृत्ति होती है। या यों कहें कि दृष्टानुभूत पदार्थों का ज्ञान विविक्षाधीन होकर शब्दों के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार ये दृष्टानुभूत पदार्थ वाग्व्यवहार के कारण बन जाते हैं। पश्यन्ती वाणी के स्वच्छ, निष्पन्द सरोवर में इन बाह्यपदार्थों का आभास

प्रतिबिम्ब की भाँति एक अवास्तविक सत्ता के रूप में होता है। यहाँ ये पदार्थ भाषा में लिपि की भाँति अनुपादेय होकर रह जाते हैं। शब्दब्रह्म के इस स्वरूप तक पहुँचने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है ॥ २० ॥

अथर्वणामङ्गिरसां साम्नां ऋग्यजुषस्य च।
यस्मिन्नुच्चावचा वर्णाः पृथक्स्थितिपरिग्रहाः ॥ २१ ॥

यस्मिन् शब्दाख्ये ब्रह्मणि, अङ्गिरसां अङ्गिरोगोत्रसम्बद्धानां अथर्वणां अथर्ववेदस्य, "अथर्वाङ्गिरस्" इत्यथर्ववेदसंज्ञा, व्यधिकरणेन विशेषण-मुपात्तम्, साम्नां सामवेदस्य, ऋक् च यजुश्च तयोः समाहारः ऋग्यजुसम्, "अचतुरविचतुर" (पा. अ. २।४।७७) इत्यादिनाच्, तस्य ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च, उच्चावचा उदात्तानुदात्ता वर्णाः, पृथक्स्थितिपरिग्रहाः पृथक्स्थितिबोधकाः सन्ति। तद्ब्रह्म व्याकरणमागम्याधिगम्यत इत्यग्रेऽन्वयः।

अयमर्थ--ऋगादिवेदानां प्रणवप्रकृतितया तस्मिनञ्छब्दाख्ये ब्रह्मणि न कापि पृथक् स्थितिः। वेदविभाग ऋगादीनामुदात्तानुदात्तादि यत्संहिता-शाखादिभेदेन व्यवस्थाप्यते तत्प्रविभागे तेषां पृथक्स्थितिमात्रं सूचयति। पृथक्स्थितेः परिग्रहो यैस्ते पृथक्स्थितिपरिग्रहाः। परिग्रहः स्वीकारात्मको बोधः। शब्दब्रह्मणि विषये वेदभेदानामुच्चावचत्वस्य च व्यवहारेऽध्ययना-ध्यापनव्यवस्थासु पृथक्स्थितिः परिगृहीतेव न तु वास्तवी। अयमेवार्थः "एकोऽप्यनेकवर्त्मेव" "भेदानां बहुमार्गत्वम्" इत्यादौ पूर्वं सूचितः। सर्वे वेदाः स्व-स्वनामभेदेनोच्चावचत्वेन च पृथक्स्थितिपरिग्रहा अपि प्रणवात्मनि शब्दतत्त्वेऽन्तर्भूता लीना वेत्यर्थः ॥२१॥

ऋक्, यजुः, साम और अथर्व वेदों के उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरभेद, शाखा-चरणादिभेद, जिस शब्दब्रह्म में केवल अपनी-अपनी अलग पहिचान बनाये रखने भर के लिए हैं, उस शब्द-ब्रह्म को व्याकरण के अध्ययन से पाया जा सकता है।

वेदों को प्रणव से उत्पन्न माना जाता है। इस नादात्मक प्रणव में वे सभी वेद अपने नाम-शाखा-स्वरादि भेद के बिना ही विद्यमान रहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई स्वरादि भेद है तो वह केवल पृथक् स्थिति का सूचक-भर है। वेदों की सभेद पृथक् स्थिति अध्ययनादि की सुविधा के लिए है, वास्तविक नहीं। यों कहना चाहिये कि यह पृथक् स्थिति मानी हुई है, सचमुच में है नहीं।

सारांश यह है कि वेद के समस्त भेद-प्रभेद जिस नादात्मक शब्दतत्त्व में विलीन हो जाते हैं, वह शब्दब्रह्म व्याकरण के अध्ययन से ही जाना जा सकता है ॥ २१ ॥

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ २२ ॥

यत् शब्दतत्त्वाख्यं परं ब्रह्म, एकमपि प्रक्रियाभेदैः विभिन्नदर्शनाभ्युपगमैः, बहुधा बहुप्रकारेण, प्रविभज्यते विभक्तं भवति, तद् परं ब्रह्म, (वस्तुतः) व्याकरणं इदं प्रवर्तमानं शब्दशास्त्रं, आगम्य ज्ञात्वा अधीत्य (एव), अधिगम्यते बुध्यते (नान्यथा) ।

प्रक्रियाभेदैरिति । ब्रह्मप्राप्तेर्विविधाः प्रक्रियास्तत्र तत्र शास्त्रेषु निर्दिष्टा उपलभ्यन्ते, भक्तिः ज्ञानं वैराग्यं यज्ञादिकर्म इत्येवमादयः । एतेषां च सुव्यवस्थिताः प्रक्रियास्तत्तन्मार्गसम्प्रदायमतवादपरेषु शास्त्रेषु साङ्गोपाङ्गं विवेचिताः सन्ति । तेन रुचीनां वैचित्र्यान्नृणामेकमपि गम्यं तद्ब्रह्म बहुधा प्रविभक्तं भवति, हरि–शिव–शक्ति–सूर्येन्द्रादिरूपेण, ईश्वर–हिण्यगर्भ–विराडन्तर्याम्यादिरूपेण, ब्रह्म–पुरुषोत्तमोङ्कारादिरूपेण च । एवं बहुधा प्रविभक्तमपि तद्ब्रह्म वस्तुतः शब्दतत्त्वमेव, अक्षरोङ्कारवागिति[1] नामभिः श्रुति–स्मृति–पुराणेषु वर्णितं व्यवस्थितं च । व्याख्यातं चेदं "अनादिनिधनमि"ति कारिका-व्याख्यानावसरे ।

व्याकरणमागम्येति । शब्दतत्त्वं व्याकरणमागम्याधिगम्यते, इति सुस्पष्टार्थम् । शब्दशास्त्रस्य शब्दतत्त्वज्ञाने हेतुत्वं सुसङ्गतमपरिहार्यं च ।

इयं कारिका व्याकरणं विशेष्यीकृत्यापि व्याख्यातुं शक्यते, तथाहि-- यदेकं, ऐन्द्र–चान्द्रादिनामभेदेन भिन्नमपि साधुत्वज्ञानरूपैकोद्देश्येनैकं प्रक्रियाभेदैः तत्तद्व्याकरणानुसृतप्रक्रियाभेदैः (संस्कृतातिरिक्तभाषा-व्याकरणानां चापि नामभेदः प्रक्रियाभेदश्चात्रानुगन्तव्यः ।) वर्ण–पद–वाक्य–विवेचनापरैः, प्रकृतिप्रत्ययविभागाविभागपरैः शब्दार्थसम्बन्धनिरूपणपरैश्चानेकैः प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते तद् व्याकरणमागम्यपरं ब्रह्माधिगम्यते, इति । अत्रार्थे–'तत्' पदस्य व्याकरणेन सहान्वये प्रयुक्त–

---

१. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ।
अक्षरं ब्रह्म परमम् ॥ (गीता० ८।३)
वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे ।

त्वात् पूर्वासु चतसृषु कारिकासु यत्पदपरामृष्टपदार्थं एतत्कारिकागत-ब्रह्मपदस्यानन्वय आपद्यते, तत्पदाभावात्। तदेकस्यापरस्य तत्पदस्याध्याहारेण समाधेयम्। पूर्वोक्तार्थेऽपि च---व्याकरणपदाव्यवहितपूर्वं प्रयुक्तस्य तत्पदस्य दूरे प्रक्षेपः करणीयो भवत्येव ॥ २२ ॥

जिस ब्रह्म को विभिन्न लोगों ने विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं के द्वारा अनेक नामरूपों से अङ्कित और संकेतित किया है, वह वास्तव में शब्द-तत्त्व है और उसे व्याकरण शास्त्र का विधिपूर्वक अध्ययन करके प्राप्त किया जा सकता है। व्याकरण अध्ययन का परम प्रयोजन यही है ॥ २२ ॥

अथ शास्त्रप्रयोजनमाख्याय नित्येषु शब्दार्थसम्बन्धेषु शास्त्रप्रवृत्तिं प्रतिजानन् विषयप्रवेशं निरूपयति नित्या इति—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः ॥२३॥

सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः महर्षिभिः शब्दार्थ-सम्बन्धाः नित्याः समाम्नाताः।

सूत्राणाम् अष्टाध्यायीगतवृद्धिरादैजादीनां, प्रणेत्रा पाणिनिना, सानुतन्त्राणां अनुतन्त्रसहितानां, भाष्याणां च प्रणेतृभ्यां कात्यायनपतञ्जलिभ्याम्, तन्त्रं शास्त्रमष्टाध्यायी, तदनु अनुतन्त्रं वार्तिकं तस्य प्रणेत्रा, भाष्यस्य प्रणेत्रा, त्रयाणां पृथक् प्रणेतारस्तैः महर्षिभिः महामुनिभिः, शब्दाश्च अर्थाश्च सम्बन्धाश्चेति शब्दार्थसम्बन्धाः, शब्दाः नित्याः समाम्नाताः, अर्थाः नित्याः सामाम्नाताः तेषां, परस्परसम्बन्धाश्च नित्याः समाम्नाताः। नित्याः इत्यस्य समाम्नाता इत्यस्य च प्रत्येकमभिसम्बन्धः। सानुतन्त्राणां सूत्राणां भाष्याणां चेत्यन्वयः सम्भवति, अर्थेऽविशेषः। सूत्राणि बहूनि, अनुतन्त्राणि अपि बहूनि, उभयत्र बहुवचनं युक्तम्, परं "समुदितं व्याख्यानं भाष्यम्", तत्कथं भाष्याणामिति बहुवचनम्? अवयवभेदविवक्षया समाधेयम्। अथवा पतञ्जलिकृतभाष्यातिरिक्तानां केषाञ्चित् व्याकरणभाष्याणां सत्ता बहुवचनेन सूच्यते।

शब्दार्थसम्बन्धा इति। शब्दा नित्याः, अर्था नित्याः, तेषां सम्बन्धा अपि नित्या इत्यभ्युपगमे नित्यत्वं नाम किमिति विचारणीयं भवति। प्रागभाव-प्रध्वंसाभावाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम् कूटस्थत्वम्, अविचालित्वम् अनपायोपजनविकारित्वम् अनुत्पत्यवृध्यव्ययोगित्वं कार्यप्रतिद्वन्द्वभाववत्त्वं

वा नित्यत्वं बहुधा प्रसिद्धम् । आभीक्ष्ण्ये, सातत्ये, अनिवार्ये चिरस्थायिन्यपि नित्यशब्दः प्रयुज्यते । एतेष्वर्थेषु वर्तमानो नित्यशब्दः शब्दतत्त्वाख्ये ब्रह्मण्येव सङ्गच्छते, न तु उच्चरितप्रध्वस्ते श्रूयमाणे बोध्यमाने च शब्दे ।

अत्रोच्यते—"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" इत्यत्र प्रकरणे शब्दपदेन शब्द-तत्त्वाख्यं ब्रह्मणाभिप्रेतम्, व्याकरणप्रक्रियायाः प्रकृतिप्रत्ययविभावात्मि-कायाः वर्ण-पद-वाक्य-सम्बन्ध-निरूपणपरायास्तत्र प्रवृत्तेरसम्भवात्, इतः परम् एतेषामेव विषयाणां प्राधान्येन वर्णनत्वाच्च ।

नित्या इति । शब्दनित्यता-विषये यद्यपि दार्शनिकानां बहवः प्रवादाः सन्ति तदनुकूला युक्तयश्च, तथापि शाब्दिकानां नये शब्दतत्त्वं 'ब्रह्म' इति सिद्धान्तः । ब्रह्मस्वरूपिणि तस्मिन् नित्यत्वानित्यत्वविचारणा पृथक्तया नैव करणीयेति शब्दतत्त्वस्य ब्रह्मत्वनिरूपणावसरे पूर्वं समाहितम् । तदत्र न तस्यावसरः । अत्र तु व्याकरणप्रक्रियां शब्दस्य यद्वैखरीस्वरूपं मध्यमा-स्वरूपं वोपयुज्यते तस्य नित्यानित्यत्वं विविच्यते–नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा इत्यादिना—

नित्यः शब्दः । उच्चरितप्रध्वंसित्वेऽपि न तस्यानित्यत्वमाकृतिनित्यत्वात् । न ह्येकत्र प्रध्वस्तः शब्दः सर्वत्रोपरतो भवतीति नित्या शब्दाकृतिः । नित्यः शब्द इत्यस्य नित्या शब्दाकृतिरित्यत्रैव तात्पर्यम् । आकृतिपक्षाभ्युपगम एव व्याकरणशास्त्रस्य प्रवृत्तेः सम्भवः । व्यक्तिपक्षे तूत्सर्गशास्त्राणां प्रवृत्तिर्न सम्भवति । अत आकृतिप्रयुक्तमिदं शास्त्रम् । शब्दश्चाकृति-नित्यत्वान्नित्यः । तथा च भाष्यम्—"आकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्दः" इति "आकृत्युपदेशात्सिद्धम्" इति च । (महाभा० १ । १ । २१)

शब्दाकृतिश्चेयं "मनुष्यवाक्त्वे सति, अर्थप्रत्याकत्वरूपा सर्वशब्द-व्यापिका, गौर्गौर्गौरित्यनेकगोशब्दव्यक्त्यनुगता गोशब्दत्वादिरूपा च । गोशब्दः, वृक्षशब्दः, घटशब्दः, इत्यादिशब्दमात्रानुगता शब्दाकृतिः, एवं च गौर्गौर्गौरिति गोशब्दमात्रानुगता गोशब्दाकृतिः, एवमेव वृक्षशब्दाकृति-रपि । ततश्च शब्दत्वं नाम शब्दत्व–गोशब्दत्व–वृक्षशब्दत्व–घटशब्दत्वानां समवायः । तत्र गोशब्दत्वं घटशब्दत्वं वेत्येवमादयः शब्दाकृतिविशेषा व्यवहारकाले निमित्तस्वरूपतामापन्ना अभिव्यक्ता शब्दा इति व्यपदिश्यन्ते । एवमाकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्दः ।

व्यवहारनित्यतयापि नित्याः शब्दाः । केन कुत्र कदा वा शब्दानां व्यवहारः प्रारब्धः, कदा वा स समाप्स्यते ? इत्यस्य अनिर्वचनीयत्वात् शब्दानां नित्यत्वमेव ।

प्रतिवर्णं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चैक एव शब्दात्मा प्रत्यवभासते इत्यपि च।

अर्था नित्याः। आकृतिनित्यत्वादर्था अपि नित्या एव घटादिव्यक्तीनां नाशेऽपि तद्गतवृत्तिधर्मस्यानपघातात्, यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते, तदपि नित्यमित्यभ्युपगमात्। तथा च भाष्यम्—"अथ कतरस्मिन् पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—"सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति ? आकृतावित्याह।" इति

घटादिरूपा बाह्याः पदार्थाः शाब्दे बोधे विषयत्वेन न गृह्यन्ते। तथा सति घटपर्वतादीनां बुद्धौ प्रवेशः स्यात् किन्तु शाब्दे बोधे बौद्धा एवार्थाः, शब्दश्रवणसमकालं तदाकारिकया बुद्ध्योपजनिताः। ते चानादित्वादनन्तत्वाच्च नित्या एवेति बोध्यम्।

सम्बन्धा नित्याः। शब्दार्थयोः परस्परं कार्यकारणभावः सम्बन्धः, बोध्यबोधकभावः सम्बन्धः, प्रकाश्य-प्रकाशकभावो वा सम्बन्धः स्वभावसिद्धः, न केनचित् कर्त्रा कदापि कृत इति नित्यत्वमेव तस्यानादित्वात्। यदि शब्दे शब्दत्वमर्थबोधनात्, अर्थे चार्थत्वं शब्दबोध्यत्वात्, तदा शब्दस्यार्थस्य च नित्यत्वे सिद्धे तयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वं स्वयमेवापन्नम्। औत्पत्तिकस्तु शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति जैमिनीया अपि, पित्रादिना कृते नाम्नि तु सः समयोपाधिकः। तत्रापि 'रामः' 'कृष्णः' इत्यादौ शिशुविशेपसम्बन्धेनैव समयोपाधिकः। स्वार्थे वर्तमानानां रामादीनां शब्दानां नित्य एवार्थाभिसम्बन्धः। वस्तुतस्तु शिशुनाम्नि प्रयुक्ताः रामादयः शब्दा रूढ्या गौणार्थाः समयोपाधिकाः, डित्थकपित्थादीनां तु भाष्यकारसरण्या यदृच्छत्वाभावे नित्य एवार्थसम्बन्धः।

आम्नाता महर्षिभिः। त्रिभिरेव मुनिभिरित्यर्थः। तत्र "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" (पा० अ० १।२।५३) इत्यादि सूत्रेषु पाणिनिना संज्ञानां स्वत एव प्रामाण्यात् लिङ्गवचनयोर्व्याकरणशास्त्रानुशासनानर्हत्वमभ्युपगतम्। तेन ज्ञायते पाणिनिशास्त्रप्रवृत्तेः प्रागेव संज्ञानां लिङ्गं वचनं च स्वस्वरूपेण व्यवस्थितमासीत्। अनुतन्त्रेऽपि—"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" "सर्वे सर्वपदादेशाः" इत्याद्युक्तम्। भाष्ये च—"नित्येषु शब्देषु कूटस्थैर्वर्णै" इत्याद्युक्तम्।

वस्तुतस्तु—शास्त्रारम्भणादेव शब्दार्थसम्बन्धानां नित्यता समाम्नाता भवति। सर्वस्यापि विधिनिषेधस्य तदैव प्रवृत्तिः सम्भवति, यदा ते शब्दार्थसम्बन्धाः सन्ति भविष्यन्ति च। न च सन्ति, न च भविष्यन्तीति कोऽर्थो विधिनिषेधस्य। पाणिन्यादिभिर्महर्षिभिः पूर्व-पूर्वागमव्यवस्थायाः स्मरण-

मेव स्वशास्त्रेण सम्पादितमिति । तदुक्तम्—"नानार्थिकामिमां कश्चिददिति" (वा० प० १ । २६) । "अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धन"मिति च (वा० प० १ । १४१) ॥ २३ ॥

शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों नित्य हैं; ऐसा सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकर पतञ्जलि ने कहा है ।

जाति को सभी दर्शन नित्य मानते हैं, अतः शब्दत्व अर्थत्व तो नित्य हैं ही किन्तु घट आदि शब्दव्यक्ति तथा घट आदि अर्थव्यक्ति का किसी एक स्थान पर उत्पत्ति या नाश देखकर उसे अनित्य नहीं कहा जा सकता । एक घट (शब्द या व्यक्ति) का नाश होने पर उसका आत्यन्तिक नाश नहीं होता । कूटस्थत्वादि नित्यत्व का एकमात्र[1] लक्षण नहीं है ।

वास्तव में व्याकरणशास्त्र "आकृतिनित्यता" पर आधारित शास्त्र है । शब्दाकृति और अर्थाकृति से सम्बद्ध न होने पर तो इस शास्त्र की प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है । व्यक्ति में प्रवृत्ति होने पर एक स्थान पर एक 'शब्दव्यक्ति' का साधुभाव निश्चित कर लेने पर अन्य सभी 'शब्दव्यक्तियाँ' असाधु रह जायेंगी । एक "गौः" शब्दव्यक्ति को संसार में न जाने कहाँ-कहाँ कब-कब बोला जायेगा एक-एक के साधुत्व-सम्पादन के लिए सभी "गौः" शब्दव्यक्तियों के पास जाना सर्वथा असम्भव है । इसी प्रकार अर्थव्यक्ति भी अनन्त हैं, प्रत्येक शब्दव्यक्ति के साथ प्रत्येक अर्थव्यक्ति का सम्बन्ध जोड़ पाना भी असम्भव है । अतः किसी भी शब्दाकृति का साधुत्व-सम्पन्न हो जाने पर उससे सम्बद्ध सभी शब्दव्यक्तियाँ व्याकरण के नियमों से साधुभाव प्राप्त कर लेती हैं; इसी प्रकार अर्थव्यक्तियाँ भी अपनी अर्थाकृति के द्वारा उससे सम्बद्ध शब्दाकृति के साथ अपना बोध्य-बोधकत्व सम्बन्ध बना लेती हैं । सार यह है कि शब्द और अर्थ की शक्तता और शक्यता आकृति में है, व्यक्ति में नहीं । व्यक्ति के रूप में ये दोनों अपनी-अपनी शक्तता और शक्यता अपनी-अपनी आकृति के द्वारा प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार आकृति के आधार पर प्रवृत्त इस व्याकरणशास्त्र में शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं, भले ही अन्य दर्शन "शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्" जैसी अनुमितियाँ बनाकर उसे अनित्य मानने के लिए माथापच्ची करते रहें ।

---

१. नित्याकृतिः, न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति; द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते । अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—"ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्ययोगि यत्तन्नित्यमिति । तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते । तद्भावस्तत्त्वम् ।" (महाभाष्यम् आ० १)

'गौः' 'गौः' 'गौः' इस प्रकार अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित गोशब्दों में एक सामान्यानुगत तत्त्व गोशब्दाकृति के रूप में प्रतीत होता है। गो-घट-वृक्ष आदि शब्दों में भी एक शब्दाकृति की प्रतीति होती है। इस प्रकार की आकृति नित्य है। यह किसी एक शब्द व्यक्ति के नष्ट होने पर नष्ट नहीं होती। इसी आकृति में व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति होती है। यही शब्द नित्य है।

शब्द के समान अर्थाकृति भी नित्य है। बाह्य घटादि अर्थ यद्यपि अनित्य होते हैं, तथापि शब्द के द्वारा बोधित अर्थ इस बाह्य अर्थ से भिन्न 'बौद्ध' होता है। शब्द को सुनकर जिसकी प्रतीति होती है वह एक अर्थाकारिका बुद्धि होती है। इसे स्फोट कहते हैं। यह मिट्टी से बना घड़ा नहीं होता, इसलिए अनित्य भी नहीं होता।

शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य है। किस शब्द का क्या अर्थ है, यह एक स्वाभाविक बात है, किसी व्यक्ति ने शब्द और अर्थ का बोध्य-बोधक सम्बन्ध कभी बनाया हो कि आज से इस शब्द का यह अर्थ है, ऐसा नहीं है। बच्चों के नाम जरूर पिता आदि के द्वारा रखे जाते हैं, यह समयोपाधिक सम्बन्ध प्रायः रूढिलक्षणा द्वारा होता है। राम का अपना स्वयं का जिस अर्थ के साथ अनादि नित्य सम्बन्ध है, वह अलग है। किसी पिता द्वारा अपने शिशु का नाम "राम' रख देने पर उस शिशु के साथ राम शब्द का सम्बन्ध गौण अर्थ में ही होता है।

शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध नित्य हैं, इस बात को सूत्रकार ने "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" सूत्र के द्वारा, वार्तिककार ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" के द्वारा, भाष्यकार ने "संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितं—नित्यः शब्दः" इत्यादि के द्वारा व्यक्त किया है। वैसे भी व्याकरणशास्त्र की रचना ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धों की नित्यता का प्रमाण है। यदि ये अनित्य होते तो शास्त्र के ये नियम-विधान क्या काम करते ? ॥ २३ ॥

अष्टपदार्थीनिरूपणम्—

अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः ।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दाः ये चापि प्रतिपादकाः ॥२४॥
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः ।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं सम्बन्धाः साध्वसाधुषु ॥२५॥

ते लिङ्गैश्च स्वशब्दैश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुपदर्शिताः ।
स्मृत्यर्थमनुगम्यन्ते केचिदेव यथागमम् ॥२६॥

साधुषु असाधुषु च (शब्देषु) ये अपोद्धारपदार्थाः, ये च स्थितलक्षणाः अर्थाः (सन्ति) (एवं) ये अन्वाख्येयाः शब्दाः, ये च अपि प्रतिपादकाः (शब्दाः) (पुनश्च) ये कार्यकारणभावेन स्थिताः सम्बन्धाः (तथा) योग्यभावेन च स्थिताः सम्बन्धाः, ये (च पूर्वोक्ताः शब्दाः) धर्मे प्रत्यये च अङ्गं (भवन्ति) ते केचित् एव (न तु सर्वे) लिङ्गैः स्वशब्दैः च अस्मिन् शास्त्रे यथागमम् उपदर्शिताः स्मृत्यर्थम् अनुगम्यन्ते इति तिसृणां कारिकाणां समुदितोऽन्वयः ।

पूर्वं यदुक्तं "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" इति तत्र द्वौ शब्दौ, द्वौ अर्थौ द्वौ च सम्बन्धौ भवतस्ते केचिदेवात्र शास्त्रे लिङ्गैः सङ्केतैः स्वशब्दैश्च साक्षात्कथनैश्च उपदर्शिता निर्दिष्टा यथागमम् आगममनुसृत्य, आगमः पूर्वाचार्याणां शिष्टानां परम्परा, स्मृत्यर्थं स्मृतिनिर्माणार्थम्, अनुगम्यन्ते व्यवस्थार्थमुपादीयन्ते । केचिदेवेति न सर्वे असम्भवात् ।

अन्वाख्येयः प्रतिपादकश्चेति द्वौ शब्दौ । तत्र अन्वाख्येयस्तावत् अन्वाख्यातुमिष्टः शक्यो योग्यो वान्वाख्येयः, प्रकृति-प्रत्ययरूपविभागपूर्वकं विविच्याख्यायते योऽसावन्वाख्येय इत्यर्थः, स तु पदं वाक्यं च । "रामः दाशरथिः" इत्यादौ रम्+घञ्+सु, दशन्+रथ+इञ्+सु इति विभागानामन्वाख्यानं व्याकरणेन विधीयते । इमे एवान्वाख्येयाः शब्दाः । वाक्यस्याप्यन्वाख्यानं भवत्येव । अयं कर्ता, इयं क्रिया, इदं च कर्म, अयं व्यापाराश्रयः, इदं फलाश्रयम्, अयं गुणः परार्थः, इत्यादि अन्वाख्यानं वाक्येऽपि दृश्यते । अतः पदं वाक्यं चान्वाख्येयम् । तथापि केचन पदावधिकमेवान्वाख्यानं स्वीकुर्वन्ति, वाक्यस्याखण्डस्फोटात्मकतयाभ्युपगमात्तत्र विभागकल्पनाया अनौचित्यात् ।

पदावधिकान्वाख्यानपक्ष इयं वाचोयुक्तिः समाश्रियते यथा—"विशेषणानां चाजातेः" (पा० अ० १ । २ । ५२) इति सूत्रेण शुक्लादिविशेषणानां विशेष्याश्रितलिङ्गवचनानि विधीयन्ते । तद्यदि वाक्यस्याप्यन्वाख्यानमभीष्टं स्यात्तदा नित्यसंसृष्टस्याखण्डस्यान्तर्गतस्य शुक्लादेर्लिङ्गवचनविधानमनर्थकं स्यात् । विशेष्याश्रयं विना शुक्लादिशब्दानां सामान्यत्वेन नपुंसकत्वैकत्वे यदवगम्येते तेन च "शुक्लं शाटिकाः" इति प्रयोगापत्तिः सम्भाव्यते, वाक्यान्वाख्याने सा नैव स्यात्, यद्वारणाय—"विशेषणानां चाजाते"रित्यनुगम्यते, समग्रवाक्यावबोधे शाटिकागतस्त्रीत्वबहुत्वयोः

पूर्वमेवावबोधेन शुक्लगतसामान्यस्यैवाप्रसिद्धत्वात् । "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" (पा० अ० २।१।५७) "उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा० अ० २।१।५५) इत्यादावपि समुदाये विशेष्यविशेषणभावासिद्धेः पदावधिकमन्वाख्यानमिति ।

प्रतिपादका इति । प्रतिपादयन्त्यर्थं ये ते प्रतिपादकाः । ते च वाक्यानि पदानि प्रकृतयः प्रत्ययाश्च । वाक्यं स्वरूपबोधनद्वारा स्वार्थं प्रतिपादयति । पदं स्वार्थं वाक्यार्थं च । प्रकृतिः प्रत्ययश्च स्वं स्वमर्थं प्रतिपादयतः । "भू" इति सत्तार्थं "ति" "अति" वा वर्तमानकालं प्रथमपुरुषम् एकवचनं च प्रतिपादयति । "भू अति" इति समुदितं "भवति" इति पदं पदार्थं च प्रतिपादयति । एवमग्रेऽपि । एवं प्रतिपत्त्युपायभूतं प्रतिपादकत्वं वाक्ये पदे प्रकृतौ प्रत्यये च विद्यत एव । तथापि प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां पदं, पदैश्च वाक्यं प्रतिपाद्यं भवतीति, प्रकृति-प्रत्ययौ तु न केनापीति, प्रतिपादकत्वं प्रकृतौ प्रत्यये चैव समुपलभ्यतेऽतः प्रकृतिप्रत्यययोरेव प्रतिपादकत्वमभ्युपगम्यते । इदं च पदावधिकान्वाख्यानपक्ष एवोपपद्यते ।

अपोद्धारपदार्था इति । "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" इति पूर्वमुक्तम् । तत्र "शब्दा नित्याः" इति शब्दस्य पूर्वोपात्तत्वाद् अत्र कारिकागतस्य "अपोद्धारपदार्थाः" इत्यस्य पूर्वोपात्तत्वेऽपि "अन्वाख्येयाश्च ये शब्दाः' इत्यादिकस्य व्याख्यानं पूर्वं कृतम् ।

अपोद्धारः पृथक्करणम् । पद्यतेऽनेनार्थं इति पदम्, न तु सुप्तिङन्तम् । पदस्यार्थः पदार्थः । अपोद्ध्रियन्ते ये पदार्थास्तेऽपोद्धारपदार्थाः । अत्यन्तसंसृष्टात् वाक्यात्पदात् वा काल्पनिकेन प्रविभागेन प्रकल्पिताः पदार्थाः वाक्यार्थे पदानामर्थाः, पदस्यार्थे प्रकृतीनां प्रत्ययानां चार्था इत्यर्थः । "पठति" "वदति" "चलति" इत्यादौ पठ्वद् आदिक्रियाभेदेऽपि वर्तमानकालिकत्वं सर्वत्र समं दृष्ट्वा "यत्र यत्र 'तिप्' लट्स्थानिकस्तत्र वर्तमानकालिकत्वम्" इत्यन्वयव्याप्तिग्रहेण "पठति" "अपठत्" "पठिष्यति" इत्यादौ च वर्तमानार्थाभावं दृष्ट्वा यत्र न "तिप्" प्रयोगस्तत्र न वर्तमानकालिकत्वमिति व्यतिरेकव्याप्तिग्रहेण "तिबेव वर्तमानार्थः" इति । एवं "वदति" "अवदत्" "वदिष्यति" इत्यादौ वदिरेव कथनार्थं इति प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थ-प्रकल्पनं भवति । नित्यसंसृष्टे शब्दात्मनि चेयमपोद्धारप्रकल्पना तत्तदागमानुसारिणी तत्तद्भावनाभ्यासवशादेव जायते । तेन व्याकरणान्तरेषु प्रकृतिप्रत्यययोः स्वरूपभेदो भवितुमर्हति । लोके तु नास्योपयोगः ।

स्थितलक्षणा इति। स्थितं स्थिरमप्रच्युतं लक्षणं स्वरूपं येषां ते स्थितलक्षणा अर्थाः। ते च वाक्यार्थाः पदार्थाश्च। प्रकृतीनां प्रत्ययानां चार्थाः पदार्थे परिसमाप्यन्ते। पदार्थस्तु न कुत्रापि परिसमाप्यतेऽतोऽप्रच्युतं तस्य लक्षणमिति स्थितलक्षणः पदार्थः। यदि च वाक्यगतपदानामर्था वाक्ये परिसमात्यन्ते तदा पदार्थोऽपि न स्थितलक्षणः। वाक्यार्थ एव स्थितलक्षणः, तस्य न कुत्रापि परिसमापनीयत्वात्। अखण्डवाक्यार्थपक्ष इदम्। वाक्ये पदानां पृथक्सत्तास्वीकारे पदार्थानां वाक्यार्थे परिसमापनं स्वाभाविकमेव, अन्यत्र पक्षे तु पदार्था अपि स्थितलक्षणाः। एवं च कारकान्वयविशिष्टक्रियात्मको वाक्यार्थः स्थितलक्षणत्वेनाभ्युपगम्यते।

कार्यकारणभावेनेति। शब्दार्थयोः परस्परसम्बन्धः कार्यकारणभावात्मकः। घटादिशब्द उच्चारिते श्रोतृबुद्धौ कम्बुग्रीवादिमद्घटाकारः प्रत्यवभासते। तत्रोच्चारितो घटशब्दो घटरूपार्थस्य निमित्तं भवति। एवमेव च "घटः" इति कम्बुग्रीवादिमत्स्वरूपेऽर्थे बोध्यमाने "घट" इति इत्युच्चार्यते। तत्रोच्चारितस्य घटशब्दस्य घटरूपार्थो निमित्तं भवति। एवमुभयोः परस्परं कार्यकारणभावः सम्बन्धः। स चायं सम्बन्धोऽभेदमूलकः, "योऽयं शब्दः सोऽर्थः, योऽयमर्थः सः शब्दः" इत्याकारकाभेदप्रतीतेः। अनयैवाभेदप्रतीत्या यदा शब्दमारभ्य अर्थोन्मुखी प्रवृत्तिस्तदार्थः कार्यः, शब्दः कारणम्; यदा चार्थमारभ्य शब्दोन्मुखी प्रवृत्तिस्तदा शब्दः कार्यः, अर्थः कारणम्, तयोर्भेदे त्वियं पर्यायेण कार्यकारणता न स्यात्।

योग्यभावेनेति। योग्यतारूपो योग्यभावसम्बन्धः, शब्दार्थयोश्चापरः सम्बन्धः। विशिष्टशब्दानां विशिष्टार्थबोधने नियता योग्यता। यथेन्द्रियविशेषस्य विषयविशेषग्रहणे नियता योग्यता। इन्द्रियं ग्राहकं विषयो ग्राह्यः, एवं शब्दो बोधकः, अर्थो बोध्यः। प्रकाशवद् वा शब्दः स्वयं प्रकाशोऽर्थप्रकाशकः। सा चेयं शब्दानामर्थप्रकाशनयोग्यता सामान्यतः सर्वेषु साधुशब्देषु नित्याकर्तृका। देवदत्तादीनां केषांश्चित् समयोपाधिका पित्रादिना नामकरणेन सङ्केतिता।

धर्मे ये इति। साधुशब्दानामर्थेण सह सम्बन्धः शास्त्रपूर्वकज्ञाने प्रयोगे च कृते धर्मेऽङ्गत्वं प्राप्नोति, प्रत्यये चाङ्गत्वं प्राप्नोति, असाधूनां पुनः साधुस्मरणपूर्वकमनुमानेन च प्रत्ययेऽङ्गत्वं प्राप्नोति न तु धर्मे—"यथैव शब्दज्ञाने धर्मस्तथैवापशब्दज्ञानेऽधर्मः" "अथवा भूयानधर्मं प्राप्नोति" इत्यादि भाष्यात्। एवं च साधवो धर्मे प्रत्यये चाङ्गम्, असाधवस्तु प्रत्ययेऽङ्गं भवन्तीति कारिकान्यः करणीयो भवति।

ते लिङ्गैश्चेति । ते शब्दार्थसम्बन्धा अस्मिन् शास्त्रे केचित् सङ्केतै-रुपदर्शिताः सन्ति, केचिच्च पाणिन्यादिना स्वशब्दैरुपदर्शिताः सन्ति । लिङ्गैरुपदर्शनं यथा--

ते लिङ्गैश्चेति । एवं ते शब्दा द्विविधाः--अन्वाख्येयाः प्रतिपादकाश्च । अर्था अपि द्विविधाः--अपोद्धारपदार्थाः स्थितलक्षणाश्च । शब्दार्थयोः सम्बन्धा अपि द्विविधाः-कार्यकारणभावरूपाः योग्यभावरूपाश्च । फलमपि विधम्-धर्मः प्रत्ययश्च ।

इत्येवमस्य व्याकरणशास्त्रस्याष्टौ पदार्थाः प्रतिपाद्यो विषयः "अष्ट-पदार्थी" इति प्रसिद्धः । सा चेयमष्टपदार्थी चित्रालेखेन निरूप्यते स्पष्टार्थम्—
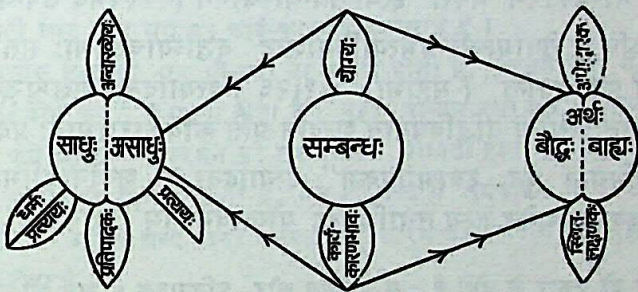
अत्र शब्दस्य द्वौ भेदौ—साधुरसाधुश्च, एतावुभावपि अन्वाख्येय-प्रतिपादकभेदेन भिन्नौ, प्रयोगे तु साधोर्धर्मः प्रत्ययश्चेत्युभयमपि फलम्, असाधोस्तु प्रत्यय एव फलम्, "समानायामर्थावगतौ शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते" इति भाष्यानुरोधात् । वक्ष्यति चाग्रे "अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीता-स्त्वसाधवः" इति (वा० प० १ । २७) अर्थस्य चापि द्वौ भेदौ--बौद्धः, बाह्यश्च, बाह्यो लौकिकवस्तुरूपोऽर्थः शाब्दबोधे नोपयुज्यते व्याकरण-प्रक्रियायां च । तेन बौद्ध एवार्थः, तेनैव च शब्दस्य कार्यकारणभावो योग्य-भावश्च सम्बन्धः । अर्थस्य बौद्धत्वं तत्र-तत्र यथायथं निरूपितं द्रष्टव्यम् ।

एवं व्याकरणशास्त्रस्य प्रतिपादनाविषय अष्टौ पदार्थाः । ते चास्मिन् शास्त्रे तत्र तत्र सङ्केतैः साक्षात् शब्दैश्चोपदर्शिताः सन्ति । तद्यथा—

"कथमिदं विज्ञायते हेतुमत्यभिधेये 'णिज्' भवति, आहोस्विद् हेतुमति-यो धातुर्वर्तते इति । युक्तं पुनरिदं विचारयितुम् ? नन्वनेनासन्दिग्धेन प्रत्ययार्थविशेषणेन भवितव्यम्, यावता 'हेतुमति' (पा० अ० ३।१।२६)

इत्युच्यते ।" इत्यादि भाष्याद् अपोद्धारपदार्थः सूचितः । भावयतीत्यादि-संसृष्टपदे प्रकृतिप्रत्ययावधिकाया अर्थमात्राया अपोद्धारे विकल्पभेदः सम्भवति । एवं "स्त्रियाम् (पा० अ० ४।१।३) इति । किं स्त्र्यर्थाभिधानें टाबादयः, स्त्र्यर्थवृत्तेः प्रातिपदिकात्स्वार्थे वे"त्यादीनि भाष्यवचनान्यनुगन्तव्यानि ।

स्थितलक्षणसूचकं तु "न वा पदस्यार्थे प्रयोगात् (महाभा० १।२।६४) यत्राधिक्यं स वाक्यार्थः (महाभा० २।३।३६)" इत्यादि भाष्यं बोध्यम् । पदप्रापितार्थादधिको योऽर्थः सः समुदितवाक्यार्थ एवेति, अपोद्धार-पदार्थाद्भिन्नः स्थितलक्षणोऽर्थः ।

मरुत्तेन्द्राज्यैकागारिकगिरिशश्रोत्रियक्षत्रियादिषु सत्यपि स्वरूप-निश्चये भाष्यकारेण 'मरुत्त' इत्यादावन्वाख्यानेन विकल्पभेद उपन्यस्तः ।

"तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् बुद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धि-विषयान् प्रकाशयन्ति" (महाभा० ३।१।२६) इत्यादिना शशशृङ्गादीना-मत्यन्तासत्पदार्थानां बुद्धिविषयान् शब्दान् प्रति कार्यकारणभावः प्रदर्शितः ।

"अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्" इत्यादिना च शब्देनार्थाभिधानस्य स्वाभाविकत्वकथनेन तस्य तथाभिधाने योग्यत्वमुक्तम्" ॥ २४-२६ ॥

शब्द दो प्रकार के होते हैं - अन्वाख्येय और प्रतिपादक । अर्थ भी दो प्रकार के होते हैं—अपोद्धारपदार्थ और स्थितलक्षण ।

इनमें अन्वाख्येय शब्द वे शब्द हैं जिनका अन्वाख्यान किया जाता है । वाक्य-संस्कार के लिए जिन शब्दों को लाया या हटाया जा सके उन्हें अन्वाख्येय शब्द कहा जाता है, जैसे—"शुक्ला शाटी" इस वाक्य में वाक्यसंस्कार के लिए 'टाप्' लाया जाता है, 'शुक्लं पटम्' में टाप् हटाया जाता है । इस प्रकार विभक्तियाँ आदि लायी हटायी जाती हैं । ये प्रकृति-प्रत्यय अन्वाख्येय हैं । इस प्रकार का अन्वाख्यान पद तथा वाक्य दोनों में सम्भव है ।

प्रतिपादक का अर्थ है—अर्थ का प्रतिपादक । यों तो प्रकृति-प्रत्यय भी कुछ न कुछ अर्थ के प्रतिपादक होते ही हैं, तथापि 'अन्वाख्येय' शब्द का प्रतिशब्द होने के कारण प्रतिपादक शब्द एक स्वयं में पूर्ण अर्थ का प्रतिपादन करने पर ही प्रतिपादक शब्द समझा जाना चाहिए । इस दृष्टि से वाक्य ही प्रतिपादक शब्द कहा जायेगा । यदि किञ्चित् सीमित अर्थ का प्रतिपादन करने पर भी प्रतिपादकता मान ली जाय तो पद भी प्रतिपादक है और प्रकृति-प्रत्यय भी, तथा सम्पूर्ण वाक्य ही मुख्यतया प्रतिपादक शब्द होता है ।

वाक्यार्थ से जो अर्थ अलग किये जाते हैं उन्हें अपोद्धारपदार्थ[1] कहते हैं। वाक्य के अन्तर्भूत पदों और प्रकृति-प्रत्ययों के अर्थ अपोद्धारपदार्थ कहलाते हैं।

वाक्यार्थ स्थितलक्षण अर्थ कहे जाते हैं। क्योंकि इनका लक्षण या स्वरूप स्थित (स्थिर) रहता है और इनका अपोद्धार (पृथक्करण) नहीं होता ॥ २४ ॥

शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध भी दो प्रकार के होते हैं—कार्यकारणभाव-सम्बन्ध और योग्यभावसम्बन्ध।

कभी शब्द अर्थ का कारण होता है और कभी अर्थ शब्द का कारण होता है। इस प्रकार इन दोनों का एक दूसरे के प्रति कार्य-कारणभाव सम्बन्ध होता है। जैसे—'गो' शब्द के उच्चारण से सास्नादिमत् आकृतिविशेष की प्रतीति होती है। यहाँ शब्द अर्थ का कारण है। ऐसे ही सास्नादिमत् आकृतिविशेष का बोध कराने के लिए 'गो' शब्द का उच्चारण किया जाता है तो अर्थ शब्द का कारण बन जाता है। यही शब्द और अर्थ का कार्य-कारणभावसम्बन्ध है।

प्रत्येक शब्द की एक योग्यता या क्षमता होती है, जिससे वह एक विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में सक्षम होता है। यही योग्यभावसम्बन्ध है शब्द और अर्थ का। जैसे आँख में रूपदर्शन की एक विशेष योग्यता होती है या कान में शब्द-श्रवण की विशेष योग्यता होती है, वैसे ही शब्द में अर्थबोधन की विशेष योग्यता होती है। अग्नि' शब्द इसी योग्यता के कारण दाहकपदार्थ का बोध कराने में समर्थ होता है।

ये सम्बन्ध साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों के अर्थ के साथ होते हैं। अर्थात् साधु शब्द और अर्थ में ये दोनों सम्बन्ध हैं असाधु शब्द तथा अर्थ में भी ये दोनों सम्बन्ध हैं।

और ये सम्बन्ध साधु शब्दों के प्रयोग में धर्म और अर्थबोध में सहायक (अङ्ग-भूत) होते हैं, किन्तु असाधु शब्दों के प्रयोग[2] में केवल अर्थबोध में सहायक (अङ्ग-भूत) होते हैं ॥ २५ ॥

---

१. अपोद्धारपदार्थ की ये तीन व्याख्याएँ की जा सकती हैं—

१. वाक्यार्थादिभ्योऽपोद्ध्रियन्ते विभज्यन्ते ये पदार्थास्ते।

२. वाक्यादपोद्धृतानां पदानामर्थास्ते।

३. अपोद्धारेण विभागकरणेन परिकल्पिता ये पदार्थास्ते।

तात्पर्य तीनों का एक ही है।

२. "असाधुषु कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः प्रत्ययेऽङ्गम्" इत्यन्वय-करणात्। तथान्वयकरणं च—"यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽधर्मः" इति, "प्रायश्चित्तीया मा भूम" इत्यादि च भाष्यानुरोधात्।

उक्त अपोद्धारपदार्थ, स्थितलक्षणार्थ, अन्वाख्येयशब्द, प्रतिपादकशब्द तथा उनके कार्य-कारणभाव और योग्यभावसम्बन्ध व्याकरणशास्त्र में सङ्केतों के द्वारा पूर्व-पूर्व आगमों के अनुसार ही प्रतिपादित किये गये हैं। सभी का वर्णन न तो यहाँ सम्भव है, न आवश्यक, इसलिए कुछ का ही वर्णन यहाँ है। सिद्धान्ततः यहाँ सब-कुछ वर्णित है, परन्तु पूर्वागमों की सारी सामग्री यहाँ नहीं ली गयी है। उसकी आवश्यकता भी नहीं थी।

"केचिदेवानुगम्यन्ते" का एक तात्पर्य यह भी है कि—उक्त अपोद्धारपदार्थ आदि लोक में कुछेक ही कभी-कभी अपनाये जाते हैं या उनका यथागम (शास्त्रानुसार) अनुगमन कम ही किया जाता है। इसका कारण यह है कि साधारण लोक को सम्पूर्ण वाक्य से ही बोध होता है। वाक्यगत एकवचन, द्विवचन 'सु' 'औ' आदि प्रत्ययों और उनके अर्थों के फेर में वे नहीं पड़ते। वे तो अखण्ड वाक्य से अखण्ड वाक्यार्थ का बोध करते हैं। फिर भी जहाँ-कहीं वाक्यार्थ ही सन्दिग्ध हो जाता है, वहाँ अपोद्धार आदि की आवश्यकता पड़ती ही है। जैसे—'पीताम्बरमानय' वाक्य में सन्देह होता है—पीले कपड़े को लाना है या पीले कपड़े वाले को ?, यहाँ पीताम्बर शब्द में समास की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार 'क एते' इस वाक्य में—'कौन दोनों फल' 'कौन दो स्त्रियाँ' अथवा 'कौन (बहुत) पुरुष' इन तीनों अर्थों में एक का निश्चय करने के लिए 'जस्' या 'औट्' प्रत्यय, उनके आदेश और उनके अर्थों का पृथक्तया बोध करना ही पड़ता है। इसी तरह 'हरि-रयम्' इत्यादि प्रतिपादक शब्द में भी यही स्थिति उत्पन्न होती है॥ २६॥

साध्वसाधुशब्दस्वरूपम्—

शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।
अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः॥ २७॥

शिष्टेभ्यः कार्याकार्यवाच्यावाच्यानुशासनमनुपालयद्भ्यः कृतविद्येभ्यः, आगमाच्च अविच्छिन्नपरम्पराप्रवर्तितशास्त्रात् च, सिद्धाः निष्पन्नाः शब्दाः, साधवः इत्यभिख्याताः निरपभ्रंशाः, धर्मसाधनम् अभ्युदयनिःश्रेयस-हेतवः सन्ति, प्रत्येकं सर्वे सम्भूय च धर्मे साधनभूताः, "वेदाः प्रमाणम्" इतिवेदकवचनम्, असाधवस्तु अर्थप्रत्यायनाभेदे, अर्थस्य प्रत्यायनं बोधः तत्र भिदे भेदाभावे सत्यपि, विपरीताः साधुभ्यो विरुद्धाः। अशिष्टजनेभ्य आगता अगमेनानिष्पन्ना, अपभ्रंशाः धर्मसाधनानि न भवन्तीत्यर्थः। अर्थ-प्रत्यायने तु साध्वसाध्वोरविशेषः। उभयेभ्योऽर्थबोधस्य निर्बाधात्।

धर्मसाधनमिति। अर्थप्रत्यायनं हि शब्दानां प्रथमं कार्यम्। विवक्षितार्थविबोधनाय हि वक्ता शब्दान् प्रयुङ्क्ते। परसम्बोधनार्था हि शब्दतत्त्वस्यान्तःसन्निवेशितस्याक्षरव्यक्तिरभिष्यन्दते। "वितर्कितः पुरा बुद्धया क्वचिदर्थे निवेशितः" (वा० प० १।४७) इत्यादिना चायमेवार्थः निष्पद्यते, तथापि साधुशब्दप्रयोगेण धर्म इत्यपि वैयाकरणानामभ्युपगमः। तथा च भाष्यम्—"समानायामर्थावगतौ शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते" इति (महाभा० १।१)। हरिरप्यग्रे वक्ष्यति—"वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पापपुण्ययोः" इति (वाक्यपदीयम्) "साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभिः।" (वा० प० १।१४०) इति च। यदि तु धर्मेऽनिश्चयस्तदेदमवगन्तव्यम्—अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्हि धर्मः। तत्राभ्युदयो लौकिकी प्रतिष्ठा। सा साधुप्रयोगेण प्राप्यते। यथाह पतञ्जलिः—

"अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।" इति (महाभा० १।१)

अर्थप्रत्यायनाभेद इति। आगमासिद्धा अप्यसाधवोऽपभ्रंसा अर्थप्रत्यायने साधुभिः समानं महत्त्वं धारन्तीति तेषां साधुभिः सह भेदः। अखण्डवाक्यस्फोटाभ्युपगमे तेषां साधुत्वासाधुत्वस्य वैय्यर्थ्यात्॥ २७॥

शिष्टजनों और आगमो (शास्त्रों) से परम्परया प्राप्त शब्द 'साधु-शब्द' कहलाते हैं, ये धर्मसाधन होते हैं। अर्थात् साधुशब्द के प्रयोग से धर्म होता है। इसके विपरीत अशिष्ट (साधारण) जनों से, अशास्त्रीय, व्याकरणशास्त्र की प्रक्रियाओं से अनिष्पन्न, केवल लौकिक वार्तालापों से प्राप्त शब्द 'असाधु-शब्द' कहलाते हैं, ये धर्म के साधन नहीं होते। इतनी विपरीतता होते हुए भी अर्थबोध कराने में इन दोनों में कोई भेद नहीं होता। दोनों से ही समान अर्थावबोध होता है।

'अर्थबोधकता' की समानता इन दोनों शब्दों का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही तत्त्व विश्व की सभी भाषाओं को एक कड़ी में बाँध देता है। इस तत्त्व के अन्दर न केवल अपभ्रंश, पाली, प्राकृत, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ ही, अपितु अंग्रेजी, फ्रेञ्च आदि समस्त भाषाएँ भी एक होकर रह जाती हैं।

'अर्थप्रत्यायन' जहाँ साधु और आसाधु का अभेदक तत्त्व है, वहाँ 'धर्मसाधनता' भेदक तत्त्व बताया गया है। वर्तमान समय में यह विवादास्पद बात समझी जा सकती है। तथापि इतना तो है ही कि धर्म का लौकिक-प्रतिष्ठा प्राप्त करना भी एक प्रयोजन है। "अभ्युदय-निःश्रेयसहेतुः धर्मः" में 'निःश्रेयस' अर्थात् पार-

लौकिक प्रतिष्ठा के अस्तित्व पर विश्वास न रखने पर भी 'अभ्युदय' अर्थात् ऐहिक प्रतिष्ठा तो स्वीकारी ही जा सकती है। लौकिक प्रतिष्ठा धर्मार्जन का दृष्ट प्रयोजन है। असाधु-शब्द के प्रयोग से लौकिक अप्रतिष्ठा के कुछ उदाहरण ये हैं—

"अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्ना ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।।" (महाभाष्य. प्र. आ.)
हरौ भानौ द्वितीया च जग्लौ मम्लौ च सप्तमी।
अचीकमत् न जानाति तस्मै कन्या न दीयताम्।। (अभियुक्तोक्ति)

उष्ट्र के स्थान पर उट्र कहने से कालिदास का क्या हाल हुआ था, यह सबको विदित है।

वक्ता-श्रोता की स्थिति के अनुसार कभी-कभी इसका उलटा प्रभाव भी पड़ता है—

यदि वाचं वदिष्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।
(वा. रामायण. सु. का.) ।। २७ ।।

शब्दा नित्या अनादयश्च—

**नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्था नित्यतोच्यते ।। २८ ।।**

नित्यत्वे शब्दाः नित्याः इति पक्षे, कृतकत्वे शब्दाः कृतकाः कार्याः अनित्याः वेति पक्षे च, तेषां शब्दानां, आदिः आरम्भः, न विद्यते नास्ति। कस्मिन् काले शब्दाः प्रथमम् उत्पन्नाः, केन वा पुरुषेण प्रथमं शब्दाः उत्पादिताः इति ज्ञातुं वक्तुं न शक्यते। सा च एषा शब्दनित्यानित्यत्वव्यवस्था, प्राणिनां प्राणभृतां जीवानां, नित्यता इव नित्यता शब्दानामुच्यते शब्दशास्त्रे।

नित्यत्व इति। वैयाकरणाः शब्दं नित्यं स्वीकुर्वन्ति। शास्त्रप्रवृत्तावपि तेषां शब्दा नित्या एव—"आकृतिनित्यत्वान्नित्यः शब्दः" (महाभा० १।१।२१) शास्त्रप्रवृत्तौ "कूटस्थत्वं नित्यत्वं" इत्यनङ्गीकृत्य शाब्दिकाः "तदपि नित्यं यस्मिन् तत्त्वं न विहन्यते" (महाभा० १।१।१) इत्येवं रूपं नित्यत्वमुररीकुर्वन्ति। वैयाकरणानां मीमांसकानां मते शब्दो नित्यः।

कृतकत्व इति। वैशेषिकाः शब्दमनित्यं मन्यन्ते, तस्योत्पाद्यत्वात् विनश्वरत्वाच्च। शब्दो हि कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यः क्षणस्थायी विनाशी च। शब्दविषये मतवैविध्यं "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः" इति कारिका-व्याख्यानावसरे निरूपितम।

आदिर्नेति। नित्यत्वेऽनित्यत्वे वा शब्दा अनादयः। कदा कुत्र कस्माद्वा शब्दानां प्रवृत्तिर्जातेति वक्तुं न शक्यते। यतः शब्दा अनादयः अतोऽनन्ता अपि। शब्दप्रयोगः कदा समाप्स्यते इत्यपि वक्तुं दुःशकमेव। एतेनानादिनिधनत्वरूपं प्रागभावप्रध्वंसाभावाप्रतियोगित्वरूपं वा नित्यत्वं शब्दे समायातम्। अत्र साधवोऽसाधवोऽपि शब्दा अनादयः। ऋग्वेदकालेऽपि तेषां स्थितिदर्शनात्। तत्र प्रमाणम्—

"इमे येनार्वाङ्न परश्चरन्ति, न ब्राह्मणासो न सुकेतरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सीरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रज्ञज्ञयः॥"
(ऋग्वेदः। अ. २. मं. १०, सू. ७१)

अत्र "वाचं" "पापया" इत्यनेनासाधव एव निर्दिष्टा भवन्ति। "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो, यत्र धीरा वाचमक्रत" इत्यादिनाप्ययमेवार्थो निष्पद्यते। या अपि संस्कृतातिरिक्ता भाषास्तासामसाधुत्वाभ्युपगमेऽप्यनादित्वमक्षुण्णमेव।

प्राणिनामिवेति। देहभृतां प्राणिनां जन्ममृत्युदर्शनेन तेषामनित्यत्वं नियतमेव सर्वेष्वपि दर्शनेषु वादेषु च प्राणिनामनित्यत्वं बहुधा निरूप्यते, तथापि व्यवहारे तेषाम् अनादित्वादनन्तत्वाच्च नित्यता स्वीकृता भवति। सा च व्यवहारनित्यतोच्यते। न केवलं कूटस्थत्वमेव नित्यत्वं, व्यवहारे यन्नित्यं तदपि नित्यमेव॥ २८॥

शब्द को कुछ लोग नित्य मानते हैं और कुछ लोग अनित्य, इन दोनों मतों में कौन-सा मत ठीक है? यह प्रश्न अलग है। शब्द चाहे नित्य हो या अनित्य, वह अनादि अवश्य है। शब्द का व्यवहार कब प्रारम्भ हुआ और कब इसका अन्त होगा, यह कहना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अतः शब्द व्यवहारनित्य अथवा प्रवाहनित्य है। जैसे प्राणी अनादिकाल से अनन्तकाल तक वर्तमान है। यद्यपि विभिन्न दर्शन प्राणी को अनित्य मानते हैं, फिर भी प्राणी की व्यवहार-नित्यता अक्षुण्ण है।

नदी का जल सदा बहता रहता है और प्रत्येक क्षण में उसका तद्देशावच्छेदेन नाश होता ही रहता है, तथापि नदी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यही प्रवाह-नित्यता है। शब्दों में भी यही बात है। एक शब्द किसी एक देश और काल में भले ही नष्ट हो जाय, परन्तु शब्द की व्यवहार-धारा अविरल बहती रहती है, यही शब्द की प्रवाह-नित्यता या व्यवहार-नित्यता है।

शब्द को नित्य मानने पर तो इस प्रकार का विचार करने की आवश्यकता ही नहीं है॥ २८॥

स्मृतिनिबन्धनस्यावश्यकता—

नानर्थिकामिमां कश्चित् व्यवस्थां कर्तुमर्हति ।
तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्वविषया स्मृतिः ॥ २९ ॥

इमां पूर्वोक्तां, व्यवस्थां नित्यताव्यवस्थां, कश्चिदाधुनिकः पुरुषः, अनर्थिकां व्यर्थां, कर्तुं न अर्हति समर्थो न भवति । यतः कश्चिदपि समर्थो न भवति तस्मात् कारणात्, शिष्टैः कृतविद्यैः, साधुत्वविषया साधुत्वं विषयो यस्याः सा, शब्दसाधुभावनिरूपणपरा, स्मृतिः आगमबोधिव्यवस्थायाः स्मारकं शास्त्रं, निबध्यते ग्रथ्यते ।

नानर्थिकामिति । ननु सिद्धाः शब्दा अर्थाः सम्बन्धाश्चेति कोऽयमभिनिवेशः प्रयत्नसाध्यस्यास्य व्याकरणशास्त्रस्य प्रणयने ? तस्मादनर्थकोऽयं प्रयास इति । यदि चोच्यते लोकहितार्थायायं प्रयासः, तदपि न, लोकस्तु न वैयाकरणकुलापेक्षी शब्दव्यवहारे यथाह भाष्यकारः—"घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामि इति, न तद्वच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति ।" इति चेन्न, चोच्यते—शब्दानां साधुत्वमसाधुत्वं च स्वाभाविकम् । अशक्त्या अशिक्षया देशकालानुरोधेन परिवेशप्रभावेण च शब्देषु वाक्येषु चासाधुत्वं बलादिवापतति । नहि कश्चिदेकः पुरुषः स्व-स्व-स्थिति-परिवेशबद्धः शब्दापशब्दविवेके साधुः स्यात्, नैव च प्रामाण्यकोटिमाप्नुयात् । तस्मात् आगममूलकमिदं स्मृतिनिबन्धनमाश्यकम् नत्वथर्कम् ।

यदि चेयमर्निका स्यात्तदा को नाम प्रतिपन्नबुद्धिरस्याः निबन्धने प्रवृत्तः स्यात् ।

वस्तुतस्तु—"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः" इत्यनुबन्धमूलिकेयं कारिका । साधुशब्दस्य धर्महेतुत्वं मन्त्रग्रन्थे भाष्यादौ च बहुधा प्रकीर्तितम् । तदेतत्सत्यस्य स्वीकृतिरस्ति यत्साधुशब्दः अर्थबोधने असाधोरविशेषः, एवं च समानायामर्थावगतौ धर्मातिरिक्तः को हेतुरवशिष्यते साधुत्वस्मृतेः । अत एवाग्रेतनकारिकासु धर्मस्यागमस्य च सविशेषोपवर्णनं कृतमस्ति ॥ २९ ॥

यद्यपि शब्द नित्य-सिद्ध है, शास्त्र और शिष्टजन-द्वारा उक्त और व्यवहृत है, तथापि कोई एक व्यक्ति समस्त शब्द, उनके अर्थ, स्वरादि संस्कार के सम्बन्ध में इदमित्थं कहने में समर्थ नहीं हो सकता । यदि कोई समर्थ हो भी जाय, तब भी उस एक व्यक्ति के ज्ञानमात्र से समस्त लोक का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ।

अतः शास्त्रों और शिष्टजनों के व्यवहार और परम्परा के अनुसार यह व्याकरण-स्मृति निर्मित की जाती है। व्याकरणस्मृति के अभाव में प्रथम तो ऐसे व्यक्ति का होना ही कठिन है, जो समस्त शब्दों और अर्थों के बारे में आधिकारिक रूप से निर्णय दे सके। दूसरे ऐसे व्यक्ति के होने पर भी उससे सर्वसाधारण का कोई लाभ नहीं होगा।

शब्द का साधुभाव प्रतिपादित करने वाली यह व्याकरणस्मृति, अन्य स्मृतियों की भाँति परम्परा-प्राप्त आगममूलक है, अतएव नित्य है। क्योंकि यह स्मृति है, अतः पाणिन्यादि आचार्य इसके स्मर्ता और निबन्धक मात्र हैं, उद्भावक नहीं। समय-समय पर अन्य आचार्यों ने अन्य व्याकरणों के रचनाकारों ने भी जो शब्द-साधुत्व-विषयक प्रयास किये हैं, (या भविष्य में करेंगे) उनकी भी यही स्थिति है। इस पूर्व-पूर्व-प्राप्त आगम को उत्तरोत्तर व्यवहर्ताओं तक पहुँचाने के लिए यह स्मृति-निबन्धन आवश्यक है ॥ २९ ॥

धर्मव्यवस्थायामागमस्य प्राधान्यम्—

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ॥ ३० ॥

धर्मः अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुभूतः धर्माभिधेयः ऋषिबोधितव्यवहार-विशेषः, च आगमात् अविच्छिन्नशास्त्रपरम्परायाः, ऋते विना, तर्केण अनुमानाश्रयेण हेतुवादेन, न, व्यवतिष्ठते व्यवस्थापयितुं शक्यते। ऋषीणां तत्तच्छास्त्रप्रवर्तकानाम् ऋषीणामपि, यद् ज्ञानं वस्तुविषयको बोधः, तत् अपि आगमहेतुकम् आगमः हेतुर्यस्येति आगममूलकम् एवास्ति, स्वोत्प्रेक्षा-मात्रं तु नेत्यर्थः।

आगमादृत इति। नन्वनुमानेनैव शब्दसाधुत्वव्यवस्था सम्पादनीया। "अयं शब्दः साधुः शिष्टप्रयुक्तत्वात्, गोशब्दवत्", इत्याकारकेणानुमानेन साधुत्वे सिद्धे तस्य च धर्माङ्गत्वेन सर्वं सम्पन्नं स्यात्। भाष्ये चोक्तम्— "वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः, सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः" इति चेन्न! केवलं तर्केण साधुत्वव्यवस्थायाः कर्तुमशक्यात्। तथा हि, अनुमीयते—"तान्ता निष्ठा भूतार्थत्वात् भुक्तादिवत्" इति तदा पक्वं, छिन्नं, तीर्णं, इत्यादि कथं व्यवतिष्ठेत्। प्रतिप्रयोगमनुमितिकरणे त्वानन्त्यं स्यात्। पुनश्चानु-मीयते—"हिंसनमनुचितं प्राणवियोगानुकूलत्वात्, ब्राह्मणहिंसनवत्।" इति तदा अश्वमेधादियागानां व्यवस्था कथं सिद्ध्येत। पुनश्चाप्यनुमीयते— "स्त्रियो गम्याः स्तनकेशवत्त्वात्, पत्नीवत्" इति तदा अगम्यानिषेधस्य

किं स्यात्, मात्रादिगमनपातकाच्च कथं रक्ष्येत ! अतः धर्मस्य शब्दसाधुत्वस्य च व्यवस्था आगमादृते न व्यवतिष्ठते ।

यच्चोक्तम्—"अयं शब्दः साधुः शिष्टप्रयुक्तत्वात्" इत्याकारिकानुमित्या सर्वं सेत्स्यतीति तदपि न, तत्र कारणकीयै शिष्टप्रयोगस्य सत्त्वात् । आगममूलको हि शिष्टानां प्रयोगः । लोकोऽपि आगमप्रयोज्यः, साक्षात्परम्परया वागम एव लोकप्रयोजकः ॥ ३० ॥

वेद-वेदाङ्ग-बोधित धर्म की समुचित व्यवस्था केवल तर्क (व्याप्तिग्रहपूर्वक अनुमिति) से सम्भव नहीं है, क्योंकि वेद-वेदाङ्ग-बोधित अनेक ऐसे धर्म हैं, जो तर्क के आधार पर उचित और अभ्युदयनिःश्रेयसहेतु प्रतीत नहीं होते । यदि केवल तर्क को ही विधि-निषेध (उचित-अनुचित) का व्यवस्थापक मान लें तो धर्म की अनेक व्यवस्थाएँ गड़बड़ में पड़ जायेंगी । उदाहरणार्थ "हिंसनमनुचितं प्राणवियोगानुकूलत्वात्, ब्राह्मणहिंसनवत्" "मनुष्य हत्या की तरह सभी हत्याएँ अनुचित होती हैं, क्योंकि इसमें प्राणहानि होती है ।" इस अनुमति के आधार पर यदि हिंसा अनुचित कर्म है, तो "पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः" यह विधि या अश्वमेधादि यज्ञ अनुचित कर्म हैं, किन्तु उनका वैदिक-धार्मिक महत्त्व सर्वविदित है ।

इसी प्रकार केवल तर्क के आधार पर शब्द-साधुत्व की व्यवस्था भी सम्भव नहीं है । एक रोचक उदाहरण देखें—एक समृद्ध यजमान को एकबार एक अल्पज्ञ पौरोहित्यकर्मी ने कहा कि—आप मुझे अपने घर में पूजा-पाठ का अवसर दें । यजमान के अपने विद्वान् कुलपुरोहित थे, फिर भी वे उस अल्पज्ञ पुरोहित को निराश नहीं करना चाहते थे । उन्होंने उसे कुछ दिन बाद जन्मदिन-वर्धापन के लिए बुला लिया । जन्मदिन-वर्धापन के अवसर पर "अश्वत्थामा वलिर्व्यासो"[1] इत्यादि पद्यों के आधार पर अष्ट-चिरंजीवियों का पूजन होता है । पूजन के अवसर पर कुल-पुरोहित भी उपस्थित थे । नये पुरोहित ने पूजन प्रारम्भ किया । अब ये बेचारे तो थे "केचिद्भग्ना रामशब्दप्रयोगे" के प्रत्यक्ष उदाहरण, बोले—"अश्वत्थामाय नमः, पुष्पं समर्पयामि" । कुलपुरोहित मुस्कराते हुए बोले—पंडितजी, "अश्वत्थामाय" नहीं, "अश्वत्थाम्ने" होता है । नये पुरोहित बोले—

---

१. चिरंजीविपूजन के प्रसिद्धपद्य ये हैं—

अश्वत्थामा वलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥
सप्तैतान् संस्मरेन्नित्यं मार्कण्डेयमथाष्टमम् ।
जीवेत् वर्षशतं सोऽपि सर्वव्याधिविवर्जितः ॥

अच्छा ऐसा ही सही। अब दूसरे चिरंजीवी की वारी आयी तो बोले--"बलिम्नं नमः"। कुलपुरोहित ने फिर टोका--"वलये नमः" कहिये। नये पुरोहित कुढ़ गये, फिर भी बोले--अच्छा। तीसरे चिरंजीवी की पूजा हुई--"व्यासये नमः"। कुलपुरोहित ने फिर समझाया--"व्यासाय नमः" कहिये पंडित जी!। अब नये पुरोहित काफी चिढ़ गये। अगला मन्त्र पढ़ा--"हनुमानाय नमः"। कुलपुरोहित से न रहा गया--आपने फिर गलत पढ़ा, "हनुमते नमः" कहना चाहिये था। अब नये पुरोहित अपने को न सँभाल पाये, भड़क कर बोले--आप बार-बार हमें मन्त्र बदलने को कहते हैं, अब हम पूजा नहीं करायेंगे। आप ही कराइए। कुलपुरोहित को बाकी पूजा करानी पड़ी। पाँचवाँ मन्त्र पढ़ा-"विभीषणाय नमः" छठा "कृपाय नमः" सातवाँ "परशुरामाय नमः" और आठवाँ "मार्कण्डेयाय नमः।" नये पुरोहित ने यह सब सुना तो हाथ नचाते हुए बोले--देखा जजमान, आपने इनकी शैतानी, जब हम मन्त्र पढ़वाते थे तो वे हर बार उसे बदलवा देते थे, और अब इन्होंने सारे एक जैसे पढ़ दिये! इसके बाद क्या हुआ इसे कहने की जरूरत नहीं।

इस हास्यमय उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि "आयान्ता चतुर्थी रामायेतिवत्" इस अनुमान से शब्द-साधुत्व की व्यवस्था नहीं चल सकती और न इससे कि—"प्रतिशब्दं चतुर्थी भिद्यते, अश्वत्थाम्ने वलये इत्यादिवत्" इसी तथ्य की ओर आगे आने वाली कारिका—"हस्तस्पर्शादिवान्धेन" (वा. प. १.४२) में संकेत किया गया है ॥ ३० ॥

लोकप्रसिद्धेस्तर्काबाधितत्वम्—

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्ना पन्थानो ये व्यवस्थिताः।
न ताँल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥३१॥

धर्मस्य च ये अविच्छिन्ना अत्रुटिताः सततं प्रवर्तमानाः, पन्थानः मार्गाः, व्यवस्थिताः अनुगमनीयत्वेन लब्धप्रतिष्ठाः सन्ति, तान् कश्चिद् लोकप्रसिद्धत्वात् सर्वत्र लोके प्रसिद्धत्वात्, लोकपर्य्याप्तप्रसिद्धेर्हेतोर्वा तर्केण, न बाधते तेषां स्वीकार्यास्वीकार्ये तर्कं न करोति।

न बाधते इति। तथाहि— "स्त्रियो गम्याः स्तनकेशवत्त्वात्, पत्नीवत्" इत्याकारकेण [1]तर्केणागम्यानिषेधात्मकस्यागमस्य बाधो नैव भवति।

---

१. अत्र प्रकरणे तर्कानुमानयोः साधारणतया प्रचलितार्थो न ग्राह्यः। साधारणवार्तालापे तर्कशब्दः विवादे प्रयुज्यते, अनुमानशब्दश्च सम्भावनामात्रे। व्याप्तिग्रहपूर्वकं प्रतिज्ञाहेतुभ्यामुपपादनं तर्कः, अनुमानं बोध्यम्।

गम्यायां चागम्यायां खेदविगमस्य समत्वेऽपि तर्काश्रितबुद्ध्योभयत्राविशेषेऽपि न कोऽपि तथा प्रवर्तते। एवं च "नरशिरःकपालं शुचिः अस्थित्वात्, शङ्ख-मुक्तादिवत् इत्यादावपि बोध्यम्।"

न केवलं धर्मस्य व्यवस्था, शब्दसाधुत्वस्य व्यवस्था च तर्केण कर्तुं न शक्यते, अपि तु सामान्यजीवनेऽपि केवलं तर्काश्रयेण व्यवहर्तुं न शक्यते। एतदेवाग्रतेनकारिकासु—हेतुप्रदर्शनपूर्वकं निर्देक्ष्यति ॥ ३१ ॥

धर्म की अविच्छिन्न व्यवस्थाओं का कोई भी तर्क के आधार पर उल्लङ्घन नहीं करता। इसलिए "उचित-अनुचित की धर्म-व्यवस्था तर्क के आधार पर ही मान ली जाय, आगम-बोधित व्यवस्था के आधार पर नहीं", ऐसा कहना नितान्त असङ्गत होगा। तर्कसिद्ध वस्तु का आगम से बाध होते देखा गया है, किन्तु आगम-शास्त्र-प्रतिपादित-सिद्धान्त का बाध तर्क से होते नहीं देखा गया, आगम-बोधित धर्म अपनी लोक-प्रसिद्धि के कारण तर्क की बाधाओं को स्वीकार नहीं करता।

शब्द-साधुत्व-व्यवस्था भी लोकप्रसिद्ध आगम की अविच्छिन्न परम्परा से प्रसूत व्यवस्था है। किसी तर्कानुमान से इस व्यवस्था को न तो तोड़ा जा सकता है और न चलाया जा सकता है ॥ ३१ ॥

तर्कानुमानयोर्हीनत्वम्—

अवस्थादेशकालानां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा ॥३२॥

अवस्था-देश-कालानां अवस्था च देशश्च कालश्चेति तेषां, भेदात् अवस्थाभेदात् देशभेदात् कालभेदाच्च, भावानां पदार्थानां, शक्तिषु सामर्थ्येषु, भिन्नासु भेदं प्राप्तासु सतीषु, अवस्थाभेदेन शक्तिभेदे, देशभेदेन शक्तिभेदे, कालभेदेन च शक्तिभेदे जाते, तेषां भावानां प्रसिद्धिः इदमित्थ-न्तया स्वरूपसंसिद्धिः, अनुमानेन, अतिदुर्लभा अत्यन्तं दुःसाध्या भवति।

तथाहि—"पुरुषः शूरः" इति स्थितेः तस्यैव पुरुषस्य जराजर्जरिताया-मवस्थायामप्रसिद्धिः, आह्लादकश्चन्द्रः इत्यस्य च प्रोषितकान्तानां कान्तानां विरहावस्थायामप्रसिद्धिः। सूर्यः पूर्वस्यामुदेति पश्चिमायामस्तमेतीति सत्यत्वेन स्वीकृतायाः स्थितेः ध्रुवप्रदेशेऽप्रसिद्धिः। कूपोदकस्य शीते ग्रीष्मे च शीतत्वोष्णत्वयोरुभयोरप्रसिद्धिः। दिने नक्षत्रसत्ताया एवाप्रसिद्धिरिति। यदि तु प्रत्यवस्थं प्रतिदेशं प्रतिकालं च भिन्न-भिन्नानुमितिकरणेन सर्व-सिद्धिः प्रसाध्यते इति, तन्न सम्भवति, आनन्त्यात्संसारस्य, आनन्त्याच्चा-वस्थादेशकालभेदानामेकस्यानुमातुर्जीवने तदसम्भवात् ॥ ३२ ॥

तर्क और अनुमान से धर्म और शब्द-साधुत्व की व्यवस्था तो क्या सामान्य पदार्थों, वस्तुओं, स्थितियों आदि की व्यवस्था करना भी पूर्णतया सम्भव नहीं हो पाता। किसी एक पदार्थ के सम्बन्ध में की गई अनुमिति पूर्णतया अव्यभिचरित ही होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

तर्क स्वयं में अपूर्ण है, क्योंकि कोई भी अनुमेय वस्तु अवस्था, देश और काल के भेद होने पर भिन्न हो जाती है। पदार्थों की शक्तियाँ, योग्यताएँ या प्राकृतिक गुण (Natural Finomena) अवस्था बदलने पर, स्थान बदलने पर या समय बदलने पर बदल जाते हैं। शिशु और वृद्ध दोनों भिन्न हैं. यद्यपि वे दोनों मनुष्य हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य के सम्बन्ध में की गई सभी अनुमितियाँ दोनों पर एक-सी लागू नहीं होंगी। हिमालय में जल ठंडा होता है, केरल में नहीं। शीतकाल और ग्रीष्मकाल के वायुस्पर्श का अन्तर सर्वविदित है, भिन्न-भिन्न तापमानों पर धातुएँ ठोस से तरल, तरल से गैस के रूप में बदल जाती हैं। अतः अनुमिति के आधार पर किसी भी वस्तु या पदार्थ के विषय में इदमित्थम् कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक अवस्था, देश और काल के लिए पृथक्-पृथक् अनुमिति बना लेना भी सम्भव नहीं है; क्योंकि काल आदि की सूक्ष्मता और अनन्तता दुर्ज्ञेय होती है ॥ ३२ ॥

निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ॥३३॥

तां तामिति वीप्सा। तामित्येकां तामित्यन्यां च अर्थक्रियां प्रति, यत्करोति सा द्रव्यस्यार्थक्रिया, विशिष्टामर्थक्रियां प्रतीत्यर्थः, निर्ज्ञातशक्तेः निःशेषेण ज्ञाता शक्तिर्यस्य तस्य द्रव्यस्य, विशिष्टद्रव्यसम्बन्धे द्रव्यान्तरविशेषस्य सम्बन्धे योगे कृते, सा निर्ज्ञाता शक्तिः, प्रतिबध्यते सप्रतिबन्धा जायते। ततः शक्तिप्रतिबन्धदशायां तच्छक्तिजन्यकार्यव्यभिचारदर्शनात् निर्ज्ञातशक्तिद्रव्यविषयेऽपि 'एतद्द्रव्यमेतादृशमि'ति कथनमपि सव्यभिचारमेवेत्यर्थः।

तथाहि—अग्नेर्दाहकत्वं निर्ज्ञातमप्यभ्रकसम्बन्धे प्रतिबध्यते। प्रकाशस्य प्रसरणशक्तिः सान्द्रकुण्ड्यादियोगे प्रतिबध्यते। विद्युतः सर्वाः शक्तयोऽसुचालककाष्ठादिसंयोगे प्रतिबध्यन्ते। कालस्य भावविकारजनिकाशक्तिश्चातिशीघ्रगत्या प्रतिबध्यते। यदि कश्चिद् पार्थिवः बालः सेकिन्डमिते काले लक्षाधिक-किलोमीटर-दूरं धावितुं केनापि यन्त्रेण प्रभवेत्, किञ्चित्कालानन्तरं च परावर्तेत, तदा तस्य समवयस्या बालाः जराजर्जराः भवेयुरिति

आधुनिकवैज्ञानिकानां गणितोपपन्नः सिद्धान्तः। अनेनैव हेतुना वायुयानादौ समयावबोधः स्वल्पः प्रतीयते। देवानां ब्रह्मणश्च भिन्नकालव्यवस्थाया-श्चेदमेव सूत्रम्। त्रेतायुगे रेवतको नृपः स्वकन्यया रेवत्या सार्धं ब्रह्मलोकं गतः, कस्मैचित्कालाय ब्रह्मसभासुखमनुभूय पुनः भुवमागतस्तदा भुवि द्वापरं युगं प्रावर्तत। रेवती च सा स्वत्रेतायुगोनदेहायामा विवाहयोग्या राज्ञे चिन्ताविषयो बभूव। यतस्तस्मिन् युगे तद्देहायामप्रमाणः पुरुष एव नासीत्। सेयं राज्ञः समस्या हलधरेण बलरामेण स्वहलेन तस्या देहायामं लघूकुर्वता समाहितेति पुराकल्पोऽप्यमुमेवार्थं समर्थयति।

एवमन्यान्यान्यप्युदाहरणान्यनुगन्तव्यानि ॥ ३३ ॥

केवल सूक्ष्मता और अनन्तता की ही बात नहीं, कभी-कभी प्रसिद्ध और सुस्थिर अनुमिति में भी व्यभिचार आ जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जानी-पहिचानी शक्तियों वाले पदार्थों की योग्यता या गुणधर्म किसी विशेष क्रिया के प्रति, किसी विशेष पदार्थ के सम्बन्ध होने पर कार्य नहीं करते। जैसे विद्युत् की आकर्षक शक्ति काष्ठादि के संयोग से प्रतिबन्धित हो जाती है ॥ ३३ ॥

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ ३४ ॥

अन्वयश्च—कुशलैः विचक्षणैः, अनुमातृभिः "इदमित्थं एतत्त्वात् तद्वत्" इत्येवं प्रकारकानुमितिकर्तृभ्यः, यत्नेन सप्रयत्नं, अनुमितोऽपि उक्तप्रकार-कानुमितिविषयीकृतोऽप्यर्थः वस्तु, अन्यैस्तद्भिन्नैरभियुक्ततरैः अधिकविच-क्षणैः, अन्यथैव अन्यप्रकारेणैव, उपपाद्यते प्रमाणीक्रियते। एतेन—एकेन चतुरेण इत्थन्तया अनुमित्या स्थापितोऽर्थः, अन्येन चतुरतरेण अन्यप्रकारतया न स्थापयिष्यते, इति वक्तुं न शक्यते।

यथा कश्चित् अधिवक्ता (वाक्कीलः) न्यायस्मृतेः एकां धारां स्वादिनं निर्दोषं साधयितुमेकप्रकारेण व्याख्याय प्रस्तौति, अन्यश्चाधिवक्ता तामेव धाराम् अन्यथा व्याख्याय तं वादिनं सदोषं साधयति। इतोऽप्यधिकम्—स एवाधिवक्तान्यस्मिन्नभियोगे स्वव्याख्यां स्वयमेव खण्डयित्वा पुनरन्यथा व्याख्याति। न्यायाख्याया अर्थक्रियाया एतादृशी दुरवस्थाभियुक्त-तराणां चमत्कारेण यदि भवति तदान्येषामर्थक्रियाणां का गतिः स्यात्तर्का-श्रयेणेति तु तर्कणीयमेव। ईश्वरविषये दर्शनभेदाश्चाभियुक्ततराणां महि-मानमेव गायन्ति।

अत्र हरिवृषभस्य युक्तयोऽपि दर्शनीयाः भवन्ति । "तद्यथा–अन्यद् द्रव्यं गुणेभ्यो व्यपदेशयात् । तद्यथा सति विशेषणविशेष्यभेदे राज्ञा राष्ट्रं विशिष्यते न परिव्राजकेन, विशिष्यते वा चन्दनेन गन्धः न रूपादिभिः। तस्मादन्यद् द्रव्यं गुणेभ्य इत्यनुमानेन द्रव्ये व्यवस्थापिते नायमपदेशो युक्तः, इत्याहुः" इति । अत्र "राज्ञः राष्ट्रम्" "चन्दनस्य गन्धः" राजा अन्यत् राष्ट्रमन्यत्, एवं चन्दनमन्यत् गन्धश्चान्यत् । तेनेदमनुमीयते—"अन्यद् द्रव्यं गुणेभ्यः, यत्र यत्र विशेष्यविशेषणभावस्तत्रान्यत्वमिति व्याप्तिग्रहणात् ।" परन्तु नायमपदेशः । आम्राणां वनमित्यादौ वनस्याम्राणां चाभिन्नत्वेन व्यभिचार-दर्शनात् । एवं च "रामस्य राज्यम्" इत्युक्ते राज्याभिन्नोऽपि रजकः न राज्यस्य विशेषणम् । अभिन्नत्वेऽपि विशेष्यविशेषणभावाभावः, विशेष्य-विशेषणभावेऽपि नान्यत्वमिति अभियुक्ततरप्रयुक्तमन्यथात्वम् । अथात्रा-स्मदीयाभियुक्ततरतापि विलोकनीया—"आम्राणां वनम्" इत्यत्र भिन्नानि आम्राणि वनात्, व्यपदेशिवद्भावात्, "राहोः शिरः" इतिवत् यत्र यत्र व्यप-देशिवद्भावस्तत्र तत्र भिन्नताप्रतीतिरिति व्याप्तिग्रहात् वृक्षसामान्यसमुदाये प्रवृत्तो वनशब्दः. फलविशेषोत्पादके वृक्षे चाम्रशब्दः, न तु वृक्षसमुदाये । प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् भिन्नान्याम्राणि वनात् ।

एवं च यावदभियुक्ततराणामात्यन्तिकी समाप्तिर्न भवति तावद् अनुमितोऽर्थोऽनन्तिम एव स्थास्यति ॥३४॥

और यदि किसी तरह प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक देश, प्रत्येक काल, प्रत्येक सप्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध अवस्था, इन सभी के लिए अलग-अलग अनुमितियाँ बना भी ली जायँ (यद्यपि ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।) तब भी तर्क से काम पूरा नहीं होता—

यत्नपूर्वक किसी वस्तु के विषय में तर्कद्वारा कोई सिद्धान्त स्थिर कर लेने पर भी कोई दूसरा प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति उसी वस्तु के बारे में किसी अन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर सकता है ।

ब्रह्म-विषयक अनेक वादों का जन्म इसी कारण हुआ । वैयाकरणों और नैयायिकों के अनेक मतभेदों का कारण यही है । वकील लोग कानून की एक ही धारा की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत करके कभी अभियोक्ता और कभी अभियुक्त का समर्थन करत हैं । वैज्ञानिकों के द्वारा किया गया पूर्ववर्ती सिद्धान्त का खण्डन और नये सिद्धान्त का स्थापन इसी बात को पुष्ट करता है । इससे यह स्पष्ट है कि तर्क बुद्धिवैशद्य और प्रतिभा का एक नमूना है । वस्तुतथ्य का यथार्थ निश्चय तर्क से होता ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

वैसे विचार-पूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि इसका कारण भी काल आदि का भेद और उनकी सूक्ष्मता ही है। इन भेदों और सूक्ष्मताओं को समझने में जिस व्यक्ति की बुद्धि और प्रतिभा जहाँ तक काम करेगी, या जिसके पास इन सूक्ष्मताओं तक पहुँचने के लिए जितनी अधिक परिस्थितियाँ और सुविधाएँ होंगी, वहीं तक और उतना ही वह यथार्थ के निकट पहुँच पायेगा। किन्तु इन भेदों और सूक्ष्मताओं का विस्तार अनन्त है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन काल में इनका आंशिक परिचय भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः मानव का अधिकांश जीवन आगम-प्रतिपादित धर्म पर निर्भर है और उसका कार्याकार्य विवेक का अधिकतम भार आगम पर ही है॥ ३४॥

अभ्यासस्य प्रामाण्यम्—

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥३५॥

परेषाम् अन्येषां, असमाख्येयं समाख्यातुमशक्यं, मणिरूप्यादिविज्ञानं मणीनां हीरकादीनां रूप्यस्य रजतस्य (अन्येषां च रत्नधातूनां) विज्ञानं शुद्ध्यशुद्ध्योरनुपातस्य विशिष्टं ज्ञानं, तद्विदां मणिरूप्यादिविज्ञानस्य ज्ञातृणाम्, अभ्यासादेव पुनः पुनः निरीक्षण-परीक्षणाभ्यामेव जायते। आनुमानिकम् न भवति अनुमितिपूर्वकं साधितं न भवति।

तथाहि—स्वर्णकारादयो रूपतर्काः स्वर्णादिधातूनां मणीनां मूल्य-निर्धारणं रत्नं धातुखण्डं च हस्तेन प्रतोल्य दृष्ट्या निरीक्ष्यैव कुर्वन्ति। तेषां मूल्यनिर्धारणं भारनिर्धारणं च शुद्धमेव भवति। अन्यत्रापि जीवने कुशला जनाः गृहिण्यश्च कस्यापि ग्राह्यवस्तुनो मूल्य-भार-शुद्धि-विषये "अनुमिति-पूर्वकमनुमानं न कुर्वन्ति। तावतैव दृष्टिक्षेपेण हस्तस्पर्शेण च वस्तुनो हेयोपादेयत्वं निर्धारयन्ति। तत्राभ्यास एव हेतुरिति। संगीतप्रयोगे षड्जादिस्वरभेदसम्बोधे अनुमानस्य गतिरेव नास्ति। प्रत्यक्षं गीतं शृण्वतां षड्जादिस्वरसम्बोधो नैव भवति, परन्तु गीतस्य सुस्वर-कुस्वरत्वं तेऽनु-भवन्ति, एवं च मर्मज्ञा गायकाः स्वगायने स्वरभेदं निष्पादयन्ति, मर्मज्ञाः श्रोतारश्च तमनुभवन्ति, इत्यत्राप्यभ्यास एव हेतुः ॥३५॥

रत्नपारखी किसी भी मणि का मूल्य देखकर निश्चित कर लेता है। परन्तु उस मूल्य-निर्धारण का कोई कारण उससे पूछा जाय तो कोई भी तर्कपूर्ण उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि वह मूल्यनिर्धारण किसी तर्क (अनुमिति) के आधार पर

नहीं करता, अपितु अपने अभ्यास से करता है। और वह मूल्य उचित होता है। इसलिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि आगमबोधित धर्म तर्कपूर्वक ही स्थापित किया गया है। जैसे रत्नवणिक् का मणि-रूप्यादि-मूल्य-निर्धारण-विज्ञान अभ्यास-जनित है, वैसे ही धर्म-प्रवर्तक ऋषियों की अभ्युदय-निःश्रेयस-हेतुत्व की पहिचान अभ्यास-जनित है। ऋषियों का अभ्यास सामान्य जन की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है, क्योंकि उन्होंने उसे योग द्वारा सम्पादित किया होता है। संगीतज्ञ भी गाये जाने वाले गीत के षड्जादिभेद अपने अभ्यास के द्वारा पहचान लेते हैं, जब कि सर्व-साधारण को श्रावण-प्रत्यक्ष होते हुए भी कोई पहचान नहीं होती।

इनमें कहीं भी अनुमितिपूर्वक तर्क नहीं होता ॥ ३५ ॥

अदृष्टस्य प्रामाण्यम्--

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः ।
रक्षःपितृपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः ॥३६॥

रक्षःपितृपिशाचानां रक्षसां पितृणां पिशाचानां, प्रत्यक्षम् अनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः सिद्धयः कर्मजा एव भवन्ति ।

रक्ष इति । राक्षसाः पितरः पिशाचाश्च तत्सर्वं कार्यं सम्पादितुं समर्थाः यत्प्रत्यक्षेणानुमानेन वा साधयितुमशक्यं भवतीति लोकविश्रुतिः। अनुभूयन्ते बहुभिरद्यापि रक्षःपितृपिशाचानां प्रत्यक्षानुमानातिक्रान्ता सिद्धयः, ताश्च कर्मजाः राक्षसादिरूपेण स्थितानां तेषां पूर्वयोनिकृतसुकृतदुष्कृतानां कर्मणां फलभूताः। एतेन ज्ञायते यद् अस्ति किञ्चित् कारणं येन राक्षसादयः तादृशसिद्धिमन्तः। तच्चादृष्टमेव न तु प्रत्यक्षम्, नानुमानम्। राक्षसा-दीनाम् अशरीरेणावस्थानम्, अमुखेन वचनं, कुड्यप्रवेशनं, शीघ्रगामित्वं, इत्येवमादयः सिद्धयः श्रूयन्तेऽनुभूयन्ते च। अदृष्टस्याचिन्त्या शक्तिः तदेव तस्यादृष्टत्वम्। अत एवादृष्टं प्रमाणतया स्वीक्रियते। तार्किकास्त्व-दृष्टमलौकिकं प्रत्यक्षमुररीकुर्वन्ति, इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य अनुमिति-करणत्वस्य च तत्रासम्भवात्।

यत्तु हरिवृषभेण--स्वप्नबधिरादीनां शब्दादिप्रतिपादनमित्याद्युक्तं, तन्न रुचिरम्। स्वप्ने बधिरस्य वाग्विज्ञानम्, अन्धस्याप्सरोनृत्यदर्शनम्, अराज्ञो राजभावः, अप्लवेन प्लवनं, अमृतस्य मरणं, इत्याद्यसम्भाव्येषु अदृष्टहेत्व-न्वेषणमसंगतम्, एतस्य हेतुस्तु स्वप्नविज्ञान एव लभ्यः। स्वप्नस्य पृथगेव संसारः, तत्र स्वप्नसंसारे जातस्य कार्यस्य तत्रैव हेतवो भवन्ति। स्वप्न-

मनुभवन् पुरुष एव तत्रत्यकार्याणां हेतुमन्विष्यति, हेतुनिरपेक्षो वा भवतीति विज्ञातव्यम् ।

यच्च--हरिवृषभोक्तं प्रमाणीकर्तुं—"वृषभदेवेन 'अन्तर्धानादिसिद्धयः' इति व्याख्यातं तन्न, प्रमाणनिरूपणप्रसङ्गेऽन्तर्धानादिसिद्धीनामनुपयोगात्" इति केचिदाहुस्तदपि न युक्तम्, अन्तर्धानादीनां प्रमाणनिरूपणप्रसङ्गेऽनुपयोगेऽपि मूलकारिकायामुपात्तं "रक्षःपितृपिशाचानाम्" इति पदमपास्य बधिरादीनामुदाहरणस्यानौचित्यात् । यदि च राक्षसादीनामसम्भाव्याचरणं कारिकाकृतोऽनभिप्रेतं स्यात्तदा कारिकायां वधिरादीनेवोपादेयात् । कर्मजा एव सिद्धय इत्यत्र च 'सिद्धय' इत्यस्य स्थाने 'शक्तय' इति च ब्रूयात् । एवं वृषभदेवेन "अन्तर्धानादिसिद्धय" इति यद्व्याख्यातं तत्कारिकानुरूपमेव ॥३६॥

राक्षस, पिशाच, पितर आदि परामानव-सत्ताओं के कारणातिग-क्रियाकलाप प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के घेरे के बाहर हैं । अतः उनमें किसी अदृष्ट शक्ति की कल्पना करना आवश्यक है । उनकी ये कारणातिगामिनी शक्तियाँ अदृष्ट कर्म के ही परिणाम हैं । इनमें तर्कानुमान की गति ही नहीं । यहाँ फिर आगम-बोधित धर्म का ही सहारा लेना होगा ॥ ३६ ॥

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥ ३७ ॥

आविर्भूतप्रकाशानाम् आविर्भूतः प्रकटितः, प्रकाशः ज्ञानं, येषां तेषां अनुपप्लुतचेतसां अनुपप्लुतं अज्ञानादिनानर्लिप्तं, चेतः हृदयं, येषां तेषां मुनीनां, अतीतानागतज्ञानम् अतीतं भूतं, अनागतं भविष्यं, तयोः सम्बन्धि ज्ञानं, प्रत्यक्षात् पुरतो वर्तमानात्, न विशिष्यते; दृष्टादृष्टसाधारणं तेषां ज्ञानं भवतीत्यर्थः ।

अतीतानागतमिति । अतीतं नष्टं, अनागतमनुत्पन्नम् । तत्रासत्कार्यवादे उत्पत्तेः प्राग् नाशानन्तरं च वस्तुस्वरूपाभावात् न प्रत्यक्षेण नानुमानेनाधिगन्तुं शक्यते । सत्कार्यवादे च वस्तुविशेषस्य विशिष्टाकाराभावात् व्यवहारे तस्य किमपि निर्वचनमशक्यम् । एवं स्थिते अतीतानागतविषये प्रत्यक्षानुमानाभ्यां न किमपि सिध्येत, ये तु आविर्भूतप्रकाशाः निर्विकारे स्वचेतसि अतीतानागतमर्थं प्रतिबिम्बवत् पश्यन्ति तेषामतीनागतविषयकं ज्ञानम् अस्मदीयप्रत्यक्षज्ञानादविशेषं भवति । यथा वयं प्रत्यक्षं जानीमः, ते तथा भूतं भविष्यं च जानन्ति । अत्राप्यदृष्ट एव हेतुः ।

अत्रेवं बोध्यम्—ज्ञानं हि सर्वज्ञेयाधिकरणम्। सर्वं ज्ञेयं ज्ञाने परिसमाप्यते, अतीतम् अनागतं च। यदि किञ्चित् ज्ञेयं तद् ज्ञानगम्यमेव, अतः नास्ति भूतवर्त्तमानभविष्यद्ज्ञाने कोऽपि विशेषः। परन्तु अस्मदादीनां सोपाधिकत्वात् अस्मदादीनां सम्बन्धेन ज्ञानमपि सोपाधिकं भवति, अत एवातीतानागतविषये तत्प्रतिबध्यते। यैस्तु चित्ताशुद्ध्यपाकरणेन निरूपाधिकज्ञानाविर्भावः कृतस्तेषां न दिक्कालप्रतिबन्धः, अत एवोक्तम्—"आविर्भूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसामिति" ॥ ३७ ॥

जिन ऋषियों का ज्ञान प्रकाश के रूप में प्रकट हो चुका हो, जिनका चित्त समस्त विकारों से निर्लिप्त हो चुका हो, उनका अतीत और अनागत (भूत और भविष्य) सम्बन्धी ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न प्रकार का नहीं होता। वे अतीत-अनागत को ठीक उसी प्रकार देख या जान सकते हैं, जिस प्रकार वर्तमान को। एक प्रकार से उनका अतीत-अनागत भी वर्तमान ही होता है। जैसे सब लोग वर्तमान को सरलता से प्रत्यक्ष रूप में देख लेते हैं, वैसे ही ऋषिलोग उस वर्तमान को जिसमें भूत-भविष्य भी सम्मिलित हैं, सरलता से प्रत्यक्ष रूप में देख लेते हैं ॥ ३७ ॥

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥ ३८ ॥

ये आप्ता ऋषयः, अतीन्द्रियान् इन्द्रियविषयत्वमतीतान्, असंवेद्यान् स्पर्शादिसंवेदनाविषयान्, भावान् पदार्थान्, आर्षेण यौगिकेन, चक्षुषा नेत्रेण, चर्मचक्षुर्भिन्नेन केनाप्यन्येनैव नेत्रेण पश्यन्ति, तेषां वचनम् अनुमानेन न बाध्यते, बाधितो न भवति।

सन्त्यासन्भविष्यन्ति चैतादृशाः पुरुषाः ये इन्द्रियातीतं ज्ञानं बिभ्रति। तेषामेवर्षित्वम्। त एवार्षचक्षुष्मन्तः। ते च यत्र यत्रापि यद् यदभिधास्यन्ति तत् तदनुमानबाधाविषयं न भविष्यतीति। नाभावः प्रवीणानामृषिकल्पानां प्रातिभपुरुषाणाम्, तद्वचनेऽनुमानं सव्यभिचारमेव ॥ ३८ ॥

जो ऋषिलोग अपने विस्तृत और व्यापक ज्ञान की आँखों (आर्ष-चक्षुओं) से सकल अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियों के विषय नहीं) और असंवेद्य (जो सुख-दुःखादि की भाँति अनुभव के योग्य नहीं) ज्ञेय वस्तुओं को देखते हैं और अपने उस प्रत्यक्ष ज्ञान को (क्योंकि वे आर्षचक्षुओं से देखते हैं, इसलिए उनका वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।) अनेक प्रकार के विधि-निषेधों में व्यक्त करते हैं, उनके कथनों और व्यवस्थाओं को अनुमान (तर्क) के बल पर गलत नहीं ठहराया जासकता ॥३८॥

यो यस्य स्वमिव ज्ञानं दर्शनं नातिशङ्कते ।
स्थितं प्रत्यक्षपक्षे तं कथमन्यो निवर्तयेत् ॥ ३९ ॥

यः जनः स्वम् आत्मीयं ज्ञानम् इव यस्याप्तर्षेः दर्शनं ज्ञानं विचारं वा न अतिशङ्कते तस्मिन् शङ्का न करोति, तस्य दर्शनं स्वकीयं एव मन्यते, अतः प्रत्यक्षपक्षे स्थितं तं पुरुषम् अन्यः अनुमानप्रमाणकः कथं केनप्रकारेण निवर्तयेत् निवर्तयितुं शक्नुयात् । न शक्नुयादित्यर्थः ।

अपरोऽथश्चैवम्—यः अन्यः यस्य तत्सम्बन्धिनं ज्ञानम् इव स्वं दर्शनं नातिशङ्कते स एवान्यः, प्रत्यक्षपक्षे स्थितं तम् आप्तपुरुषं, यः खलु आर्षेण चक्षुषा अतीन्द्रियान् असंवेद्यान् च भावान् पश्यति, यस्य च अतीतानागत-ज्ञानं प्रत्यक्षमिव, तं तस्य मार्गात् कथं निवर्तयेत् ?

यः यस्य दर्शनं न शङ्कते, सः तं तस्य दर्शनात् कथं निवर्तयेत् ? स्वप्रत्यक्षे कोऽपि न शङ्कते, आप्तस्यर्षेरतीतानागतं प्रत्यक्षमेव । अतः सोऽपि तत्प्रत्यक्षे न शङ्केत । स्वप्रत्यक्षप्रामाण्यवत्तत्प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्य-मेव । लोकास्तु तस्याप्तर्षेर्दर्शनं श्रद्धातिशयेन स्वकं ज्ञानमिति मत्वा नातिशङ्कन्ते । स्वकमिति कृत्वा तेषामपि लोकानां तज्ज्ञानं प्रत्यक्ष-मेवेति ॥ ३९ ॥

कोई भी मनुष्य अपने देखे-सुने प्रत्यक्ष ज्ञान को किसी अनुमान के आधार पर गलत मानने को तैयार नहीं होता । अपने प्रत्यक्ष पर कोई शङ्का नहीं करता । प्रत्यक्ष-पक्ष में स्थित मनुष्य को कोई अन्य व्यक्ति कैसे अपने सिद्धान्त से हटा सकता है ? नहीं हटा सकता । उसे हटाने का प्रयत्न भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह स्वयं भी तो अपने प्रत्यक्ष ज्ञान पर शङ्का नहीं करता ।

ऋषियों का अतीतानागत का ज्ञान 'प्रत्यक्षज्ञान' ही होता है । इन प्रत्यक्ष-दर्शियों को अनुमान के द्वारा गलत ठहराना ही गलत है । ऋषिबोधित आगम पर लोग उतना ही शङ्कारहित विश्वास करते हैं, जितना कि स्वयं अपने प्रत्यक्ष पर । ऐसे लोगों को 'अनुमान' से उनके मार्ग से हटाना सम्भव नहीं है ।। ३९ ।।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये ।
आचाण्डालं मनुष्याणमल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥ ४० ॥

इदं पुण्यम् इदं च पापम् इति, एतस्मिन् पदद्वये पापपुण्यविषये, आचाण्डालं तज्जातिविशिष्टपुरुषपर्यन्तं, मनुष्याणां शास्त्रप्रयोजनं शास्त्रस्य

साङ्गोपाङ्गस्य सप्रक्रियस्य विधिवदध्ययनादिकस्य प्रयोजनमल्पमेव, नैवास्ति प्रयोजनमित्यर्थः। सामान्योऽपि जनः पीडितस्य दुःखापनयनाय पतितस्य हस्तालम्बनाय 'इदं पुण्यम्' इति मत्त्वा स्वयमेव शास्त्रमनधीत्यापि प्रवर्तते। गुरूणामनादरे हिंसने चौर्ये च 'इदं पापम्' इति कृत्वा न प्रवर्तते। परम्पराप्राप्तस्यागमस्यैवायं महिमा ॥ ४० ॥

"यह पुण्य है," "यह पाप है," इस प्रकार के कार्याकार्य-विवेक के लिए उच्च से उच्च और नीच से नीच श्रेणी के मनुष्य शास्त्रों के विधिवत् हेतु-अनुमानपूर्वक अध्ययन में नहीं लग जाते। उन्हें लोक-परम्परा-प्राप्त आगम-बोधित धर्म से ही विवेक हो जाता है कि—पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? इस विवेक के लिए शास्त्रों की 'न' के बराबर ही आवश्यकता पड़ती है।

गिरे को उठाना, प्यासे को पानी पिलाना, असमर्थ की सहायता करना, गुरुओं को प्रणाम करना, चोरी न करना, हिंसा न करना आदि, ऐसे अनेक कार्याकार्य-विवेक के प्रसङ्ग हैं, जिनमें 'शास्त्रीय प्रक्रिया' 'व्याप्ति,' 'हेतु,' 'पक्ष', 'व्यभिचार' आदि के पचड़े में पड़ने की कोई भी आवश्यकता अनुभव नहीं करता ॥४०॥

चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बाध्यते ॥४१॥

यश्चायम् एतत्प्रकरणे उपपादनाविषयभूतः लोके सर्वैरनुगम्यमान आप्तवचनात्मक आगमः, चैतन्यम् इव प्राणिचेतना इव, अविच्छेदेन सातत्येन, वर्तते। ममाहमिति चैतन्यानुभवे सत्यपि "न त्वं, न तव" इति दर्शने, नोच्छिद्यते इत्यर्थः, स आगमः हेतुवादैः, अयमस्य हेतुः, अयं चास्य चामुष्य हेतुः, यस्य हेतुर्नास्ति तत्कार्यमपि नास्ति, इत्येवं हेतुमूलकैस्तर्कैः बाध्यते।

चैतन्यमिति। चैतन्याधिष्ठितश्चेतनो मरणधर्माभृतोऽप्यविच्छेदेन सततं प्रवर्तते "अहमस्तीति", सत्यपि दर्शनभेदे न त्वमिति, तथैवागमः सत्स्वपि हेतुवादेषु विरुद्धेषु, लोकप्रयोजकत्वेनाविच्छेदेन प्रवर्तमानो लोकैरनुगम्यते, न तस्य हेतुवादैर्बाधः ॥४१॥

एक बात और ध्यान देने की है—सभी दर्शन प्रायः एक मत होकर मनुष्य को अनादिकाल से यह उपदेश देते चले आ रहे हैं —"तुम नहीं, तेरी अधिकृत वस्तुएँ तेरी नहीं।" तथापि सावच्छिन्न-जीवात्म-सत्ता और नित्यता अक्षुण्ण बनी हुई है। इसी प्रकार आगम भी अनेक तर्क-बाधाओं के होते हुए भी अनवच्छिन्न-विच्छेदरहित प्रवर्तमान है। आगम के अनुसार चलने वाले व्यक्ति को तर्कवादों से अपने

मार्ग से नहीं हटाया जा सकता। प्राणि-चेतना की सत्ता और नित्यता जितनी सच है, आगम की प्रामाणिकता भी उतनी सच है ।। ४१ ।।

हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।
अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः ॥४२॥

हस्तस्पर्शात् वस्त्वैकदेशं ज्ञात्वा, विषमेऽसमाने, पथि मार्गे, धावता त्वरया चलतान्धेन इव, अनुमानप्रधानेन अनुमानं प्रधानं यस्य वस्तुबोधे तेन पुरुषेण, न दुर्लभः अवश्यं लभ्यः, किम् ? विनिपातः पतनम्, अन्धेन पतनं यथा लभ्यम्, तथैव अनुमानप्रधानेन वस्त्वबोधरूपो वस्त्वपबोधरूपो वा विनिपातो लभ्यः।

अनुमानप्रधानेनेति। पूर्वकारिकासु तर्कस्यानुमानस्य तत्र तत्र व्यभिचरितत्वं दृष्टम्। एवं चानुमानमेव प्रधानीकृत्य प्रवृत्तस्य पुरुषस्य अन्धस्येव विनिपातोऽवश्यम्भावी। अतोऽनुमानाश्रयेण धर्म-व्यवस्था शब्दसाधुत्व-व्यवस्था च सम्पादयितुमशक्यैव। विशेषतो धर्मस्य शब्दसाधुत्वस्य चादृष्ट-फलवत्त्वस्य व्यवस्थानुमानेन दुर्घटेति निश्चितम्। अत आगमाश्रयणमनिवार्यम्। ॥ ४२ ॥

हाथ से छू छू कर उबड़-खाबड़ रास्ते पर चलते हुए अन्धे के समान अनुमान को ही धर्म और शब्द-साधुत्व-व्यवस्था का आधार मानने वाले व्यक्ति का पतन होना अनिवार्य-सा ही है।

केवल अनुमान (अनुमिति, तर्क) के बल पर चलने वाला मनुष्य अन्धे के समान है, जो केवल अन्दाजे से चलता है। सीधी फर्श पर चलते-चलते यदि वह सीढियों पर पहुँच जाय तो उसका गिरना निश्चित है। इसी तरह "स्त्रियो गम्याः स्तनकेशवत्त्वात् पत्नीवत्" इस अनुमिति के सहारे चलने वाला व्यक्ति अनौचित्य के गर्त में गिरे बिना न रहेगा ।। ४२ ।।

तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम्।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ॥४३॥

तस्मात् पूर्वोक्तकारणेभ्यः अकृतकम् अकृतम् एवाकृतकं प्राथम्येन केनाप्यकृतमपौरुषेयं, शास्त्रम् आम्नायरूपं, सनिबन्धनां निबन्धनसहितां, पूर्व-पूर्वस्मृतिरूपकारणसहितां न तु स्वकल्पितां स्मृतिं चाश्रित्य शिष्टैः पाणिन्यादिभिः ऋषिभिः, शब्दानामनुशासनं शब्दशास्त्रमारभ्यते प्रक्राम्यते।

तस्मादिति । अनुमानेन शब्दसाध्वत्वव्यवस्थां कर्तुमशक्या, अनुमानादीनां व्यभिचरितत्वात् । अतः पूर्वपूर्वागममूलकमतोऽपौरुषेयम् इदं शब्दानुशासनं नाम शास्त्रं प्रवृत्तम् । शब्दानामनुशासनमस्य शास्त्रस्य प्रतिपाद्यो विषय इति ॥ ४३ ॥

यह स्पष्ट हो चुका कि तर्क से कोई धर्म या शब्द-साधुत्व की व्यवस्था कर लेना सम्भव नहीं, उसमें अनेक हानियाँ भी हैं। अतः पाणिनि आदि आचार्यों ने पूर्ववर्ती अकृतक, अपौरुषेय व्याकरणागम के आधार पर शब्दानुशासन अथवा शब्द-साधुत्व व्यवस्था का प्रणयन किया है ॥ ४३ ॥

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥४४॥

शब्दविदः शब्दतत्त्वज्ञाः, उपादानशब्देषु, उपादानानुपादानाभ्यां शब्दद्वैविध्यम्, तत्र उपादानेषु शब्देषु द्वौ शब्दौ विदुः जानन्ति, तयोरेकः शब्दानां निमित्तं कारणम्, अपरश्च अर्थे अर्थबोधे, प्रयुज्यते प्रयुक्तो भवति । अर्थबोधस्य कारणं भवतीत्यर्थः ।

उपादानशब्देषु इति । शब्दस्तावद् द्विविधः उपादानः अनुपादानश्च, उपादानेष्वपि द्वौ शब्दौ भवतः, इत्यनुपदमेव वक्ष्यते । प्रथमं तावद् अनुपादानशब्दो विचार्यते । सन्ति शब्दाः शब्दपदाभिधेयाः रामकृष्णगोविन्दादयो घटपदादयश्च । सन्ति च शब्दपदाभिधेयाः नदीनिर्झराणां घनविद्युतां मणिनूपुराणां वीणामृदङ्गानां शब्दाः । भाष्ये, एषां द्विविधानां शब्दानामेव शब्दत्वमुक्तम् । तद्यथा–प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः । येनोच्चारितेन सास्नाककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः । "मा शब्दं कार्षीः शब्दकार्यमयं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते" इति च ।

एतेषु नद्यादीनां शब्देषु व्याकरणप्रवृत्तेरसम्भवात् तत्र व्याकरणप्रक्रियायां नोपादीयन्ते । अतस्तेषामनुपादानत्वम्, तद्भिन्नानां व्याकरणप्रक्रियायामुपादीयमानानाञ्चोपादनत्वम् । "उपादीयते येनार्थः स उपादानः" इति व्युत्पत्तिमात्रेण तु उपादानानुपादानभेदव्यवस्था न सम्भवति, मेघस्य गडगडाशब्देन तावानेवार्थ उपादीयते यावान् "अद्य वर्षा भविष्यती"त्युक्तेन शब्देन । सन्देशवाहकतारयन्त्रस्य (Telegrame) टिक्टिकाशब्दं श्रुत्वा सर्वैः सन्दिष्टार्थं उपादीयते ।

अथ अर्थस्योपादानाय कियन्तः प्रकाराः प्रयुज्यन्ते सचेतनैः ? वनस्पतयः स्वनिषेकक्रियासम्पादनरूपमर्थमादाय भृङ्गाकर्षणहेतवे विविधवर्णानि

पुष्पाणि रसं चोत्पादयन्ति। गावः वत्सदेहं लिहन्ति, वात्सल्यभावं प्रकट-यन्त्यः। मानवा अक्षिनिमीलनादिकं व्यवहरन्ति विशिष्टार्थोपादानाय। किमेते व्यवहारा उपादानशब्दाः ? शब्दा वा किमेते सन्ति केवलम् ?

व्यवहारे अर्थोपादानं द्विधा क्रियते- सङ्केतैः शब्दैश्च। तत्र सङ्केता द्विविधाः—क्रियारूपाः, उल्लिखिताश्च। हस्तसञ्चालनेन आगमन-निर्गम-नार्थं उपादीयते, "उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीना"मित्युदात्ताख्यानाया-ङ्गुष्ठोन्नयनम् "इन्द्रशत्रु"रित्यादावर्थोपादानाय क्रियते। लिप्यादिना सर्वोऽप्यर्थं उपादीयते। शब्दा अपि द्विविधाः--वाग्रूपाः, अवाग्रूपाश्च। तत्र वाग्रूपा अपि मनुष्यवाग्रूपाः, मनुष्येतरवाग्रूपाश्च पश्वादीनाम्। अवाग्रूपास्तु पदार्थसंयोग–विभागजन्याः। मनुष्यवाग्रूपाणामपि द्वौ भेदौ–साधवोऽसाधवश्च, एतैः सर्वैरेवार्थ उपादीयत एव। एवं स्थिते यथोक्त-व्युत्पत्तिमूलिका सर्वा व्यवस्था छिन्ना भवति।

अतः "मनुष्यवाक् शब्दः" इति तावत्सिद्धान्तयितुं युक्तम्। तेन अवाग्रूपाणां मनुष्येतरवाग्रूपाणां सङ्केतरूपाणां शब्दस्वरूपे परिहारः स्यात्, व्याकरणप्रक्रियानिर्वाहमार्गात्। (अयमर्थः केवलं व्याकरणप्रक्रिया-निर्वाहायैव, अन्यथा शब्दमात्रस्य शब्दतत्त्वात्मकत्वं निश्चेष्यते अन्यत्र।)

तत्र मनुष्यवाग्रूपे शब्दे साधूनामसाधूनां च चर्चात्र ग्रन्थे यथा-स्थानमस्ति।

मनुष्यवाक् शब्दः, स एवोपादानः। अन्येषां शब्दत्वाभावे नदीघोषा-दिष्वप्रसक्तिः।

तत्रोपादानशब्देषु द्वौ शब्दौ भवतः, इति प्रकृतमनुस्रियते। उपादानो वाचकोऽर्थस्य, उपादीयते स्वरूपेऽध्यारोप्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्त्या। उच्चारितो हि घटशब्दः 'घ् अ ट् अ' इत्येवं रूपः बाह्यघटाकृतिं स्वरूपे घ् अ ट् अ-आत्मके अध्यारोपयति, एवं शब्दस्वरूपोऽर्थः श्रोत्रा गृह्यते। अतोऽर्थस्य वाचकः। यथोक्तं संग्रहे—"तदाकारमयेन वाचक उपादानः स्वरूपवान्" इति, अयमर्थः अव्युत्पत्तिपक्षे। शब्दाः व्युत्पन्नाः, शब्दा अव्युत्पन्नाः, इति पक्षद्वयं व्याकरणेऽभ्युपगम्यते सर्वशब्दानाम्। तत्राव्युत्पत्तिपक्ष एव स्वरूपेऽध्यारोपणसम्भवः। व्युत्पत्तिपक्षे तु "गौः" इत्यस्य गमनक्रियारूप-विशिष्टार्थे व्युत्पन्नस्य गौरितिस्वरूपाद् भिन्नस्य विशिष्टार्थस्य गौशब्द-स्वरूपेऽध्यारोपणमसम्भवम्। अस्मिन् पक्ष उपादीयते योऽर्थप्रतिपत्तये स उपादानः। 'चटत्' इति 'पटत्' इति 'गौः' इति, इत्याद्यनकरणशब्देषु

उच्चारितशब्दस्य स्वरूपपरतया सोऽयमिति प्रतीत्या शब्देऽर्थे च भेदाभावात् वाच्यवाचकसम्बन्धो नोपपन्नः, उभयोर्भिन्नत्व एव तथा सम्भवात्, अत उपादानो द्योतक इत्यपि केचिदभ्युपगच्छन्ति। यया प्रकाशः स्वरूपतः स्वरूपस्य द्योतक इति।

एको निमित्तमिति। उपादानशब्देषु द्वौ शब्दौ भवतः, इति पूर्वं प्रतिज्ञातम्। तत्र द्वयोर्मध्य एकः शब्दानां निमित्तमस्ति। तद्यथा–योऽयं शब्दः श्रुतिरूप उच्चार्यते स किमाधारो वर्तते? वक्तुः बुद्धौ व्यवस्थितः शब्द एव उच्चरितश्रुतिरूपशब्दानामाधारः। स एव विवक्षाधीनः श्रुतिरूपतामापद्य बाह्याया अर्थाकृतेः प्रत्यायनायोपादीयते। अतः श्रुतिरूपाणां वैखरीशब्दानां निमित्तं भवति।

अपरोऽर्थ इति। अपरश्च शब्दोऽर्थेऽर्थबोधे प्रयुज्यते। उच्चारणक्रियान्वितः श्रोत्रग्राह्यः वैखरीध्वनिः ध्वनिसमहो वा बाह्यामर्थाकृतिं स्वरूपेऽध्यारोप्य वाच्यवाचकभावेन वाचकः, प्रकाशकभावेन वार्थद्योतकः सन् अर्थबोधनाय प्रवृत्तः, अतोऽर्थोपसर्जनीभूतः स प्रत्यायकः शब्दः।

अत्रेदं विवेचनीयम् वक्ता यं शब्दमुच्चारयति तस्य किं निमित्तम्? येन श्रोतार्थमधिगच्छति सः कः?

श्रोता खल्वर्थजातं दृष्टवानुभूय वा शब्दमुच्चारयति। अर्थो न वर्णात्मकः, तत्कथं स वर्णक्रमेणोत्पद्यते मुखात्? एतेन ज्ञायते यत् वर्णात्मकः कश्चिदस्ति वक्तृबुद्धौ, स च सक्रमोऽक्रमो वा भवितुमर्हति, परन्तूच्चारणकाले क्रमवानेव भवति, स एव वक्तृबुद्धिस्थो वर्णात्मकः कश्चिदस्ति क्रमेणोच्चारितस्य निमित्तम्। अथ श्रोता तु उच्चारितेन ध्वनिसमूहेनार्थं प्रतिपद्यते, ध्वनिसमूहस्तु नार्थः, बुभुक्षापिपासाद्यनुभवरूपः, घटपटाकृतिरूपो वा। तत्कथं तेनार्थाः प्रतिपाद्यन्ते? तेन ज्ञायते यत् काचित् अर्थशक्तिः ध्वनिसमूहे शब्दे। तयैव शक्त्या सः बाह्यामर्थाकृतिं स्वरूपेऽध्यारोप्य श्रोतृबुद्धिविषयां करोति, तथा कृत्वा च स्वयं विरमति परार्थत्वात्। अर्थबोधनप्रक्रियायामेव ध्वन्यात्मकस्य शब्दस्योपयोगः, जाते त्वर्थबोधे स विरमति। इयमेव तस्य परार्थता।

ततश्चायं निष्कर्षः। शब्दे श्रुतिशक्तिः, अर्थशक्तिश्च संसृष्टे। ते च "श्रवणीयता" "अर्थवत्ता" इत्यपरनामभ्यामपि वक्तुं शक्येते, अस्ति कश्चिद्बुद्धिस्थः शब्दात्मा, उच्चारितस्य निमित्तम्, अस्ति च कश्चिदर्थात्मा,

उच्चारितेन प्रत्यायमानः । तौ चोभौ सर्वतः संहृतक्रमे शब्दतत्त्वेऽक्रमे निलीनौ तदीहयैव काले काले सक्रमां स्वरूपाकृतिं भजतः । तथा चोक्तम्--

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः ।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ।। इति ।। ४४ ।।

उपादान शब्दों के दो भेद होते हैं, उनमें से एक मुख से उच्चारित शब्द का कारण होता है, दूसरे का उपयोग अर्थबोध करने में होता है । इस तथ्य को शाब्दिक विद्वान् समझते हैं ।

उपादान शब्द क्या है ? पहले इसे जान लेना आवश्यक है । साधारणतया किसी भी आवाज को शब्द कहा जाता है । जैसे 'शब्द मत करो' (मा शब्दं कार्षीः) या "इस शब्द का क्या अर्थ है ?" । ढोल बजता है तो शब्द होता है, वेद-पाठ होता है तो भी शब्द होता है । मेघों का गर्जन, नदी का कल-कल, कारखानों की खड़खड़, वीणा की झंकार, पायल की रुनझुन, ये सब भी शब्द ही कहलाते हैं । परन्तु शब्द होते हुए भी व्याकरण की प्रक्रिया में इनका उपयोग सम्भव नहीं है । अतः व्याकरण की प्रक्रिया में हम इन सबका उपादान (ग्रहण) नहीं कर सकते । व्याकरण-प्रक्रिया में राम, कृष्ण, घट, पट आदि का ही उपादान (ग्रहण) होता है । जिनका उपादान होता है, वे 'उपादान-शब्द' हैं और जिनका उपादान नहीं होता वे 'अनुपादान-शब्द' हैं । इस प्रकार प्रत्येक ध्वनि को शब्द मानते हुए 'शब्द' के दो भेद हुए --उपादान और अनुपादान ।

"उपदीयतेऽर्थोऽनेन" (जिसके द्वारा अर्थ का ग्रहण किया जाता ।) या "उपादीयते योऽर्थप्रतिपत्तये" (जो अर्थबोध के लिए ग्रहण किया जाता है ।) ये दो व्युत्पत्तियाँ उपादान शब्द की की जाती हैं । परन्तु इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर ही उपादान शब्द को अच्छी तरह परिभाषित नहीं किया जा सकता । अर्थ का उपादान शब्दों (सार्थक शब्दों) से ही नहीं किया जाता, अपितु संकेतों और ध्वनियों से भी किया जाता है । ट्रेन के गार्ड की हरी झण्डी, युद्ध का बिगुल, मन्दिर या चर्च की घण्टियाँ, तार की गिट-गिट आदि कुछ कम अर्थ का उपादान तो नहीं कराते ? भाषाओं के लिपि-संकेत अर्थोपादान के सर्वश्रेष्ठ साधन हैं इसमें कुछ सन्देह का अवसर नहीं । उक्त व्युत्पत्तियों के आधार पर इन सभी को उपादान शब्द कहना पड़ेगा । अतः उपादान शब्द को ठीक से परिभाषित करने के लिए 'मनुष्य की वाणी' को ही 'उपादान शब्द' कहना उचित होगा । इस 'मनुष्य-वाणी' को उपादान और अन्य ध्वनियों को अनुपादान शब्द कहना चाहिए ।

संकेतों को उपादान शब्द के घेरे से बाहर रखने के लिए प्रथमतः हमें 'ध्वनिः शब्दः' यह शब्द की परिभाषा स्वीकारनी चाहिए, और इस ध्वनिरूपशब्द को भी 'मनुष्यवाक् शब्दः' (मनुष्य की वाणी शब्द है ।) 'स चैवोपादानः' (और उसी को उपादान शब्द कहते हैं ।) इस प्रकार परिभाषित करना होगा ।

इस विषय को प्रस्तार-चित्र के द्वारा यों समझा जा सकता है—
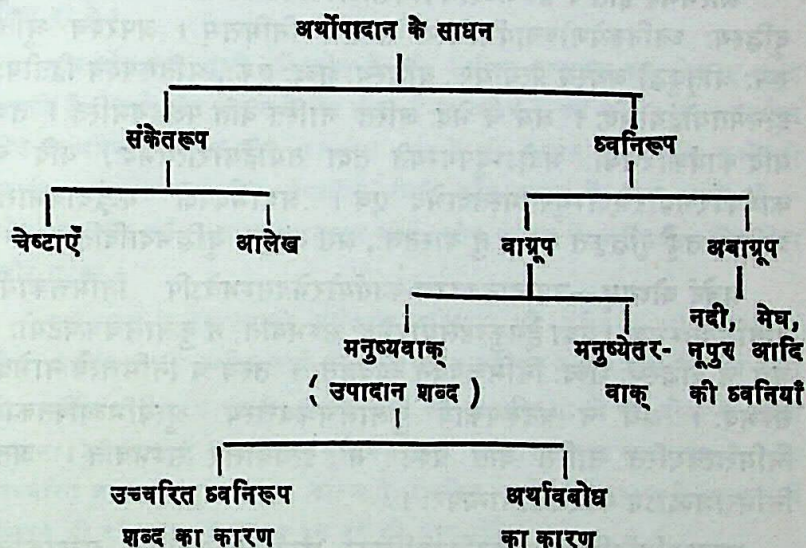
स्थिति शब्दाकार ही होती है । इस श्रोतृबुद्धिस्थ शब्दाकार अर्थ का कारण उच्चरित ध्वनि-समूह शब्द होता है, इसे सुनकर ही श्रोता को अर्थ-प्रतीति होती है । यह उपादान शब्द का दूसरा प्रकार हुआ ।

शब्द में दो प्रकार की शक्तियाँ हैं—श्रुतिशक्ति और अर्थशक्ति । इन्हीं के कारण शब्द प्रतीति को श्रवणीयता में और श्रवणीयता को प्रत्यायकता में यथावसर ढालता रहता है । अपनी इन दोनों शक्तियों के कारण ही वह उच्चरित ध्वनिसमूह का निमित्त और अर्थबोध का कारण बनता है । इनके अभाव में तो वस्तु (अर्थ) का शब्द (ध्वनियाँ) बनना और शब्द (ध्वनियों) का वस्तु (अर्थ) बन जाना असम्भव ही था ॥ ४४ ॥

आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः ।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते ॥ ४५ ॥

केचित् पुराणगाः पूर्वात्रार्याः, "तयोः निमित्त-प्रत्याकयोः शब्दयोः, स्वरूपभेदः आत्मभेदः 'तौ परस्परं भिन्नौ' इत्याकारकः भेदः अस्ति" इत्याहुः। एके अन्ये च पूर्वाचार्याः, प्रयोक्तुः श्रोतुश्च, बुद्धिभेदात् भिन्न-भिन्न-बुद्धित्वात्, अभिन्नस्वापि एकस्य शब्दस्य, भेदं पथक्त्वं, प्रचक्षते (बुद्धिषु प्रसक्तत्वात्) कथयन्ति ।

आत्मभेद इति । द्वौ शब्दौ निमित्तः प्रत्यायकश्च । तत्र निमित्तः वक्तृ-बुद्धिस्थः ध्वनिरूपेणोच्चार्यमाणस्य शब्दस्य निमित्तम् । अपरश्च श्रुति-रूपः श्रोतृबुद्धौ अर्थस्य प्रत्यायकः बुद्धिस्थः शब्दः एकः, श्रुतिरूपश्च द्वितीयः, इत्थमेतयोर्द्वयोर्भेदः । अयं च भेदः अस्ति नास्ति वेति पक्षद्वयमस्ति । तत्र यदि कार्यकारणयोः भदोऽभ्युपगम्यते तदा तयोर्द्वयोरात्मभेदः, यदि च कार्यकारणयोरभेदाभ्युपगमस्तदाभेद एव । अत्राभेदपक्षे यद्भेदावभासः प्रतीयते तद् बुद्धिकृत एव न तु वास्तवः, अत आह - बुद्धिभेदादिति ।

अत्रेदं बोध्यम्—उपादानकारण-कार्ययोरभेदसम्भवेऽपि निमित्तकार्य-योर्नभेदसम्भवः । यथा हेमकुण्डलयोरभेदः सम्भवति, न कुलालचक्रघटयोः । अत्र च बुद्धिस्थः शब्दः निमित्तपदेन व्यवहृतः । तस्य च निमित्तत्वे नाभेद-सम्भवः । अथ च घटरूपकार्ये कुलालचक्रवत्तस्य श्रुत्यभिव्यक्तिकार्ये निमित्तत्वमस्ति नास्ति वेति प्रश्ने 'न' इत्येवोत्तरं सम्भवति । अतः निमित्तशब्दोऽत्र कारणसामान्यपरः ।

शब्दाकृतिर्निमित्तं शब्दव्यक्तिर्वाचिका, शब्दव्यक्तिर्निमित्तं शब्दाकृति-र्वाचिका, इत्यपि पक्षद्वयमाश्रित्यं तयोर्भेदाभेदः व्याख्यायते कैश्चित् ।

वस्तुतस्तु—तयोर्निमित्तप्रत्यायकयोरभेद एव । तद्यथा—कश्चित् पुरुषः वृक्षाधः तूष्णीं स्थितः ग्राम्यैर्दृष्टः "मौनीति" व्यपदिष्टोऽन्येषु, तद्दर्शनार्थं सर्वे ग्राम्यास्तत्र समवेताः । तेषां श्रद्धां दृट्ष्वा तेन पुरुषेण ज्ञानचर्चा समा-रब्धा । ततस्ते ग्राम्यास्तं "ज्ञानी" "वाग्मी" इति समूचुः । स एवं पुरुषः "मौनी" "वाग्मी" च । मुखरो बौद्धः प्रत्यायक इत्येव नयः, अन्यद्बुद्धि-वैभवम् ॥ ४५ ॥

उपादान शब्द (आगे इसे केवल शब्द कहा जाएगा ।) के दो भेद बताए गये हैं—निमित्त और प्रत्यायक । ये दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न ? इस विषय में मतभेद है । कुछ लोगों का विचार है कि—उच्चरित ध्वनिसमूह का निमित्त वक्ता की बुद्धि में स्थित रहता है तो दूसरा अर्थप्रत्यायक होकर श्रोता की बुद्धि में । इस प्रकार ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं । किन्तु कुछ लोग इस भेद को केवल बुद्धि-

कृत मानते हैं। अर्थात् समझने वाले की बुद्धि का हेर-फेर मानते हैं। कारिका-गत "बुद्धिभेदात्" का आशय यह भी हो सकता है कि वक्ता की बुद्धि और श्रोता की बुद्धि—इन दो भिन्न-भिन्न बुद्धियों में (स्थानों में) रहने के कारण वह एक ही शब्द भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। जैसे एक गाँव से दूसरे गाँव जाने पर एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, निमित्त प्रत्यायक शब्दों का भेद भी ऐसा ही है।

कुछ लोग एक दूसरे दृष्टिकोण से भी निमित्त-प्रत्यायक का भेद या अभेद मानते हैं—कार्य और कारण में भेद होता है या अभेद ? इस मतभेद पर आधारित भेद या अभेद, बुद्धिस्थ और उच्चरित शब्द में भी सम्भव है, क्योंकि इनमें भी कार्यकारणभावसम्बन्ध है। नैयायिक कार्य और कारण में भेद मानते हैं—जैसे तन्तु और पट। सांख्यमतानुसार कार्य और कारण में अभेद है—जैसे सोना और गहना।

कार्यकारण के भेदाभेद को जातिपक्ष-व्यक्तिपक्ष की दृष्टि से भी देखा जाता है। जातिकारण से व्यक्ति कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य-कारण में भेद होता है, जबकि व्यक्ति कारण से व्यक्ति कार्य की उत्पत्ति मानने पर दोनों में अभेद मानना आवश्यक है। क्योंकि बुद्धिस्थ शब्द उच्चरित शब्द का कारण है और उच्चरित शब्द श्रोतृबुद्धिस्थ का कारण है, इसलिए कार्य और कारण के सम्बन्ध में जितने भी दृष्टिकोण हैं वे सब इन पर भी लागू होंगे।

आगे की कारिकाओं में इस विषय पर विवेचन किया गया है ॥ ४५ ॥

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ॥ ४६ ॥

यथा अरणिस्थं अरणिः अग्न्युत्पादककाष्ठद्वयविशेषः पूर्वं यज्ञादौ प्रयुक्तः, तस्मिन् स्थितं, ज्योतिः अग्निः, प्रकाशान्तरकारणं अन्यस्य अग्नेः कारणं भवति, अरणौ सकृदुत्पन्नोऽग्निः काष्ठान्तरेषु तूलान्तरेषु वा अग्निमुत्पाद्य अन्येषामग्नीनां कारणं भवति। तद्वत् तथैव, बुद्धिस्थः प्रयोक्तुः बुद्धौ स्थितः, शब्दः अपि पृथक्, श्रुतीनां शब्दानां कचटादीनां, कारणं जायते।

अरणिस्थमिति। बुद्धिस्थोच्चरितशब्दयोः कार्यकारणभाव उदाहरण-मुखेन प्रस्तूयते—अरणिः काष्ठद्वयं यज्ञाङ्गभूतमग्न्युत्पादकं यन्त्रम्, आधुनिके युगे 'माचिस' इति तस्य प्रतिनिधिः। तद्घर्षणेनाग्निरुत्पद्यते। तत्रारणौ स्थितमनवमासमानं ज्योतिर्यथा घर्षणक्रियावशात् प्रकाशितं पुनरन्यस्य

यज्ञकुण्डादौ स्थाप्यमानस्य ज्योतिषः कारणं जायते तथैव बुद्धिस्थः शब्दः स्वमयनवभासमानोऽपि उच्चारणक्रियावशात् बाह्यानां श्रुतिरूपशब्दानां क-च-टादीनां घटपटादीनां वा प्रत्येकं पृथक्-पृथक् कारणं जायते।

अत्रारणिस्थं ज्योतिर्बीजभावनया प्रागेवावस्थितं सत्तारूपेण, अनुकूल-क्रियासमभिव्यारात् संवेद्यसंवेदकस्वरूपतामापद्यते। तथैव बुद्धिस्थशब्दोऽपि बीजभावनया सर्वश्रुत्यात्मकः स्वाभिव्यञ्जनानुकूलकण्ठताल्वाद्यभिघात-क्रियया व्यञ्जनध्वनिभेदानुपातेन सभेदः सक्रमश्च ज्योतिरिव स्वरूपार्थ-स्वरूपयोः प्रकाशको भवति ॥ ४६ ॥

उपादान शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ की गई हैं——१. उपादीतयेऽर्थोऽनेन, २. उपादीयते योऽसौ——जिसके द्वारा अर्थ का उपादान किया जाता है, उसे उपादान कहते हैं। या अर्थबोध के लिए जिसका उपादन किया जाता है, उसे उपादान कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी शब्द से सम्बद्ध जो बाह्य अर्थ घड़ा आदि पदार्थ है उसको शब्द में आरोपित कर देना उस शब्द का काम है जिसका वह अर्थ है, अर्थात् अर्थ को शब्दाकार कर देना। अर्थबोध की क्रिया में शब्द और अर्थ में अभेद की प्रतीति होती है यह एक अनुभवसिद्ध बात है, 'घड़ा लाओ' कहने पर हम सुनते हैं शब्द को और उठाते हैं अर्थ को। स्पष्ट है कि 'घ-ड़ा' इस ध्वनि-समूह को मिट्टी के पात्र से अभिन्न मानते हैं। यदि अभिन्न नहीं मानते हैं, तो बलात् अर्थ को शब्दाकार कर देते हैं। दोनों ही बातें सिद्धान्ततः स्वीकार्य हैं। जब हम शब्द और अर्थ में अभेद मानते हैं तो शब्द अर्थ का द्योतक माना जाता है। किन्तु जब हम अर्थ में अध्यारोपण करते हैं तो शब्द वाचक समझा जाता है।

यह उपादान शब्द दो प्रकार का होता है——उच्चरित ध्वनि-समूह का कारण और अर्थ-बोध का कारण। अपने जाने-सुने अनुभव को प्रकट करने के लिए ही हम शब्दों का प्रयोग करते हैं। हमारे ये वस्तुगत अनुभव ध्वनिरूप में कैसे ढल जाते हैं? मानना होगा कि हमारी बुद्धि में अर्थ वस्त्वाकार होकर नहीं, शब्दाकार होकर रहते हैं। यही बुद्धिस्थ शब्द विवक्षाधीन होकर उच्चरित ध्वनियों में ढलते चले जाते हैं। इन उच्चरित ध्वनियों के कारण बुद्धिस्थ शब्द हैं। यह उपादान शब्द का प्रथम प्रकार हुआ।

दूसरी ओर श्रोता जब उच्चरित ध्वनि-समूह को सुनता है तो उसकी बुद्धि में श्रुत शब्द से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति जगती है। श्रोता की बुद्धि में भी अर्थ वस्त्वाकार में नहीं रह सकता, अतः वहाँ भी अर्थ के बुद्धिस्थ शब्द का स्पष्टीकरण इस दृष्टान्त से होता है——जैसे अरणि में छुपि हुई आग मन्थन करने के

बाद कई स्थानों पर आग जलादेती है, ठीक उसी तरह बुद्धिस्थ शब्द भी किसी अर्थ विशेष से समन्वित होने पर 'घ् अ ट् अ' आदि वर्णों और घट-पट आदि शब्दों को उत्पन्न कर देता है।

'अरणिस्थज्योति' के उदाहरण में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—आग अरणि में विद्यमान है, वैसे ही जैसे बीज में पेड़। और एक चिनगारी दूसरी चिनगारी को जन्म देती है तथा स्वयं प्रकाशित होकर अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करती है। ये दो बातें शब्द में भी दिखाई पड़ती हैं। बुद्धिस्थ शब्द में बीजभावना से समस्त अर्थजात समाहित रहता है। अनुकूल करण व्यापार, कण्ठतालु आदि के संयोग-विभाग से वह अरणि में छुपी आग की भाँति ध्वनियों के रूप में स्वरूपतः प्रकाशित होता है और स्वसम्बद्ध अर्थ को भी प्रकाशित करता है॥ ४६॥

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥ ४७॥

सः बुद्धिस्थः शब्दः पुरा उच्चारणात् पूर्वं, बुद्ध्या प्रयोक्तुः बुद्ध्या, वितर्कितः "अयं प्रयुज्यमानः शब्दः अभीष्टाभिधेयस्य प्रत्यायने समर्थो भविष्यति न वा ?" इत्याकारकविवेचनपरतर्केण निश्चितः, ततः सति निश्चये, क्वचिद् अर्थे कस्मिंश्चिदभीष्टार्थे, निवेशितः "अयं शब्दः इममर्थं प्रत्याययेत्" इत्याकारकाभिनिवेशेन निविष्टः सन्, करणेभ्यः कण्ठताल्वादिभ्यः हेतुभूतेभ्यः, विवृत्तेन सूक्ष्मत्वं विहाय विशदत्वं श्रवणीयत्वं प्राप्तेन, ध्वनिना नादेन, अनुगृह्यते श्रोत्रा उपलभ्यते। ध्वनिसहकृतैव शब्दोपलब्धिः।

क्वचिदर्थ इति। शब्दस्यार्थे सन्निवेशः सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन भवति। "योऽयमर्थः सोऽयं शब्दः, योऽयं शब्दः, सोऽयमर्थः" इत्याकारिकाभेदप्रतीतिरेव शब्दादर्थबोधे निमित्तम्, "नृपो राजा" इति पर्य्यायेष्विव। एतेनैव उपादीयते स्वरूपेऽध्यारोप्यते अर्थ इति उपादानशब्दार्थः सङ्गच्छते। स चेयं "सोऽयम्" इत्याकारिकाभेदप्रतीतिर्बुद्धिपूर्वकं भवति, यतो बुद्धिस्थः शब्दः सर्वार्थानुग्रहः, अतो विवक्षाविशेषे "अयमिममर्थं बोधयतु" इति सतर्कोऽभिनिवेश आवश्यकः।

विवृत्तेनेति। बौद्धस्य विवर्तो ध्वनिः, अक्रियस्य सक्रियः, अक्रमस्य सक्रमः, इन्द्रियातीतस्येन्द्रियगम्यः। तेन विवर्तभूतेन ध्वनिना कचटादिभिः अनुगृह्यते श्रोत्रा। करणव्यापारेण विवृद्धेन श्रवणीयतामुपगतेन अनुग्रहण-

कारणभूतेन वा ध्वनिनानुगृह्यते। अत्रार्थे करणव्यापारेण संघीभूताः ध्वनिपरमाणमः श्रुतिशब्दं ग्राहयन्तीत्यर्थः सम्पद्यते। एतदणुपरिणामः शब्दः, इति सिद्धान्ताभ्युपगम एव। ज्ञानस्य शब्दात्वापत्तौ तु बौद्धस्य विवर्तो ध्वनिरित्येव ।। ४७ ।।

बुद्धि उच्चारण होने पूर्व अच्छी तरह सोच विचार कर किसी अभीष्ट अर्थ के साथ बुद्धिस्थ शब्द का सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। तदुपरान्त वह शब्द ध्वनि पैदा करने वाले कण्ठ-तालु आदि उच्चारण-अवयवों से उत्पन्न की गई ध्वनि से अभिव्यक्त होता है और श्रोता द्वारा ग्रहण किया जाता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि–बुद्धि द्वारा पूर्ण विचार कर लिये जाने पर किसी अभीष्ट अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही घट के अर्थ में पट और पट के अर्थ में घट का प्रयोग नहीं होता। बुद्धिस्थ शब्द सभी अर्थों का आश्रय होता है। सभी अर्थ उसी एक के हैं। विवक्षा के कारण किसी विशेष अर्थ में शब्द को किस रूप में प्रकट होना है, यही तर्क बुद्धि करती है। उसका किसी अर्थ-विशेष में निवेश करती है। इस अर्थाभिनिवेश के बाद ही करण-व्यापार के द्वारा ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं और ग्रहण की जाती हैं ।। ४७ ।।

नादस्य क्रमजातत्वात् न पूर्वो नापरश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ।। ४८ ।।

सः शब्दः नादस्य ध्वनेः, क्रमजातत्वात् क्रमेणोत्पन्नत्वात्, न पूर्वं न च अपरः, नादस्यैव क्रमेणोत्पत्तिः, न शब्दस्येत्यर्थः। एवं च अक्रमः क्रमरहितोऽपि सः, तदभिव्यञ्जकस्य नादस्य, क्रमरूपेण क्रमिकतया, शब्दोऽपि भेदवान् 'पूर्वः मध्यमः परः' इति क्रमजनितभेदयुक्तः, जायते भवति।

क्रमजातत्वादिति। ध्वनयो वक्तुर्मुखात् क्रमेणोत्पद्यन्ते। यत्क्रमेण कण्ठ-ताल्वादिकरणव्यापारः प्रवर्तते, तत्क्रमेणैव ध्वनीनामुत्पत्तिः। तत्र च कालस्य प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाशक्तिः प्रयोजिका। घट इति वक्तव्ये घकारोच्चारणकाले घकारोत्पत्तिरभ्यनुज्ञाता टकारोत्पत्तिश्च प्रतिबद्धा भवति। टकारोच्चारणकाले च टकारोत्पत्तिरभ्यनुज्ञाता घकारोत्पत्तिश्च प्रतिबद्धा भवतीति पौर्वापर्यंनियामिकावृत्तिः सत्तामात्रस्य जन्मादिषडवस्थाः जनयति। अन्यथाभिन्नस्य बौद्धशब्दस्य व्यञ्जकानां ध्वनीनां क्रमजातत्वं न सम्भवेत्।

न पूर्व इति। घकार-टकारादीनां पूर्वापर्येऽपि बुद्धिस्थशब्दः न पूर्वः, न च परः, नैव पूर्वापरस्य समुदायः, तस्यैकत्वान्नित्यत्वाच्च तस्मिन् क्रमिकत्वस्य यौगपद्यस्य चासम्भवः।

भेदवानिवेति। तस्मिन् भेदाभाववति भेदवत्त्वं प्रत्यवभासमात्रमिति इवेन सूच्यते। स्वव्यञ्जकध्वनीनां क्रमजन्मवतां संसर्गेण तस्मिन्नपि क्रमवत्त्वं प्रत्यवभासते ॥ ४८ ॥

नाद अर्थात् ध्वनियाँ करण-व्यापार के पूर्वापर क्रम से उत्पन्न होती हैं, अतः उनमें क्रमिकता होती है। परन्तु शब्द में क्रमिकता नहीं होती है। वह न पूर्व है न पर। शब्द तो क्रमरहित सम्पूर्ण होता है। तथापि शब्दाभिव्यञ्जक ध्वनियों में क्रम होने के कारण शब्द भी सक्रम दिखाई देता है। अतः भिन्न-सा भी प्रतीत होता है ॥ ४८ ॥

प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति सधर्मः स्फोटनादयोः॥ ४९ ॥

यथा प्रतिबिम्बं चन्द्रादेः प्रतिच्छविः, अन्यत्र तले तोयादौ, स्थितं पतितं, तोयक्रियावशात् जलादेः चलनादिक्रियावशात्, तत्प्रवृत्ति तस्य जल-तलादेः प्रवृत्ति व्यवहारं चलनकम्पनादिरूपम्, अन्वेति अनुगच्छति, चले तले चलति, स्थिते स्थितं भवतीत्यर्थः, तथा स्फोटनादयोः स्फोटस्य नादस्य च परस्परं सः धर्मः, यः खलु प्रतिबिम्बस्य तलस्य च परस्परमस्ति। प्रति-बिम्बं तलमन्वेति, स्फोटो नादमन्वेतीत्यर्थः। धर्मोऽत्र सर्वदानुगतो गुणो धारणालक्षणः।

प्रतिबिम्बमिति। यदुक्तं ध्वनीनां संसर्गेणाभिन्नेऽक्रमेऽपि बुद्धिस्थशब्दे भेदवत्त्वं क्रमिकत्वं च प्रत्यवभासते इति तदेवोदाहरणमुखेन विव्रियते--बिम्बभूतवस्तुनः प्रतिबिम्बं यत्र तले पतति तस्य तलस्य प्रवृत्ति रूपं क्रियां विकृतिं चान्वेति तथैव शब्दोऽपि ध्वनीनां प्रवृत्तिमन्वेति। अत्रापीवेन तस्य प्रत्यवभासकत्वमुक्तम्।

अथ प्रतिबिम्बं तलाद्भिन्नो भवति तलाभिन्नो वा? इति मतद्वयं प्रति-बिम्बविषये वर्तेते। तत्र प्रथमे प्रतिबिम्बं बिम्बच्छायाच्छन्नः तलावयव एव, स तलावयव एव प्रतिबिम्बति। द्वितीये प्रतिबिम्बं तलोपाधिवशात् भासते, मिथ्याभूतं वा तदिति। उभयथापि बिम्बाद्भिन्नं प्रतिबिम्बम्। अत्रोदाहरणे बिम्बभूतो बुद्धिस्थः शब्दः, प्रतिबिम्बभूतो ध्वनिः।

प्रतिबिम्बस्य वास्तविकं स्वरूपं त्वित्थम्—प्रकाशः खलु स्वयंप्रकाशः परप्रकाशकश्च। चक्षू रूपग्राहिप्रकाशाभावे चक्षूरूपं न गृह्णाति, रूपं वा न प्रकाशते। एवं स्थिते चक्षुषा रूपग्रहणप्रक्रिया त्रिविच्यते। प्रकाशरश्मयो यदा रूपे वस्तुनि प्रपतन्ति तदा वस्तु सप्तरङ्गमिश्रणभूतस्य प्रकाशस्य काँश्चित् रश्मीन् शोषयति शेषाँश्च परावर्तयति। यद्वर्णान् रश्मीन् वस्तु परावर्तयति तद्वर्णमेव तद्वस्तु दृश्यते। यदि पर्णानि हरितानि दृश्यन्ते, तदा पर्णानि हरितरश्मिन् परावर्तयन्ति शेषान् शोषयन्तीति निश्चितम्। एवं प्रतिवस्तुपरावृत्ताः रश्मयः चक्षुषि परिपतन्ति, अन्यवस्तुषु परिपतन्ति, शून्ये वा विलीनाः भवन्ति, ये चक्षुषि परिपतन्ति ते चक्षुषा गृहीता मस्तिष्केण बुध्यन्ते किं रूपं वस्तु इति। प्रकाशरश्मयः वायुं माध्यमं कृत्वा परिसरन्ति। सन्ति पदार्थाः यान् भित्वा प्रकाशरश्मयः पारं गच्छन्ति, ते पारदर्शिनः पदार्थाः सन्ति च पदार्थाः यान् भित्त्वा ते पारं गन्तुं न प्रभवन्ति, ते अपारदर्शिनः पदार्थाः। अल्पपारदर्शिनोऽपि पदार्थाः सन्ति। एवं सन्ति प्रकाशावशोषकानि पारदर्शीनि परावर्तकानि च वस्तुतलानि। परावर्तकानि एव प्रतिबिम्बं निर्मान्ति। परावर्तकेषु पतिता रश्मयः परावृत्त्य पुनः तेनैव क्रमेण कुत्रचित् पटले परिपतन्ति, तदा तत्र पटले सा एव रूपाकृतिराक्रियते, यद्रूपाकृतेः ता रश्मयो भवन्ति। दृष्टिपटले पतितास्ता एव प्रतिबिम्बम्। सूर्यचन्द्रादेः रश्मयः जलादितलेषु पतिताः परावृत्ताश्चक्षुपटले पतितास्तद्रूपाकाराः दृश्यन्ते। तलस्य माध्यमस्य घनता विरलता वक्रता च रश्मीनां परावर्तनकोणं विकुर्वन्ति तेन प्रतिबिम्बे वक्रता प्रतीयते। जलादिषु तरङ्गाणां सततं परिवर्तनशीलकोणेषु तलेषु रश्मिपरावर्तनकोणक्रमः सत्वरं विक्रयमाणः दृष्टिपटले आपतति तेन प्रतिबिम्बं चञ्चलं दृश्यते। इदमेव तलक्रियान्वयनं बिम्बस्य। तलस्य वर्णप्रतीकाशिन्यः रश्मयोऽपि तत्र परावृत्तरश्मिभिः सह सम्भूय प्रतिपतन्ति तेन तलवर्णानुषङ्गोऽपि प्रतिबिम्बे भवति॥ ४९॥

शब्द ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। अतः उसमें पूर्वापर्य क्रम का 'क' 'च' आदि के भेद का अभिनिवेश हो जाता है। परन्तु यह भेद प्रतीतिमात्र है जैसे जल में पड़ा हुआ सूर्यादि का प्रतिबिम्ब जल के हिलने से हिलने लगता है। वास्तविक बिम्ब यद्यपि अविचल रहता है, तथापि वह तल की क्रिया के अनुसार क्रियावान् दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाला शब्द भी ध्वनियों के गुण-धर्म को अपनाता हुआ प्रतीत होता है।

ध्वनियाँ क्योंकि क्रमवती और भेदवती होती हैं, इसलिए शब्द (स्फोट) भी क्रमवान् और भेदवान् प्रतीत होता है।

बिम्ब और जलतल में जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध स्फोट और ध्वनियों का है ॥ ४९ ॥

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥ ५० ॥

यथा ज्ञाने 'अहं देवदत्तं जानामि' इत्याकारके, आत्मरूपं जानामीति ज्ञानस्वरूपं, ज्ञेयरूपं च देवदत्तमिति ज्ञेयस्वरूपं च, एकया एव प्रतीत्या दृश्यते बुध्यते, तथा शब्दे प्रयुक्ते शब्दे घट इति स्वं रूपं घटाकाराकारादि-घटितं, प्रकाशते प्रतीयते, अर्थरूपं मृद्घटितकम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नः घटा-कारः च अपि प्रकाशते।

बुद्धिस्थमुखोच्चरितशब्दयोः स्वरूपं निर्धार्य शब्दस्यार्थाभिधानस्वरूपं विविच्यते—**आत्मरूपमिति**। शब्दे अर्थरूपं स्वं रूपं च प्रकाशते। शब्दे उच्चारिते श्रुते चिन्त्यमाने च द्विविधा प्रतीतिर्भवति, शब्दस्य स्वरूपा-कारस्य तत्ससम्बद्धार्थस्य च, सा च द्विविधाप्रतीतिः तथैव भवति यथा ज्ञाने भवति। ज्ञानं खलु ज्ञेयपरतन्त्रम्। ज्ञेयवस्तुस्वरूपाद् भिन्नं न ज्ञानस्य स्वरूपाकारः। तथापि 'जानामि' इति ज्ञानं स्वरूपमात्रं 'देवदत्तं जानामि' इत्यत्र च देवदत्ताकारकं ज्ञानम् इति आत्मरूपं ज्ञेयरूपं च ज्ञाने प्रतीयेते। शब्देऽपि तथैव।

अत्रेदं बोध्यम्—शब्दो हि वक्तृबुद्धिस्थो वितर्कितः क्वचिदर्थविशेषे निवेशितश्च करणव्यापारैरुच्चार्यते, उच्चारितश्च सः श्रोतुः कर्णपथं गत्वा श्रोत्रा श्रूयते बुध्यते च, तत्र शब्दस्योच्चारणं यावत् सर्वं बुद्धिव्यापारः करणव्यापारश्च शब्दाभिव्यक्तिप्रक्रिया प्रयोक्तृनिष्ठा। ततश्च शब्दश्रवणा-वबोधप्रक्रिया श्रोतृनिष्ठा। प्रयोक्तृ-श्रोत्रोरन्तराले ध्वनिरूप उच्चरितः शब्दः। स च पूर्वस्मात् परस्ताच्च क्रमशो वागिन्द्रियेण श्रोत्रेन्द्रियेण च सम्बद्धः प्रयोक्तृ-श्रोत्रोर्योजक इव वर्तते। एवंस्थिते यदोच्चारितः शब्दः श्रोत्रपथा प्रतिपत्तृ (श्रोतृ) बुद्धिं प्राप्नोति तदा तस्य द्विधा प्रतीतिर्भवति, स्वरूपेणार्थरूपेण च, यथा ज्ञानस्य। यथा ज्ञानं ज्ञेयपरतन्त्रं तथैव शब्दोऽप्य-भिधेयपरतन्त्रः। शब्दः श्रोतृबुद्धावर्थं प्रत्याय्य परिसमाप्तिं प्राप्नोति, तथापि [illegible] इव स्वरूपमपि प्रत्यवभासयति। शब्दादर्थबोधदशायामपि श्रोतुः शब्दस्य

स्वरूपतः प्रतीतिर्भवत्येवेत्यनुभवसिद्धम् । परन्तु व्यवहारे तस्याः शब्दस्वरूपमात्राया गमनादिक्रियान्वयित्वं न भवत्यसम्भवात्, शास्त्रप्रक्रियां तु कार्यान्वयित्वं भवत्येव, शास्त्रेऽर्थस्य कार्यानुभवविरोधित्वात् । एतेनैव हि लोके गृहिण्यः पाकक्रियायामधःसन्तापनायाङ्गाराचींषि "अग्निः" इति मत्वा गृह्णन्ति, वैयाकरणास्तु "अ ग् न् इः" इति शब्दस्वरूपमात्रं पूर्वोक्तरूपां "अग्नेर्ढक्" (पा. अ. ४।२।३३) इति सूत्रबोधितां स्वीकुर्वन्ति । एवं लोके शास्त्रे च शब्दस्य स्वरूपार्थरूपयोरविरुद्धः प्रयोगः ।। ५० ।।

शब्द से अर्थ और स्वयं शब्द का भी बोध होता है। अर्थात् शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियों से श्रोता को वाचक शब्द और उसके वाच्य अर्थ का भी ज्ञान होता है। जैसे "मैं राम को जानता हूँ" इस वाक्य से वक्ता की बुद्धि में जैसे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का स्वरूप और स्वयं अपना (ज्ञान का) स्वरूप भी दिखाई देता है, वैसे ही शब्द में भी बोध्य अर्थ का स्वरूप और स्वयं शब्द का अपना स्वरूप भी प्रकाशित होता है।

शब्द से अर्थ का और स्वयं शब्द का भी ज्ञान होता है। शब्द की अभिव्यञ्जक ध्वनियों से श्रोता को वाचक शब्द और उसके वाच्य अर्थ का भी ज्ञान होता है। जैसे "मैं राम को जानता हूँ" इस वाक्य से आत्मा में स्वयं के ज्ञान का भी उन्मेष होता है और ज्ञेय राम का भी। अपनी जानकारी और राम-व्यक्ति की आकृति-स्वभाव आदि की भी एक-साथ प्रतीति होती है। वैसे ही ध्वनियों के रूप में अभिव्यक्त होने पर वाचक शब्द और उसके वाच्य अर्थ दोनों का ही बोध हो जाता हैं।

जैसे ज्ञान ज्ञेयपरतन्त्र है, वैसे ही शब्द अर्थपरतन्त्र है। शब्द अर्थ का विशेषण है, अर्थ का बोध कराके वह निःशेष हो जाता है। इसीलिए लोक-व्यवहार में किसी क्रिया के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। "रोटी खाओ" कहने पर आटे से बनी गोल-गोल वस्तु खाई जाती है, 'रोटी' शब्द नहीं। परन्तु व्याकरणशास्त्र में अर्थ के साथ कार्य-व्यवहार का विरोध है। 'अग्नेर्ढक्' सूत्र से अंगारों से ढक् प्रत्यय नहीं हो सकता। यहाँ अग्नि शब्द का अर्थ "अग्निशब्द" ही है, ज्वाला या अङ्गार नहीं। शब्द का शब्द ही अभिप्रेय है, इसलिए शब्द से आत्मरूप और अर्थरूप दोनों का अविरुद्ध बोध होता है ।। ५० ।।

आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः ।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम् ।। ५१ ।।

आण्डभावं आपन्नः इव यः शब्दसंज्ञकः ऋतुः तस्य क्रियारूपा वृत्तिः भागशः क्रमं भजते ।

आण्डभावं, अण्डस्यायमाण्डः, आण्ड एव भावः आण्डभावः भावश्च तत्त्वम्, पक्षिणामण्डानि यद्भावं धारयन्ति, तद्भावमापन्नः प्राप्तः यः शब्द-संज्ञकः शब्द इति नामकः, ऋतुः बुद्धि, ज्ञानं तस्य ऋतोः क्रियारूपा व्यापार-वती वृत्तिः बोधसामर्थ्यं, भागशः भागं भागं कृत्वा, वीप्सायां शस्, एकैक-भागक्रमेणेत्यर्थः, क्रमं भजते सक्रमो भवति ।

आण्डभावमिति। पक्षिणामण्डेषूत्पत्स्यमानस्य पक्षिणः सर्वेऽवयवाः प्रतिसंहृतास्तिष्ठन्ति, परन्तु अण्डरूपे तेषामवयवानां पृथक् पृथग्ग्रहणं न भवति । यदा चाण्डात्पक्ष्युत्पद्यते तदापि सः समग्रतया नाविर्भवति, अपि तु आण्डान्तःस्थितरसे खगावयवानां पिण्ड-मुण्ड-तुण्डादीनां क्रमिकी संरचना भवति। सर्वावयवोत्पादनसामर्थ्यं तु तत्राण्डरसे भवत्येव, तदेव सामर्थ्यं तरले काठिन्यं मांसास्थिभवनं मुण्ड-पिण्ड-विभाजनम्—इत्येवं क्रियारूपेणैकैकशः क्रमवद्भवति । इदं सर्वमाण्डभावः । यस्मिंश्चैतत्प्रकारकं किमपि दृश्यते सः एवाण्डभावमापन्न इव । स चात्र शब्दसंज्ञकः ऋतुः ।

ऋतुरिति। ऋतुः बुद्धिर्ज्ञानम्, स च शब्दसंज्ञकः । अतोऽत्र ऋतुः शब्दात्मिका बुद्धिरेव, न तु सामन्या बुद्धिः । ऋतुशब्दो यज्ञपरोऽप्यन्यत्र । तथार्थस्वीकारे यज्ञस्य "यज्ञेन यज्ञमिति" ब्रह्मस्वरूपतया शब्दस्य च ब्रह्म-स्वरूपतयानुसन्धेयम् ।

वृत्तिरिति। शब्दात्मकऋतोः बोधकताशक्तिः क्रमिकत्वं भजमाना क्रियारूपतामाप्नोति ।

अयं भावः—यद्यपि ध्वनिक्रममय उच्चरितः शब्दः श्रवणेन्द्रियेण प्रति-पत्तृबुद्धौ क्रमरूपेणैव ग्राह्यते "अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते" (वा. प. १।१।४८) इति पूर्वोक्त्या, तथापि क्रमरूपेण गृहीतोऽपि सः प्रतिपत्तृबुद्धौ प्रलीनवर्णावयवो जायते । ततश्च सत्यां विवक्षायां तस्य प्रतिपत्तृबुद्धिस्थस्य बोधकतावृत्तिः वर्ण-पद-वाक्येषु विवर्तमानैकैकवर्ण-पदक्रमेण पूर्व-पूर्वोत्पत्ति-विनाशरूपेण क्रियारूपा भवति । अण्डात्खगोत्पत्तिरत्रोदाहरण-मनुसन्धेयम् ।

वस्तुतस्तु—वक्ता यं शब्दमुच्चरति तं श्रोता प्रतिपद्यते, पुनश्च श्रोता यदि तमेव शब्दमुच्चरति तदा श्रोता एव वक्ता भवति, पूर्ववक्ता च श्रोता । एवं च पूर्ववक्तुः शब्दाभिव्यक्तौ यः क्रमः स एव द्वितीयवक्तुरपि, प्रथमवक्तुः

द्वितीयवक्ता श्रोता, द्वितीयवक्तुः प्रथमवक्ता श्रोता। एवं वक्तृ-श्रोतृव्यत्यासेन वाग्व्यवहारः प्रचलति। शब्दस्तु वक्त्रपेक्षया बुद्धिस्थ उच्चार्यते, श्रोत्रपेक्षयोच्चरितः बुद्धिस्थो जायते। एवं तस्यापि बुद्धिस्थरूपेण उच्चरितरूपेण च वक्तृ-श्रोतृव्यत्यासक्रमेणैव व्यत्यासो भवति। अनया रीत्या शब्दाभिव्यक्तिप्रक्रिया शब्दावबोधप्रक्रिया च परस्परं विपरीते। तथापि वाग्व्यवहारप्रक्रियायां वक्तृबुद्धिस्थः शब्दः, उच्चरितः शब्दः, श्रोतृबुद्धिस्थः शब्दश्चेति त्रितयं प्रतिभासत एव। एतदेवाग्रे वक्ष्यति--"यथैकबुद्धि"-रित्यादि ॥ ५१ ॥

शब्द नामक ऋतु अण्डे जैसा भाव लिये रहता है और उसकी क्रियामयी वृत्ति खण्डशः क्रियाशील होती हुई क्रमवती हो जाती है।

ऋतु बुद्धि या बोध का नाम है। इस बोध के दो स्वरूप हो सकते हैं--शब्दमय और निःशब्द। उनमें अन्तर तो अतिसूक्ष्म होगा फिर भी जब कभी केवल अनुभूति ही हो उस अवस्था में निःशब्द बोध हो सकता है। अन्यथा बोध शब्दमय ही रहता है। यही बोध 'शब्द' नाम का ऋतु है। 'ऋतु' शब्द स्वयं क्रियाशीलता की झलक देता है, इसलिए उसमें क्रियाशीलता या सक्रियता होना आवश्यक है। फिर भी बुद्धिस्थ अवस्था में वह अण्डे जैसा भाव बनाये रखता है।

अण्डा सक्रिय और जीवन्त होते हुए भी निष्क्रिय, क्रमहीन और निरवयव रहता है, परन्तु जब वह प्रजनन की प्रक्रिया पूरी करने के लिए क्रियाशील होता है तो तुण्ड-मुण्ड-पिण्ड क्रम से पक्षी के समस्त अवयवों को प्रकट कर देता है। यह प्रक्रिया एक-एक भाग करके सम्पन्न होती है इसलिए इसमें एक पूर्वापर क्रम होता है।

शब्द की स्थिति भी अण्डे जैसी ही है। बुद्धिस्थ अवस्था में भी वह अण्डें के समान सक्रिय है और उच्चारण की प्रक्रिया में ध्वनि-क्रमानुपाती बन कर अवयवशः एक-एक करके पूर्वापर-क्रम-सहित प्रकट होता है ॥ ५१ ॥

यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते ॥ ५२ ॥

यथा येन प्रकारेण, एकबुद्धिविषया एकज्ञानविषयभूता, मूर्त्यन्तरस्य बहिःस्थितपदार्थस्य, मूर्तिः कस्यापि वस्तुनः पुरुषादेर्वा मूर्तिः स्वरूपं, पटे चित्रनिर्माणाय गृहीते वस्त्रे कर्गले भित्तौ वा, आक्रियते अकारनिरूपणप-

रतया लिख्यते, एवं अनेन प्रकारेण, शब्दे अपि एतत्, त्रितयं स्थितित्रयं, दृश्यते।

एकबुद्धिविषयेति। कश्चिन्मूर्तिकारश्चित्रकारो वा कस्यापि वस्तुनः पुरुषादेर्वा सावयवां मूर्तिमवयवशो दृष्ट्वा तां समग्रां मूर्ति बुद्धौ धारयति, तां च पुनः पट आलेखनकालेऽवयवश आलिखति, तामालिखितां चान्यो द्रष्टावयवशः निरीक्ष्य समग्रां बुद्धौ धारयति ॥ ५२ ॥

जैसे किसी वस्तु या मनुष्य का चित्र या मूर्ति बनाने के लिए पहले उस वस्तु या मनुष्य की आकृति बुद्धि में बैठाई जाती है और फिर उसे कागज या कपड़े पर उतारा जाता है, वैसे ही शब्द में भी ये तीन स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं।

'उच्चरित शब्द एक चित्र की तरह होता है' ऐसा कह सकते हैं। चित्र-निर्माण में तीन बातें मुख्य होती हैं---किसी वस्तु का दर्शन, उसे बुद्धि में धारण करना और फिर उसे कागज या कपड़े पर उतारना। सामन्य द्रष्टा किसी वस्तु को अवयवशः नहीं देखता, परन्तु चित्रकार या मूर्तिकार चित्र्य विषय के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर गहन दृष्टिक्षेप अवश्य करता है। इस प्रकार अवयवशः देखी गई वस्तु को एक सम्पूर्ण-समग्र रूप में वह अपनी बुद्धि में धारण कर लेता है और कागज या कपड़े पर उसका आरेखन-चित्रण फिर अवयवशः करता है। इस प्रकार चित्र-निर्माण-प्रक्रिया में चित्र्य वस्तु की तीन स्थितियाँ सामने आती हैं---दर्शन, धारण और आलेखन।

शब्दावबोध की प्रक्रिया में भी तीन स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं---श्रवण, धारण और उच्चारण। शब्द-श्रवण की प्रक्रिया सावयव और क्रमिक होती है। श्रोता शब्द को पद और ध्वनियों में क्रमशः ग्रहण करता है तथापि बुद्धिगम्य होते-होते वह एकाकार अखण्ड और अक्रम होकर एकबुद्धिविषय बन जाता है। ठीक वैसे ही जैसे चित्रकार की बुद्धि में एक सम्पूर्ण मूर्ति रहती है। इस एकबुद्धि-विषय शब्द का उच्चारण ध्वनिक्रम से अवयवशः होता है, जैसे चित्र का आरेखन अवयवशः होता है। इस प्रकार---

चित्र की तीन स्थितियाँ---दर्शन, धारण और आलेखन।

शब्द की तीन स्थितियाँ---श्रवण, अवधारण और उच्चारण।

यहाँ समझने की बात यह है कि--शब्द की श्रवणीय स्थिति 'ग्राह्य' होती है जब कि उच्चार्यमाण स्थिति ग्राहक होती है। शब्द जब सुना जाता है तो श्रोता द्वारा श्रुत होकर ग्राह्य होता है और जब बोला जाता है तो अर्थ का ग्रहण कराता है। इस प्रकार शब्द में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों गुण होते हैं ॥ ५२ ॥

शब्द एव वक्तृश्रोत्रोः प्राग्व्यवसायः—

यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेष प्रवर्तते ।
व्यवसायो ग्रहीतृणामेवं तेष्वेव जायते ॥ ५३ ॥

यथा प्रयोक्तुः शब्दोच्चारणाय प्रवृत्तस्य पुरुषस्य बुद्धिः, शब्देषु, किमपि बुबोधयिषया कः शब्दः इममर्थं बोधयिष्यतीति कृत्वा समुचितशब्दान्वेषणे, एव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति, तथैव ग्रहीतृणां श्रोतृणां अपि, व्यवसायः इन्द्रिय-मनोयोगादिरूपः प्रतिपत्तिक्रमः, तेष्वेव शब्देष्वेव, जायते ।

प्रागिति । यदुक्तं प्राक् "वितर्कितः पुरा बुद्ध्वा" (वा० प० १।४७) इति तया रीत्या प्रयोक्तुः बुद्धिः प्राक् शब्देष्वेव प्रवर्तते, ग्रहीतृणामपि बोध-व्यवसायोऽर्थापेक्षया पूर्वंशब्देषु एव भवति । अर्थावबोधक्रमोऽपि स एव यः खलु शब्दाभिव्यञ्जनक्रम इत्यर्थः । अर्थंबोधेच्छया वक्ता बुद्धिस्थान् शब्दान् सतर्कं समीक्ष्योच्चरति । एवमेव श्रोतापि अर्थबोधेच्छया श्रुतेषु शब्देष्वेव व्यवसितो भवति । गृहीतेषु च शब्दस्वरूपेषु तद्विशेष्यभूतमर्थं प्रतिपद्यते ।

शब्देष्वेवेति । यद्यपि शब्दः निखिलार्थंबोधनसमर्थस्तथापि वक्ता विवक्षया कमपि विशिष्टमर्थं विवक्षुः निखिलार्थंबोधकमपि तं विशिष्टार्थे निवेशयति, एवं तत्र तत्र विशिष्टार्थे निवेशनव्यापार उच्चारणव्यापारश्च शब्देष्वेव भवति वक्तुः । एवं श्रोतापि च शब्दाधीनमर्थमभिमन्यमानः शब्दे-ष्वेव व्यवसायवान् भवति ॥ ५३ ॥

जैसे वक्ता की बुद्धि अर्थबोधन के लिए पहले उचित शब्दों की खोज करने में लग जाती है, श्रोता की बुद्धि भी उसी प्रकार अर्थ जानने से पहले सुने हुए शब्दों की जांच-परख करने में लगती है ।

पूर्व-पूर्व कथनों से स्पष्ट हो गया है कि—शब्द के उच्चारण से पहले वक्ता शब्द के साथ ही अपना बुद्धि-योग करता है । किसी अभीष्ट अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध और फिर उसके उच्चारण की प्रेरणा बुद्धि करती है । अतः श्रोता भी अर्थ ज्ञान से पूर्व शब्दों के साथ ही अपना बुद्धियोग करता है । शब्द को यथावत् बुद्धिगम्य कर लेने के बाद ही श्रोता उससे अभीष्ट अर्थ का बोध करता है या अभीष्ट अर्थ का सम्बन्ध उससे करता है ।

शब्द ही श्रोता और वक्ता के बीच अर्थ-प्रतिपत्ति का तारतम्य जोड़ते हैं । अतः दोनों पहले-पहल शब्द पर ही अपना-अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं ॥५३॥

शब्दस्यात्मरूपमर्थोपसर्जनीभूतम्—

अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित् ।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते ॥ ५४ ॥

लोकः सामान्यः श्रोता, केषुचिद् अभिधेयेषु वाच्येषु, चरितार्थान् चरितः गतः अर्थः प्रयोजनं येषां तान्, अर्थोपसर्जनीभूतान् अर्थस्य विशेषणीभूतान् परार्थत्वात् अन्यप्रयोजनत्वात्, न प्रतिपद्यते क्रियान्वये नोपादत्ते ।

अर्थोपसर्जनीभूतानिति । अर्थोपादानाय हि शब्दाः प्रयुज्यन्ते, अतस्ते अर्थस्य विशेषणभूता भवन्ति "घटमानय" इत्यादौ 'घट'-शब्दस्य नानायन-क्रियया सहाभिसम्बन्धः, अपितु घटरूपार्थस्यैव । यथा "नीलं घटमानय" इत्यादौ नीलेति विशेषणस्य नानयनक्रियाभिसम्बन्धः, तस्य घटवर्णपरि-च्छेदेन चरितार्थत्वात् । तथैव 'घटमानय' इत्यादौ 'घट' इति शब्दस्य 'घट एव न पट' इत्यन्यार्थव्यवच्छेदेन चरितार्थत्वाद्विशेषणत्वापत्तेर्नानयनक्रियाभि-सम्बन्धः ।

लोको ह्यर्थोपादाने शेषभूतं शब्दं क्रियान्वयित्वेन नोपादत्त इत्यर्थः ।

केषुचिदभिधेयेष्विति । शब्दे खलु स्वं रूपं, अर्थरूपं च भासत इति पूर्वमुक्तम् (५० कारिकायाम्) तत्र शब्दस्य स्वं रूपं केषुचिदेवाभिधेयेषु क्रियान्वयित्वेनोपादीयते न तु सर्वत्र । 'गौरयम्' इत्यादौ 'योऽयं गौः' शब्दः, 'सोऽयं मांसपिण्डः' इत्यभेदेन व्यपदेशे 'गौः' इति शब्दः स्वरूपपरतया प्रतीयते । यथा वा, पित्रा निर्दिष्टः पुत्रः—"वद पुत्र ! गौः, अश्वः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मणः" इत्येवमादि । पुत्रस्तु गौरित्यादीन् स्वरूपत एव वदति, नत्वर्थत आनयनादिभिर्योजयति, तथासम्भवादसन्निधानाद्वा । व्याकरणेऽपि 'गोपयसोर्यत्' (पा० अ० ४।३।१६०) इत्यादौ गोशब्द-स्वरूपात् पयःशब्दस्वरूपाद्वा यद्विधीयते न तु तत्तादर्थस्वरूपात् ।

एवम्भूतेषु केषुचिदभिधेयस्थलेषु शब्दस्य स्वं रूपं प्राधान्येन चरितार्थतां प्राप्नोति । चरितार्थं च तत्, अन्यत्र लोकप्रयोगस्थलेष्वर्थस्योपसर्जनीभूतं सल्लोकेन न प्रतिपद्यते ॥ ५४ ॥

लोक में अर्थ का विशेषण होने के कारण शब्द अपने ध्वन्यात्मक रूप में श्रोताओं के द्वारा विशेष्य के रूप में नहीं लिया जाता । शब्द अपने ध्वन्यात्मक रूप में कुछ विशेष और सीमित स्थितियों में ही विशेष्य के रूप में ग्रहण होता है । उसका वह ध्वन्यात्मक रूप उन विशेष स्थितियों में चरितार्थ हो जाता है, साथ

ही साधारण स्थितियों में वह परार्थ रहता है, अर्थात् अर्थज्ञान कराना उसका उद्देश्य रहता है, इसलिए श्रोता अपने व्यवहार के लिए शब्द को नहीं, अपितु उसके अर्थ को ग्रहण करता है।

श्रोता और वक्ता यद्यपि शब्दों के साथ ही पहले अपना बुद्धियोग करता है, तथापि वह वाक्यगत शब्दों को उद्देश्य या विशेष्य के रूप में ग्रहण नहीं करता। इसका कारण यह है कि शब्द अर्थ के प्रति वैसे ही उपसर्जनीभूत होते हैं, जैसे विशेषण विशेष्य के प्रति उपसर्जनीभूत होते हैं। श्रोता या वक्ता विशेषणों का सम्बन्ध क्रिया के साथ नहीं जोड़ता। जैसे "नीलं घटमानय" इस आदेश को सुनकर लाने वाला व्यक्ति थोड़ा नीला रङ्ग और घड़ा नहीं लाता, बल्कि ऐसा घड़ा लाता है, जो नीला हो। इसका कारण यह है कि नील विशेषण घड़े की विशेषता बताकर अपना कार्य कर चुका होता है। अपना कार्य करके वह चरितार्थ हो गया, अब क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता नहीं रही।

अर्थ के प्रति विशेषण होने के कारण शब्द की भी यही स्थिति है। अर्थबोधन के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, इसलिए वह परार्थ है। परार्थ सम्पादन के बाद वह निःशेष-सा हो जाता है। व्यावहारिक क्रियाकलाप में उसका उपयोग नहीं होता। 'घड़ा लाओ' इस आदेश पर अर्थाकार मृद्घट लाया जाता है, वर्णात्मक घट शब्द नहीं।

कुछ स्थितियाँ एसी अवश्य हैं, जहाँ शब्द अपने वर्णात्मक स्वरूप में प्रधानता पा जाता है। जैसे, पिता पुत्र को कहे—बोलो, 'गाय' !, पुत्र कहेगा——'गाय' !, यहाँ 'गाय' शब्द स्वरूपतः 'बोलना' क्रिया के साथ अन्वित होता है, अर्थतः नहीं। यहाँ शब्द का स्वरूप (आत्मरूप) ही प्रधान है। ऐसे स्थलों में ही शब्द के आत्म-स्वरूप की चारितार्थता होती है। यहाँ चरितार्थ होने के कारण भी अन्य स्थलों में शब्द स्वरूपतः ग्रहण नहीं होता ॥ ५४ ॥

शब्दस्य ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती—

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते ॥ ५५ ॥

यथा तेजसः प्रकाशस्य, ग्राह्यत्वं नेत्रेन्द्रियेण ग्रहणीयत्वं, ग्राहकत्वं रूपस्य प्रकाशकत्वं च, द्वे शक्ती योग्यते स्तः, प्रकाशः चक्षुषा स्वयं गृह्यते वस्त्वाकारं च ग्राहयति, इति तस्य द्वे योग्यते, तथैव सर्वशब्दानां सर्वेषां शब्दानां, एते ग्राह्यत्व-ग्राहकत्व-नामिके, द्वे शक्ती पृथक् भिन्ने, अवस्थिते तिष्ठतः। शब्दः (श्रोत्रा) स्वरूपेण गृह्यते, स्वविशिष्टमर्थं च ग्राहयति।

ग्राह्यत्वमिति। रूप-रस-गन्ध-स्पर्शेषु इन्द्रियग्राह्यता व्यवस्थिता स्वभावसिद्धा। रूपादेर्घटस्य ग्रहणकाले चक्षुरिन्द्रियस्य घटरूपसहचरितस्य न स्वल्पोऽप्यवभासः। इन्द्रियाणि च विषयग्रहणनिमित्तानि विषयग्राहकाणि ग्राह्यत्वेन नैव प्रत्यवभासन्ते। एवं ग्राह्यत्वेन रूपादयो विषयाः, ग्राहकत्वेन चेन्द्रियाणीत्युभयं व्यवस्थितम्। परन्तु तेजसि प्रदीपादौ ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं चेत्युभयमेकत्र व्यवस्थितमित्यनुभवसिद्धम्। तेजोरूपं हि दीपवर्त्यादौ स्वयं तेजोरूपेण गृह्यते इति तस्य ग्राह्यत्वं स्पष्टम्। अथ ग्राह्यमपि तत्तेजो घटादीन् रूपवतो विषयान् प्रकाश्य ग्राहयतीति तस्य ग्राहकत्वमपि सुस्पष्टम्। तेजसः ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं द्वे शक्ती।

सर्वशब्दानामिति। शब्दाः रूपादिविषयवत् गृह्यन्तेऽतो ग्राह्याः, इन्द्रियवत् ग्राहयन्त्यर्थमिति ग्राहकाः। तदत्र शब्दे द्वे शक्ती--अर्थान्तरविरोधिनी, शब्दान्तरविरोधिनी च। उच्चरितो हि शब्दः श्रोतृबुद्धिस्थं शब्दान्तरमर्थान्तरं च विरुन्धन् "मद्विशिष्टानुपूर्व्येव त्वया श्रोतव्या" इति "मद्विशिष्टार्थ एव प्रतिपत्तव्यः" इति च शब्दान्तरमर्थान्तरं च व्यवच्छिनत्ति। एते च श्रवणीयताबोधकतारूपे च शक्ती तेजस इव ग्राह्यग्राहकतारूपेण सर्वेषां शब्दानां नित्ये आत्मभूते च पृथक्-पृथक् स्पष्टतया दृश्येते॥ ५५॥

जिस प्रकार प्रकाश स्वयं देखा जाता है और अन्य वस्तुओं को भी दिखाता है, उसी प्रकार शब्द भी स्वयं सुना जाता है और अर्थ का भी बोध कराता है। प्रकाश और शब्द दोनों में ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व नामक दो शक्तियाँ पायी जाती हैं।

साधारणतया रूप, रस आदि विषयों में ग्राह्यता ही होती है। ग्राहकता इन्द्रियों में होती है। इस प्रकार ग्राह्यता और ग्राहकता एक साथ नहीं दिखाई देती। इसी बात को लेकर यह प्रश्न उठ सकता है कि शब्द श्रोता के द्वारा स्वयं ग्रहण किया जाता है तो वह अर्थ का ग्रहण कराने वाला कैसे हो सकता है? इसका निराकरण प्रकाश के उदाहरण से होता है। प्रकाश एक ऐसा पदार्थ है जो स्वयं गृहीत होकर अन्य प्रकाशस्थ वस्तुओं को प्रकाशित करता है। अतः जो स्वयं ग्राह्य है, वह ग्राहक नहीं हो सकता, यह कोई निश्चित तथ्य नहीं है। प्रकाश इसका स्पष्ट उदाहरण है। यदि शब्द में भी ये दोनों शक्तियाँ पायी जाती हैं तो आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिये।

वास्तव में शब्द जब उच्चरित होता है और श्रोता द्वारा सुना जाता है तो वह दो काम करता है--एक यह कि "सुने गये शब्द के अतिरिक्त कोई अन्य शब्द नहीं है" ऐसा निश्चय करता है। दूसरा यह कि "इस शब्द से

वही अर्थ लिया जाना चाहिये जो इसका है।" यह निश्चय भी कराता है। "घटः" सुनने से "न पटः, न मठ" ऐसा ज्ञान होता ही है। साथ ही "घटः" से घड़ा प्रतीत होता है, "घोड़ा नहीं, हाथी नहीं," ऐसा भी प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि उच्चरित शब्द अपने से भिन्न शब्द और अर्थ दोनों का विरोधी है। जहाँ यह रहता है वहाँ न दूसरे शब्द को रहने देता, न दूसरे अर्थ को, अपने से भिन्न शब्द का विरोध करने वाली शक्ति शब्द की ग्राह्यता शक्ति है और अपने अर्थ से भिन्न अर्थ का विरोध करने वाली शक्ति शब्द की ग्राहकता शक्ति है, ये दोनों शक्तियाँ स्वाभाविक हैं और सभी शब्दों में पाई जाती हैं ॥ ५५ ॥

अगृहीताः शब्दा अर्थं न प्रकाशयन्ति—

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते ।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः ॥ ५६ ॥

विषयत्वं श्रोत्रेन्द्रियविषयभूतत्वं, अनापन्नैः अप्राप्तैः, शब्दैः अर्थः न प्रकाश्यते बोध्यते। ते शब्दाः अगृहीताः अश्रुताः, सत्तया एव शब्दा सन्तीति सत्तामात्रेण, प्रकाशकाः बोधकाः न भवन्ति।

विषयत्वमनापन्नैरिति। शब्दा ग्राह्यत्वेनेन्द्रियविषयत्वमापद्यन्ते, ततस्तेऽर्थं प्रकाशयन्ति ग्राहकत्वेन। तत्रार्थप्रकाशनप्रक्रियायां शब्दानां ग्राह्यं स्वरूपमर्थस्य विशेषणीभूतं शेषभावं प्राप्नोति, ग्राहकं स्वरूपं चार्थं ग्राहयति, शब्दस्येदमेव ग्राहकं स्वरूपं "उपादानशब्दः" अर्थजातं स्वरूपेऽध्यारोप्य बोद्धुः प्रतीतिं जनयति। एवं स्थिते यदि ग्राह्यं शब्दस्वरूपमेव प्राधान्येव वर्तेत तदा तत्सत्तामात्रेणापि अर्थप्रकाशकं भवेत्। एवं तु न भवति, तेनार्थप्रकाशने तस्य गौणत्वमेव ॥ ५६ ॥

श्रवणेन्द्रिय से सम्बन्ध के विना शब्दों से अर्थ का ज्ञान नहीं होता। (पढ़ते समय चक्षुरिन्द्रिय के सम्बन्ध के विना) इन्द्रिय-सम्पर्क के अभाव में केवल "शब्द हैं" इस सत्तामात्र से वे अर्थबोधक नहीं होते। अर्थज्ञान के लिए शब्दों का कान से (या आँख से) सम्पर्क होना आवश्यक है।

शब्द में श्रवणीयता और बोधकता, ये दो शक्तियाँ स्वीकार की जा चुकी हैं। यदि मात्र श्रवणीयता ही प्रधानरूप से शब्द की शक्ति होती तो वे अपनी सत्ता से अर्थ-प्रकाशन में समर्थ होते। श्रवणीयता वास्तव में शब्द की अप्रधान शक्ति है। बोधकता के प्रति एक सहकारिणी शक्ति के रूप में कार्य करती है। इसीलिए केवल श्रुत या अगृहीत शब्दों से अर्थबोध नहीं होता। साथ ही यह भी निश्चित है

कि अश्रुत शब्दों से भी बोध नहीं होता। बोधकता शक्ति तभी कार्य कर पाती है, जब शब्द श्रुत हों। अर्थात् श्रवणीयता शक्ति भी कार्यशील हो। इस प्रकार शब्द की ये दोनों शक्तियाँ अङ्गाङ्गिभाव से अर्थावबोध की प्रक्रिया को सम्पन्न कराती हैं ॥ ५६ ॥

इन्द्रियाणि ग्राहकाणि न तु ग्राह्याणि--

अतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते ।
नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा ॥५७॥

यतः शब्दाः अगृहीताः अर्थस्य प्रकाशकाः न भवन्ति, अतः अनिर्ज्ञात-रूपत्वात्, अनिर्ज्ञातं रूपं येषां तेषां तथात्वात् हेतोः, शब्दस्वरूपज्ञाना-भावात् कारणादित्यर्थः, "किमाह", "किं भवान् आह ?" इति अभिधीयते पृच्छ्यते, अभिमुखैः श्रोतृभिः ।

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां, प्रकाश्ये ज्ञातव्ये, अर्थे विषये, स्वरूपं इन्द्रियस्य स्वकं रूपं, तथा न गृह्यते, यथा शब्दस्य गृह्यते ।

अनिर्ज्ञातरूपत्वादिति। अगृहीताः शब्दाः सत्तामात्रेणार्थस्य प्रकाशका न भवन्तीति पूर्वमुक्तम् । तत्रेदं लौकिकमुदाहरणम्--यदि केनचिद्वक्त्रा किमप्युच्यते, श्रोत्रा च तत्सम्यङ् न गृह्यते, तदा स पृच्छति--किमाह भवान् ?" इति । तदत्र प्रश्ने को हेतुः ? शब्दस्वरूपस्यानिर्ज्ञानमेव । शब्दस्य स्वरूपतो निर्ज्ञानमर्थबोध आवश्यकमिति फलितोऽर्थः । वक्त्रोच्चारिते शब्दे श्रोत्रा चागृहीते, इत्यन्तरालावस्थायां बैखरीरूपाः शब्दाः सत्तामात्रेण सन्त्येवेति सत्तामात्रेण तेऽर्थप्रकाशका यदि स्युस्तदा 'किमाहे'ति प्रश्नो नैव स्यात् ।

शब्दस्य ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे पृथक् शक्ती । ग्राह्यत्वेन गृहीतः शब्दो ग्राहकत्वेनार्थं ग्राहयतीति व्यवस्थितम् ।

नेन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाण्यपि विषय-(अभीप्सितार्थ)-ग्राहकाणीति यथा ग्राहके शब्दे ग्राह्यत्वं तथा ग्राहक इन्द्रिय अपि ग्राह्यत्वं भवितुमर्ह-तीति शङ्कायां समाधीयते–नेन्द्रियाणामिति । इन्द्रियाणि हि प्रकाश्येऽर्थे विषये तदाकारेण प्रतिविलीनान्येव विषयं ग्राहयन्ति । नहि कदाचित्केनापि रूप-दर्शने गन्धाघ्राणे वा नेत्रनासिके यथायथमनुभूते, विषयग्रहणे नेन्द्रियाणां ग्राह्यत्वमित्यनुभवसिद्धम् । शब्दस्य ग्राह्यत्वं त्वस्त्येवेत्यत्र "किम् भवा-

नाह"१ इति प्रश्नस्योपस्थितिरेव प्रमाणम् । अतः यथार्थग्रहणे शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यत्वेन गृह्यते न तथा विषयग्रहणे इन्द्रियाणि ग्राह्यत्वेन गृह्यन्त इत्यनुभवसिद्धं व्यवस्थितम् ।। ५७ ।।

जब कोई श्रोता किसी शब्द को नहीं सुन पाता तो वह वक्ता को पूछता है– "क्या कहा आपने ?" इसका कारण यही है कि शब्द का स्वरूप ग्रहण किये बिना केवल शब्द की सत्ता से अर्थ-प्रतीति नहीं होती, अपितु शब्द के श्रवणेन्द्रिय से भली-भाँति सम्पर्क में आने से ही होती है ।

इस कथन से यह बात भी सामने आती है कि श्रवणेन्द्रिय ही शब्द को ग्रहण कराता है । श्रवणेन्द्रिय शब्द का ग्राहक है । अब यह प्रश्न उठ सकता है कि जैसे शब्द स्वरूपतः ग्राह्य है, साथ ही अर्थ-ग्राहक भी है, उसी तरह श्रवणेन्द्रिय शब्द-ग्राहक होते हुए स्वरूपतः ग्राह्य क्यों नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियाँ केवल ज्ञेय विषय को ज्ञानाधिकरण तक पहुँचाने के साधन मात्र हैं और वे ज्ञेय विषय के साथ विलीन (एकाकार) होकर ही यह कार्य करती हैं । वे ज्ञेय विषय की ग्राहक हो सकती हैं, किन्तु ज्ञानाधिकरण के प्रति ग्राह्य नहीं हो सकतीं । ग्राह्य केवल विषय होता है, यह बात अनुभवसिद्ध है । सूंघने की क्रिया में कभी किसी को गन्ध के साथ नाक की प्रतीति भी हुई हो, ऐसा कहीं देखने-सुनने में नहीं आया । स्नान के लिए जल साध्य है । नल जल खींचने के लिए साधन बन सकता है, स्नान के लिए साध्य नहीं । हाँ, जल नल से खींचते समय साध्य और स्नान का साधन दोनों ही हो सकता है । नल तो केवल साधन बन सकता है, साध्य नहीं ।

इन्द्रियाँ शब्द की तरह ग्राह्य नहीं हो सकतीं । इस दृष्टि से शब्द के साथ उनकी तुलना करना उचित नहीं ।। ५७ ।।

ग्राह्य-ग्राहकरूपौ शब्दधर्मौ परस्परमविरुद्धौ—

भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ ।
भेदकार्येषु हेतुत्वमविरोधेन गच्छतः ।। ५८ ।।

द्वौ अपोद्धृतौ भेदेन अवगृहीतौ च शब्दधर्मौ भेदकार्येषु अविरोधेन हेतुत्वं गच्छतः ।

द्वौ पूर्वोक्तौ ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वरूपौ, अपोद्धृतौ पृथक्कृतौ, भेदेनावगृहीतौ अयं भिन्नः अयं च भिन्नः इति स्वीकृतौ, शब्दधर्मौ शब्दस्य धर्मौ,

---

१. अतश्च शब्दपूर्वकोऽर्थसम्प्रत्ययः—यो हि नाम्ना आहूयते, नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति—"न किं भावनाहेति ।" (महाभा०)

भेदकार्येषु कार्यभेदात्मकस्थितिषु, अविरोधेन विरोधं विना, हेतुत्वं गच्छतः। भेदवत्कार्यस्यापि हेतू भवत इत्यर्थः।

शब्दधर्माविति। धर्मो धारणारूपः स्वभावः। स चात्र शब्दे धर्मिणि द्विविधः—ग्राह्यत्वरूपो ग्राहकत्वरूपश्चेति पूर्वमुक्तम्—"तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते 'धर्मौ'" इत्युक्त्या शब्दे ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च स्वाभाविकमिति सूच्यते। तौ चैकस्मिन्धर्मिणि संसृष्टौ भेदकार्येषु विषये पृथक्-परिकल्पनयापोद्धृत्य "ग्राह्यरूपः शब्दो भिन्नः, ग्राहकरूपश्च शब्दो भिन्नः" इति भेदेनोपादत्तौ ग्राह्यविषयककार्ये ग्राह्यः, ग्राहकविषयककार्ये ग्राहकः, इत्यविरोधेन हेतू भवतः।

एकस्मिन्नेव शब्दे रूपद्वयकल्पनं तु व्यपदेशिवद्भावेन 'राहोः शिरः' इतिवत्, "आम्राणां वनम्," "सुवर्णस्याङ्गुलीयकम्" इत्यादिवच्च। शास्त्रेष्वपि "एकपदा ऋक्" "एकर्चं सूक्तम्" इत्यादौ व्यपदेशेन भेदग्रहणं भवत्येव। एवं व्याकरणेऽपि "अग्नेर्ढक्" (पा० अ० ४।२।३३) इत्यत्रैकस्मिन्नेवाग्निशब्दे संज्ञासंज्ञिभावो व्यपदिश्यते।

भेदकार्येष्विति। संज्ञासंज्ञिरूपेषु भेदकार्येषु 'गौरयम्' इत्यादिस्थलेषु पुरोवर्तिपिण्डाभिन्नो गौः, इति संज्ञ्यभिन्नत्वेन गोशब्दव्यपदेशः। "गौरित्यस्य संज्ञा" इत्यादौ तु पिण्डाद्भिन्न एव गौरिति भिन्नताप्रतीत्या तस्य संज्ञात्वेन व्यपदेशः। एवं चैक एव गोशब्दस्तत्र तत्र षष्ठ्याः प्रथमायाश्च प्रकल्पकत्वाय न विरुणद्धि ॥ ५८ ॥

शब्द के ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व ये दोनों धर्म पृथक्-पृथक् मानकर व्यवहार में अलग-अलग कार्यों में कारण बन जाते हैं। एक शब्द को भिन्न-भिन्न रूपों में लेते हुए उक्त दोनों शब्दधर्मों को भिन्न मानकर भिन्नता वाले कार्यों में उपयोग करने में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।

शब्द के दो धर्म पहले ही बताये जा चुके हैं—ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व। साधारणतया लोक में शब्द द्वारा ग्राहित अर्थ के प्रति ही श्रोता की प्रवृत्ति होती है, परन्तु शब्दशास्त्र (व्याकरण) में शब्द से ग्राहित अर्थ में कार्य-प्रवृत्ति करने से बड़ी गड़बड़ होती है। उदाहरणार्थ "अग्नेर्ढक् (पा० अ० ४।२।३३) को लें। अग्नि का अर्थ ज्वलित अङ्गार है। अग्नि के अन्य पर्य्याय पावक, दहन आदि भी अग्नि के अर्थ हैं। अङ्गारों से ढक् प्रत्यय करना असम्भव है। पर्य्यायों से ढक् करने पर अनिष्टापत्ति होती है। इस गड़बड़ को दूर करने के लिए पाणिनि ने व्यवस्था दी है—"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (पा० अ० १।१।६८): अर्थात्

शब्द का अपना स्वरूप ही संज्ञी या बोध्य (या ग्राह्य) होता है, उसका अर्थ या पर्य्याय नहीं, अतः 'अग्नि' शब्द से ही 'ढक्' होता है।

सामान्यतया होता यह है कि किसी वस्तु का कोई नाम होता है। नाम (बोधक) और वस्तु (बोध्य) दोनों अलग-अलग होते हैं। किन्तु पाणिनि की उक्त व्यवस्था के अनुसार "अग्नेर्ढक्" सूत्र का 'अग्नि' शब्द बोधक (संज्ञा) भी है और बोध्य (संज्ञी) भी, यह कैसे ?

इस प्रश्न के उत्तर में पाणिनि की उक्त व्यवस्था तो है ही, किन्तु वस्तुतः शब्द के पूर्वोक्त ग्राह्य और ग्राहकत्व धर्म इस प्रश्न का ठीक उत्तर देते हैं। बोध्यता और बोधकता शब्द में स्वाभाविक रूप में होती हैं। आवश्यकतानुसार एक ही शब्द में इन दोनों का काल्पनिक भेद (अपोद्धार) मानकर एकबार उसी को संज्ञा और फिर उसी को संज्ञी मान लिया जाता है। 'स्वं रूपं' यह सूत्र वास्तव में इसी तथ्य को दुहराता है। इसीलिए भाष्यकार ने इसका प्रत्याख्यान भी किया है।

इस प्रकार काल्पनिक भेद मान लेने से संज्ञा-संज्ञि-प्रयुक्त कार्यों में विरोध उत्पन्न नहीं होता ॥ ५८ ॥

संज्ञा-संज्ञि-स्वरूपनिरूपणम्—

वृद्ध्यादयो यथा शब्दाः स्वरूपोपनिबन्धनाः।
आदैच्-प्रत्यायितैः शब्दैः सम्बन्धं यान्ति संज्ञिभिः ॥५९॥

यथा वृद्ध्यादयः वृद्धि-गुण-घि-टि-घ्वादयः पाणिनिशास्त्रगताः संज्ञा-शब्दाः, स्वरूपोपनिबन्धनाः स्वस्य रूपस्य ज्ञापकाः सन्तोऽपि, आदैच्-प्रत्यायितैः, "आत्" "ऐच्" इत्यादिभिर्बोधितैः संज्ञिभिः, यस्य संज्ञा सः संज्ञी, तैः शब्दैः 'आ ऐ औ' एभिः सह सम्बन्धं यान्ति, तैः सम्बन्धा भवन्तीत्यर्थः। तथैवायमग्निशब्द इत्यग्रेऽन्वयः।

वृद्ध्यादय इति। वृद्धि-गुण-घि-टि-घ्वादयः पाणिनिशास्त्रगताः संज्ञाः "वृद्धिरादैच्" (पा० अ० १।१।१) इत्यादिसूत्रैर्विहिताः। तत्र "वृद्धिः" इति शब्दः "वृद्धिरादैच्" इति सूत्रे "वृद्धि" इति स्वरूपपरः, स्वरूपबोधकतया चार्थवान्। वृद्धिः संज्ञा, आत्, ऐच्च संज्ञिनः। एवं स्थिते 'कृष्ण + एकत्वम्' इत्यादौ "वृद्धिरेचि" (पा०अ० ६।१।८८) इति प्राप्ते "एच्" इति न स्थानी, न च "वृद्धिः" इत्यादेशः। अपि तु "आदिरन्त्येन सहेता" (पा० अ० १।१।७१) इति संज्ञासूत्रेण प्रत्यायित-'एकत्व'-मित्यत्र 'ए'-कारः (कृष्णपदस्यान्तेऽकारश्च, 'एकः पूर्वपरयोरि'त्यधिकारात्) स्थानी,

'वृद्धिरादैच्' इति प्रत्यायितः 'ऐ'कारश्चादेशः। एवं यथा 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्र-गतः संज्ञारूपः वृद्धिशब्दः 'स्वरूपपरत्वेन' 'वृद्धिरेचि' इति सूत्रगतेन वृद्धिशब्देन सह सम्बन्धमनुभवति, यथा च संज्ञिन आदैचः प्रत्यायकत्वेन लक्ष्यगत-'ए'कारादिना सम्बन्धमनुभवन्ति, अग्निशब्दोऽपि तथैवेत्यग्रेतन-कारिकायां दार्ष्टान्तिकत्वेन वक्ष्यते।

अत्र "वृद्धि"रिति दृष्टान्ते शब्दस्य चतस्रः स्थितयो दृश्यन्ते। तद्यथा-'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रे 'वृद्धि'शब्दः संज्ञा, बोधको ग्राहको वा, आदैचः संज्ञिनः, बोध्याः ग्राह्या वेति स्थितिद्वयम्। ततो "वृद्धिरेचि" इति सूत्रे 'वृद्धि'शब्दः "वृद्धिरादैच्" सूत्रस्थवृद्धिशब्दसमरूपः, तेन बोध्यो ग्राह्यो वा, "कृष्णैकत्वम्" इत्यत्रादेशभूत'ऐच्'विधास्यमानस्यैकारस्य प्रत्यायको बोधको ग्राहको वेति स्थितिद्वयम्। एवं चतस्रः स्थितयः। वृद्धिशब्दो ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं भजते, 'ऐच्'शब्दश्च ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च भजते।

वृद्धयादिशब्दशास्त्रीयसंज्ञासु स्वरूपशास्त्रे 'अशब्दसंज्ञा' इति पर्य्युदासेन वृद्धयादयः शब्दाः स्वसमानरूपस्य संज्ञा न भवन्ति। अन्यत्र तु "ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं चे"त्युक्तदिशा स्वरूपशास्त्रेण वोच्चरितः शब्दः स्वसमानरूप-स्यैव बोधको भवति ॥ ५९ ॥

'वृद्धिरादैच्' आदि व्याकरण के संज्ञासूत्रों में वृद्धि आदि शब्द अपने स्वरूप के बोधक होते हैं। 'घि' 'टि' 'घु' आदि सज्ञाएँ सर्वथा अप्रसिद्ध केवल शास्त्रीय होने के कारण स्वरूप की बोधक न होने की स्थिति में, अर्थवती न होने के कारण "अचोऽन्त्यादि टि" (पा० अ० १।१।६४) आदि में प्रथमा विभक्ति नहीं हो सकती। अतः प्रथमतः स्वरूप का बोधक मानना आवश्यक है। प्रथमतः स्वरूप का बोधक होने के बाद ये वृद्धि आदि संज्ञाएँ अपने संज्ञी आदैच् आदि द्वारा बोधित लक्ष्यगत 'आ ऐ औ' आदि के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करती हैं।

सामान्यतया संज्ञाएँ या शब्द अपने संज्ञेय, बोध्य अर्थ का बोध कराती हैं जो कि शब्द से भिन्न कोई घट-पटादि पदार्थ होता है। परन्तु यहाँ शास्त्र-प्रवृत्ति में उस भिन्न पादार्थ का उपयोग करना सम्भव नहीं होता, अतः उच्चरित शब्द स्वसमान-रूप एक अन्य शब्द का बोध कराता है। इस प्रकरण में इन्हें ग्राहक और ग्राह्य के रूप में लिया जा रहा है। व्याकरणशास्त्र की 'वृद्धि' आदि संज्ञाओं के लिए थोड़ी भिन्न व्यवस्था अपनाई गई है, जिसके द्वारा संज्ञाशब्द स्वसमानरूप एक अन्य शब्द का बोधक न होकर विशेषरूप से परिभाषित शब्दों या वर्णों का बोधक होता है। जैसे "वृद्धि" शब्द आत् और ऐच् (आ ऐ औ) का बोध कराने के लिए परिभा-

षित किया गया है। तथापि वृद्धि शब्द भी प्रथमतः स्वसमानरूप शब्द का बोधक होता ही है, परिभाषित होने के बाद 'आ ऐ औ' से भी सम्बन्ध स्थापित करता है।

इस प्रकार "वृद्धिरादैच्" (पा० अ० १।१।१) इस सूत्र में पठित वृद्धि शब्द स्वसमानरूप एक अन्य वृद्धि शब्द का बोधक है, जो कि "वृद्धिरेचि" (पा० अ० ६।१।८८) में पाया जाता है। फिर वृद्धि शब्द से संज्ञापित "आदैच" लक्ष्यगत "कृष्णैकत्वम्" में आदेशभूत ऐकार से सम्बन्ध स्थापित करता है ॥ ५९ ॥

अग्निशब्दस्तथैवायमग्निशब्दनिबन्धनः ।
अग्निश्रुत्यैति सम्बन्धमग्निशब्दाभिधेयया ॥६०॥

तथैव अग्निशब्दनिबन्धनोऽयमग्निशब्दः, अग्निशब्दाभिधेयया अग्निश्रुत्या (सह) सम्बन्धमेति, इत्यन्वयः।

बुद्धिस्थोऽग्निशब्दः निबन्धनं प्रवृत्तिनिमित्तं यस्य स मुखोच्चारितोऽग्नि-शब्दः, अग्निशब्दाभिधेयया, अग्निरित्यानुपूर्वी अभिधेया वाच्या यस्याः तया अग्निश्रुत्या वाचकेनाग्निशब्देन सह सम्बन्धमेति। श्रुतिः शब्दः।

तथैवेति। तथैवेति दार्ष्टान्तिकत्वेनाग्निशब्दे स्थितिचतुष्टयमुदाह्रियते, "अग्नेर्ढक्" (पा० अ० ४।२।३३) इति सूत्रे पठितोऽग्निशब्द एकः, तस्य प्रवृत्तिनिमित्तं बुद्धिस्थोऽग्निशब्दो द्वितीयः। (अथवा सूत्रगताग्निशब्द एव ग्राह्यग्राहकभेदेन द्विविधः, तत्र ग्राह्यो ग्राहकस्य निबन्धनम्।) 'अग्नेरिदम्' ततः अग्निर्देवता अस्य इति लक्ष्यगतोऽग्निशब्दस्तृतीयः, तस्यापि वाच्य-त्वेनाभितः कश्चिदन्योऽग्निशब्दश्चतुर्थः, इत्येकस्यापि शब्दस्य स्थितिचतु-ष्टयं भवति। यथा वृद्ध्यादिसंज्ञाशब्देषु स्थितिचतुष्टयम्, तथैव अग्न्यादि-शब्देष्वपि। अग्न्यादिशब्देषु चतसृष्वपि स्थितिषु स्वरूपसाम्यम्, वृद्ध्यादौ तु न तथेतीयान् विशेषः।

शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञा, स्वमेव रूपं च संज्ञीति स्वरूपशास्त्रेण प्रतिपाद्यः प्रतिपादकश्च शब्दः समानरूपः। सूत्रगतो लक्ष्यगतश्च समानरूप एव। एवं सूत्रगतो लक्ष्यगतश्च द्वौ प्रतिपादकौ, तौ एव स्वसमानरूपेण प्रतिपाद्यौ कार्यभाजौ ॥ ६० ॥

जिस प्रकार 'वृद्धि' आदि शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं में चार स्थितियाँ पाई जाती हैं, अग्नि आदि शब्दों में भी उसी प्रकार की चार स्थितियाँ पाई जाती हैं। 'अग्नेर्ढक्' सूत्र में पठित 'अग्नि' शब्द स्वरूपतः ग्राह्य है, उसी का समानरूप एक

अन्य अग्निशब्द लक्ष्यगत अग्निशब्द का ग्राहक है। फिर यह लक्ष्यगत अग्निशब्द किसी अन्य अग्निशब्द का अभिधायक है ।। ६० ।।

उच्चारितः शब्दः कार्यं न भजते—

यो य उच्चार्यते शब्दः नियतं न स कार्यभाक् ।
अन्य प्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते ॥ ६१ ॥

यः यः वृद्धिः अग्निर्वा शब्दः उच्चार्यते सः, कार्यभाक् शास्त्रप्रक्रिया-विषयभूतः, नियतं अवश्यं, न भवति (किन्तु) अन्यप्रत्यायने स्वभिन्नस्य लक्ष्यगतस्य प्रत्यायने बोधने, तस्य शक्तिः सामर्थ्यं, न प्रतिबध्यते, लक्षगतं बोधयित्येवेत्यर्थः ।

यो य इति । यः कश्चिदपि शब्दः केनापि वक्त्रोच्चार्यते, सः शब्दः स्वेनात्मना क्रियान्वयित्वं न भजते, इति नितरां सामान्यो लौकिको नियमः । यदर्थबोधनेच्छया शब्दः प्रयुज्यते, तस्मिन्बोध्येऽर्थे एव तत्प्रयुक्तानि कार्य्याणि भवन्ति । यथा "गामानय" इत्यादौ प्रयुक्तो गोशब्दः स्वबोध्येऽर्थे पिण्डे आनयनक्रियामासजति, तथैव शास्त्रीयो 'वृद्धि'शब्दोऽग्निशब्दो वा स्वेनात्मना कार्यभाङ् न भवति, अपि तु वृद्धिशब्द आदैचः, अग्निशब्दश्च स्वसमानरूपमन्यमग्निशब्दं शास्त्रीयकार्ये विनियुङ्क्तेः ।

अन्य प्रत्यायन इति । उच्चारितः शब्दः कार्यभाङ् न भवति, इति नियतम् । नास्ति तस्य कार्यभाक्त्वे शक्तिः, परन्तु—अन्यप्रत्यायने तस्य शक्तौ न कोऽपि प्रतिबन्धः. शब्दस्यार्थप्रत्यायनशक्तिः प्रसिद्धाः, परन्तु शास्त्रीयकार्येषु यदि स्वरूपशास्त्रेण सा शक्तिः प्रतिबद्धा, तदा स्वसमानरूपशब्दान्तरप्रत्यायनशक्तिस्तु न प्रतिबद्धा । ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वरूपे ये द्वे शक्ती शब्दस्य स्वभावनियते, तत्समर्थनपरं स्वरूपशास्त्रं स्वसमानरूप-शब्दान्तरप्रत्यायनशक्ति न प्रतिबध्नाति । अत एव प्रत्युच्चारणं शब्दस्य ग्राह्यं ग्राहकं च समानानुपूर्वीकं रूपं प्रतिभासते ॥ ६१ ॥

यह तो निश्चित है कि जो-जो शब्द उच्चरित होता है, वह शास्त्रीय या लौकिक कार्य-व्यवहार में प्रयुक्त नहीं होता, परन्तु उसकी अपने से भिन्न शब्द या अर्थ का बोध कराने की शक्ति प्रतिबन्धित नहीं होती ।

शब्द का उच्चारण स्वयं उस शब्द से भिन्न किसी अर्थ या शब्द का बोध कराने के लिए ही किया जाता है। उच्चरित शब्द जिसका बोध कराता है, उससे

कार्य-प्रवृत्ति होती है, स्वयं उच्चरित शब्द से नहीं। कार्य-प्रवृत्ति के योग्य न होते हुए भी उच्चरित शब्द अपने बोध्य की प्रतीति तो कराता ही है ॥ ६१ ॥

शब्दोऽर्थपरतन्त्रः, अतो न कार्यभाक्--

उच्चरन् परतन्त्रत्वात् गुणः कार्यैर्न युज्यते ।
तस्मात्तदर्थे कार्याणां सम्बन्धः परिकल्पते ॥ ६२ ॥

उच्चरन् मुखादुत्पद्यमानः शब्दः, परतन्त्रत्वात् अर्थबोधनपरत्वात्, गुणः विशेषणम्, बोध्यमानार्थस्य विशेषणीभूतः, कार्यैः शास्त्रप्रक्रियां न युज्यते (लौकिक्यामपि न प्रयुज्यते), शास्त्रप्रयुक्तप्रत्ययागमादिकार्यैः युक्तो न भवति। तस्मात् कारणात्, तदर्थे उच्चरितशब्दस्य बोध्येऽर्थे, कार्याणां प्रत्ययागमादिकार्याणां, सम्बन्धः योगः, परिकल्पते क्रियते, तद्बोधितार्थे प्रत्ययादिविधयो भवन्तीत्यर्थः ।

गुण इति। गुणो विशेषणम्, सः कार्यैर्न युज्यते। "शुक्लो गौश्चरति" इत्यादौ शुक्लो विशेषणं गोः, स च सञ्चरणक्रियया न युज्यते। "दाशरथिर्वनं जगाम" इत्यादावपि दशरथो गमनक्रियया न युज्यते, उभयत्रापि हेतुः पारतन्त्र्यम्। विशेषणस्य विशेष्यविशेषणे परतन्त्रत्वान्न कार्यैर्योगः सर्वत्र ।

उच्चरन्निति। यथा विशेषणस्य स्वविशेष्ये पारतन्त्र्यम्, तथैवोच्चरितस्य शब्दस्य स्वबोध्येऽर्थे पारतन्त्र्यम्, परार्थं उच्चरितत्वात्। शब्दो हि स्वस्मात्परस्यार्थस्य प्रत्यायनार्थमुच्चार्यते, अतोऽर्थपरतन्त्रो विशेषणीभूतः कार्यैर्न युज्यते। लोके आनयनादिक्रियया, शास्त्रे ढगादिप्रत्ययविधानैर्न-युज्यत इत्यर्थः ।

तस्मादिति। यस्मादुच्चरितः शब्दः कार्यैर्न युज्यते, तस्माद्धेतोस्तस्य शब्दस्यार्थे बोध्ये वाच्ये वा कार्याणां योगः क्रियते, लोके गमनानयनादिक्रियारूपाणां कार्याणां, शास्त्रे तु प्रत्ययागमादेशादीनामित्यर्थः। लोके घटपटादिपदार्था वस्तुरूपा घट-पटादिशब्दानामर्थाः, शास्त्रे तु शब्दा एव शब्दानामर्थाः, ते चोच्चरितशब्दस्वरूपसमानरूपा अग्न्यादयः स्वरूपशास्त्रसंज्ञापिताः, आदैचादयो वा वृद्ध्यादिसंज्ञाशास्त्रैः परिभाषिताः ।

एवमुच्चरितः शब्दोऽर्थपरतन्त्रः शब्दान्तरपरतन्त्रश्च। पारार्थ्यं तूभयत्र तुल्यम्। शब्दश्रुतिस्तु--अर्थतन्त्रा चक्षुरादिग्राह्येऽर्थे शब्दान्तरतन्त्रा श्रोत्रग्राह्ये शब्दान्तरे स्वसमानरूपे क्रियासाधनत्वं लभते ॥ ६२ ॥

किसी अन्य का बोध कराने के लिए उच्चरित होने वाला विशेषण और विशेषणीभूत शब्द कार्य-व्यापार के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकते, इसलिए उनके बोध्य अर्थों के साथ कार्य-व्यापार का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

गुण अर्थात् विशेषण परतन्त्र होता है। विशेषण का कार्य है–विशेष्य के विषय में कुछ कहना। वाक्य में उसका प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है। इसलिए उसका क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए–"सफ़ेद गाय घास खाती है।" इस वाक्य में खाने का सम्बन्ध केवल गाय से है, न कि सफ़ेद से। हाँ, गाय के विषय में 'सफ़ेद' ने कुछ बताया अवश्य है–"गाय (जो घास खाती है) सफ़ेद है।" वाक्य में 'सफ़ेद' का प्रयोग ही इसलिए हुआ है कि गाय के बारे में कुछ बता दें। गाय का रंग बता देने पर उसका काम समाप्त है, इसलिए क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध न.ीं।

इस बात पर थोड़ा और गहराई से ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि शब्द सभी विशेषण हैं। अभी ऊपर के वाक्य में जिस गाय शब्द को विशेष्य माना गया है, वह भी विशेषण है–'गाय मांसपिण्ड' का। "गाय घास खाती है।" इस वाक्य को सुनकर श्रोता कभी यह नहीं समझेगा कि गाय शब्द (ग् आ य् अ) घास खाता है, अपितु यही समझेगा कि गाय शब्द का वाच्य अर्थ सींग-पूंछ-गलकम्बल-वाला सचेतन मांसपिण्ड घास खाता है। इसका कारण यह है कि शब्द (वाचक) विशेषण होता है और अर्थ (वाच्य) विशेष्य। सचेतन गाय का बोध कराने के लिए ही 'गाय' शब्द का उच्चारण किया जाता है। सचेतन गाय का बोध करा देने के बाद 'गाय' शब्द का काम समाप्त हो जाता है। खाना आदि क्रिया (गला-विलाधःसंयोगरूप अर्थ) के साथ सचेतन गाय का ही सम्बन्ध होता है, न कि 'गाय' शब्द का।

इसी दृष्टि से शास्त्र (सूत्र) गत "अग्नेर्ढक्" आदि में 'अग्नि' आदि शब्दों को भी देखा जाय तो ज्ञात होगा कि वे शब्द भी किसी और का बोध कराने के लिए हैं। अतः जिनका बोध कराने के लिए वे कहे गये है, उन्हीं से शास्त्र-निर्दिष्ट कार्यों का सम्बन्ध होगा, शास्त्र-पठित शब्द से नहीं। 'अग्नेर्ढक्' सूत्र को ही लीजिए। सूत्र में निर्दिष्ट कार्य है–'ढक्' का विधान। यह 'ढक्' सूत्र में उच्चरित 'अग्नि' शब्द से नहीं होगा, अपितु सूत्रगत अग्नि शब्द का जो वाच्य (विशेष्य) होगा, उसी से होगा।

लौकिक "गाय घास खाती है" आदि वाक्यों में वाचक शब्द का विशेष्य उसका वाच्य अर्थ होता है। किन्तु व्याकरण-शास्त्र में सूत्र-पठित शब्द "स्वं रूपं

शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (पा० अ० १।१।६८) इस सूत्र के अनुसार स्वरूप का ही वाचक अर्थात् विशेषण होता है। अतः लक्ष्यगत (अग्निर्देवता अस्य इत्यादि में) स्वरूप (स्वसमानरूप) का बोध कराता है।

यही कारण है कि लोक और शास्त्र में उच्चरित शब्द कार्यभाक् नहीं होते ।।६२।।

प्रत्युपमं धर्मो व्यतिरिच्यते--

सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमेयोपमानयोः ।
तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते ॥ ६३ ॥

उपमेयोपमानयोः उपमेयस्य उपमानस्य, यत् यत् सामान्यं साधारण-धर्मः, आश्रितं आश्रियते स्वीकार्यते, उपमानेषु तस्य तस्य सामान्यस्य, अन्यः धर्मः उपमेयोपमानयोः सामान्येनाश्रितात् धर्मात् भिन्नः कश्चिदन्यः धर्मः, व्यतिरिच्यते व्यतिरेकण प्रतीयते ।

सामान्यमिति । "चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्" इत्युपमायां "उपमेयम्" "उपमानम्" "साधारणधर्म"श्चेति त्रितयं प्रसिद्धम् । उपमेये उपमाने च यद्यत्सामान्यमुभयनिष्ठं तत्साधारणधर्मः । यथा--"चन्द्र इव सुन्दरं मुखम्" इत्यत्र सुन्दरतोभयनिष्ठा साधारणधर्मः । यद्यप्यत्र वाक्ये उपमेयस्य मुखस्य सुन्दरतोपमानेन चन्द्रेण तुल्या बोधयितव्या, तथाप्युपमाने चन्द्रे मुखसुन्दर-तापेक्षया कापि व्यतिरिक्ता सुन्दरता प्रतीयते । अथापि च यद्वि "चन्द्र-सौन्दर्यमिवाकर्षकं मुखसौन्दर्यम्" इति सौन्दर्यमप्युपमीयते तदाकर्षकत्वं नाम कश्चिदन्यो धर्मो व्यतिरिच्यते, चन्द्रसौन्दर्ये च किमप्यधिकमाकर्षणं प्रतीयते, एवं यथा यथा साधारणधर्म उपमेयत्वेनाश्रियते तथा तथा तस्मिन् तस्योपमाने च पूर्वसाधारणधर्मापेक्षया कश्चिदन्य एव साधारणधर्मो व्यति-रेकेण प्रतीयते। उपमाने तु सर्वत्रोपमेयापेक्षया सौन्दर्यादिधर्मातिरेकः प्रतीयते।

शब्देऽपि समुच्चार्यमाणे स्वरूपाद् भिन्नस्य यस्यार्थस्य शब्दान्तरस्य वा यः सम्प्रत्ययो भवति, तस्यापि तथासम्प्रतीतस्योच्चारणे क्रियमाणे तस्मा-दपि व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्प्रतीतिर्भवति । यथा प्रत्युपमं व्यतिरिक्तस्य धर्मस्य प्रतीतिस्तथैव ।

एवं न व्यतिरेकव्यवच्छेदः ।। ६३ ।।

उपमा अलङ्कार में उपमेय और उपमान में जो-जो सामान्य धर्म देखा जाता है, तुलना करने के लिए दोनों में जो-जो सामान्य गुणधर्म ग्रहण किया जाता है,

उपमानों में उस-उस धर्म से कुछ अतिरिक्त धर्म प्रतीत होता है। अथवा वही सामान्य धर्म जब उपमान के रूप में ग्रहण किया जाता है तो, उस सामान्य धर्म का भी एक अतिरिक्त सामान्य धर्म प्रतीत होता है।

उपमेय और उपमान में एक सामान्य धर्म होता है, जो दोनों में एक-सा होता है। इसी के आधार पर दोनों में तुलना की जाती है। जैसे—"चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख।" सुन्दरता चन्द्रमा और मुख दोनों में सामान्य धर्म है। इस वाक्य को सुनकर मुख की सुन्दरता की प्रतीति तो होती है, किन्तु चन्द्रमा की मुख की सुन्दरता से अतिरिक्त सुन्दरता की प्रतीति भी होती है। सुन्दरता यद्यपि उपमेय (मुख) और उपमान (चन्द्रमा) दोनों का सामान्य धर्म माना गया है, तथापि उपमान (चन्द्रमा) में कुछ अतिरिक्त सुन्दरता फिर भी प्रतीत होती रहती है। कहना चाहिये कि–समान होते हुए भी "कुछ अतिरिक्त"[1] भासित होता ही है।

एक बात और भी है। यदि "चन्द्र के समान सुन्दर मुख" इस वाक्य के स्थान पर "चन्द्रसौन्दर्य के समान आह्लादक मुखसौन्दर्य है।" यह वाक्य कहा जाय तो, पहले वाक्य में आये हुए समान्य धर्म सौन्दर्य में एक अन्य सामान्य धर्म 'आह्लादकता' भासित होने लगता है। और फिर यदि "चन्द्रसौन्दर्य की आह्लादकता के समान मुखसौन्दर्य की आह्लादकता मोहक है।" इस प्रकार कहा जाय तो आह्लादकता का एक अन्य सामान्य धर्म 'मोहकता' प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार हर बार एक अतिरिक्त सामान्य धर्म की प्रतीति होती जायेगी।

शब्द के विषय में भी ऐसा ही होता है। उच्चरित शब्द स्वसमानरूप शब्दान्तर की प्रतीति कराता है। यदि इस प्रतीत शब्दान्तर का उच्चारण किया जाय तो एक और शब्दान्तर की प्रतीति होगी।॥ ६३ ॥

गुणोऽपि स्वतन्त्रो गुणान्तेरण प्रकृष्यते—

गुणः प्रकर्षहेतुर्यः स्वतन्त्र्येणोपदिश्यते।
तस्याश्रितादुगुणादेव प्रकृष्टत्वं प्रतीयते ॥ ६४ ॥

यः गुणः (पूर्वमुक्तः) प्रकर्षहेतुः कस्यापि प्रधानस्य द्रव्यस्य प्रकर्षः उत्तमता तस्य हेतुः कारणं, विशेषताबोधनाय प्रयुक्तः, सः यदा स्वातन्त्र्येण

(१) ऐसा प्रतीत होता है कि उपमालङ्कार की इसी कमी को देखकर रसिकों ने 'अनन्वय' को जन्म दिया, जिससे उपमान की यह अतिरिक्त विशेषता प्रतीत न हो। इसमें भी कुछ कमी दिखाई दी तो 'रूपक' की रचना हुई। और इससे भी जब सन्तोष न हुआ तो 'व्यतिरेक' की सृष्टि करनी पड़ी।

प्राधान्येन न तु परतन्त्रतया, उपदिश्यते कथ्यते, तदा तस्य प्रकृष्टत्वं विशेष्यत्वं प्राधान्यं वा आश्रिताद् तं स्वातन्त्र्येणोपदिश्यमानं गुणं आश्रितात्, कस्माच्चिदन्याद् गुणादेव विशेषणेनैव, प्रतीयते। यः गुणः कस्यचित्प्रकर्षं बोधयति तस्यापि प्रकर्षं कश्चिदन्यः बोधयतीति न व्यतिरेकव्यवच्छेदः।

गुण इति। गुणो द्रव्यं प्रकर्षयति, स्वयं द्रव्ये न प्रकृष्टत्वापकृष्टत्वे। द्रव्यं चात्र 'इदम्' 'तत्' 'घटः' इति प्राधान्येन व्यपदिश्यमानम्, न तु क्रियावत्-गुणवदित्यादि। द्रव्ये पृथिव्यादौ यदपि प्रकृष्टत्वमप्रकृष्टत्वं वा प्रतीयते तत्तदाश्रितगुणैरेव। "गन्धवती पृथ्वी" इत्यादौ पृथ्व्याश्रितेन गन्धेन गुणभूतेन पृथ्वी द्रव्यान्तरात्प्रकृष्यते, व्यवच्छिद्यते वेति वैशेषिकतन्त्रे। शब्दतन्त्रे तु-इदन्तदिति प्राधान्येन व्यपदिश्यमानं द्रव्यं विशेष्यभूतं विशेषणभूतै र्गुणैः प्रकृष्यते व्यवच्छिद्यते वा।

प्रकर्षहेतुरिति। गुणो द्रव्यं प्रकर्षयतीति तस्य प्रकर्षहेतुत्वम्। प्रकर्षत्वं चात्र प्रकर्षापकर्ष उपलक्षणीभूतं व्यवच्छेदकमात्रविषयम्। तथा चोक्तम्--

संसर्गिभेदकं यद्यत् सव्यापारं प्रतीयते।
गुणत्वं परतन्त्रत्वात् तस्य शास्त्र उदाहृतम् ॥ ५ ॥
सर्वं च सर्वतोऽवश्यं नियमेन प्रकृष्यते।
संसर्गिणा निमित्तेन निकृष्टेनाधिकेन वा ॥ ६ ॥
(वा० प० ३।५।१६)

एवं च गुणो नाम संसर्गिभेदकः प्रकर्षे सव्यापारः परतन्त्रः द्रव्यस्य प्रकर्षकोऽपकर्षको वा। यथा "शुक्लो गौः" "मलिनं वस्त्रम्" इत्यादौ प्रकर्षकेण शुक्लेनापकर्षकेण मलिनेन तत्तद्द्रव्यसंसर्गिणा प्रकर्षे चापकर्षे व्यापृतेन परतन्त्रेण द्रव्यं गौर्वस्त्रं वा भिद्यते।

स्वातन्त्र्येणोपदिश्यत इति। यदा च परतन्त्रो गुणः विवक्षावशात्, स्वातन्त्र्येण प्राधान्येन व्यपदिश्यते तदा सः द्रव्यत्वं प्रतिपद्यते। "रूपवती कन्या" इत्यादौ गुणीभूतं रूपं "रूपमस्याः कन्यायाः" इत्यादौ प्राधान्येन व्यपदिष्टं रूपं गुणान्तरमाकाङ्क्षते-शोभनमिति। तत्रापि तुलनीये अतिशायने च "शोभनतरम्", "शोभनतमम्" इत्येवं रूपा प्रकर्ष-परम्परा तत्तदाश्रितगुणात् प्रकर्षहेतोर्भेदहेतोश्च प्रतीयमाना जायते। अत एवोक्तम्-तस्याश्रिताद्गुणादेवेति।

एवं शब्देऽपि प्रत्युच्चारणं शब्दान्तरपरम्परा प्रतीयते ॥ ६४ ॥

गुण जो द्रव्य के प्रकर्ष के प्रति निमित्त होता है, जब उसका प्रयोग प्रधानता के साथ द्रव्य के रूप में किया जाता है तो उसमें आश्रित गुण के कारण एक अन्य प्रकर्ष की प्रतीति होने लगती है।

गुण अर्थात् विशेषण विशेषता प्रकट करते हैं। जैसे "रूपवती कन्या।" रूप कन्यागत गुण है और कन्या का प्रकर्ष प्रकट कर रहा है, पर जब इसी "रूप" को गुण की अपेक्षा विशेष्य या प्रधान मानकर प्रयोग करते हैं, तो उसके साथ अन्य विशेषण भासित होने लगता है। "रूपमस्याः कन्यायाः" (इस कन्या का रूप) इस वाक्य के साथ ही "कीदृशम्" (कैसा) यह प्रश्न खड़ा हो जाता है और उत्तर में "शोभनम्" कहना पड़ता है।

रूप स्वयं एक गुण या विशेषण है, किन्तु स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होने पर उसके लिए एक अतिरिक्त विशेषण की अपेक्षा होती है। इसी प्रकार शब्द स्वय अपने बोध्य के प्रति विशेषण होता है, परन्तु जब उस बोध्य शब्दान्तर का भी उच्चारण किया जाता है तो वह भी विशेषण बन जाता है, उस अतिरिक्त बोध्य के प्रति जो इस उच्चरित शब्द से बोधित होता है। ६४॥

अभिधेयोऽप्युच्चरितः शब्दान्तरमभिधत्ते--

तस्याभिधेयभावेन यः शब्दः समवस्थितः।
तस्याप्युच्चारणे रूपमन्यत्तस्माद्विविच्यते॥ ६५॥

तस्य पर्वोक्तस्य शब्दस्य, अभिधेयभावेन बोध्यतया, यः कश्चिदन्यः शब्दः, समवस्थितः अस्ति, स यदि प्रयुक्तः स्यात्तदा तस्यापि उच्चारणे कृते तस्मादपि अन्यत्, रूपं किञ्चिच्छब्दरूपं, विविच्यते पुनः व्यतिरेकेण प्रतीयते।

अभिधेयभावेनेति। "यो य उच्चार्यते शब्दः" (वा. प. १।६१) इति पूर्वमुक्तम्। तत्रोच्चार्यमाणस्य शब्दस्य कार्यभाक्त्वाभावेऽप्यन्यप्रत्यायन-शक्तावप्रतिबन्ध उक्तः, कार्यभाक्त्वाभावे हेतुरपि "उच्चरन् परतन्त्रत्वा-दिति" (वा. प. १।६२) कारिकया प्रदर्शितः। उपमेयोपमानयोः सामान्य-धर्मे (वा. प. १।६४) प्रकर्षहेतौ गुणे (वा. प. १।६४) च प्रतिप्रयोगं व्यतिरेकाव्यवच्छेदं दृष्टान्तत्वेन प्रदर्श्य प्रत्युच्चारणं शब्देऽपि शब्दान्तर-व्यतिरेकाव्यवच्छेद इति प्रकृतमुपसंह्रियते-तस्याभिधेयभावेनेति।

यः शब्द इति। शास्त्रे "अग्नेर्ढक्" (पा. अ. ४।२।३३) इत्यादौ अग्निशब्दस्याभिधेयभावेन यः लक्ष्यस्थ-अग्निशब्दः समवस्थितः, सोऽपि

प्रदर्शनार्थं विवक्षया वा यद्युच्चार्यंते तदा तस्योच्चारितस्याप्यभिधेयभावेन तस्मादन्यस्तत्समानस्वरूपश्च कश्चिच्छब्दो व्यतिरेकेण प्रत्येष्यति । शब्दस्य ग्राह्यग्राहकरूपशक्तिद्वयाभ्युपगमे लोकेऽपि घटादिशब्दोच्चारणे घटरूपोऽर्थो न शब्दात्मक इति घटशब्दस्य ग्राह्यं स्वरूपमभिधेयम् (घटरूपोऽर्थोऽपि ग्राह्यत्वेनैवाभिधेयः) तस्य च शब्दात्मकत्वात्पुनरुच्चारणे तस्य पुनरुच्चारितस्यापि ग्राह्यं स्वरूपं प्रतीयत एव । नैवं व्यतिरेकपरम्पराविच्छेदः ।।६५।।

किसी शब्द के बोध्य के रूप में जो कोई भी शब्द होगा, उसका उच्चारण करने पर उसका भी एक अन्य बोध्य शब्द प्रतीयमान होगा ।

उपमा के सामान्य धर्म और द्रव्य के प्रकर्षक गुणों में उत्तरोत्तर व्यतिरेक परम्परा देखने से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि शब्द में भी यही स्थिति है । कोई शब्द उच्चरित होने पर किसी अन्य का बोध कराता है । यदि उच्चरित शब्द का बोध्य स्वसमानरूप शब्दान्तर हो तो प्रत्येक उच्चारण के बाद स्वसमानरूप शब्दान्तरों की एक लम्बी परम्परा बनेगी ही ।। ६५ ।।

स्वरूपमात्रार्थात् प्रथमोत्पत्तिः—

प्राक् संज्ञिनाभिसम्बन्धात् संज्ञा रूपपदार्थिका ।
षष्ठ्याश्च प्रथमायाश्च निमित्तत्वाय कल्पते ।। ६६ ।।

संज्ञा नाम शास्त्रीया लौकिकी वा संज्ञिना यस्य सा संज्ञा तेन अभिसम्बन्धात् प्राक् पूर्वम् उच्चारणसमकालमेव, रूपपदार्थिका रूपं स्वरूपं स्ववर्णानुपूर्वी पदार्थः बोध्यः यस्या सा तादृशी स्वरूपमात्रबोधिका भवति । संज्ञिनाभिसम्बन्धोत्तरं तु तत्पदार्थस्यापि बोधिका भवतीति फलितोऽर्थः । तेन सा संज्ञा षष्ठ्याः विभक्त्याः, प्रथमायाश्च विभक्त्याः, निमित्तत्वाय हेतुत्वाय, कल्पते ।

प्रागिति । शब्दस्य ग्राहकं रूपमभिधेयत्वेन कमप्यर्थरूपं वस्तुविशेषं ग्राहयति । स च वस्तुविशेषः शब्दस्वरूपाद्बहिर्भूतः "गौरयम्" इत्याकारकशक्त्यवच्छेदं विना शब्दाभिसम्बन्धं न लभते । गौरित्यभिधानं विना च 'अयमि'ति सम्बन्धाभिनिवेशश्च न सम्भवति । शब्दस्यार्थसम्बधं विना च तस्यार्थवत्त्वाभावाद्विभक्तियोगोऽनापन्नो भवतीति विभक्त्यभावे पदत्वाभावात् "अपदं न प्रयुञ्जीत" इति न्यायेन तस्य प्रयोगासम्भवः । प्रयोगाभावेऽर्थसम्बन्धाभाव इति पुनस्तेनैव क्रमेण चक्रकापत्तिः । एवं स्थिते शब्दस्य "ग्राह्यं" रूपमप्युच्चार्यमाणस्य शब्दस्याभिधेयत्वेन स्वीकार्यं भवति । तच्च शब्दस्य स्वसमानरूपोऽभिधेयार्थः । अत एवाह—

संज्ञा रूपपदार्थिकेति । शब्दः संज्ञा, अर्थश्च संज्ञी । यस्य संज्ञा सः संज्ञीति । शब्दस्वरूपाद्बहिर्भूतेनार्थस्वरूपेण संज्ञिना सहाभिसम्बन्धात् प्राक् संज्ञाशब्दस्य स्वसमानरूपं ग्राह्यस्वरूपमेवार्थः, तदानीं यावत्तस्यैवाभिधेयत्वात् । तत्स्वरूपमेव स्वार्थमादाय संज्ञाशब्दोऽर्थवान् भवति । अर्थवत्त्वाच्च प्रातिपदिकत्वे प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तियोग उपपद्यत इति सर्वं निरवद्यं सिध्यति ।

षष्ठ्याश्चेति । स्वरूपपदार्थिका संज्ञा "गौरयमि"त्यादौ प्रथमाया विभक्त्या निमित्तत्वाय कल्पते, "गौरितीयमस्य पिण्डस्य संज्ञा" इति व्यपदेशेन षष्ठ्या विभक्त्या निमित्तत्वाय कल्पते । कथमिति वक्ष्यत एवाग्रे ॥ ६६ ।

संज्ञा-शब्द का संज्ञि-शब्द से सम्बन्ध होने से पहले संज्ञा-शब्द केवल अपने शब्दात्मक और वर्णक्रमात्मक रूप का ही बोधक होता है । अपना स्वरूप ही उसका अर्थ होता है । इसी स्वरूप की अर्थवत्ता को लेकर उसमें प्रथमा होती है और संज्ञी से सम्बन्ध प्रकट करने वाली षष्ठी विभक्ति भी इसी अर्थवत्ता को लेकर होती है ।

शब्द का ग्राह्य स्वरूप भी उसका अभिधेय होता है, यह बात पहले ही स्वीकार की जा चुकी है । ग्राहक शब्द द्वारा ग्राहित अभिधेय तो शब्द से भिन्न वस्तु के रूप में होता है । शब्द के साथ उसका सम्बन्ध "यह वही है ।" इस प्रकार की अभेद प्रत्यभिज्ञा द्वारा शब्दोच्चारण के बाद ही हो सकता है । अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध होने पर ही शब्द अर्थवान् कहलायेगा और अर्थवान् होने पर ही उसमें प्रथमा विभक्ति हो सकेगी । "अयं गौः" इस वाक्य में गो-प्राणी (संज्ञी) से गो-शब्द का सम्बन्ध बताया जा रहा है । इस वाक्य के प्रयोग के बाद ही गो-शब्द का सम्बन्ध गो-प्राणी अर्थ के साथ होगा । सम्बन्ध होने से पहले ही इसी वाक्य में "गौः" में प्रथमा विभक्ति अर्थवान् न होते हुए कैसे हो सकती है ?

इसका उत्तर यही है कि अर्थ के साथ सम्बन्ध जुड़ने से पूर्व गो-शब्द (कोई भी शब्द) केवल अपने स्वरूप का बोधक था । यही उसका अर्थ था । इसी अर्थवत्ता को लेकर उसमें प्रथमा विभक्ति हुई ।

यह सिद्धान्त सभी शब्दों से सम्बद्ध है । शब्द-शास्त्रीय संज्ञाओं में यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है ॥ ६६ ॥

व्यतिरेकाश्रयात् षष्ठ्युत्पत्तिः—

तत्रार्थवत्त्वात् प्रथमा संज्ञाशब्दाद् विधीयते ।
अस्येति व्यतिरेकश्च तदर्थादेव जायते ॥ ६७ ॥

तत्र एवं स्थिते सति, संज्ञाशब्दात् संज्ञावाचकात् शब्दात्, तस्य अर्थवत्वात् स्वरूपबोधकत्वरूपार्थस्य तत्र सत्वात्, प्रातिपदिकत्वेन प्रथमा विभक्तिः विधीयते प्रथमायाः विधानं क्रियते। तथा "इयमस्य संज्ञा" इति वाक्ये 'अस्य' इति व्यतिरेकः भेदप्रतीतिः, तदर्थात् स्वरूपमात्रार्थात्, एव जायते।

तत्रेति। शब्दस्य स्वस्वरूपे ग्राह्ये स्वस्वरूपेणार्थवत्त्वात् लोके शास्त्रे चोच्चारणसमकालमेव बाह्यार्थसम्बन्धाभिनिवेशाभावेऽपि प्रथमाविधानमुपपद्यते, ततश्च "गौरयम्" इति वृद्धेन बाल उपदिश्ययाने "सोऽयम्" इत्यभेदरूपः शब्दार्थयोः सम्बन्धाभिनिवेशः शक्त्यवच्छेदरूपः। शास्त्रे तु "वृद्धिरादैच्" इत्यादिसूत्रैरादैचादिभिः सहाभेदरूपः सम्बन्धाभिनिवेशः। अस्यामपि स्थितौ संज्ञाशब्दानामर्थवत्त्वात्प्रथमोपपत्तिः। यदा तु "गौरितीयमस्य (पुरोवर्तिनो मांसपिण्डस्य) संज्ञा" इति व्यपदिश्यते तदा संज्ञासंज्ञिनोरभेदाभ्युपगमे कथं भेदप्रतीतिरिति समादधन्नाह—

व्यतिरेकश्चेति। स्वरूपमात्रेणार्थेनार्थवत्त्वं संज्ञाशब्दस्येत्युक्तपूर्वम्। तावतैव च तस्य प्रातिपदिकत्वम्। ततश्च यदि संज्ञासंज्ञिनोः "सोऽयमिति" अभेदसम्बन्धाभ्युपगमो नाश्रियते तथाविवक्षया, तदा "शब्दाद्बहिर्भूतो व्यतिरिक्तः कश्चिदर्थरूपोऽस्य प्रयुक्तस्य संज्ञाशब्दस्य वाच्यः" इत्याकारिकाया भेदप्रतीतेस्तत्र सत्त्वात्प्रातिपदिकार्थव्यतिरेकः सुलभ एव। एवं स्वरूपमात्रेणार्थवता संज्ञाशब्देन सह वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः, नत्वभेदसम्बन्धः। तथा च वाच्यवाचकभावरूपा सम्बन्धषष्ठी तत्र प्रकल्प्यते ॥ ६७ ॥

संज्ञा शब्दों में स्वरूप मात्र अर्थ होने के कारण प्रथमा विभक्ति का विधान किया जाता है। "यह इसकी संज्ञा है" इस प्रकार की व्यतिरेकात्मिका भेद-बुद्धि भी उसी स्वरूप मात्र अर्थ को लेकर उत्पन्न होती है।

किसी भी संज्ञा (नाम) का व्यवहार हम दो प्रकार से करते हैं —"यह राम है", इसका तात्पर्य यह होता है कि यह व्यक्ति और राम एक ही है। परन्तु कभी-कभी हम इस तरह भी कहते हैं—"इसका नाम राम है।" इस कथन का तात्पर्य यह होता है कि—'राम' नाम या संज्ञा का इस व्यक्ति से सम्बन्ध है। इस प्रकार पहले वाक्य में जहाँ व्यक्ति और उसके नाम को एक ही माना गया है, वहाँ दूसरे वाक्य में व्यक्ति और उसके नाम को भिन्न-भिन्न मानते हुए उन दोनों का आपस में सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। शब्द-शास्त्रीय संज्ञाओं में भी यही स्थिति है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण करने पर उससे बोधित होने वाले उसी प्रकार के एक अन्य शब्द की प्रतीति होती है। शब्द-शास्त्र की संज्ञाओं के उच्चारण के साथ ही उसी प्रकार के एक शब्द की प्रतीति होती है। यह प्रतीत हुआ शब्द (उच्चरित शब्द का समानरूप शब्द) उच्चरित संज्ञा का अर्थ होता है। यदि यह समान रूप शब्द उच्चरित संज्ञा शब्द का अर्थ न माना जाय तो सूत्रों में पठित वृद्धि आदि शब्द निरर्थक होंगे (निरर्थक इसलिए होंगे कि शब्द-शास्त्र द्वारा उनका अर्थ निश्चित किया जा रहा है)। जैसे दाधाघ्वदाप् (पा. अ. १।१।२०) इस सूत्र के द्वारा दारूप और धारूप धातुओं की 'घु' संज्ञा की जा रही है। इस सूत्र की प्रवृत्ति से पहले घु का अर्थ दा या धा या कुछ अन्य अर्थ कभी नहीं था। "अदेङ्गुणः" में भी गुण का "गुणः" का वह अर्थ कभी नहीं था, जो अब बताया जायगा। अतः उच्चरित संज्ञा शब्द का अर्थ सूत्रों में उच्चरित होते समय संज्ञी से सम्बन्ध होने के पूर्व स्वसमानानुपूर्वी मात्र है, ऐसा मानना आवश्यक है।

संज्ञाओं की स्वसमानानुपूर्वी उसका ग्राह्य स्वरूप है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। यह उच्चरित संज्ञा शब्द का प्राथमिक अर्थ है और इसी अर्थ को लेकर वह प्रथमतः अर्थवान् कहलाता है। "वृद्धिः आदैच्" "अदेङ् गुणः" आदि में "वृद्धिः" "गुणः" यह प्रथमा विभक्ति इसी अर्थवत्ता के कारण होती है। "इयमस्य संज्ञा" जैसे वाक्यों में "अस्य" (इसकी) यह षष्ठी विभक्ति भी संज्ञा शब्द की इसी स्वसमानरूप अर्थवत्ता के कारण ही होती है। वाचक और वाच्य के रूप में शब्द और बाह्य अर्थ को अलग-अलग मानते हुये दोनों का वाच्यवाचकभाव-सम्बन्ध बताने वाली षष्ठी विभक्ति संज्ञी शब्द में होती है।

"यह राम है।" (अयं रामः) "इसका नाम राम है।" ("राम इत्यस्य संज्ञा") की तरह शास्त्रीय वृद्धि आदि संज्ञाएँ भी "अभेद" और "व्यतिरेक" के रूप में दिखाई देती हैं---"आदैचः वृद्धिः" और "आदैचां वृद्धिसंज्ञा भवति" ये दोनों प्रयोग होते हैं। पाणिनि ने भी ऐसे उभयविध प्रयोग किये हैं। यथा— "वृद्धिरादैच्" "अदेङ् गुणः" ये प्रथमान्त प्रयोग हैं। "उञः" (पा. अ. १।१।१७) "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययस्य" (पा. अ. १।१।६९) ये षष्ठ्यन्त प्रयोग हैं ॥६७॥

'स्वं रूपं'सूत्रे व्याख्याभेदः--

स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते।
जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ॥ ६८ ॥

संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते ॥ ६९ ॥

केश्चित् विचारकैः, शब्दस्य "स्वं रूपं" स्ववर्णानुपूर्वीघटिता व्यक्तिः, संज्ञा भवति इत्युपदिश्यते। ततः संसृष्टा तया संज्ञाशब्दव्यक्त्या सम्पृक्ता सामान्यत्वेनानुगता, जातिः शब्दत्वजातिः, जातेः कार्याणि यान्यपि कार्याणि व्यववहाराणि जातौ कर्तव्यानि भवन्ति तानि, (जातिः) प्रतिपद्यते प्रप्नोति ॥ ६८ ॥

अथ अन्ये विचारकाः, सूत्रग्राह्यां "अग्नेर्ढक्" इत्यादिसूत्रैर्बोध्यां, व्यक्तिम् अग्न्यादिशब्दव्यक्ति, संज्ञिनीं संज्ञाभाजं, न तु संज्ञाम्, इच्छन्ति। ततः सूत्रग्राह्याग्निव्यक्तिसंसृष्टा जातिः अग्नित्वजातिः, तया प्रत्यायिता बोधिता, व्यक्तिः अग्निशब्दव्यक्तिः, प्रदेशेषु लक्ष्यस्थलेषु, अग्निर्देवतास्येत्यादिस्थलेष, उपतिष्ठते ढगादिकार्यानुभवाय सन्निहिता भवति ॥ ६९ ॥

स्वं रूपमिति। "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (पा. अ. १।१।६८) इति सूत्रेण शब्दस्य सूत्रेषूच्चार्यमाणस्य स्वकीयमेव रूपं संज्ञित्वेन संविज्ञायते। साधारणतया व्यवहारेऽर्थस्यैव प्राधान्यात् शब्देन स्वस्माद्बहिर्भूतं किञ्चिदर्थस्वरूपमेव बोध्यते। तत्र शब्दः संज्ञापकत्वात्संज्ञा, संज्ञाप्यत्वादर्थश्च संज्ञीति व्यवस्था। शास्त्र एतद्व्यवस्थाश्रयणे तु "अग्नेर्ढक्" इत्यादिना 'अग्नि'शब्दाव्यवहितोत्तरं ढग्विधाने चिकीर्षिते सूत्रस्थाग्निशब्दस्यार्थभूतेभ्योऽङ्गारेभ्यो ढग्विधानासम्भवः, पर्यायेभ्यस्त्वनिष्टापत्तिः। एतद्वारणाय प्रवृत्तं सूत्रमिदं सूत्रस्थशब्दस्य संज्ञारूपस्य स्वकीयमेव रूपं संज्ञी, न तु बहिर्भूतः कश्चिदर्थः पर्यायो वेति व्यवस्थापयति। अथ च नेयं व्यवस्था काप्यपूर्वा। "ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं चे"ति (वा. प. १।५५) "भेदेनावगृहीतौ द्वावि"ति (वा. प. १।५८) कारिकोक्तदिशा ग्राह्यग्राहकरूपौ शब्दधर्मौ संज्ञासंज्ञिरूपभेदकार्येषु हेतुत्वं गच्छत इति स्वरूपशास्त्रमेतस्य मौलिकसिद्धान्तस्यानुवादमात्रम्।

तदेतस्य स्वरूपसूत्रस्य व्याख्यायां मतभेदः पूर्वाचार्याणाम्। तद्यथा—

"शब्दस्य स्वं रूपं ग्राहकं द्योतकं प्रत्यायकं वा भवति", इत्येकं मतम्।

"शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यं वा भवति", इति द्वितीयं मतम्। अत्र ग्राहकं द्योतकं प्रत्यायकं वा संज्ञा, ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यं वा संज्ञीति बोधव्यम।

पुनश्चापि जातिव्यक्तिपक्षाश्रयेण मतद्वयम । तद्यथा—

"जातिः संज्ञा, व्यक्तिः संज्ञी", इत्येकं मतम् ।
"व्यक्तिः संज्ञा, जातिः संज्ञी", इत्यपरं मतम् ।

कैश्चिदिति । यन्मते शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञा, ग्राहकं द्योतकं प्रत्यायकं वा तन्मते सा संज्ञा शब्दव्यक्तिरिति केषाञ्चिदभिमतम् । उपदेशकाले सूत्रेषु योऽग्न्यादिशब्दः पठ्यते स व्यक्तिपरकः संज्ञा-शब्द इत्यर्थः । सा च शब्द-व्यक्तिः स्वव्यापकजातिव्याप्या । अतस्तया व्यक्त्या संसृष्टा जातिः प्रयोग-स्थलवर्तितत्तच्छब्दव्याप्ता संज्ञिनी ग्राह्यत्वं द्योत्यत्वं प्रत्याय्यत्वं वानुभूय-माना जातिसम्बन्धीनि[1] सूत्रबोधितकार्याणि प्रतिपद्यते ।

अथापर इति । यन्मते शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं द्योत्यं प्रत्याय्यं वा तन्मते सूत्रे "अग्नेर्ढक्" इत्यादौ स्थितं शब्दं व्यक्तिपरकं मत्वा सा शब्द-व्यक्तिर्ग्राह्या संज्ञिनीत्यपरेषामभिमतम् । ततश्च सूत्रे व्याप्या व्यक्तिः स्वव्यापिकया जात्या संज्ञाभूतया ग्राहिकया प्रत्यायिता लक्ष्यगतप्रदेशेषु कार्यानुभवायोपतिष्ठते ।

अत्रायं विवेकः—लोके शब्दोऽर्थपरतन्त्रः स्वस्माद्बहिर्भूतमर्थं ग्राहयतीति, लोके शब्दो ग्राहकः संज्ञा च । अर्थश्च ग्राह्यः संज्ञी च । तत्र कः संज्ञा, कः संज्ञीति न मतभेदविषयः । शब्दगता जातिः संज्ञा व्यक्तिर्वा, अर्थगता जातिः संज्ञिनी व्यक्तिर्वेति विवादस्तत्र सम्भवति ।

शास्त्रे तु शब्दान्तरपरतन्त्रस्य शब्दस्य स्वकं रूपमेव संज्ञा संज्ञी चेति-कृत्वा स्वरूपसाम्यात् सूत्रस्थः शब्दः संज्ञा संज्ञी वा, लक्ष्यस्थः शब्दः संज्ञा संज्ञी वेत्यपि मतभेदविषयतां प्राप्नोति ।

उभयत्रापि—जात्या व्यक्तिः प्रतीयते, व्यक्त्या वा जातिः प्रतीयते, इति दृष्टिभेद एव विवादबीजम् । उपपत्तिस्तूभयथापि लभ्यते, तथा हि—व्यक्तिनां स्वरूपं भेदश्च निश्चितः । व्यवहारे व्यक्तिर्हि व्यक्त्यन्तरान्नि-रूप्यते भिद्यते च । न हि शब्दादव्यपदेश्यं व्यपदिश्यते, असंवेद्यमविद्यमानं

---

१. जातेः कार्याणि=जातिसम्बन्धीनि कार्याणि । कारिकायां "जातेः कार्याणि" इत्यत्र "व्यक्तौ कार्याणि" इति पाठभेदः । तत्र "व्यक्तौ संसृष्टा जातिः कार्याणि प्रतिपद्यते ।" इत्यन्वयः । अयं सुसंगतः पाठः । यथोक्तपाठे तु—"संसृष्टा जातिः जातेः कार्याणि" द्विरुक्तिरुचिरा भवति, कुत्र संसृष्टा जातिः ? इत्यनुक्त-मप्यवशिष्यते ।

वा प्रत्याय्यते। तेन शब्दस्य व्यक्तिरेव वाच्या। अन्ये तु-शब्दानां जातावेव शक्तिः जातिं विना व्यक्तीनां स्वरूपस्याव्यपदेश्यात्। जातौ लब्धस्वरूपाः शब्दा व्यक्तिं प्रत्याययन्ति। न केवलाः शब्दाः, सर्वत्रैव हि निमित्तान्निमित्तवत्यर्थे निमित्तस्वरूपः प्रत्यय उत्पद्यते, इति।

एवं स्थिते "स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" (पा. अ. १।१।६८) इति सूत्रे शब्दस्य यत् "स्वं रूपं" संज्ञेति प्रतिज्ञायते तज्जातिपरमेव। "शब्दस्य" इति शब्दशब्दो व्यक्तिपरकः। अन्येत्वेतत् विपर्ययेणाभ्युपगच्छन्ति। तेन प्रदेशस्था जातिर्व्यक्तिर्वा कार्ययोगिनीति विकल्पः समुत्पद्यते। फले तु न भेदः[1] ॥ ६८-६९ ॥

शब्द का अपना स्वरूप (स्ववर्णानुपूर्वी) व्यक्ति के रूप में संज्ञा होती है, ऐसा कुछ विचारकों का मत है। इस संज्ञा की संज्ञिनी (ग्राह्य या बोध्य) जाति होती है, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति का समावेश रहता है। जाति सम्बन्धी कार्य (लौकिक या शास्त्रीय) इसी व्यक्ति-संसृष्ट संज्ञिनी जाति से होते हैं ॥ ६८ ॥

कुछ अन्य विचारकों का मत है कि—सूत्रों में पठित शब्द-व्यक्ति संज्ञा न होकर संज्ञिनी होती है और जाति संज्ञा होती है। इस संज्ञा-रूप जाति से बोधित व्यक्ति लक्ष्यगत प्रदेशों में उपस्थित होकर अपेक्षित शास्त्रीय कार्यों का अनुभव करती है ॥ ६९ ॥

जैसे कि पहले कहा जा चुका है—"स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" यह सूत्र ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व इन दो शब्द-धर्मों पर आधारित सिद्धान्त का अनुवाद मात्र है, इसलिए न केवल शास्त्र में अपितु लोक में, भी उच्चरित शब्द से ग्राह्य अर्थ की प्रतीति भी होती है और ग्राहक स्वरूप की भी प्रतीति होती है। इस सन्दर्भ में ५५वीं कारिका से लेकर ६७वीं कारिका तक अनेक कोणों से विचार किया गया है। (इन कारिकाओं को पुनः देख लेना चाहिये।) लोक-व्यवहार में अर्थ शब्द से भिन्न वस्तुरूप में होता है, किन्तु शास्त्र में वह उच्चरित शब्द का समरूप शब्द ही होता है, इसलिए ग्राह्य-ग्राहक या संज्ञा-संज्ञी के उलट-फेर की सम्भावना बढ़

---

१. रूपशब्देन चेदिहाग्निशब्दत्वादिकं शुकसारिकापुरुषोदीरितभिन्नव्यक्तिसमवेतं सामान्यमभिधीयते, तत्र व्यक्तेः सामान्यं संज्ञा, सामान्यस्य वा व्यक्तिरिति व्याख्याने कामाचारः। व्यक्तिः कार्यं प्रतिपद्यमाना सामान्यप्रतिबद्धैव प्रतिपद्यते, सामान्यमपि कार्यं प्रतिपद्यमानं व्यक्तिद्वारेणैव प्रतिपद्यते, इति फले न कश्चिद्भेदः। (स्वंरूपं सूत्रे कैयटग्रन्थः)

जाती है। (वैसे शब्दाभिव्यक्ति और अर्थावबोध की प्रक्रिया को ध्यान से देखा जाय तो लौकिक अर्थ भी शब्द के रूप में ही प्रतीत होता है।) सूत्रगत शब्द संज्ञा है या लक्ष्यगत ? मतभेद की सम्भावना बनती है। इस मतभेद के साथ यदि जाति-व्यक्ति का विपर्यय भी सम्मिलित हो जाय तो स्थिति और अधिक विचारणीय हो जाती है।

इन्हीं कारणों से 'स्वरूप' सूत्र के विषय में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ लोग शब्द (सूत्रपठित अग्नि आदि) व्यक्ति को संज्ञा मानते हैं और उस शब्दव्यक्ति से सम्बद्ध जाति को संज्ञिनी। अपेक्षित कार्य इसी संज्ञिनी जाति से होते हैं। जैसे—"अग्नेढंक्" सूत्रपठित अग्नि-शब्द है। यह अग्नि-शब्द व्यक्ति है और संज्ञा (बोधक या ग्राहक) है। इस अग्नि शब्द का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उच्चरित अनेक शब्द-व्यक्तियों में संसृष्ट सामान्य जाति से है। वह अग्निशब्दत्व जाति इस संज्ञा (व्यक्ति) की संज्ञिनी (बोध्य, ग्राह्य या प्रत्याय्य) है। इस प्रकार सूत्र-पठित अग्निशब्द व्यक्ति से अग्निशब्दत्व जाति का ग्रहण होता है। यह अग्निशब्दत्व जाति लक्ष्यस्थ अग्निशब्द में है, अतः उससे "ढक्" कार्य सम्पन्न होता है।

दूसरे लोग सूत्रपठित शब्दव्यक्ति को संज्ञिनी (बोध्य, ग्राह्य या प्रत्याय्य) मानते हैं। और शब्दत्व को संज्ञा (बोधक, ग्राहक या प्रत्यायक) मानते हैं। अर्थात् सूत्रपठित शब्द को व्यक्तिपरक न मानकर जातिपरक मानते हैं और लक्ष्यगत अग्निशब्द व्यक्ति को इस जातिवाचक अग्निशब्द का बोध्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार भी "ढक्" कार्य हो जाता है।

परिणाम में समानता होते हुये भी इस मतभेद का कारण स्वरूप-सूत्र की व्याख्या का भिन्न-भिन्न होना है। यदि "स्वं रूपं शब्दस्य" के "शब्दस्य" में "शब्द" शब्द को शब्द-सामान्यपरक मानें और "स्वं" को व्यक्तिपरक, तो पहला मत उपपन्न होगा। "स्वं रूपं" इतना विधेय मानकर स्वरूप-सामान्य को संज्ञा माना जाय और "शब्दस्य" का अर्थ सूत्रपठित शब्दव्यक्ति माना जाय तो दूसरा मत उपपन्न होगा॥ ६८–६९॥

शब्दस्यैकत्वानेकत्वे –

कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिदेकत्ववादिनः।
कार्यत्वे नित्यतायां वा केचिन्नानात्ववादिनः॥ ७०॥

शब्दस्य कार्यत्वे अनित्यत्वे, नित्यतायां नित्यत्वे वा, शब्दो नित्योऽनित्य इत्युभयथापि केचिदाचार्याः, एकत्ववादिनः 'शब्दः एकः' इति वदन्ति, अन्ये

च केचित्, कार्यत्वे नित्यतायां वेत्युभयथापि नानात्ववादिनः शब्दोऽनेकः इति वदन्ति ।

कार्यत्व इति । शब्दनित्यत्वानित्यत्वविषये दार्शनिकानां मतभेदो वर्तत एव । तत्र नैयायिकास्तस्य कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यत्वादनित्यत्वमिच्छन्ति । मीमांसकाश्च वर्णमेव शब्दं मन्यमानास्तस्य च दिनान्तरे श्रूयमाणस्य 'सोऽयमि'ति प्रत्यभिज्ञावशात् नित्यत्वमिच्छन्ति । ब्रह्माद्वैतवादिनो वेदान्तिनो ब्रह्मातिरिक्तं सर्वमनित्यमिच्छन्ति । सांख्या अपि—अहङ्कारादुत्पन्नं शब्दतन्मात्रं विकृतिं मन्यमानास्तस्यानित्यत्वमेवेच्छन्ति । एवं शब्दनित्यत्वानित्यत्वविषये मतभेद एव । वैयाकरणानां तु शब्दस्य स्फोटरूपत्वात् "नित्यः शब्दः" इत्येव सिद्धान्तः, बैखरीशब्देष्वपि "उत्पत्तिलयरूपानित्यत्वप्रसक्तावपि 'सोऽयमि'ति प्रत्यभिज्ञारूपनित्यत्वमस्त्येवेति ।"

एकत्ववादिन इति । शब्दनित्यत्ववादिनां मते शब्दस्यैकत्वं निर्विवादम् । अनित्यत्ववादिनां मतेऽपि—पुनः पुनरुच्चार्यमाणानां शब्दानां व्यावहारिकत्वमावश्यकं भवति । अन्यथा प्रत्युच्चारणं शक्तिग्रहाभाव एकत्र गृहीतशक्तिकादपि शब्दादर्थबोधानापत्तिर्दुर्वारैव । स एवायमिति प्रत्यभिज्ञया प्रत्ययाभेदरूपेणैकत्वेनैव बोधसम्भवादनित्यत्वपक्षेऽपि शब्दैकत्वमपेक्षितम् । वर्णोच्चारणे पदोच्चारणे वा यत् कालव्यधानं शब्दान्तरव्यवधानं वानेकत्वनिमित्तमिव दृश्यते तत्तूपलब्धिव्यवधानं बोध्यम् । यथा यथा व्यवहितः शब्दो वर्णो वोपलभ्यते तथा तथा तस्यानेकत्वं तु न भवति, उपलब्धावेव व्यवधानात् । देशभेदेनापि तस्यानेकत्वं न भवति, द्रव्यादेः सत्तायाः सूर्यादिबिम्बस्यैकत्वं द्रव्यस्य प्रतिबिम्बस्य च भिन्नदेशेषु दर्शनेऽपि यथा न विहन्यते तथैव । अत एव भाष्य उक्तम्—"एकत्वादकारस्य सिद्धम् । एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये, यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः" (म. भा. १।१।२) ।

नानात्ववादिन इति । शब्दस्यानैकत्वमनित्वपक्षे स्वाभाविकम् । नित्यत्वपक्षे तु—अनेकार्थानां गो-हर्य्यादिशब्दानां नित्यानामप्यनेकत्वस्वीकार आवश्यकः । अन्यथैकत्रार्थे गृहीतशक्तिकस्य तस्य भिन्नार्थबोधकत्वं नोपपद्येत । अत एव "प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेशः" इति भाष्यसिद्धान्तः ॥ ७० ॥

"शब्द नित्य है या अनित्य ?" यह विवाद प्रायः बना हुआ है । परन्तु शब्द नित्य हो या अनित्य, कुछ विचारकों का कहना है कि दोनों ही अवस्थाओं में वह एक है । इसके विपरीत कुछ अन्य विचारक दोनों ही अवस्थाओं में उसे अनेक मानते हैं ।

गत कारिका "स्वं रूपमिति" (वा. प. १।६८।६९) में जाति या व्यक्ति के संज्ञा-संज्ञिभाव की जो चर्चा हुई है, उसमें जाति को संज्ञा मानने पर आवश्यक हो जाता है कि शब्द को दोनों अवस्थाओं में अनेक माना जाये, "एक" में जाति की सत्ता सम्भव नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति को संज्ञा मानने पर "शब्द" को "एक" मानना आवश्यक है।

भाष्यकार ने शब्द के एकत्व और अनेकत्व दोनों का उल्लेख किया है— "एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषाः" इति। यहाँ शब्द को एक बताया गया है। और "तद्यः सारण्यके ससमीपके सस्थण्डिलके वर्तते तस्य (ग्रामशब्दस्य) इदं ग्रहणम्" यहाँ शब्द को अनेक माना गया है।

इस प्रकार शब्द के चार भेद हुए—

१. नित्य और एक।
२. नित्य और अनेक।
३. कार्य और एक।
४, कार्य और अनेक।
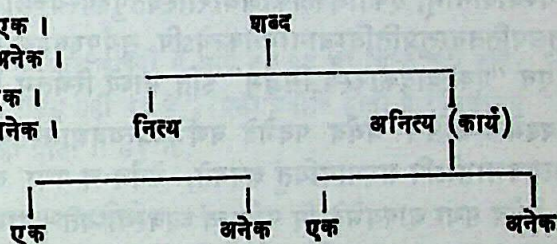
नित्य शब्द का एक होना स्वाभाविक है। समानरूप भिन्नार्थक शब्दों में अनेकता स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है।

इसी प्रकार अनित्य शब्द की अनेकता स्वाभाविक है। "यह वही 'गो'शब्द है, जिसको मैंने अमुक पुस्तक में पढ़ा था", यह अभेद प्रतीति कार्य-शब्द की एकता की साधिका है ॥ ७० ॥

वर्णैकत्वसमर्थनम्—

पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते ॥ ७१ ॥

पदभेदेऽपि पदानां भिन्नत्वे सत्यपि, वर्णानां भिन्नपदगतानामक्षराणां, एकत्वम् अभिन्नत्वं, न निवर्तते, एकत्वं वर्तते एव। एवञ्च भिन्नेष्वपि वाक्येषु एकं पदम् उपलभ्यते।

पदभेदेऽपीति। पदस्य शब्दस्यैकत्वानेकत्वपक्षौ पूर्वत्रोपन्यस्तौ। तत्रैकत्वपक्षे वर्णानामेकत्वमुक्तप्रायम्। पदस्यानेकत्वेऽपि वर्णानामेकत्वमत्र स्थाप्यते, पदस्यापि च वाक्यभेदे।

एकत्वं नेति । भिन्नेस्वपि पदेषु "अश्वः" "अर्कः" "अर्थः" इत्यादिषु खलु योऽकारः स एक एव । "सरलः" "शकलः" "सरभः" इत्यादिषु वा पदेष्वपि वारत्रयं श्रूयमाणोऽकार एक एव । सोऽयमित्यभेदप्रत्यभिज्ञायाः सर्वत्र समुपस्थितत्वात् । यदपि--एकस्मिन् क्षणे "अश्वः" इत्यत्र श्रुतोऽकारः किञ्चित्कालानन्तरं "अर्कः" इत्यत्र, अनन्तरं च "अर्थः" इत्यत्र व्यवहितः श्रूयतेऽतो भिन्न इति, "सरलः" इत्यादौ च सकारोत्तरवर्ती रकारोत्तरवर्ती लकारोत्तरवर्ती चाकारो रकारलकाराभ्यां व्यवहितः श्रूयतेऽतो भिन्न इति च, तदुपलब्धिमात्रे व्यवधानं कालकृतं शब्दान्तरकृतं च न वर्णान्तरत्वापत्तिहेतु, तत्र कालान्तराले शब्दान्तरान्तराले च तस्य तिरोधानाभ्युपगमात् । पृथक्देशस्थत्वेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते, पृथक्देशस्थानामपि सूर्यबिम्बादीनाम्, एकाधिकप्रकाशधारास्थितपुरुषस्यच्छायादीनाम्, अनेकादर्शतलपतितवस्तुप्रतिबिम्बानामनेकत्वेऽपि सूर्यपुरुषवस्तूनामेकत्वदर्शनात् । अत एव "एकत्वादकारस्य सिद्धम्" इति भाष्ये स्थितम् ।

पदमेकं चेति । यथैव पदभेदे वर्णभेदप्रत्यवभासस्तथैव वाक्यभेदे पदभेदप्रत्यवभासोऽपि सम्भावयितुं शक्यते, येनैव च पथा वर्णैकत्वं व्यवस्थाप्यते, तेनैव पथा वाक्यभेदेऽपि पदैकत्वं व्यवस्थाप्यते । गामानय, गां बधान, गामभ्याज कृष्णम्, इत्यादिवाक्येषु भिन्नेष्वपि गो-पदमेकमेव । अत्र पदपदं "पद्यतेऽनेनार्थः" इत्यर्थकं बोध्यम्, तेन 'राजपुरुषः, राजसभा, राजदूतः' इत्यादावविभक्तिकानां राजादीनां, "राज्ञि, राज्ञाम्, राजा" इत्यादावसमरूपाणामपि पदानामेकत्वं बोध्यम् । भिन्नार्थानां समरूपाणां गवादिपदानामेकत्वं च--योऽयं 'गो'शब्दः "गामानय" इति वाक्ये सास्नादिमत्यर्थे वर्तते, स एव "गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा" इति वाक्ये धरार्थे वर्तेत, इति प्रतिप्रयोगमर्थाभिनिवेशेनानुसन्धेयम् । एतेनैकत्र गृहीतशक्तिकस्यान्यत्रार्थे बोधकत्वासम्भव इत्यप्यपास्तं भवति । एवं च हयवाचकस्य "अश्वः"इत्यस्य, श्वयतेर्लुङि मध्यमपुरुषैकवचनस्य "अश्वः" इत्यस्य च समरूपभिन्नार्थकयोरपि तत्र तत्र तथा तथार्थनिवेशात् नामाख्यातयोरप्येकत्वमेव बोध्यम् ।

अत्र चायं विवेकः--"अइउण्" इति सूत्रभाष्ये (म. भा. १।१।२) जातिपक्षसमाश्रयणेन "अस्य च्वौ" (पा. अ. ७।४।३२) "यस्येति च" (पा. अ. ६।४।१४८) इत्यादौ दोषाः समाहिताः । यद्यपि तत्र "एकत्वादकारस्य सिद्धम्" इत्युपाक्रम्य व्यक्तिपक्षव्यवस्थापनाय "यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत्स्युः, आदित्यवत्स्युरित्यादिपक्षाः समुत्थापितास्तथापि "आकृति-

ग्रहणात्सिद्धम्'' ''रूपसामान्याद्वा'' इत्यादिना जातिपक्ष एव सिद्धान्तितः। एवं स्थिते ''पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते'' इति भर्तृहरेः स्वसिद्धान्तः, इति प्रतीयते ॥७१॥

पदों के भिन्न होने पर भी वर्णों की एकता समाप्त नहीं होती। भिन्न-भिन्न वाक्यों में भी एक ही पद उपलब्ध होता है।

''शब्द नित्य और एक है'' इस मत के अनुसार पद भिन्न-भिन्न होने पर भी उन पदों में आये हुए वर्ण एक ही हैं। अश्व, अर्क, अर्थ आदि पदों में जो ''अ'' है, वह एक ही है। इन पदों को पढ़कर ''यह वही है'', यही प्रतीति होती है। अतः भिन्न-भिन्न पदों में 'अ' या किसी अन्य वर्ण को देखकर उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वाक्यों में आये हुए पद भी भिन्न नहीं होते, क्योंकि भिन्न वाक्यों में भी ''यह वही पद है'', ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए वाक्य-भेद से पद भिन्न नहीं होता ॥ ७१ ॥

वर्णपदाभ्यां न वाक्यस्य व्यतिरेकः—

न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यच्च विद्यते।
वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन ॥ ७२ ॥

वर्णव्यतिरेकेण वर्णमतिरिच्य, पदं अन्यत् भिन्नं, न विद्यते। वर्णात्मकं हि पदं, वर्णातिरिक्तं तु नेत्यर्थः। एवमेव वाक्यं वर्णपदाभ्यां वर्णात् पदात् च, व्यतिरिक्तं किञ्चन किमपि, नास्ति।

न वर्णव्यतिरेकेणेति। वर्णसंघातः पदम्, तच्च वर्णान्व्यतिरिच्य न सम्भवति। एवं पदसंघातो वाक्यम्, तच्च पदान्यतिरिच्य न सम्भवतीति वर्णा एव पदं वाक्यं च। वर्णातिरेकेण न तयोः कापि सत्तेत्यर्थः। इदं च मीमांसकानां[1] नैयायिकानां[2] च मतानुसारेण।

---

१. अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।
(शावरभाष्यम् १।१।१)

२. वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति, श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसन्धत्ते। प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति।
(न्यायसूत्रभाष्यम् ३।२।६२)

हरिवृषभवृत्तौ तु—क्रमजन्मिभिः सावयवैरयुगपदवस्थैर्वर्णैः पदाभिधेयं समुदायान्तरमारब्धुं न शक्यते, अतो वर्णव्यतिरेकेण पदाभाव एव। ऋकारे 'र'श्रुतेः सत्वेन ऐकारे औकारे च 'आ इ' 'आ उ' इत्याकारकावयवाभासेन वर्णा अपि सावयवाः। तेषां चावयवानां क्रमजन्मित्वादयुगपदवस्थानत्वाच्च वर्णारम्भोऽपि दुष्करः। एवं वर्णाभावे पदाभावे च ताभ्यां वर्णपदाभ्यां हेतुभूताभ्यां व्यतिरिक्तं सत्तावद्वाक्यं कथं सम्भवति। समुदायाभावात्कश्चिच्छब्दो न विद्यते। तथा स्वीकारे तु "अनित्यत्वमेव प्राप्नोति" इत्युक्त्वा तथोक्तमीमांसकनैयायिकमतनिरासः कृतः, वाक्यस्य नित्यत्वमखण्डत्वञ्चाभ्युपगतम्।

भाष्ये तु—"हयवट्" इतिसूत्रव्याख्यानावसरे "संघातार्थवत्त्वाच्च" (म. भा. १।१।२ वा. १४) इति वर्णसंघातस्यार्थवत्त्वं पदत्वं चाभ्युपगतम्। तत्र हि—येषां हि संघाता अर्थवन्तोऽवयवा अपि तेषामर्थवन्त इत्युक्त्वा "एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थः, तत्समुदायश्च खार्यपि तैलदाने समर्था" इत्युदाहृतम्। तिलखारीव वर्णसमुदायः पदं पदसमुदायश्च वाक्यमिति सुतरां सिद्ध्यति। "संघातस्यैकत्वमर्थः" इत्यपि तत्रैवोक्तम्। कूप-सूप-यूपेत्यादौ "ऊप" इत्यस्यानर्थकत्वं सम्भाव्य "एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति"—"दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः, सुराङ्गवद्रथाङ्गवच्चेति" इत्युक्तम्। यथा सुराया अङ्गभूतानि द्रव्याणि स्वयममादकत्वेऽपि सुरायाः मादकत्वं जनयन्ति, रथाङ्गानि वा चक्रादीनि स्वयमगतिमत्त्वेऽपि रथस्य गतिमत्त्वं सम्पादयन्ति, तथैव पदावयवा वर्णाः स्वयमनर्थका अपि पदस्यार्थवत्त्वं प्रतिपादयन्तीति तदर्थः। एतच्च वर्णसंघातः पदमित्यस्यानभ्युपमे न संगच्छते। एतेन "न हि क्रमजन्मभिरुच्चरितप्रध्वंसिभिरयुगपत्कालैः सावयवैर्वर्णैः शब्दान्तरारम्भः सम्भवति" इति, "वर्णपदाभावे कुतो वाक्यस्य व्यतिरेकः ?" इति च हरिवृषभवृत्युक्तं भाष्यविरुद्धमवतिष्ठते।

अत्रायं विवेकः—"वर्णा एव शब्दाः" इति मीमांसकमतम्। ते च नित्याः। वर्णसंघातः पदं, पदसंघातश्च वाक्यम्। नैयायिकानामपि "वर्णा एव शब्दाः" ते चानित्या उच्चरितप्रध्वंसिनः, तत्संघातः पदं, तत्संघातश्च वाक्यमनित्यम्। वैयाकरणानान्तु—अभिव्यञ्जका वर्णाः पदानि च नित्यस्याखण्डस्य वाक्यरूपस्य स्फोटात्मनः। वर्णाः पदानि चैकशः सम्भूय च तमेव स्फोटात्मानमभिव्यञ्जयन्ति। उपलब्धाश्च अनुपलब्धाश्च वर्णा नित्या न तूच्चरितप्रध्वंसिन इति ॥ ७२ ॥

वर्ण के अतिरिक्त पद कुछ अन्य वस्तु नहीं होता और वर्ण तथा पद के अतिरिक्त वाक्य भी कुछ अन्य पदार्थ नहीं होता।

क्योंकि वर्ण मिलकर जब एक समूह बनते हैं तो वह पद कहलाता है, इस तरह वर्ण ही पद होते हैं, पदों का समूह वाक्य कहलाता है। क्योंकि पद स्वयं वर्णात्मक होते हैं, इसलिए उनका समूह वाक्य भी वर्णात्मक ही होता है।

परन्तु यदि नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार वर्णों को अनित्य और उच्चारण के साथ ही नष्ट होने वाले मान लिया जाय तो वर्णों का समूह के रूप में प्राप्त होना ही असम्भव है। तब तो वर्ण-समूह पद और पद-समूह वाक्य कभी प्राप्त ही नहीं हो सकेगा। अतः इस सिद्धान्त को स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

इसलिए वर्णों के एकत्व के साथ-साथ उनका नित्यत्व स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है॥ ७२॥

वाक्यात् वर्णपदानां न प्रविवेकः—

पदे वर्णा न विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥ ७३॥

पदे शब्दे, वर्णाः अक्षराणि, न विद्यन्ते न सन्ति, वर्णेषु च अवयवाः वर्णावयवाः ऐकारौकारयोः श्रूयमाणानि "आ-इ, आ-उ" ऋकारे च 'र' इत्यादीनि वर्णस्याङ्गानि, न विद्यन्ते। एवं च वाक्यात् पदानाम् अत्यन्तं सर्वतोभावेन, कश्चन प्रविवेकः पृथक् पृथक् विवेचनं पृथक् बोधो वा, न विद्यते।

पदे वर्णा नेति। वर्ण-पदाभ्यां व्यतिरिक्तं वाक्यं नेति पूर्वमुक्तम्। अत्र तु वैयाकरणानां स्वमताभिप्रायेण वाक्यात् वर्ण-पदानां प्रविवेको नेति व्यवस्थाप्यते। पृथक्-पृथग्वर्णोच्चारणे याः प्रत्येकं वर्णप्रतिपत्तय उत्पद्यन्ते ताः पदप्रतिपत्तिं जनयन्ति, अतः पदे वर्णप्रतिपत्तिनिर्भासः। वर्णावयवानां तु व्यवहारातीता प्रतिपत्तिः, अतो न तस्या वर्णप्रतिपत्तौ निर्भासः। वर्णस्यैकत्वं प्रसिद्धमेव। एवं यदि सावयवे वर्णे एकत्वमाश्रियते तदा वर्णाभिव्यक्ते पदे, पदाभिव्यक्ते वाक्ये च तदेकत्वं कथं न स्यात्? यथा व्यवहारातीता अवास्तवा वर्णावयवा वर्णबुद्धिं जनयन्ति, तथैवावास्तवा वर्णा अपि पदबुद्धिं जनयन्ति। पदान्यपि चावास्तवानि वाक्यबुद्धिं जनयन्ति। व्यवहारकाले वाक्ये न कश्चन वर्णानां पदानां वा प्रविवेकः।

वस्तुतस्तु—वाक्ये वर्णपदयोरत्यन्ताभावोऽप्रविवेको वेति न वैयाकरण-सिद्धान्तः। न चास्याः कारिकाया यथोक्तः पारम्परिकोऽर्थः। यदि वाक्ये वर्णानां पदानामत्यन्तमप्रविवेको वैयाकरणसिद्धान्तः स्यात्—तदा पाणिनिः प्रथमं वर्णसमाम्नायं नोपदिशेत्, "इष्टबुद्ध्यर्थश्च" (वर्णानामुपदेशः) इति वार्तिककृत्, "इष्टान्वर्णान् भोत्स्यामहे" इति भाष्यकृच्च। शब्दानां प्रत्यायकत्वमुपादानत्वञ्चापसिद्धान्तभूतं स्यात्, "किमाह भवान्" इति हरि-भाष्यसङ्केतितः प्रश्नो निरर्थकः स्यात्। "भेदानुकारी ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः। क्रमोपसृष्टरूपा वाक् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्॥" (वा. प. १।८६) इति हरिरपि न ब्रूयात्, वर्णस्फोट-पदस्फोटौ च स्वीकृतौ न स्याताम्।

"न वर्णव्यतिरेकेण" (वा. प. १।७२) "पदे वर्णा न विद्यन्ते" (वा. प. १।७३) इत्यनयोः कारिकयोर्वास्तविकोऽर्थस्तु—

यदि वर्णस्यानित्यत्वमभ्युपगम्यते तदा वर्णानां वर्णावयवानां चोच्चरितप्रध्वंसित्वात्समुदायाभावेन पदवाक्ययोरभाव एव स्यात्, यतः वर्णव्यतिरेकेण पदं न विद्यते, वर्णपदव्यतिरेकेण च वाक्यं न विद्यते। (वा. प. १।७२) एवं च "यदि पदे वर्णा न सन्ति, वर्णेषु वर्णावयवा न सन्ति, तदा वाक्यात् पदानां कश्चन भेदात्मकः प्रविवेकस्तु नास्ति, येन तत् वर्णपदाभावेऽपि सत्तावत्तिष्ठेत्, वर्ण-पदाभावे वाक्यस्याप्यभावः स्यादित्यर्थः। (वा. प. १।७३)।

"पदे भेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्त्तते" (वा. प. १।१।७१) इत्युपाक्रम्य "भिन्नं दर्शनमाश्रित्य" (वा. प. १।७४) इति यावत् "कार्यत्वे नित्यतायां वा" (वा. प. १।७०) इति कारिकया प्रक्रान्तस्य शब्दनित्यतावादस्यैव प्रपञ्चः॥ ७३॥

पद में वर्ण नहीं होते, वर्णों में वर्णों के अवयव (भाग) नहीं होते और वाक्य से पदों का कोई तात्त्विक प्रविवेक (यह वाक्य है और यह पद, इस प्रकार की कोई अलग पहिचान) नहीं होता।

इस कथन का आशय यह है कि शब्द का जो प्रधान कार्य अर्थबोध कराना है, वह वाक्य द्वारा ही सम्पन्न होता है, पद या वर्ण द्वारा नहीं, अतः उपयोगिता के आधार पर वाक्य ही सत्य है। वर्ण और पद उसके काल्पनिक विभाग-मात्र हैं। वाक्य में न तो पद होते हैं, न वर्ण और न वर्णों के अवयव, वाक्य अखण्ड और नित्य होता है, क्योंकि उसी से अर्थबोध का वास्तविक कार्य सम्पन्न होता है।

अखण्ड-वाक्य-स्फोट के इस सिद्धान्त को वैयाकरणों का परम सिद्धान्त माना जाता है और इस कारिका को इस सन्दर्भ में बराबर उद्धृत किया जाता है। इससे पूर्वकारिका "न वर्णव्यतिरेकेण" को मीमांसक मत और इस कारिका को वैयाकरण मत के रूप में टीकाकारों ने दर्शाया है। परन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि "कार्यत्वे नित्यतायां वा" (वा. प. १।७०) इस कारिका में वर्णित शब्द के नित्यत्व और एकत्व पक्ष के समर्थन में ही "पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते" "न वर्णव्यतिरेकेण" और "पदे वर्णा न विद्यन्ते" ये तीनों कारिकाएं कही गई हैं, जिसका समापन "भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते" (वा. प. १।७४) कहकर किया गया है।

वर्ण या पद के अस्तित्व को नकारना वैयाकरण-सिद्धान्त नहीं है, अपितु भाषा के स्थूल या सूक्ष्म दोनों रूपों को नित्य मानना वैयाकरण-सिद्धान्त है, इसके प्रमाण आकर-ग्रन्थों में भरे पड़े हैं, अतः इस प्रकरण में इस कारिका का अर्थ यह होना चाहिए——यदि वर्णों को अनित्य और उच्चरितप्रध्वंसी मान लिया जाय, या यदि वर्ण 'नित्य' न होकर 'कार्य' हों तो मानना पड़ेगा कि पद में वर्ण नहीं हैं, वाक्य में पद नहीं हैं, वाक्यों से पद कोई अलग (प्रविविक्त) पदार्थ तो नहीं होते कि पद के बिना वाक्य बना रहे।

"न वर्णव्यतिरेकेण" (वा. पः १।७२) में जो बात एक प्रकार से कही गई है, उसी बात को इस कारिका में दूसरी प्रकार से कहा गया है। "पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते", (वा. प. १।७१) इस कारिकार्ध का आशय "न वर्णव्यतिरेण" के द्वारा स्पष्ट किया गया है और "वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते", इस कारिकार्ध का "पदे वर्णा न विद्यन्ते" के द्वारा ॥ ७३ ॥

शब्दैकत्वानेकत्वे दर्शनभेदः——

> भिन्नं दर्शनमाश्रित्य व्यवहारोऽनुगम्यते।
> तत्र यन्मुख्यमेकेषां तत्रान्येषां विपर्ययः ॥ ७४ ॥

भिन्नं पृथक्, दर्शनं सिद्धान्तम्, आश्रित्य स्वीकृत्य, व्यवहारः शब्दस्य नित्यत्वानित्यत्वरूपः, अनुगम्यते पाल्यते। तत्र उभयोः दर्शनयोः यत् एकेषां मुख्यं, तत्र अन्येषां विपर्ययः विपरीतम्, अमुख्यमित्यर्थः।

भिन्नं दर्शनमिति। शब्दस्यैकत्वानेकत्वदर्शनभेदो व्यावहारिकः, न तु पारमार्थिकः, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्ये परस्मिन् शब्दतत्त्वेऽनेकत्वासम्भवात्। तथापि तदभिव्यञ्जके ध्वनिरूपे शब्दे व्यावहारिक एकत्वा-

नैकत्वभेदः शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहार्थमाश्रियते विद्वद्भिः। अनेकार्थे गवादिशब्दे श्रुत्यभेदेऽपि, अर्थभेदादनेकत्वम्, अर्थभेदेऽपि श्रुत्यभेदादेकत्वमित्युभयथापि भेदाभेदव्यवहारोऽनुगम्यते।

तत्रेति। एवं दर्शनद्वये स्थिते येषां शब्दैकत्वदर्शनम्, तेषां शब्दस्यैकत्वं मुख्यम्, अनेकत्वं तु गौणम्। अन्येषां च येषां शब्दानेकत्वं दर्शनम्, तेषां विपर्ययेण शब्दस्यानेकत्वं मुख्यम्, एकत्वं च गौणम्।

विपर्यय इति। "विपर्ययः" इत्यनेन—एकेषां प्रधानानां विदुषां शब्दस्यैकत्वं मुख्यम्, अन्येषां येषां शब्दैकत्वं न मुख्यमपितु शब्दानेकत्वं मुख्यम्, तत्तु तेषां विपर्ययो बुद्धिभ्रम एवेत्यपि ध्वन्यते। शब्दैकत्वमेव वैयाकरणसिद्धान्तः, परमार्थतस्तस्य भेदशून्यत्वात्।

भाष्ये तु—उभयविधं व्यवहारमभिप्रेत्य "एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषाः" इति सरूपसूत्रे शब्दस्यैकत्वम्, संयोगसंज्ञासूत्रे च--"ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः" ·····"तद्यः सारण्यके ससमीपके सस्थण्डिलके वर्तते तस्येदं ग्रहणम्" इति शब्दस्यानेकत्वं संसूचितम्।

एवं "स्वं रूपमिति कैश्चित्तु" (वा. प. १।६८,६९) इत्यादिना यो जाति-व्यक्ति-पक्षभेदः प्रदर्शितस्तस्यात्र समापनं बोध्यम्। शब्दानेकत्व एव जातिपक्षः सम्भवति, शब्दैकत्वे च व्यक्तिपक्षः। व्यवहारार्थमुभयमप्यनुगम्यते शाब्दिकैः॥ ७४॥

शब्द के एकत्व और अनेकत्व के विषय में अलग-अलग सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए दोनों प्रकार से व्यवहार किया जाता है। व्यवहार में एक मत वालों के लिए जो पक्ष मुख्य है, दूसरे मत वालों के लिए वह गौण है।

शब्द एक है या अनेक, इस विषय में दो मत हैं, यह पहले ही कहा जा चुका है। "स्वं रूपमिति" (वा. प. १।६८,६९) में जो जाति-व्यक्ति-पक्ष की बात उठाई गई थी, उसमें जाति-पक्ष स्वीकार करने पर शब्द का अनेकत्व स्वीकार करना होगा। व्यक्ति-पक्ष में शब्द का एकत्व मानने से काम चल सकता है। व्यवहार दोनों प्रकार से हुआ है। भाष्यकार ने सरूप सूत्र में—"एकश्च शब्दो बह्वर्थोऽक्षाः पादा माषा इति" कहकर शब्द को एक माना है और "हलोऽनन्तराः संयोगः" सूत्र में "तद्यः (ग्रामशब्दः) सारण्ये ससमीपके सस्थण्डिलके वर्तते तस्य (ग्रामशब्दस्य) इदं ग्रहणम् (नान्यस्य)" कहकर शब्द को अनेक माना है। तात्पर्य यह कि भाष्यकार को शब्द का एकत्व और अनेकत्व दोनों अभिमत हैं।

इस कारिका का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है—इससे पूर्वकारिकाओं में मीमांसकों और वैयाकरणों के मतों का उल्लेख हुआ है। मीमांसक वर्ण के अतिरिक्त पद और वाक्य को नहीं मानते, जबकि वैयाकरण वाक्य में पद और वर्ण की सत्ता नहीं स्वीकारते। इस मतभेद में भी अलग-अलग सिद्धान्तों का आश्रय लेकर व्यवहार किया जाता है। शाबरभाष्य में कहा गया है—"गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविर्जनीयाः।" "गौः" यहाँ शब्द कौन है ? उत्तर है—"गकार, औकार और विसर्ग।" भाष्यकार ने भी—"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति सः शब्दः।" कहा है। उच्चारण तो गकारौकारविसर्ग का ही होता है। इस प्रकार वर्ण ही शब्द है, यही सिद्ध होता है। दूसरी ओर "श्लोकादर्शं प्रतिपद्यामहे" यह लोक-व्यवहार प्रसिद्ध ही है। इससे वाक्य की प्रधानता सिद्ध होती है। यहाँ भी जो लोग वर्ण को प्रधानता देते हैं, उनके लिए वाक्य गौण है और इसके विपरीत जो वाक्य को प्रधान मानते हैं, उनके लिए वर्ण या पद गौण है ॥ ७४ ॥

स्फोटे कालवृत्तिभेदावपारमार्थिकौ—

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः ।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ॥ ७५ ॥

अभिन्नः कालः यस्य, कालवृत्यनवच्छिन्नस्तस्य नित्यस्यापि, ध्वनिकालानुपातिनः ध्वनिकालमनुपतति यः सः ध्वनिकालानुपाती तस्य (Directly proportionate) स्फोटस्य, ग्रहणोपाधिभेदेन, ग्रहणस्य उपाधिः तस्य भेदेन, गृह्यते अनेन तद्ग्रहणं, उपलब्धिक्रियासाधनभूतं=ध्वनयः, तेषामुपाधिः चिरक्षिप्रत्वादिः तस्य भेदेन, वृत्तिभेदं, वर्तनं वृत्तिः, तस्याः भेदः वृत्तिभेदः, तं स्फोटस्यापि प्रचक्षते कथयन्ति ।

स्फोटस्येति। नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः (वा. प. १।२३) इति पूर्वमुक्तम्। नित्यत्वेनाभिमतस्य स्फोटरूपस्य शब्दस्यात्र विवेचनं क्रियते। स्फुटत्यर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्यार्थप्रकाशकोऽयं शब्दतत्त्वधर्मो नित्योऽखण्डश्च शाब्दिकागमे प्रसिद्धः। स च नित्यत्वेन कालिकायोगादभिन्नकालः। चिरक्षिप्रादिना कालभेदेन न भिद्यत इत्यर्थः। तथापि स्वाभिव्यञ्जकध्वनिकालमनुपतत्येव। ध्वनिसंसृष्टमेव स्फोटस्वरूपमुपलभ्यतेऽतो ध्वन्युपलब्धिकालः स्फोटोपलब्धिकाल इव परिगृह्यते।

ग्रहणोपाधिभेदेनेति । ध्वनिः स्फोटश्चेति शब्दस्य द्वौ धर्मौ स्तः । तत्र स्फोटोऽर्थप्रकाशको वाचकः प्रत्यायको वा । ध्वनिस्तु तदभिव्यञ्जकः । ध्वनिनैव स्फोटो गृह्यते । तदुक्तं तपरसूत्रे भाष्ये—

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महाँश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ॥

"स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः" इति च (म. भा. १।१।६) स च ध्वनिः स्वेनैव चिर-क्षिप्राद्युपाधिना वृत्तिभेदं प्रकल्पयति ।

वृत्तिभेदमिति । [1]वृत्तयस्त्रिधा—द्रुता, मध्यमा, विलम्बिता च । ताश्च वक्तुश्चिराचिरवचनात् विशिष्यन्ते, वक्ता हि कश्चिदाशु वर्णानभिधत्ते, कश्चिच्च चिरेण, चिरतरेण चिरतमेन वा । एवमेता वृत्तयः स्फोटाभिव्यञ्जकस्य ध्वनेरुपाधिभूताः स्फोटेऽपि वृत्तिभेदमिव जनयन्ति । यावत्कालं क्षिप्रं चिरं चिरतरं वा ध्वनिर्वर्तमान उपलभ्यते, तावत्कालं स्फोटोऽपीति स्फोटस्यापि वृत्तिभेदः प्रतीयते ॥ ७५ ॥

स्फोट, जो स्वयं शब्द का वाचक या प्रत्यायक स्वरूप होता है, कालभेद से प्रभावित नहीं होता । तथापि, क्योंकि यह ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त होकर गृहीत होता है, इसलिए ध्वनि के उच्चारण में जितना काल लगता है, "उतना ही काल स्फोट में भी लगा होगा" ऐसा मान लिया जाता है, और इसीलिए ध्वनि (स्फोट को ग्रहण कराने वाली) में जो उपाधि-भेद होता है, उसके कारण द्रुत-विलम्बित आदि वृत्तियाँ (जो वास्तव में ध्वनियों में होती हैं,) स्फोट में भी मान ली जाती हैं ।

स्फोट और नाद (ध्वनि) शब्द-तत्त्व के दो धर्म हैं । इनमें नाद श्रव्य होता है और स्फोट वाचक या प्रत्यायक होता है तथा नाद या ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त होता है । क्योंकि यह नित्य है, इसलिए कालभेद से अप्रभावित रहता है । हाँ, ध्वनियों के माध्यम से अभिव्यक्त होने के कारण ध्वनिगत कालभेद और द्रुत, मध्यम, विलम्बित वृत्तियों का भेद इस नित्य स्फोट में भी प्रतीयमान होने लगता है । परन्तु वास्तव में यह प्रतीति-मात्र है, भ्रममात्र है । इस बात की चर्चा "प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात् ।" (वा. प. १।४६) कारिका में की जा चुकी है । पानी में पड़ा प्रतिबिम्ब पानी के हिलने से हिल उठता है, परन्तु

---

१. अभ्यासार्थं द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता ।
शिष्याणामुपदेशार्थं वृत्तिरिष्टा विलम्बिता ॥ इति ॥
संगीतशास्त्रे तु भक्ति-शृङ्गारादिरसानां परिनिष्पत्त्यर्थं वृत्तीनां प्रयोग इष्टः ।

बिम्ब नहीं हिलता। कुछ इसी प्रकार ध्वनियों का कालभेद-वृत्तिभेद स्फोट में भी प्रतीत है, जबकि वह बिम्ब की भाँति, ध्वनिगुण से अप्रभावित ही रहता है।

द्रुतादिवृत्तियाँ वक्ता के बोलने की आशुगति-मन्दगति से सम्बद्ध हैं। इनकी कालगत दीर्घता कितनी भी हो सकती है। इस कालगत दीर्घता से स्फोट की वाचकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अर्थात् स्फोट का वाच्यार्थ वृत्ति बदल जाने पर भी समान ही रहता है। द्रुतवृत्ति में बात कहने से शीघ्रता से होने वाला अर्थ-बोध विलम्बित वृत्ति में सम्भवतः कुछ विलम्ब से हो, इसलिए वृत्ति-भेद से स्फोट में भी भेद की प्रतीति हो सकती है। यही स्फोट में वृत्तिभेद स्वीकारने का कारण है, अन्यथा उसकी अर्थवत्ता में कोई अन्तर नहीं आता ॥ ७५ ॥

स्फोटे ध्वनिकालभेद औपचारिकः—

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥ ७६ ॥

नित्यत्वे शब्दस्य नित्यत्वपक्षे स्थिते सति, ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ह्रस्वरूपे दीर्घरूपे प्लुतरूपे वा, स्वभावभेदात् स्वरूपभेदात् हेतोः प्राकृतस्य ध्वनेः, येन विना स्फोटो नाभिव्यज्यते सः प्राकृतो ध्वनिः, तस्य तत्सम्बन्धी कालः, शब्दस्य स्फोटस्य, इति उपचर्यते आरोप्यते।

स्वभावभेदादिति। ह्रस्वदीर्घयोः, दीर्घप्लुतयोः, ह्रस्वप्लुतयोश्च यो मात्राकालभेदः सः स्वाभाविकः। नैव ते ह्रस्व-दीर्घ-प्लुता मात्राकालभेदं विना प्रतीयन्ते पृथक्तया, अतः कालकृतोपचयापचयौ तेषां स्वभाव एव। एवं च प्राकृतो ध्वनिः स्वभावभेदात् ह्रस्वत्वेन दीर्घत्वेन प्लुतत्वेन च भिद्यते।

प्राकृतस्येति। ध्वनिर्हि द्विविधः—प्राकृतो वैकृतश्च। तत्र प्राकृतो स्वाभाविकः प्रकृत्यैव तथाभूतः, वैकृतस्तु कारणान्तरैः प्रकृत्यवस्थाया विकृतिं प्राप्तः। एवं हि संग्रहग्रन्थे प्राकृत-वैकृतध्वनिभेदं व्याडिः परिभाषते—

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥[1]

---

१. इयं कारिका बहुषु मुद्रितामुद्रितेषु पुस्तकेषु वाक्यपदीयकारिकास्वेव पठिता। हरिवृषभवृत्तौ तु—"एवं हि संग्रहकारः पठति" इत्युक्त्वेयं कारिका पठिता। वाक्यपदीयप्रक्रान्तप्रसङ्गवशादपि कारिकेयमत्राप्रासङ्गिकी प्रतीयते। उत्तरवर्ति-वैयाकरणैरियं हरिकारिकात्वेनोपन्यस्ता। पाठभेदोऽस्यां तत्र तत्र प्राप्यते। संग्रहस्येयं कारिकेति तु दृढं विज्ञातुं न शक्यते, संग्रहग्रन्थस्य सम्प्रत्यनुपलम्भात्। अत्र हरिवृषभवृत्तिरेव प्रमाणत्वेनोपलभ्यते।

अस्यार्थः--स्फोटरूपस्य शब्दस्यौपलब्धौ यो ध्वनिर्हेतुः सः प्राकृतो ध्वनिरिष्टः। यश्च ध्वनिस्तस्यैव शब्दस्य स्थितिभेदे, चिर-चिरतर-चिरतमकालं यावत् या स्थितिस्तस्या भेदे कारणत्वं प्राप्नोति, स वैकृतो ध्वनिरिष्टः।

अयमाशयः—येन ध्वनिना प्राथम्येन स्फोटोपलब्धिर्भवति सः प्राकृतो ध्वनिः, येन चोपलब्धोऽपि सः प्रचिततरकालं यावदुपलभ्यते स वैकृतो ध्वनिः। तेन द्रुतादयो वृत्तयो जन्यन्ते।

काल इति। एवं स्फोटरूपस्य शब्दस्य सिद्धान्ततो नित्यत्वे स्थितेऽपि, नित्यत्वाच्च तस्मिन्कालयोगाभावेऽपि ह्रस्वादिभेदेषु प्रतीयमानः प्राकृतस्य ध्वनेर्मात्राकालः स्फोटरूपशब्दस्यास्तीति, उपचारवशाच्छब्द आरोप्यते। वस्तुतस्तु स्फोटे, शब्दे न कोऽपि कालभेदो ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिरूपः, शब्दस्य नित्यत्वात् ॥७६॥

शब्द नित्य है, इसलिए काल का सम्बन्ध उससे नहीं है। तथापि—जिन प्राकृत ध्वनियों के माध्यम से स्फोटरूप शब्द अभिव्यक्त होता है, वे ध्वनियाँ स्वभावतः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कालभेद से युक्त होती हैं। इन ध्वनियों का काल स्फोटरूप शब्द का भी मान लिया जाता है।

ध्वनियाँ दो प्रकार की होती हैं--प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि वह ध्वनि है जो स्फोट-रूप शब्द का ग्रहण कराती है। स्फोट का ग्रहण हो जाने के अनन्तर जो ध्वनियाँ अतिरिक्त समय में सुनाई पड़ती हैं, उन्हें वैकृत-ध्वनि कहा जाता है। प्राकृत-रूप में ध्वनि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत इन तीन भेदों से पहिचानी जाती है। वैकृत-रूप में ध्वनि के द्रुत, मध्यम और विलम्बित, ये तीन भेद होते हैं। इन्हें 'वृत्तियाँ' कहते हैं।

जब किसी शब्द का उच्चारण होता है, तो वह अपनी वाचकता के कारण वाच्यार्थ का बोध कराता है। यह बोध की स्थिति ही स्फोट है। ''शब्द, अर्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध नित्य है" यह सिद्धान्त है। इन तीनों नित्य पदार्थों के संयोग से जो 'बोधात्मक स्थिति' बनती है, व 'स्फोट' भी नित्य ही होता है। ("बोधात्मक स्थिति बनती है" की अपेक्षा 'उपलब्ध होती है' ऐसा कहना उपयुक्त होगा।) इस नित्य स्फोट की उपलब्धि ध्वनियों के माध्यम से ही होती है। ध्वनियाँ काल से प्रभावित होती हैं और ध्वनियों का काल स्फोट में भी आरोपित हो जाता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि--स्फोट ध्वनि के बिना अभिव्यक्त नहीं होता, परन्तु स्फोटाभिव्यक्ति के बाद भी ध्वनियाँ सुनाई पड़ सकती हैं। इसलिए

स्फोट और ध्वनि दो पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। इस सम्बन्ध में पहले भी कहा जा चुका है। ध्वनि का एक रूप वह है जिसके बिना स्फोटोपलब्धि नहीं होती। इसे प्राकृत-ध्वनि कहते हैं। दूसरा रूप वह है जो स्फोट के बाद सुनाई पड़ता है। यह वैकृत-ध्वनि कहलाता है ॥७६॥

स्फोटे वृत्तिकृतभेदः—

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥ ७७ ॥

शब्दस्य स्फोटस्य, अभिव्यक्तेः प्रकाशात्, ऊर्ध्वं अनन्तरं, वैकृताः ध्वनयः, अभिव्यक्तः स्फोटः येन किंचिदधिकालं यावत् प्रचरितः उपलभ्यते सः वैकृतो ध्वनिः, ते वैकृता ध्वनयः वृत्तिभेदं द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदं, समुपोहन्ते जनयन्ति। तैः वृत्तिभेदैः, स्फोटात्मा न भिद्यते, भिन्नो न भवति।

शब्दस्येति। वर्णादिरूपस्य शब्दस्य यस्मिन्प्रथमक्षणे श्रवणं भवति तस्मिन्नेव क्षणे तत्सम्बन्धिस्फोटोऽभिव्यज्यते। ध्वनेःश्रवणं तु प्रचितं प्रचिततरं वा कालं भवितुमर्हति। स्फोटाभिव्यक्तेरनन्तरं श्रूयमाणा वैकृता ध्वनयो द्रुतादिवृत्तीनां भेदं जनयन्ति केवलम्, स्फोटे भेदं तु न जनयन्ति।

अत्रेदं बोध्यम्—वर्णा हि मात्राकालैर्वृत्तिकालैश्च द्विधा भिद्यन्ते। तत्र वर्णानां मात्राकालभेदः स्वाभाविकः, न तेन विना त उत्पद्यन्ते। मात्राकालिकत्वं तेषां प्रकृतिगतो धर्मः। अतो मात्राकालभेदभिन्ना ह्रस्व-दीर्घ-लुप्त-रूपा ध्वनयः प्राकृता ध्वनय उच्यन्ते। त एव प्राकृता ध्वनयो यदा प्रचिततरं कालं वर्तन्ते तदा तेषां वृत्तिः (वर्तनं, स्थितिः) भिद्यते। वृत्तिकालेन भिन्नाः प्रकृत्यवस्थाया विकृतिं प्राप्ता द्रुत-मध्यम-विलम्बित-रूपास्ते वैकृता ध्वनय उच्यन्ते।

एवं स्थिते प्राकृतध्वन्युच्चारणसमकालमेव स्फोटाभिव्यक्तिर्जायते। स्फोटस्य नित्यत्वात् यद्यपि सः कालापरिच्छिन्नो भवति, तथापि ध्वनिभिरेव स्फोटोऽभिव्यज्यते, इति कृत्वाभिव्यञ्जकध्वनीनां कालः "ह्रस्वे ध्वनौ ह्रस्वः स्फोटः, दीर्घे दीर्घः" इत्याकारेण स्फोटस्याप्युपचर्यते। वैकृतध्वनीनां तु स्फोटाभिव्यक्तौ न कोऽपि सहकारः। अतस्तेषां भेदे न स्फोटभेदः। ते तु स्फोटस्य चिराचिरस्थितिमेव द्योतयन्ति। प्रकाशो यथा वर्त्यग्निसंयोगक्षण एव कक्षस्थं लघु महन्महत्तरं वा वस्तुरूपं प्रकाशयति, अनन्तरं च तद्रूपं

तद्रूपेणैवावस्थितं प्रदर्शयति, तथैव प्राकृतध्वनिभिरभिव्यक्तं स्फोटं वैकृता ध्वनयोऽवतिष्ठमानं ग्राहयन्ति, न तु तस्य भेदं जनयन्ति। अत एव तपरसूत्रे भाष्ये—"द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्" इत्याक्षिप्य "सिद्धं त्ववस्थिता वर्णाः, वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते, भेर्य्याघातवत्" इति समाहितम्। वृत्तिकृतः कालभेदो नावस्थितान् वर्णान् भिनत्ति, इति भाष्याशयः। मात्राकालभेदोऽपि स्फोट उपचार एव ॥७७॥

प्राकृत-ध्वनियों के द्वारा शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति हो जाने पर कुछ अतिरिक्त काल तक जो वैकृत-ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, उनसे वृत्तियों में ही भेद पड़ता है, स्फोटात्मक शब्द में कोई अन्तर नहीं आता।

प्राकृत-ध्वनियों का कालकृत भेद स्फोट में औपचारिक रूप से मान लिया जाता है, क्योंकि उनके बिना तो स्फोट की अभिव्यक्ति ही नहीं होती। स्फोट और प्राकृत-ध्वनि अत्यधिक संसृष्ट होते हैं, परन्तु वैकृत-ध्वनियों की स्थिति ऐसी नहीं है। जैसे प्रकाश अपनी उत्पत्ति या उपस्थिति के पहले क्षण में कमरे में रखी हुई छोटी-बड़ी वस्तुओं को प्रकाशित कर देता है। वस्तुएँ छोटी-बड़ी रंग-बिरंगी जैसी भी हैं; वह सब पहले ही क्षण में स्पष्ट हो जाता है। बाद में चाहे जितनी देर तक उनपर प्रकाश पड़ता रहे, वस्तुओं की ह्रस्वता या दीर्घता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ठीक यही स्थिति प्राकृत और वैकृत ध्वनियों की है। प्राकृत-ध्वनि प्रथमक्षणीय प्रकाश के समान है और वैकृत-ध्वनि तदनन्तरीय प्रकाश के समान है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि—वस्तुओं की ह्रस्वता या दीर्घता प्रथमक्षणीय प्रकाश के कारण भी नहीं होती, वह तो उनकी अपनी ही होती है। इसी प्रकार प्राकृत-ध्वनि के कारण स्फोट में ह्रस्वता, दीर्घता या प्लुतता नहीं आती, केवल अत्यन्त संसृष्ट होने के कारण मानी जाती है।

प्राकृत-ध्वनियों का काल-भेद शब्द में स्वीकार किया जाता है, इसलिए "अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः" (पा. अ. १।१।६९) के द्वारा ह्रस्व 'अ' से दीर्घ और प्लुत का ग्रहण करने की अलग से व्यवस्था करनी पड़ी, और फिर 'तपरस्तत्कालस्य' (पा. अ. १।१।७०) के द्वारा समकाल के हो ग्रहण करने की भी व्यवस्था करनी पड़ी।

वैकृतध्वनि के कालभेद का प्रभाव शब्द पर (स्फोट पर) नहीं पड़ता, इस तथ्य को देखते हुए, भाष्यकार ने—"द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानम्,

कालभेदात्" (द्रुतवृत्ति में वर्ण को तपर करने पर मध्यम और विलम्बित वृत्ति में भी तपर करना चाहिए, क्योंकि इनमें भी काल-भेद होता है ।) इस माँग को "सिद्धं त्ववस्थिता वर्णाः" (यह तो मध्यम-विलम्वित वृत्तियों में तपर किये बिना भी सिद्ध है, क्योंकि इन वृत्तियों में वर्ण (स्फोट) वैसे-ही अवस्थित रहते हैं ।) कह कर अस्वीकार कर दिया ।

द्रुतादि-वृत्तियों का प्रयोग विशेषतः संगीत में होता है । संगीत में प्राकृत और वैकृत ध्वनियों का अन्तर अधिक स्पष्ट होता है । जैसे "निशि-दिन बरसत नैन हमारे" सूरदास के इस पद को हम जब किसी गायक के मुख से सुनेंगे तो साधारण कविता-पाठ के समान ही अर्थ-बोध (स्फोट) होगा, किन्तु कविता-पाठ की अपेक्षा गायन में समय अधिक लगेगा । गायक इसको गाने में विलम्बित-वृत्ति का प्रयोग करेगा, जबकि पाठक द्रुत या मध्यम वृत्ति में पढ़ेगा । दोनों अवस्थाओं में अर्थ या स्फोट में कोई अन्तर नहीं होगा । हाँ, वृत्तियाँ अवश्य अलग-अलग होंगी ।

वैसे यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि – वृत्तियाँ भी कभी-कभी अर्थ-बोध में अन्तर डाल सकती हैं । विलम्बित-वृत्ति में शृंगार या करुण रस की निष्पत्ति है तो द्रुत-वृत्ति में रौद्र आदि रसों की । यदि शृङ्गार-रस के गीत या कविता को द्रुतवृत्ति में प्रकट किया जाय तो कम-से-कम इतना तो अवश्य होगा कि स्फोट या अर्थ-बोध में रुकावट पड़ जाय ।

वाद्यसंगीत में केवल वृत्तियों के सहारे ही रस-निष्पत्ति होती है । वीणा आदि वाद्यों के शब्द यद्यपि व्याकरणशास्त्र के उपादान शब्दों में नहीं आते, तथापि इनके द्वारा निष्पन्न 'रस' शाब्दिकों के 'स्फोट' से बहुत भिन्न नहीं है । शब्द-तत्त्व का सम्बन्ध दोनों से है और बोधात्मकता भी दोनों में है । अतः यह कहना निर्विवाद नहीं होगा कि वृत्तियाँ अर्थबोध में किञ्चित् भी सक्रिय नहीं होतीं ॥७७॥

शब्दाभिव्यक्तिप्रक्रियायां प्रकारभेदः—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य च ।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम् ॥ ७८ ॥

ध्वनिभिः वर्णाभिव्यञ्जकैः, इन्द्रियस्य श्रोत्रस्य एव नान्यस्य, संस्कारः ग्राहकशक्तेः समुद्बोधनं क्रियते, अथ शब्दस्यैव संस्कारः ग्राह्यत्वशक्तेः समुद्बोधनं क्रियते, अथ च उभयोः इन्द्रियस्य शब्दस्य द्वयोश्च संस्कारः स्व-स्वशक्तिसमुद्बोधनरूपः संस्कारः क्रियेत, इति त्रयः अभिव्यक्तिवादिनां शब्दा नित्या अतः स्वानुकूलसामग्र्या अभिव्यज्यन्ते, इति ये वदन्ति ते अभिव्यक्तिवादिनस्तेषामुक्तास्त्रयो वादा सन्ति ।

त्रयो वादा इति । अत्र स्फोटाभिव्यक्तिप्रक्रियायामभिव्यक्तिवादिनां त्रयो वादाः सन्ति । स्फोटो हि बोधात्मा बौद्धः पदार्थः । स च ध्वनिभिरभिव्यज्यते । तत्र ह्यभिव्यञ्जनप्रक्रियायां ध्वनयः किं कृत्वा स्फोटं शब्दं वाभिव्यञ्जयन्ति ? वैखरीशब्दो हि नादात्मकः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यो विषयः । स च श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण बुद्धया गृहीतः स्फोटमभिव्यञ्जयति, तत्राभिव्यञ्जका ध्वनयो विषयरूपे शब्दे किमपि विशेषं कुर्वन्ति, श्रोत्रेन्द्रिये किमपि विशेषं कुर्वन्ति, उभये वा कुर्वन्ति ? यदि कस्मिन्नपि किमपि न कुर्वन्ति, तदा सतामेव भावानामभिव्यक्तिपक्षे ध्वन्यभावेऽपि स्फोटस्य कथं न सर्वदोपलम्भः ? इति प्रश्ने त्रयः प्रकारा अभिमताः ।

तद्यथा—१. ध्वनिभिरिन्द्रियस्यैव संस्कारः क्रियते ।

२. ध्वनिभिः शब्दस्यैव संस्कारः क्रियते ।

३. ध्वनिभिः शब्देन्द्रियोरुभयोरपि संस्कारः क्रियते । इति ।।७८।।

"स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियाँ किस प्रकार करती हैं ?" इस विषय में अभिव्यक्तिवादियों के तीन मत हैं—

१. पहला मत—ध्वनियाँ इन्द्रिय को शब्द-ग्रहण करने योग्य बनाती हैं ।

२. दूसरा मत—ध्वनियाँ शब्द को इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाती हैं ।

३. तीसरा मत—ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय को शब्द-ग्रहण के योग्य भी बनाती हैं और शब्द को इन्द्रिय-ग्राह्य भी बनाती हैं ।

इन तीनों मतों का पृथक्-पृथक् विवेचन आगे किया जायगा ।। ७८ ।।

दृष्टान्तमुखेन शब्दाभिव्यक्तिप्रकारौ—

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिना ।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये ।।७९।।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिना भवति । समाधानम् एकाग्रताविषये सम्यक्प्रवृत्तिश्च, अञ्जनं कज्जलं दृग्दोषापनयनाय प्रयुक्तम् उपनेत्रादि वा, एभिः साधनैः रूपग्रहणाय चक्षुरिन्द्रियस्यैव संस्कारः क्रियते, न तु रूपस्य । विषयस्य संस्कारस्तु तद्गन्धप्रतिपत्तये वस्तुगतगन्धस्य प्रतिपत्तये उपलब्ध्यै क्रियते, यथा घृतस्योत्तापनेन तस्यानुद्भूतगन्धस्योपलब्धिर्भवति ।

गन्धसंस्कारो गन्धाधारसंस्कारद्वारकः। अत्र घ्राणेन्द्रियस्य न कोऽपि संस्कारः।

इन्द्रियस्यैवेति। "ध्वनिभिरिन्द्रियस्यैव संस्कारः क्रियते" इति प्रथमः पक्षो दृष्टान्तमुखेन व्याख्यायते। ध्वनिः श्रवणेन्द्रियं शब्दग्रहणायोद्बुद्धं करोति, न तु शब्दे किमपि विशेषं सम्पादयति। यथा रूपदर्शने यदि कदाचित् कश्चिदवरोधः प्रतीयते तदा मनसश्चक्षुषो वैकाग्रता स्थाप्यते, अञ्जनेनोपनेत्रेण वा चक्षुः संस्क्रियते, न तु रूपे वस्तुनि कोऽपि विशेषः सम्पाद्यते। एवं शब्दग्रहणेऽपि ध्वनयः श्रवणेन्द्रियस्यैव शब्दग्रहणयोग्यतामुद्बोधयन्ति, न तु शब्दे किमपि विशेषं सम्पादयन्ति। यदि ते शब्दे किमपि विशेषं सम्पादयिष्यन्, तदा सर्वेषामेव श्रवणेन्द्रियवतामसमाहितानामपि शब्दश्रवणमभविष्यत्। न तु तथा भवति, तेन श्रवणेन्द्रियस्यैव संस्कारो ध्वनिभिः क्रियते, इति प्रथमप्रकाराभिप्रायः।

विषयस्य त्विति। अथ द्वितीये प्रकारे दृष्टान्तः प्रस्तूयते। यथा गन्धप्रतिपत्तये गन्धाधारस्य वस्तुन एव संस्कारः क्रियते, तथैव ध्वनिभिः विषयरूपस्य शब्दस्यैव संस्कार क्रियते। उत्तापनेन घृतगन्धः प्रतिपद्यते। शुष्के मृद्घटे जलसेकेन मृद्गन्धः प्रतिपद्यते, गन्धप्रतिपत्तये घ्राणेन्द्रियस्योत्तापनं सेचनं वा न क्रियते। एवं ध्वनिभिः शब्दप्रतिपत्तये श्रवणेन्द्रिये न कोऽपि विशेषः क्रियते, अपि तु शब्दस्यैव ग्राह्यत्वशक्तिः समुद्बोध्यते। यदि च ध्वनयः श्रवणेन्द्रिये कमपि विशेषमापादयिष्यन्, तदा सकृदेवोद्बुद्धं श्रवणेन्द्रियं सर्वानिव व्यवहितानव्यवहिताञ्छब्दानश्रोष्यत्। न तु तथा भवति, तेन शब्दस्यैव संस्कारो ध्वनिभिः क्रियत इति द्वितीयप्रकाराभिप्रायः।

विषयप्रतिपत्तय इन्द्रियं संस्क्रियते न विषयः, विषयः संस्क्रियते नेन्द्रियमित्युभयथापि दृष्टान्ता उपलभ्यन्ते। शब्दप्रतिपत्तिविषये तूभयथापि प्रतिकूलानुकूलस्थिती स्तः ॥७९॥

प्रथम मत में—इन्द्रिय को ही ग्रहण करने योग्य बनाने की बात कही गई है। यदि हम किसी सम्मुखस्थ वस्तु को देखने में कठिनाई अनुभव करते हैं, तो अपनी नेत्रेन्द्रिय का ही दोष मानकर उसे ध्यान से देखते हैं या अञ्जन या चश्मे का उपयोग करते हैं। चश्मा देखने में सहायक है, उसे आँख पर लगाते हैं, न कि वस्तु पर। चश्मा दृश्य वस्तु को बड़ा नहीं बनाता, बल्कि आँख की देखने की शक्ति बढ़ाता है। इसी तरह ध्वनियाँ भी श्रवणेन्द्रिय से टकरा कर उसे शब्द-ग्रहण के लिए जागरूक करती हैं, न कि शब्द में कुछ विशेषता पैदा करती हैं।

एक बात यह भी है कि यदि ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित न करती होतीं और शब्दों में ही कोई ऐसी विशेषता ला देतीं कि वह ग्रहण करने योग्य हो जाता, तो शब्द के अभिव्यक्त होते ही उन सभी को, जिनकी श्रवणेन्द्रियाँ हैं, शब्द का श्रवण हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिए ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय को ही शब्द-ग्रहण के योग्य बनाती हैं।

दूसरे मत में--शब्द को ही श्रवणयोग्य बनाने की बात कही गई है। कोरे घड़े में सामान्यतः कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती। यदि उसमें थोड़ा पानी छिड़क दिया जाय तो उससे सोंधी गन्ध आने लगती है। घड़े की गन्ध जानने के लिए यदि घड़े के बजाय नाक पर पानी छिड़का जाय तो व्यर्थ ही है। इसी प्रकार ध्वनियाँ शब्द को श्रवणयोग्य बनाती हैं। यदि ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित करती होती तो एक बार ही श्रवणेन्द्रिय के उत्तेजित हो जाने पर सभी शब्दों का एक-साथ श्रवण हो जाया करता। किन्तु ऐसा नही होता, इसलिए ध्वनियाँ शब्द को ही श्रवणयोग्य बनाती हैं।

इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण किये जाने के विषय में ये दोनों बाते अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं। शब्दाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में दोनों मतों में कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल स्थिति बनती ही है।। ७९ ।।

पुनर्दृष्टान्तमुखेन शब्दाभिव्यक्तिप्रकारः--

चक्षुषः प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरिति।
विषयेन्द्रिययोरिष्टः संस्कारः स ध्वनेः क्रमः ॥८०॥

चक्षुषः नेत्रस्य, प्राप्यकारित्वे पक्षे, तेजसा प्रकाशेन, विषयेन्द्रययोः विषयस्य इन्द्रियस्य च द्वयोः, संस्कारः समुद्बोधनम्, इष्टः अभिमतः, इति इतिवत्, ध्वनेः वर्णाभिव्यञ्जकस्य, सः प्रकाशविषये य उक्तः क्रमः, स एव क्रमः अस्ति। ध्वनिः श्रोत्रमपि समुद्बोधयति शब्दमपि च।

प्राप्यकारित्व इति। चक्षुर्हि तेजःसहकारेण रूपं गृह्णाति। तत्र रूपग्रहणे चक्षू रूपं पदार्थं गत्वा गृह्णाति, उत स्वस्थाने स्थितमेवेति पक्षद्वयं वर्तते। प्राप्य करोतीति प्राप्यकारी, तत्त्वं प्राप्यकारित्वम्। चक्षू रूपं प्राप्य तद्ग्रहणं करोतीति प्राप्यकारित्वपक्षः, अप्राप्यैव करोतीत्यप्राप्यकारित्वपक्षः। सूर्यादीनां दूरस्थपदार्थानामतिविप्रकृष्टत्वात्तावद्दूरगमनं चक्षुषोऽसम्भाव्यम्, मध्ये स्थितानां ग्रहाणामनुपलब्धिं च दृष्ट्वा चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वं केचिदाश्रयन्ति बौद्धाः। अन्ये तु नैयायिकादयः प्राप्यकारित्व-

मेवाभ्युपगच्छन्ति, तमसि स्थितेनापि चक्षुषा प्रकाशस्थितवस्त्ववलोकनात्। तेजोमयं च चक्षुः प्रकाशितं रूपं गत्वा गृह्णातीति तेषामाशयः।

द्वयोरिति। अप्राप्यकारित्वपक्षमनुपपन्नं मत्वा प्राप्यकारित्वपक्ष एवात्र समाश्रियते। अत्र पक्षे विषयस्येन्द्रियस्य च द्वयोरपि संस्कारस्तेजसा क्रियते, इति सर्वेषामिष्टः। तद्यथा—तेजो हि रूपे पदार्थे पतितं रूपं प्रकाशयति, तेजोमयं च चक्षुरिन्द्रियं, रूपं पदार्थं प्राप्तं, ग्रहणव्यापृतं करोति।

ध्वनेः क्रम इति। ध्वनिरपि विषयरूपं शब्दं ग्रहणयोग्यं विधाय श्रवणेन्द्रियं शब्दग्रहणाय प्रवर्तयति। एवं ध्वनिभिरुभयोरपि संस्कारः क्रियत इति तेजोदृष्टान्तेन सम्यगुपपद्यते। प्रथम-द्वितीयमतयोर्यदपि प्रातिकूल्यमापद्यते स्म, तदस्मिन् तृतीये मते नास्तीति ध्वनेरयमेव क्रम इष्टो बोध्यः।

वस्तुतस्तु—न चक्षू रूपं गृह्णाति, न च चक्षुषि प्राप्यकारित्वमस्ति। चक्षुर्हि प्रकाशं गृह्णाति स्वस्थानस्थितमेवेत्याधुनिकनयः। प्रकाशस्तु स्वप्रसरणशक्त्या मूर्तिमत्ति पदार्थे पतितः परावृत्य चक्षुःपटले पतति, प्रकाशितपदार्थस्य स्वगतपरावर्तनयोग्यतापरिमाणेन। स च चक्षुःपटलान्तःसन्निहितदर्शनचेतनावाहिन्या (Optes nerves) चक्षुरिन्द्रियरूपया धमन्या मस्तिष्कं नीयते। मस्तिष्केण च तस्य मन्द-तीव्रत्वं घनविरलत्वं भास्वराभास्वरत्वम्, एतज्जनितमुच्चावचत्वं, पृथु-लघु-वर्तुला-यत-वर्ग-घना-द्याकारावग्रहश्च विज्ञायते, एवं च चक्षुषः प्राप्यकारित्वाभावे रूपग्राहकत्वाभावेऽपि तेजसा विषयस्य रूपस्य तद्ग्राहकस्येन्द्रियस्योभयस्यापि संस्कारः क्रियते, इति तु निर्विवादं सिद्धमेव।

शब्दे पुनरयं क्रमस्तदैवोपपद्यते यदा ध्वनिभिन्नः कश्चिच्छब्दः स्वीक्रियते। आधुनिकानां नैयायिकादीनां च ध्वनिरेव शब्दः। शब्दध्वन्यभेदे नोभयसंस्कारपक्ष उपपद्यते। शाब्दिकनयेऽपि—ध्वनिभिन्नस्य कस्यचित्स्फोटरूपस्य शब्दस्य स्वीकारेऽपि दृष्टान्तोऽयं न निर्दुष्टः। एतद्दृष्टान्तपथा ध्वनिभिन्नः स्फोटरूपः शब्दः श्रवणेन्द्रियस्य विषयस्थाने पतति, तेन तस्य नित्यत्वं निराकुलं न तिष्ठति, तथाप्यभिव्यक्तिपक्षे ध्वनिभिरभिव्यक्तस्य स्फोटस्य नित्यत्वं न विहन्यत इति बोधव्यम्॥ ८०॥

तृतीय मत में—श्रवणेन्द्रिय और शब्द, दोनों में कुछ विशेषता ध्वनियों द्वारा उत्पन्न किये जाने की बात कही गई है। जैसे प्रकाश दृश्य-वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है और आँखों को भी देखने के लिए उत्प्रेरित करता है। प्रकाश यदि केवल दृश्य-वस्तु पर पड़े और आँख देखने के लिए सक्रिय न हो तो वस्तु दिखाई

नहीं देती। और यदि आँख पर प्रकाश पड़े किन्तु वस्तु पर न पड़े, तब भी दर्शनक्रिया सम्पन्न नहीं होगी। तेजोमय चक्षु इन्द्रिय प्रकाशित वस्तु से सम्पृक्त होकर दर्शन-क्रिया को सम्पन्न करता है। इसे तेजोमय चक्षु का प्राप्यकारित्व कहते हैं। इसी प्रकार ध्वनियाँ यदि केवल शब्द को ही ग्रहणयोग्य बनाएँ और श्रवणेन्द्रिय को शब्द-ग्रहण के लिए उत्तेजित न करें, तो शब्द सुना नहीं जा सकता। साथ ही यदि श्रवणेन्द्रिय को उत्तेजित तो करें, किन्तु शब्द को ग्रहणयोग्य न बनाएँ, तो भी शब्द सुना नहीं जा सकता। इसलिए यह मत उत्तम है कि ध्वनियाँ शब्द और श्रवणेन्द्रिय दोनों में ही ग्रहणयोग्यता पैदा करती हैं।

शब्दोपलब्धि के विषय मे यह तृतीय मत श्रेष्ठ और विज्ञान-सम्मत है। ध्वनि के अतिरिक्त शब्द की कल्पना तो विज्ञान की परिधि के बाहर है, वह तो ध्वनि को ही शब्द मानता है, जैसे नैयायिक भी मानते हैं, परन्तु विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि—ध्वनि उत्पत्ति-स्थान (मुख) के आस-पास वायु की तहों पर आघात कर कम्पनयुक्त वायु-तरङ्गे उत्पन्न करती है। आघात के निकटवर्ती स्थान में ये तरङ्गे अधिक वेगवती होती हैं। और ज्यों-ज्यों ये आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों इनका वेग कम होता चला जाता है। इनकी गति आघात-स्थान को केन्द्र मानकर एक परिधि के रूप में होती है। केन्द्र पर यह परिधि बहुत छोटी और अधिक शक्ति-शाली होती है। फैलने के साथ-साथ इसकी शक्ति कम होती चली जाती है। इस प्रकार आघात-केन्द्र के चारों ओर क्रमशः लघु से बृहत् और अधिक शक्तिशाली से न्यून शक्तिशाली अनेक परिधियाँ बन जाती हैं। जैसे स्तब्ध तालाब में कंकड़ डालने पर कंकड़ पड़ने के स्थान को केन्द्र बनाकर तालाब-भर में छोटी-बड़ी लहरियों का जाल बिछ जाता है, उसी तरह ध्वनि के आघात-स्थान को केन्द्र मानकर वायु-मण्डल में तरङ्गों की परिधियाँ चारों ओर फैल जाती हैं। परिधियों के इस लहरिया फैलाव को ध्वनि-तरङ्ग कहा जाता है। न्यायशास्त्र में इस ध्वनि-तरङ्ग-प्रसार के लिए "कदम्बमुकुलन्याय" या "वीचितरङ्गन्याय" का प्रयोग करते हैं।

ये ध्वनि-तरङ्गे (Sound Vaves) पूर्णतया शक्तिहीन होने से पूर्व यदि कान के पर्दे (कर्णशुष्कुली) से टकराती हैं या इनकी परिधियों के घेरे में कोई अनुपहत कान आ जाता है तो कान के अन्दर का एक घन के समान अङ्ग उत्तेजित हो उठता है और कर्ण-ढोल पर, तरङ्गों से प्राप्त कम या अधिक उत्तेजना के अनुसार आघात करता हैं। ये आघात कर्णढोल में कम्प पैदा करते हैं। इन्हीं कम्पों को श्रवणधमनी (Audio Nervcs) के द्वारा मस्तिष्क ग्रहण करता है और संस्कार के अनुसार उनके अर्थ स्थिर करता है।

इस विज्ञान-सम्मत विचार से ध्वनियाँ (अर्थात् ध्वनितरङ्गें) श्रवणेन्द्रिय को शब्द-ग्रहण करने के लिए उत्तेजित करती हैं। या यों कहें कि श्रवणेन्द्रिय का उद्बोधन संस्कार करती हैं। अब रहा प्रश्न शब्द को श्रवणेन्द्रिय का ग्राह्य बनाने का ? तो यह इस बात पर निर्भर करता है कि ध्वनि के अतिरिक्त शब्द है या नहीं ?

स्फोट एक बौद्ध-पदार्थ है और वाचकता इसका लक्षण। यह स्वयं श्रवणीय नहीं है, अपितु श्रवणोत्तर प्रतीति है। अभी ध्वनि-तरंगों का निरूपण करते समय कहा गया है कि-श्रवणधमनी से प्राप्त कम्पों का अर्थ मस्तिष्क संस्कार-अनुसार स्थिर करता है। यह अर्थ स्थिर होने का क्षण या घटना ही स्फोट-स्थिति है। इस प्रकार उच्चरित ध्वनियाँ तरङ्गें बनकर जहाँ श्रवणेन्द्रिय में कम्पों की हलचल मचाकर इन्द्रिय को संस्कृत करती हैं, और स्फोट-स्थिति को भी सम्पन्न करती हैं, वहाँ दोनों कार्यों में ध्वनियों का ही हाथ है।

यहाँ स्फोट के सम्बन्ध में क्षण या घटना या कार्य शब्द का प्रयोग करने से स्फोट में कुछ अनित्यता का भान होने लगता है। दृष्टान्त में रूप (विषय) के साथ स्फोट की तुलना से भी स्फोट की अनित्यता झलकती है। तथापि ध्वनि-सम्बन्धी उक्त तीनों मत "अभिव्यक्तिवाद" में माने गये हैं। इस वाद का अर्थ ही यह है कि-किसी पदार्थ को उत्पन्न होता देख उसे अनित्य नहीं मान लेना चाहिए। पदार्थ उत्पन्न नहीं, अभिव्यक्त हुआ है। ध्वनियों के द्वारा किसी क्षणविशेष में या किसी घटनाक्रम में स्फोट यदि उत्पन्न होता है तो काल या क्रिया के योग से वह अनित्य है, यह मानना ठीक नहीं। क्योंकि वह उत्पन्न नहीं, अभिव्यक्त हुआ है, अनुकूल स्थिति और कारण पाकर ॥ ८० ॥

ध्वनिग्रहणे मतत्रयम्—

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकल्पितः ॥ ८१ ॥

स्फोटरूपाविभागेन स्फोटस्वरूपात् अविभागेन भेदं विना, स्फोटस्वरूप एकात्मतया न तु स्फोटात्पृथक्, ध्वनेर्ग्रहणं उपलब्धिः, इष्यते इष्टा। कैश्चित्तु ध्वनिः असंवेद्यः स्फोटोपलब्धौ न संवेद्यः, नानुभूयते, इति प्रकल्पितः स्वीकृतः। अन्यैश्च ध्वनिः स्वतन्त्रः प्रकल्पितः। नैकात्मतया गृह्यते, नासंवेद्यः, अपि तु स्फोटोपलब्धौ पृथक् स्वतन्त्रसत्तावानस्तीति।

स्फोटरूपाविभागेनेति। शब्दाभिव्यक्तिविषये मतत्रयं प्रदर्श्य तत्र स्फोटाभिव्यक्तौ ध्वनिग्रहणविषयेऽपि दर्शनत्रयं प्रदर्श्यते। तत्र हि ध्वनिः स्फोटादविभक्तः संसृष्ट एव स्फोटाभिव्यक्तौ गृह्यते। यथा स्फटिकादौ संसृष्टपदार्थानां लौहित्याद्यप्रविभक्तं संसृष्टं गृह्यते, तथैव स्फोटे ध्वनिगुणाः संसृष्टाः प्रतीयन्ते। स्फोटात् पृथक् प्रतीतिस्तु ध्वनेर्न भवतीत्येकं दर्शनम्।

असंवेद्य इति। अन्ये तु–ध्वनिमसंवेद्यमिच्छन्ति। यथा हीन्द्रियाणि विषयोपलब्धिकाल इन्द्रियत्वेन स्वरूपेण न गृह्यन्ते, अपि तु विषयाकार एव विलीनानि विषयस्वरूपेणैव गृह्यन्ते, तेषां पृथक् संविदा तु न भवति, तथैव ध्वनिरपि स्फोटाकारे विलीन एव गृह्यते, तस्यापि पृथक् संविदा न भवति। इति द्वितीयं दर्शनम्।

स्वतन्त्र इति। अपरे तु—स्फोटाभिव्यक्तौ ध्वनिः स्वतन्त्र एव। नासंवेद्यः, न च स्फोटाविभक्तः। दूरात् श्रूयमाणे ध्वनौ स्फोटाभावेऽपि कोलाहलरूपेण निनदेन ध्वनेर्ग्रहणं भवत्येव। तत्र स्फोटाभावेन स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमसम्भवम्। एवं च यत्र ध्वनिरेव गृह्यते न स्फोटस्तत्र ध्वनेरसंवेद्यत्वमप्यसम्भवम्। तेन ध्वनिः स्वतन्त्र इति सिद्ध्यति, इति तृतीयं दर्शनम्।

अत्रेदं बोध्यम्—त्रिष्वप्येतेषु दर्शनेषु ध्वनिग्रहणविषयकं तथ्यमस्त्येव। स्फोटाभावे स्वातन्त्र्येण ध्वनेर्ग्रहणं भवितुमर्हति, परन्तु स्फोटकाले तथा न भवतीत्यनुभवसिद्धम्। प्रबलसंस्कारवशाद्यदा स्फोटोपलब्धिर्भवति तदा विलीना एव ध्वनयोऽसंवेद्या भवन्ति। यदा च सव्युत्पत्तिका स्फोटोपलब्धिस्तदा ध्वनीनामप्याभासः स्फोटस्वरूपे भवत्येव। तदाभासस्तु—"अयं ध्वनिः, अयं स्फोटः" इत्याकारेण न भवति, अतः स्फोटरूपाविभागेन तद्ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते। इदमेव चेष्टं दर्शनमिति "इष्यते" इत्यनेन सूच्यते। अन्यद् दर्शनद्वयं स्थितिविशेषेण सम्बद्धमतः स्थितिविशेष एव तस्य स्वीकार इति॥ ८१॥

शब्द (स्फोट) की अभिव्यक्ति में ध्वनि का क्या कार्य है? इस विषय में तीन मत और उनकी विवेचना की जा चुकी है। ध्वनि के ग्रहण के विषय में भी तीन मत हैं—

१. पहले मत में—ध्वनि स्फोट (शब्द) के साथ ही अविभक्तरूप में गृहीत होती है। अर्थात् स्फोट के समय स्फोट और ध्वनि का मिला-जुला आभास होता है। जैसे स्फटिक आदि मणियों में समीपस्थ वस्तुओं के रंग की झलक दिखाई देती है।

२. दूसरे मत में---ध्वनि असंवेद्य है। अर्थात् स्फोटोपलब्धि के समय ध्वनि का कोई बोध नहीं होता। जैसे इन्द्रियाँ विषयोपलब्धि के समय अपने रूपमें गृहीत नहीं होनीं, अपितु विषयाकार में विलीन होकर गृहीत होनी हैं। अथवा जैसे प्रकाश प्रकाशित वस्तु के साथ विलीन होकर ही गृहीत होता है। प्रकाश और प्रकाशित वस्तु का पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, केवल प्रकाशित वस्तु ही दिखाई पड़ती है।

३ तीसरे मत में—ध्वनि को शब्द से पृथक् स्वतन्त्र माना गया है। यह मत दूर से आने वाली और ऐसी ही अन्य अस्फुट ध्वनियों के आधार पर माना गया हैं। दूर से आने वाली ध्वनि से शब्दबोध (स्फोट) नहीं होता, किन्तु ध्वनि सुनाई पड़ती है। इसलिए ध्वनि स्वतन्त्र है।

तीसरा मत अपने क्षेत्र में ठीक है। स्फोट न होने पर भी ध्वनि का श्रवण होता है। जिस भाषा को हम नहीं जानते उसकी ध्वनियाँ भी तो सुनाई पड़ती हैं। अज्ञात भाषा से स्फोट होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। स्फोट न होने की दशा में ध्वनि का मिला-जुला या सर्वथा असंवेद्य ग्रहण होने की सम्भावना ही नहीं है। ज्ञात भाषा मे भी कभी-कभी अवधान न होने मे या वक्ता के मुखोच्चारणदोष से भी स्फोट नहीं होता, किन्तु ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। तभी तो पूछा जाता है— "क्या कहा आपने ?" अतः ध्वनि स्वतन्त्र अवश्य है।

पहला और दूसरा मत प्रायः मिलते-जुलते हैं। दोनों का अभिप्राय यही है कि शब्द-बोध अर्थात् स्फोट होने की दशा में ध्वनि का ज्ञान या तो स्फोट के साथ मिला-जुला होता है या होता ही नहीं। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ध्वनि का स्फोट के साथ मिला-जुला बोध तब होता है जब श्रोता व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थबोध करता है। "रामः" कहने पर यदि श्रोता "रमु क्रीडायाम्" धातु का तज्जनित "घञ्" प्रत्यय का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थबोध करेगा तो अवश्य ही निस्प्रयुक्त वृद्धि 'आकार' का ज्ञान उसे होगा ही, चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म ही क्यों न हो। केवल उतना ही झिलमिलाता-सा, जितना मणि में समीपस्थ वस्तु के रंग का। किन्तु यदि श्रोता प्रबलसंस्कारवश "राम" का अर्थ "राम" बिना व्युत्पत्ति के ही समझ लेता है तो अधिक सम्भावना यही है कि उसे ध्वनि का बोध होवे ही नहीं। इतना होते हुए भी ध्वनियों का मिला-जुला बोध होता है, यही श्रेष्ठ मत है। कूप, यूप, सूप आदि में ध्वनि का मिला-जुला बोध होना और भी स्पष्ट है। ऐसे शब्दों का एक-साथ प्रयोग होने पर यदि ध्वनियों का स्फोट के साथ मिला-जुला बोध न हो तो गड़बड़ होने की पूरी सम्भावना है। "यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः

शब्देष्वेव प्रवर्त्तते । व्यवसायो ग्रहीतॄणां तथा तेष्वेव जायते ॥" (वा. प. १।५२) के अनुसार भी यही उचित प्रतीत होता है कि ध्वनियों का स्फोट के साथ मिला-जुला बोध हो ॥ ८१ ॥

ध्वनिभिः स्फोटाभिव्यक्तिप्रक्रिया—

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्या, न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते ॥ ८२ ॥

यथा अनुवाकः वेदर्चसमूहः, वेदसहितानां विभागा अनुवाका उच्यन्ते, श्लोको वा आवृत्या पुनः पुनः पठनेन, सोढत्वं बुद्धिवहनीयत्वं, प्रतीतार्थत्व-मित्यर्थः, उपगच्छति प्राप्नोति, परं सः पुनः पुनः पठितः, ग्रन्थः ग्रन्थैकदेशः रचना वा, प्रत्यावृत्ति आवृत्तिं आवृत्तिमनु, प्रथमायां आवृत्तौ ज्ञातं, द्वितीयायां वा ज्ञातमित्याकारेण तु, न निरूप्यते ज्ञातार्थो न भवति । तथेत्यग्रेऽन्वयः—

यथेति । उक्ताः खलु त्रयो वादा ध्वनिभिः शब्दाभिव्यञ्जनविषये । शब्दाभिव्यञ्जने च ध्वनिग्रहणविषये दर्शनत्रयमपि प्रदर्शितम् । परम्, उच्च-रितप्रध्वंसिभिः क्रमजन्मभिर्ध्वनिभिः शब्दाभिव्यञ्जनं कथं सम्भवति ? यदि प्रथमवर्णोच्चारणे शब्दाभिव्यक्तिस्तदान्यवर्णोच्चारणं व्यर्थम्, यदि चान्त्येन वर्णेन, तदा पूर्ववर्णानामनुपयोगित्वम्, यदि च सर्वैस्तदानेकशब्दा-भिव्यक्तिप्रसङ्गः । अथ च यदि समुदायेन शब्दाभिव्यक्तिरित्युच्यते, तदपि नोपपद्यते, प्रध्वंसिनां ध्वनीनां समुदायस्यानुपलम्भात् । एवं स्थिते दृष्टान्त-मुखेन व्यवस्थाप्यते--

अनुवाक इति । अनुवाकः श्लोको वा पौनःपुन्येन पठितः स्फुटार्थो भवतीत्यनुभवसिद्धम् । तदत्रावृत्तिपाठे कोऽसौ गुणविशेषो येनार्थस्फोटो जायते ? अत्रापि त एव प्रश्नाः समुद्भावयितुं शक्यन्ते ये शब्दाभिव्यञ्जने ध्वनिविषये समुद्भाव्यन्ते । किं प्रथमायामावृत्तौ श्लोकार्थः स्फुटति, अन्ति-मायां वा ? सर्वासु वा ? उतावृत्तिसमुदाये ? एते प्रश्ना एतेषामुत्तराणि च किमप्यौचित्यं न भजन्ति, अनुभवविरुद्धत्वात् । इदं तु वक्तुं शक्यते यत् प्रत्येकमावृत्तौ किमप्येतादृशमनुपाख्येयं भवत्येव येन चरमायामावृत्तावर्थ-स्फोटो जायते । यथावृत्या श्लोकार्थः स्फुटति तथैव ध्वनिभिः स्फोटोऽ-भिव्यज्यते, इत्यग्रेऽन्वयः ॥ ८२ ॥

श्लोक या अनुवाक (वेद की ऋचाओं का समूह) बार-बार पढ़ने से बुद्धिगम्य हो जाता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। परन्तु श्लोकार्थ के बुद्धिगम्य हो जाने पर भी यह कहना कठिन होता है कि किस आवृत्ति में कितना अर्थ स्पष्ट हुआ ? प्रथम आवृत्ति से अन्तिम आवृत्ति के बीच कुछ ऐसा अवश्य होता है कि अन्तिम आवृत्ति तक आते-आते पूर्ण श्लोकार्थ स्पष्ट हो जाता है। जैसे पाठ की आवृत्तियों से श्लोकार्थ स्पष्ट होता है, वैसे ही प्रथम ध्वनि से अन्तिम ध्वनि तक आते-आते शब्द-रूप (स्फोट) का अवधारण हो जाता है। किस ध्वनि से कितना स्फोट होता है ? यह कहना कठिन है। अगली कारिका में इसकी चर्चा है ॥ ८२ ॥

शब्दस्वरूपावधारणे केऽप्यनुपाख्येयाः प्रत्ययाः—

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ ८३ ॥

तथा यथा श्लोक आवृत्त्या बुद्धिगम्यो भवति, तथा एव अनुपाख्येयैः आख्यातुमशक्यैः, ग्रहणानुगुणैः, ग्रहणं बोधः तद् अनुगुणयन्ति प्रकर्षयन्ति ये, तैः प्रत्ययैः अवधारणात्मकबोधैः, ध्वनिप्रकाशिते, ध्वनिभिः अभिव्यञ्जकनादैः प्रकाशिते ग्राह्यतामापन्ने, शब्दे, तस्य शब्दस्य स्वरूपं स्फोटस्वरूपं, अवधार्यते निश्चयात्मकतया बुध्यते।

प्रत्ययैरिति। सत्येवं निश्चये यद्ध्वन्युच्चारणं विना स्फोटो नाभिव्यज्यते, ध्वनिभिः प्रकाशयिष्यमाणे शब्दे प्रत्येकं ध्वनिभिरनुपाख्येया अपि ग्रहणानुगुणाः प्रत्यया उत्पाद्यन्ते। यद्येवं न स्यात्तदोच्चरितप्रध्वंसिभिस्तैः शब्दस्य श्रुत्यात्मकं बोधात्मकं च स्वरूपमभिव्यञ्जयितुं न शक्येत। उच्चारणोत्तरकालं विनष्टा अपि ध्वनयो बोधानुगुणान्प्रत्ययाञ्जनयन्त्येवेत्यनुभवसिद्धम्। तत्र दृष्टान्तः श्लोकावृत्तिपाठजनितबोधः। यथा श्लोकावृत्तिपाठे कस्यामावृत्तौ कियान् बोधः संवृत्त इतीदं तदित्याकारेण वक्तु न शक्यते, तथैव कस्मिन्ध्वनावुच्चरिते कियान्स्फोटः संवृत्त इत्यपीदं तदित्याकारेणाख्या तु न शक्यते।

अवधार्यत इति। प्रत्येकं ध्वनयः क्षणिकत्वाद्वर्ण-पद-वाक्यात्मकं शब्दस्वरूपं घटयितुं न शक्नुवन्ति, परं ते स्वाभिव्यञ्जकशक्त्या वर्ण-पद-वाक्यविषयकं स्फोटमाविर्भावयन्तस्तादृशस्फोटविषयिणीं बुद्धिं जनयन्ति, तत्र हि गकारौकारादिध्वनयो गकारौकारादिविषयकं वर्णस्फोटं, गौरिति पदविषयकं, "गामानय" इति वाक्यविषयकं च पद-वाक्यस्फोटौ पुनः पुनरा-

विर्भावयन्ति । तेनैव च स्फोटोपलब्धिक्रमेण तत्तत्स्फोटविषयिणी बुद्धिर्जायते, ताश्च बुद्धयः स्व-स्व-प्रत्ययजनितसंस्कारक्रमेणान्त्यवर्णस्फोटविषयिण्यां बुद्धौ शब्दस्वरूपमध्यारोपयन्ति । ततः शब्दस्वरूपावधारणं भवति ।

अयं हि संहितासूत्रभाष्योक्तः क्रमः । अत्रापि वर्णपदवाक्यस्फोटद्वारकं शब्दस्वरूपावधारणं सक्रममेव । तत्तत्स्फोटाभ्युपगमेनोत्तरोत्तरस्फोटविषयिण्यां बुद्धौ संस्काराधानमनेन सिध्यति, अन्यथा विनष्टेषु ध्वनिषु तथा संस्काराधानं दुष्करं स्यात् । ध्वन्युपलब्धिक्रमेण स्फोटोपलब्धिक्रमेण वा शब्दस्वरूपावधारणमिति क्रमिकत्वं तदवस्थमेव । तदुक्तं संग्रहे—"नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते ।" इति ॥ ८३ ॥

जिस प्रकार श्लोकावृत्ति पाठ से श्लोक का अर्थ स्फुट हो जाता है, उसी प्रकार ध्वनियों के द्वारा प्रकाशित होने वाले शब्द का स्वरूप भी ध्वनि को ग्रहण कराने वाले कुछ ऐसे बोधात्मक संस्कारों के द्वारा स्फुट हो जाता है, जो अनुपाख्येय होते हैं ('यह ऐसा संस्कार है' इस प्रकार कहना कठिन है ।)

यहाँ विचारणीय यह है कि—ध्वनियों से शब्दबोध कैसे होता है ? माना कि ध्वनियाँ श्रवणेन्द्रिय को शब्दोपलब्धि के लिए उत्तेजित करती हैं और शब्द को ग्रहण योग्य बनाती है । यह भी माना कि—वे शब्द के साथ एक-रूप होकर (या असंवेद्य रह कर ही) गृहीत होती हैं । परन्तु प्रश्न तो यह है कि—ध्वनियाँ क्षणिक हैं, इसलिए एक से अधिक ध्वनियाँ एक-साथ तो मिल नहीं सकतीं, फिर 'राम' आदि अनेक ध्वनिसंघात से होने वाला स्फोट कैसे हो सकता है ? क्या 'राम' की प्रथम ध्वनि 'र्' से ही स्फोट हो जाता है ? या अन्तिम 'अ' से होता है ? दोनों ही दशाओं में अन्य ध्वनियों का उच्चारण व्यर्थ होगा । क्षणिक ध्वनियों का समुदाय तो वन ही नहीं सकता । यदि प्रत्येक ध्वनि से स्फोट माने तो एक 'राम' से ही कई स्फोट होंगे ।

इसका उत्तर यह है कि—प्रथम उच्चरित ध्वनि यद्यपि तत्काल ही नष्ट हो जाती है, तथापि श्रोता की बुद्धि में अपना एक बोधात्मक संस्कार छोड़ जाती है । इसके बाद दूसरी ध्वनि उच्चरित होकर नष्ट होती है और वह भी बुद्धि में अपना संस्कार छोड़ जाती है । इसी प्रकार क्रमशः अनेक ध्वनियाँ अपना-अपना संस्कार छोड़ती जाती हैं । इस प्रकार ध्वनियाँ चाहे क्षणिक (उच्चरित-प्रध्वंसी) होने के कारण युगपत् पूर्वापर क्रम से प्राप्त न भी हों, फिर भी वे श्रोता की बुद्धि में अपना पूर्वापर क्रमयुक्त संस्कार बना लेती हैं और अन्तिम

ध्वनि का संस्कार बनते-बनते स्फोट हो जाता है। इसका उदाहरण श्लोक का आवृत्ति-पाठ है।

आवृत्ति-पाठ में किस आवृत्ति में कितना अर्थ स्फुट हुआ, यह कहना तो सम्भव नहीं होता, परन्तु प्रत्येक आवृत्ति में अर्थ का कुछ-न-कुछ संस्कार होता चलता है और अन्तिम आवृत्ति तक आते-आते यह संस्कार पुष्ट होकर श्लोकार्थ को स्फुट कर देता है।

ठीक इसी प्रकार पूर्व-पूर्व उच्चरित ध्वनियों के द्वारा श्रोता की बुद्धि में जो बोधात्मक संस्कार (प्रत्यय) उत्पन्न होते हैं, वे अन्तिम ध्वनि तक पहुँच कर शब्द के सम्पूर्ण रूप को स्पष्ट कर देते हैं। ध्वनियों के ये बोधात्मक संस्कार अलग-अलग ज्ञात नहीं होते, जैसे श्लोक की प्रत्येक आवृत्ति में श्लोकार्थ का आंशिक ज्ञान नहीं होता, किन्तु प्रत्येक आवृत्ति अन्तिम आवृत्ति तक होने वाले अर्थ-बोध में सहायक होती है, वैसे ही प्रत्येक ध्वनि का बोधात्मक संस्कार अन्तिम ध्वनि तक होने वाले स्फोट का सहायक होता है।

यहाँ एक आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टान्त देना आवश्यक-सा प्रतीत होता है—हमारी आँख जिस दृश्य को देखती है, उसके सामने से हट जाने पर भी रेटीना (Retina) पर वह दृश्य एक सेकेन्ड के अट्ठारहवें भाग तक ($\frac{1}{18}$ सेकेन्ड तक) उसी प्रकार बना रहता है। यदि इसी बीच आँख के सामने दूसरा दृश्य लाया जाय तो वे दोनों दृश्य मिले-जुले दिखाई देते हैं। इस सिद्धान्त को "पक्षी पिंजरे में" (Bird in cage) नामक वैज्ञानिक खिलौने से दर्शाया जाता है। एक धातु की पत्ती पर एक ओर पक्षी और एक ओर पिंजरा बना होता है। पत्ती को तेजी से घुमाने पर पक्षी पिंजरे के अन्दर दिखाई देता है। क्योंकि धातुपत्र के दोनों पार्श्व तेजी से द्रष्टा के सामने आये हैं और आँख के उपर्युक्त गुण के कारण पक्षी और पिंजरा मिले-जुले दिखाई देते हैं। वर्णचक्र (Colour Dice) से भी यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है। विभिन्न रंगों वाले इस चक्र को तेजी से घुमाने पर केवल सफेद रंग दिखाई देता है।

आँख की तरह कान में भी यह गुण होना चाहिए। सम्भवतः जीभ आदि अन्य ज्ञानेन्द्रियों में भी। यद्यपि ऐसा कोई वैज्ञानिक प्रयोग उपलब्ध नहीं, तथापि श्रवणेन्द्रिय में भी श्रवण के बाद श्रुति-सस्कार का अनुभव होता अवश्य है। ये बोधात्मक श्रुति-संस्कार ही मिल-जुलकर स्फोट की स्थिति उत्पन्न करते हैं, जैसे वर्णचक्र के संग मिल-जुलकर श्वेतवर्ण की सृष्टि करते हैं। आवृत्तिपाठ और वर्णोच्चार में श्रवणेन्द्रिय की स्थिति चक्षुरिन्द्रिय के समान ही संस्काराधायक होकर स्फोटोन्मुख रहती है जो चरमश्रवण और चरमदर्शन के साथ सम्पन्न होती है।

उक्त वैज्ञानिक सिद्धान्त पर बने चलचित्र के दृश्यों से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। सिनेमा के जिस दृश्य को हम एक मिनट तक देखते हैं, वह एक हजार से अधिक (६० × १८=१०८०) चित्रों का सामूहिक प्रभाव होता है। अर्थात् इस एक मिनट में हमारी आँखों के सामने से एक हजार से अधिक चित्र गुजर चुके होते हैं। इस प्रकार—जैसे उन अनेक चित्रों का सामूहिक प्रभाव चल-चित्र का दृश्य होता है। यद्यपि दृश्य देखते समय वे चित्र गुजर चुके होते हैं, वैसे ही ध्वनियों के नष्ट हो जाने पर भी अनेक बोधात्मक संस्कारों (प्रत्ययों) से स्फोट होता है, शब्द-स्वरूप का अवधारण[1] होता है ॥ ८३ ॥

नादैर्बीजसंस्काराधानम्—

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥ ८४ ॥

नादैः ध्वनिभिः, आहितबीजायाम् आहितं न्यस्तं बीजं फलोद्गतिकारण-रूपं तत्त्वम्, अत्र शब्दरूपावबोधरूपफलस्य बीजं, यस्यां तथाभूतायाम्, अन्त्येन चरमेण, ध्वनिना सह चरमध्वनिग्रहणसमकालमेव, आवृत्तपरिपाकायाम् आवृत्तः सम्पन्नः, परिपाकः फलपरिपाकः, फलस्य परिपक्वावस्था यस्यां तथाभूतायां, च बुद्धौ शब्दः अवधार्यते निश्चीयते ।

नादैरिति । प्रथमेन ध्वनिना शब्दस्वरूपावबोधरूपफलस्य बीजमुप्तम्, ततोऽन्यैर्ध्वनिभिर्बीजमङ्कुरितं फलवृक्षः पोषितः पुष्पोद्गमः कारितः फलोद्भवश्च साधितस्ततोऽन्त्येन ध्वनिना फलपरिपाकः सम्पादितः । इत्थं ध्वनिभिः कृषकैर्बीजन्यासमारभ्य फलपरिपाकदशां यावत् बुद्धिक्षेत्रे यः परिश्रमः कृतस्तस्य परिणामे फलरसास्वादसमः शब्दस्वरूपावबोधः श्रोत्रा नागरेणोपभुज्यते, इति रूपकोपन्यासेन कारिकार्थः ।

अवधार्यत इति । एवं च शब्दस्वरूपावधारणं न प्रथमेन नान्त्येन न सर्वैर्न च समुदितैर्ध्वनिभिर्भवति, अपि तु प्रत्येकं ध्वनिना स्वविशिष्टधर्मोपरक्तः कश्चित्संस्कारविशेषो बुद्धावाधीयते। ते च संस्कारविशेषाः स्वस्वक्रमेण शब्दावधारणमनुगुणयन्तोऽन्त्येन ध्वनिसंस्कारेण सह शक्त्यवच्छेदकता-परिपाकं जनयन्ति बुद्धौ। ततोऽसौ शब्दस्तत्र बुद्धाववधार्यते ॥ ८४ ॥

---

१. ग्रन्थकार ने "प्रत्ययैरनुपाख्येयैः" कह कर जिन अनुपाख्येय प्रत्ययों की चर्चा की है, वैज्ञानिक दृष्टि से उन्हीं का उपाख्यान करने का प्रयास कुछ उदाहरणों के द्वारा किया गया है।

प्रत्येक ध्वनि अपना-अपना संस्कारविशेष बुद्धि में (स्वयं नष्ट होने से पहले) छोड़ जाती हैं। अन्तिम ध्वनि संस्कार के साथ ही, बुद्धि शब्दस्वरूपावधारण के विषय में ऐसी परिपक्वावस्था में पहुँच जाती है कि उसे शब्दस्वरूप का निश्चय हो जाता है।

बीज और परिपाक शब्द के प्रयोग से इस कारिका में एक ऐसे रूपक की झलक दिखाई देती है, जो खेत में मेहनत करते हुए किसानों की याद दिला देती है। बीज बोने से लेकर फसल पकने तक किसान क्या नहीं करता ? उसके हर काम के बाद फल तो नहीं लगता ? फल तो परिपाक काल में ही लगता है। परन्तु बीच की निराई-गोड़ाई, खाद-पानी लगाना तो करना ही पड़ता है। इन सब के बाद ही तो फल प्राप्त होता है। ध्वनियों की स्थिति भी किसानों जैसी ही है ॥ ८४ ॥

ध्वंस्यपि ध्वनिग्रहणोपायः--

असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः ॥ ८५ ॥

यदि कश्चित् पुरुषः ध्वन्युच्चारणस्फोटोपलब्ध्योः अन्तराले मध्ये मध्यवर्तिक्षणे, असतश्च अविद्यमानपि, यान् शब्दान्, "अस्त्यत्र स्फोटः स्फोटैकदेशो वा" इति कृत्वा मन्यते, तत् तथामाननारूपा सा. प्रतिपत्तुः तथाग्रहीतुः, अशक्तिरेव असामर्थ्यमेव। वस्तुतस्तु सः ध्वनिः पदात्मकः शब्दो वा, ग्रहणोपाय एव ग्रहणस्य उपलब्धेः स्फोटोपलब्धेः उपायमात्रम्।

असत इति। प्रथमध्वन्युच्चारणानन्तरं स्फोटावधारकान्त्यध्वन्युच्चारणं यावत् येऽपि स्फोटाभिव्यञ्जका ध्वनय उत्पद्यन्ते ते स्फोटोपलब्धिकाले सत्तावन्तो न भवन्ति, उच्चरितप्रध्वंसित्वात्। तथापि वाक्ये व्यज्यमाने पद-वर्णवर्णावयव-रूपाकाराः, पदे व्यज्यमाने वर्णवर्णावयव-रूपाकाराः, वर्णे च व्यज्यमाने वर्णावयवरूपाकाराः प्रतिपत्तय उत्पद्यन्ते, इति कृत्वा प्रथमान्त्यध्वन्यन्तरालावस्थायामसतोऽपि पद-वर्ण-वर्णावयवरूपान् शब्दान् सतोऽभिमन्यते कश्चित्, सा तस्य तथा प्रतिपत्तुरशक्तिरेव।

अशक्तिरिति। या खलु प्रतिपत्तयो भवन्ति तासां प्रतिपत्ताशक्त इति विप्रतिसिद्धमिवाभाति। परन्तु, अखण्ड-वाक्य-स्फोटाभ्युपगमे निरंशस्फोटाभ्युपगमे ताः पदवर्णवर्णावयवरूपाकाराः प्रतिपत्तयो लक्षणैकचक्षुष्काणामेव भवन्ति न लक्ष्यैकचक्षुष्काणाम्। इयमेव सा तथा प्रतिपत्तॄणामशक्तिः,

यत्तेषां 'निरंशोऽखण्डः स्फोट" इति न दर्शनम् । शास्त्रप्रक्रियायां तु तादृश्यः प्रतिपत्तयो भवन्त्येव ।

ग्रहणोपाय इति । प्रथमान्त्यध्वन्युच्चारणान्तराले तादृशप्रतिपत्ति-स्वीकारस्तु स्फोटग्रहणस्योपायः । परमलक्ष्यभूतस्य स्फोटस्योपलब्धय एव व्यञ्जकध्वनीनामुपादेयत्वात् । स्फोटोपलब्धौ जातायां तु न तेषामुपयोगो नापि सद्भावः । उपायानां हेयत्वमन्यत्राह हरिः--"उपादायापि ये हेयास्ता-नुपायान् प्रचक्षते" (वा. प. २।३८) इति । उपायानां कार्यसिद्धौ सत्यां हेयत्वादग्रहणम् । अतोऽसतां ध्वनीनां सद्भावप्रतिपत्तिरशक्तिरेव ।

वस्तुतस्तु--शास्त्रीयप्रक्रियामूलकानां ध्वनीनामेव स्फोटोपलब्धाव-सद्भावःस्वी कर्तव्यः । यथा--"सुध्युपास्यः" इत्यत्रेकारप्रतिपत्तिरशक्तिरेव। अन्यत्र "शूकरः, शूरः" "रामो न गच्छति, रामो गच्छति" इत्यादौ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्तरालध्वनिप्रतिपत्तिरावश्यकी । अन्यथा स्फोट एव विपर्यस्येत । अग्रेतनकारिकासु प्रकारान्तरेणेदमेवाङ्गीकरिष्यते ।। ८५ ।।

नाशशील ध्वनियाँ अन्तिम ध्वनि उच्चारण के साथ अपने संस्कार के रूप में स्फोटाभिव्यक्ति कराती हैं । यदि कोई उन ध्वनियों को, जो स्फोट काल में नष्ट हो चुकी हैं, वर्तमान मानता है, अर्थात् "न वर्णव्यतिरेकेण पदमन्यन्न विद्यते । वाक्यं वर्णपदाभ्यां च व्यतिरिक्तं न किञ्चन ।।" के अनुसार वाक्य में पद, पद में वर्ण और वर्ण में वर्णावयव की सत्ता स्वीकारते हुए प्रथम और अन्तिम ध्वनि के अन्तराल में "ध्वनियाँ हैं" ऐसा मानता है, तो वह उस व्यक्ति की असामर्थ्य का ही द्योतक है । ये मध्यवर्ती ध्वनियाँ तो स्फोटोपलब्धि की उपाय मात्र हैं, स्फोटोपलब्धि के बाद न उनकी कोई उपयोगिता है और न सत्ता ही ।

स्फोट से पूर्व ध्वनियों का क्षणिक बोध होता है, यह बात अनुभव-सिद्ध है, तथापि स्फोट काल में इन की पृथक्तया प्रतिपत्ति नहीं होती । "स्फोटरूपाविभा-गेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते" में यह बात कही गई है । वहाँ यह भी कहा गया है कि व्युत्पत्तिपूर्वक या शास्त्रीय प्रक्रिया स्मरण पूर्वक यदि स्फोटोपलब्धि हो तो ध्वनियों का बोध होता है । यहाँ यह शास्त्रीय प्रक्रिया का स्मरण ही एक प्रकार की अशक्ति समझनी चाहिए, जो कि लक्षणैकचक्षुष्कता का ही दूसरा नाम है । "प्रदर्श्य" आदि में "क्त्वा" 'क् त् व् आ' या "ल्यप्" का 'ल् प्' आदि ध्वनियों की प्रतिपत्ति का होना वस्तुतः अखण्ड निरंश स्फोट की स्थिति में 'अशक्ति' ही कही जायगी । ये ध्वनियाँ वहाँ हैं ही नहीं । इन असत् ध्वनियों को देख लेना लक्ष्य को लक्षण द्वारा ही समझ पाने की अशक्ति ही है ।

परन्तु—"शूकरः, शूरः" में अन्तराल की ध्वनि 'क् अ' को सर्वथा असत् मान लेने से स्फोट में जो गड़बड़ हो सकती है, उसकी उपेक्षा "अशक्त" कहलाने के भय से नहीं करनी चाहिए, इन अन्तरालवर्तिनी ध्वनियों का अपेक्षित स्फोटोपलब्धि में अनुपेक्ष्य योगदान है, भले ही वह संस्कार-द्वारक ही क्यों न हो ! आगे "सङ्कीर्णा इव शक्तयः" आदि के द्वारा इस तथ्य को प्रकारान्तर से स्वीकार किया गया है ॥ ८५ ॥

वाक् क्रमोपसृष्टरूपा—

भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः ।
क्रमोपसृष्टरूपा वाक् ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम् ॥ ८६ ॥

ज्ञानस्य वाचः च भेदानुकारः भेदेन ग्रहणरूपः उपप्लवः ध्रुवः । ज्ञानस्य भेदानुकारः अभिन्नस्यापि ज्ञानस्य भेदेन ग्रहणं भवति इति ध्रुवं निश्चितम् । वाचः च शब्दतत्त्वस्य च अन्यथारूपेण ग्रहणं भवति इत्यपि ध्रुवम् । तेन अक्रमापि वाक् क्रमोपसृष्टरूपा, क्रमेण खण्डशः पूर्वापरतया उपसृष्टं प्रकटितं रूपं यस्या सा तथा जायते, ज्ञानं चाभिन्नमपि ज्ञेयव्यपाश्रयम् अनेकज्ञेय-वस्त्वाश्रितं सत् भिन्नं भवति ।

भेदानुकार इति । अभिन्नस्यापि भेदेनानुकरणं स्वीकरणं वा भेदानुकारः । स च ज्ञानस्य भवतीति निश्चितम् । अभिन्नमपि ज्ञानं "घटः" इति घटाश्रयेण घटाकारकम्, "पटः" इति पटाश्रयेण पटाकारकम् । अयमेव हि ज्ञानस्य भेदानुकारः, घटज्ञानाद्भिन्नं पटज्ञानमित्याकारकः । ज्ञानं तु ज्ञानात्मना न घटो न पटः । अतस्तस्य भेदानुकार उपप्लव एव ।

वाचश्चेति । एवं हि वागपि वागात्मना न घकारो न टकारः । तस्या अपि घत्वेन टत्वेन वा यद्ग्रहणं तद्वाचो भेदानुकार उपप्लव एव ।

ध्रुव इति । अयं चोपप्लवो ध्रुवः । अवश्यं भवतीत्यर्थः । व्यवहार-कालेऽनेनोपप्लवेन विना वाग्व्यवहारस्य बोधव्यवहारस्य चासम्भवात् ।

क्रमोपसृष्टेति । अत एवाक्रमेऽपि वागात्मनि व्यवहारकाले सा पूर्वापर-क्रमेणोपसृष्टा भवति । क्रमोपसृष्टयैव च तया स्फोटाभिव्यक्तिर्भवति । अन्यथा केनापि ध्वनिना कोऽपि स्फोटो जायेत, व्यत्क्रमेण वापि स्फोटो जायेतेत्यनवस्था स्यात् । एवं ज्ञानेऽप्यभिन्ने सर्वेण सर्वबोधापत्तिः । न तु तथा भवति, तेन वाचो ज्ञानस्य च भेदानुकाररूप उपप्लव आवश्यकः ।

केचित्तु–ध्रुव इत्यस्य 'भेदानुकार उपप्लव एव न तु वास्तव' इत्यर्थमादाय स्फोटस्य वागात्मनश्चाक्रमत्वं समर्थयन्ति। तत्तु परम्परात्मकमेव प्रतिभाति न तु विषयविवेचनात्मकम्। अत्र प्रक्रान्ते प्रकरणे विवेचनीयं त्विदमस्ति यत् स्फोटाभिव्यक्तिकालेऽन्तरालवर्त्तिध्वनीनां सद्भावोऽस्ति न वा। पूर्वकारिकायां तेषां ध्वनीनां प्रतिपत्तिरशक्तिरुक्ता, ग्रहणोपायता चोपपादिता। अत्र च ग्रहणकाले तेषामनिवार्यसद्भावोऽभ्युपगम्यते। इममेवार्थं सविशेषमाह व्याडिः सङ्ग्रहे। यथा—

न ज्ञेयेन विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते ।। इति ।।

अत्र स्पष्टतयार्थाभिधाने (स्फोटोपलब्धौ) वाचः सक्रमत्वस्यानिवार्यत्वं निरुच्यते। अतः सक्रमायां वाचि प्रथमान्त्यध्वन्यन्तराले ध्वनिसद्भाव आवश्यकः। अन्यथा स्फोट एव विपर्यस्येत ।। ८६ ।।

ज्ञान भेदरहित होता है, एक होता है तथापि ज्ञेय वस्तुओं के भेद से अभिन्न ज्ञान भिन्न हो जाता है। घट सम्बन्धी ज्ञान पट सम्बन्धी ज्ञान से भिन्न होता है। इसी प्रकार वाणी भी परा के रूप में अक्रम होते हुए भी वैखरी के रूप में सक्रम होकर ही सामने आती है। अभिन्न ज्ञान और अक्रम वाणी का भेदानुकार अवश्य होता है; यद्यपि वास्तव, में ये दोनों अपने मूलस्वरूप में भेदरहित होते हैं।

इस कारिका का दो प्रकार से अन्वय सम्भव है—"ज्ञानस्य भेदानुकारः ध्रुवः, वाचः च उपप्लवः ध्रुवः।" और "ज्ञानस्य वाचः च भेदानुकारः, ध्रुवः उपप्लवः।" पहले अन्वय का अर्थ है—"ज्ञान का भेद सहित माना जाना निश्चित है, और वाणी का उपप्लव (मूल स्वरूप से बाहर छलक जाना) भी निश्चित है। यदि इस अन्वय में "च" का अर्थ 'इव' लिया जाय तो अर्थ होगा - "जैसे व्यवहार में अभिन्न ज्ञान का भेदानुकार आवश्यक है वैसे ही अनुपप्लुत (क्रमहीन) वाणी का उपप्लव भी आवश्यक है।" दूसरे अन्वय का अर्थ है–"ज्ञान का और वाणी का भेदानुकार निश्चय ही उपप्लव=उपसर्ग=आरोपित तत्त्व है, वास्तविक नहीं। कुछ टीकाकारों ने इस दूसरे अर्थ को लेकर प्रथम ध्वनि से लेकर स्फोट काल के अन्तराल में ध्वनियों की सत्ता को अस्वीकार करके निरंश स्फोट का समर्थन किया है। परन्तु जब हम व्याडि की कारिका—

"न ज्ञेयेन विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते ।।"

को देखते हैं तो टीकाकारों द्वारा किया गया अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता। व्याडि स्पष्ट कहते हैं कि 'अक्रमवाणी से अर्थाभिधान नहीं हो सकता'। ज्ञान का दृष्टान्त साथ ही दिया है। यह हरिकारिका व्यडिकारिका की छाया या अनुवाद है। अतः यही मानना आवश्यक होगा कि—अर्थाभिधान (स्फोटोपलब्धि) के लिए वाणी का सक्रम होना ध्रुव है। इस सक्रमता को पाने के लिए अन्तरालवर्तिनी ध्वनियों को स्वीकारना भी आवश्यक है।

यह सत्य है कि—शब्दतत्त्व वागात्मा सर्वतः संहृतक्रम है। यह भी ठीक है कि स्फोट निरंश होता है। परन्तु स्फोटाभिव्यञ्जन के लिए वाणी की सक्रमता अनिवार्य है। अन्यथा अनेक आपत्तियाँ होंगी, जिनका उल्लेख पहले भी किया गया है और आगे भी यथावसर किया जायेगा।

कारिका में 'उपप्लव' शब्द बड़े महत्त्व का है। इसका अर्थ प्रायः 'उपसर्ग' किया गया है। परन्तु यहाँ इसका अर्थ है बाहर निकल जाना या छलक जाना। वाणी का 'सर्वतः संहृतक्रम' स्वरूप उस स्थिति का द्योतक है, जहाँ सब क्रम सिमिट कर अक्रम हो जाते हैं। इस सिमिटन का जब उपप्लव होता है तो सारे क्रम बाहर छलक जाते हैं। यही वह स्थिति है, जहाँ अक्रमवाणी का सक्रम हो जाना निश्चित होता है। यह सक्रमस्थिति पुनः एक अक्रमस्थिति का अभिव्यञ्जन करती है, जिसे स्फोट कहा जाता है। इसीलिए कारिका में 'वाक्' को 'क्रमोपसृष्टरूपा' कहा गया है।

सार यह है कि—'नादैराहितबीजायाम्....' (वा. प. १।८४) से लेकर 'भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते' (वा. प. १।९०) तक शब्दस्वरूप के ग्रहणक्रम को प्रतिपादित किया गया है। अतः यह सारा प्रकरण प्रथम ध्वनि के उच्चारण से लेकर स्फोटाभिव्यक्ति तक की अन्तराल स्थितियों का विवेचन करता है। यद्यपि स्फोट की अखण्डता के संकेत इस प्रकरण में यत्र-तत्र मिलते हैं, तथापि यह सारा प्रकरण 'क्रमोपसृष्टरूपा' वाणी का ही विवेचन है॥ ८६॥

स्फोटोपलब्धौ शब्दान्तरश्रुतिराद्यादि संख्यावत्—

यथाद्यसंख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
संख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥ ८७॥

यथा कासाञ्चित् शतं सहस्रमित्यादीनां महतीनां संख्यानां, प्रतिपत्तये ज्ञानाय, आद्यसंख्याग्रहणम् एक-द्वि-त्र्यादिसंख्यानां गणना, आद्यसंख्यामहती-संख्ययोः परस्परं भेदेऽपि सत्यपि, आद्यसंख्याग्रहणं तत्प्रतिपत्तये, उपायः,

तथा ध्वनिस्फोटयोः भेदे सत्यपि, शब्दान्तरस्य वर्णपदात्मकस्य, श्रुतिः श्रवणम्, वाक्ये बोध्या।

आद्यसंख्येति। शतमिति समुदाये बोधिष्यमाणे, शतमिति नैकं न द्वे न त्रीणि, तथापि–एकद्वित्र्याद्यभावे न शतं न सहस्रम्। अत एव शतादिमहती-संख्याप्रतिपत्तय एकाद्याद्यसंख्यानां ग्रहणं परिगणनं वावश्यक उपायः। एक-द्व्यादीनां ज्ञानाभावे शतज्ञानमसम्भवम्। अथ च संख्या हि भेदिका स्वा-श्रयस्य। एको न द्वौ। शतं च नैकम्। एवमेक-द्वि-त्रि-शतादीनां संख्यानां सुस्पष्टः परस्परभेदः। सत्यपि भेदे आद्यसंख्याग्रहणं विना महत्याः शतादि-संख्यायाः प्रतिप्रत्तिर्यथा न भवति, तथैव शब्दान्तरश्रवणं विना महतः शब्द-संघातरूपस्य वाक्यस्य तज्जनितस्फोटस्य च प्रतिपत्तिरप्यशक्या।

शब्दान्तरश्रुतिरिति। स्फोटाभिव्यञ्जका अन्तरालवर्तिनो ध्वनयः स्थानकरणाभिघातत्वेन व्यञ्जकत्वेन च परस्परं सुस्पष्टं भिन्नाः, स्व-व्यङ्ग्यात्स्फोटाच्चापि भिन्नाः, एक-द्वि-त्र्यादिवत्। न गकार औकारः, न चौकारो गकारः। एवं न ध्वनिः स्फोटः, स्फोटश्च न ध्वनिः। तथापि व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यस्यानुपलब्धेः शब्दा-(ध्वनि)न्तरश्रवणमावश्यकम्। तच्चोपायभूतमेव न तु साध्यत्वेनाभिमतम्। निरवयवस्फोटाभ्युपगमे जातायां स्फोटाभिव्यक्तावुपायभूतानां तेषां हेयत्वमेव बोध्यम्। यदि तु "स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्टन्तदा स्व-स्वानुभवानुरोधाद्धेयत्वो-पादेयत्वमुभयमपि बोध्यम्।

अत्र हि संख्यादृष्टान्ते चेदमपि ध्येयम्---संख्या हि द्रव्यगुणः, भेदिका स्वाश्रयस्य गुणिनः। शतादिमहत्यः संख्याः स्वाश्रयं संख्येयं स्वेतरसंख्या-श्रयत्वाद्व्यावर्तयन्ति, न स्वत्वात्। शते यच्छतत्वं तत्तु शतसंख्येयेऽविच्छे-देन वर्तत एव, गुण-गुणिनोरभेदात्। एवं हि ध्वनिः शब्दगुणः, स्फोटश्च शब्दः (तपरसूत्रभाष्यात्) स च गुणभूतो ध्वनिः क्रमविशेषसन्निविष्टः (शता-दिमहतीसंख्येव) स्वेतरक्रमसन्निवेशाद् स्वव्यङ्ग्यं स्फोटं व्यावर्तयति, न तु स्वक्रमसन्निवेशात्। सक्रमध्वनौ यत्सक्रमत्वं तत् तदभिव्यङ्ग्ये स्फोटेऽविच्छे-देनाविभागेन वा वर्तत एव, गुणगुणिनोरभेदात्॥ ८७॥

'स्फोटकाल में मध्यवर्ती ध्वनियाँ नहीं रहतीं, वे तो केवल स्फोटोपलब्धि की उपाय होती हैं', इस सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टान्त यह है—माना कि हमारे पास दस आम हैं। हम किसी बालक को एक-एक आम देते गये और पूछते गये—कितने हुए? वह क्रमशः कहता जाएगा—एक, दो, तीन……। अन्त में हम

पूछेंगे–क्यों भई, तुम्हारे पास कितने आम हैं ? वह कहेगा–दस ! अब वह बालक दस आम एक साथ ही जानता है, एक, दो, तीन नहीं। और वास्तव में वे दस ही हैं, एक या दो या तीन नहीं। परन्तु एक'''दो'''तीन'''गिनाये विना भी बालक को एकाएक 'दस' का ज्ञान नहीं हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि—

किसी बड़ी संख्या के बोध के लिए ही एक, दो, तीन आदि प्राथमिक संख्याओं की गणना की जाती है। यह गणना उस बड़ी संख्या का ज्ञान प्राप्त करने का उपाय मात्र है; वास्तविक संख्या तो वह बड़ी संख्या ही है। स्फोट से पूर्व ध्वनियों का उच्चारण और श्रवण भी ऐसा ही एक उपाय है स्फोटोपलब्धि का।

संख्या के सम्बन्ध में एक और उदाहरण यहाँ ध्यान में आता है—माना हमने किसी साहूकार को सौ रुपये चुकाने हैं। हम उसे एक-एक कर सौ सिक्के गिनाते गये और अन्त में पूछा—क्या तुम्हारे रुपये तुम्हें मिल गये ? साहूकार स्वीकार करेगा। अर्थात् वह उस बड़ी संख्या को मान जायेगा जो उसने हमसे प्राप्त करनी थी। एक'' दो'''तीन की गिनती पर वह भी ध्यान नहीं देगा। परन्तु यदि रुपये सिक्कों में न होकर नोटों में हों, तेज हवा भी चल रही हो और गिनते-गिनते नोट उड़ जाँय तो क्या साहूकार अपना ऋण चुकता मान लेगा ? या तब भी उसके पास सौ रुपये होंगे ? उत्तर स्पष्ट रूप से "नहीं" में है। यहाँ प्राथमिक संख्याओं की गिनती हो जाने पर भी महती की स्वीकृति क्यों नहीं हो रही ? कारण स्पष्ट है— यद्यपि प्राथमिक संख्याएँ महती संख्या को जानने की उपाय-मात्र हैं, तथापि महती संख्या का स्वरूप स्थिर रखने के लिए प्राथमिक संख्याओं का महती संख्या के अन्तर्भूत होकर रहना अनिवार्य है।

इस तथ्य को उच्चरित-प्रध्वंसी ध्वनियों के साथ जोड़कर देखें तो इन ध्वनियों से स्फोट का अस्तित्व ही सङ्कटग्रस्त दिखाई पड़ने लगता है। इस सङ्कट से उबरने के लिए या तो ध्वनियों को नित्य मान लें या फिर उनके पूर्वोक्त बोधात्मक संस्कारों, जो कि अनुपाख्येय भी हैं, को स्फोट काल में स्वीकार करें। हम मानें कि स्फोट काल में भी ध्वनियाँ किसी-न-किसी रूप में वर्तमान रहती हैं।

आम या रुपये आदि संख्येय वस्तुएँ यद्यपि मूर्त पदार्थ हैं, वे अपने महत्समुदाय में अन्तर्भूत दशा में भी सरलता से पहिचानी जा सकती हैं। ध्वनियाँ मूर्त नहीं हैं, न ही अधिक समय तक पहिचानने के लिए उपलब्ध रहती हैं। तथापि उनमें जिस प्रकार की भी ग्राह्यता है, अपनी उसी ग्राह्यता के साथ उन्हें स्फोटोपलब्धि के समय उपस्थित रहना चाहिए। ऐसा न मानने पर उड़े हुए नोटों से ऋणशोधन न होने के समान ही स्फोटोपलब्धि भी नहीं हो पायेगी। यद्यपि

ध्वनियाँ उत्पादक या घटक नहीं हैं तथापि व्यञ्जक तो हैं ही। उन्हें अपनी-अपनी व्यञ्जकता स्फोट को समर्पित करनी ही चाहिए। यही अभिप्राय "स्फोटरूपा-विभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।" (वा० प० १।८१) का है और यही अभिप्राय "प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।" (वा. प. १।८३) का भी है। दोनों कारिकाओं में 'ग्रहण' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो एक जगह ध्वनि की ग्राह्यता को प्रकट करता है तो दूसरी जगह ग्राहकता को। एकादिक प्राथमिक संख्याएँ भी तो स्वयं ग्राह्य होते हुए महती संख्या की ग्राहक होती हैं।

अतः कहना चाहिए कि यह कारिका भी स्फोटाभिव्यक्ति में ध्वनियों की स्थिति पर एक और प्रकार से दृष्टिक्षेप करती है ॥ ८७ ॥

व्यञ्जकध्वनीनां शक्तिसाङ्कर्यम्—

प्रत्येकं व्यञ्जका भिन्ना वर्णवाक्यपदेषु ये।
तेषामत्यन्तभेदेऽपि सङ्कीर्णा इव शक्तयः ॥ ८८ ॥

वर्णवाक्यपदेषु वर्णे वाक्ये पदे च, प्रत्येकं, ये व्यञ्जकाः ध्वनयः, भिन्नाः पृथक् पृथक् सन्ति, तेषां व्यञ्जकानाम्, अत्यन्तभेदेऽपि पूर्णतया भेदे सत्यपि, तेषां शक्तयः व्यञ्जनरूपशब्दप्रकाशनसामर्थ्यानि, सङ्कीर्णाः सम्पृक्ता इव सन्ति।

व्यञ्जका इति। वर्णे वर्णावयवरूपा वर्णाभिव्यञ्जकाः, पदे क-खादि-वर्णरूपाः पदाभिव्यञ्जकाः, वाक्ये च "गौः गच्छति" इत्यादिपदरूपा वाक्या-भिव्यञ्जकाः ध्वनयः प्रत्येकं तत्तदुच्चारणानुरोधिप्रयत्नप्रेरिता तत्तत्स्थाना-भिघातजन्या वायुपरमाणवः श्रवणीयतात्वेन व्यञ्जकत्वेन स्थानप्रय-त्नाभ्यां च भिन्ना एवेति निश्चितम्। अथापि—"गोपालस्य गौर्गच्छति ग्रामम्" इत्यादौ चतुःकृत्वो गकारोऽपि भिन्न एव चतुःकृत्वःप्रयत्नप्रेरित-त्वात्। एवमकारादयोऽपि। ('स एवायम्' इत्यस्य तु नात्र विषयः, तथा प्रत्यभिज्ञयापि भेद एव सूच्यते नाभेदः)।

सङ्कीर्णा इव शक्तय इति। एवं स्वेतरव्यावर्तनस्वभावानामपि तेषां व्यञ्जकध्वनीनां शब्दाभिव्यञ्जनरूपाः शक्तयः परस्परं सङ्कीर्णा इव दृश्यन्ते। विभिन्नवाक्यगतगवादिपदव्यञ्जकध्वनयस्तत्तत्प्रयत्नवशाद्भिन्ना अप्यभिन्ना इव प्रतीयन्ते। विभिन्नपदगतगकारादयोऽप्येवमेव। गोपदगतो गकारो हि गोपदस्फोटाभिव्यञ्जकः, न तु गवर्णस्फोटाभिव्यञ्जकः। एवं "गौर्गच्छति" इतिवाक्यगतगोपदध्वनिः "गौर्गच्छतीति" वाक्यस्फोटाभि-

व्यञ्जकः न तु गोपदाभिव्यञ्जकः। तथापि तत्तत्पदवाक्यगतगोगकारादीनां बहुतरसादृश्यात् गत्व-गोत्वादिना प्रतिपत्तिर्भवत्येव। गोपदगतो गं-ध्वनिर्गंवर्णमभिव्यञ्जयति गोपदं वेत्यभिव्यञ्जनशक्तिसाङ्कर्यम्। एतेनैव वाक्ये पदाभासः, पदे वर्णाभासः, वर्णे च वर्णावयवाभासः। अन्यथा निरवयवेऽखण्डे वाक्ये पदे वर्णे च ते तथाभासा न स्युः।

इवेति। अत्र हीवेन व्यञ्जकानां शक्तयः सङ्कीर्णसदृशाः, न ते सङ्कीर्णा इति सूच्यते। अखण्डस्फोटसिद्धान्ताभ्युपगमे वर्णपदवाक्येषु तत्तद्वर्णपदानामाभासो नोपपद्यते। अतो व्यञ्जकानां साङ्कर्यमस्वीकार्यमेव भवति। साङ्कर्यस्वीकारस्तु स्फोटोपलब्धावपि सावयवत्वानुभवस्य दुर्निवारत्वादावश्यकः, अन्यथा सूप-यूपादौ स्फोटस्यैव साङ्कर्यापत्तिः। अत एव वाक्यस्य भागावग्रहेण ग्रहणमित्यग्रे वक्ष्यति। व्यञ्जका भिन्ना अपि साङ्कर्येण वाक्यबुद्धिं जनयन्ति। स्वगतस्वेतरव्यावर्तकत्वेन वाक्यादावपि स्वेतरव्यावर्तकत्वं जनयन्तीत्यर्थः ॥ ८८ ॥

वर्ण, पद और वाक्य की अभिव्यक्ति करने वाली व्यञ्जक ध्वनियाँ प्रत्येक अपने-अपने में भिन्न होती हैं। उनका परस्पर भेद अत्यन्त स्पष्ट होता है। तथापि उनकी व्यञ्जनशक्तियाँ परस्पर सङ्कीर्ण दिखाई देती हैं।

ध्वनियों की भिन्नता के विषय में यहाँ यह समझ लेना आवश्यक होगा कि एक वाक्य या पद में, या फिर अनेक पद-वाक्यों में आने वाली समान ध्वनियाँ भी परस्पर भिन्न होती हैं; क्योंकि प्रत्येक बार उनके उच्चारण के लिए अलग-अलग प्रयत्न करना पड़ता है। 'क' और 'ख' तो भिन्न हैं ही, 'कीट' और 'कीलक' स्थित 'क्' भी परस्पर भिन्न हैं। और 'कीलक' स्थित दोनों भी परस्पर भिन्न हैं। इनकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रयत्नों से प्रेरित वायु-परमाणुओं या वायु-आघातों से हुई है। यों भी प्रत्येक उत्पत्ति के अनन्तर ध्वनि नष्ट हो जाती है। अतः ध्वनियों की भिन्नता अत्यन्त स्पष्ट है।

इतना होते हुए भी ध्वनियों की व्यञ्जकशक्तियाँ अपनी श्रवणीय समता और व्यञ्जक समता के कारण इतनी घुली-मिली या सङ्कीर्ण होती हैं कि इनकी वास्तविक भिन्नता को जानते हुए भी भिन्न मान लेना कठिन हो जाता है। यही इनका शक्ति-साङ्कर्य है।

एक बात और भी है—ध्वनियाँ भिन्न और नाशशील तो हैं, तथापि अपने व्यङ्ग्य वर्ण, पद या वाक्य में उनकी उपस्थिति या व्यञ्जकता कुछ इस प्रकार घुली-मिली रहती है कि वाक्यादि को इनसे पृथक् रूप में पहचानना प्रायः कठिन

ही होता है। इनकी व्यञ्जकता मिल-जुल कर वाक्यादि की व्यञ्जकता बन जाती है, जो परम्परया स्फोट की भी व्यञ्जकता होती है। इनका परव्यावर्तनस्वभाव भी वाक्यादि में लक्षित होता है और स्फोट में भी। यदि एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को व्यावृत्त करती है तो पद या वाक्य भी अपने से भिन्न पद या वाक्य को व्यावृत्त करता है, एक स्फोट भी दूसरे स्फोट को व्यावृत्त करता है। ऐसा न हो तो किसी भी पद-वाक्य से कोई भी स्फोट हो जाय। इससे स्पष्ट है कि ध्वनियों की व्यञ्जक शक्तियाँ वर्ण, पद, वाक्य और स्फोट के साथ भी सङ्कीर्ण होकर रहती हैं ॥ ८८ ॥

वाक्यस्य भागावग्रहे दृष्टान्तः—

यथैव दर्शनैः पूर्वैः दूरात् सन्तमसेऽपि वा ।
अन्यथाकृत्य विषयमन्यथैवाध्यवस्यति ॥ ८९ ॥

यथा एव दूरात् दूरदेशात्, अपि वा अथवा, सन्तमसे अन्धकारे, तमः-प्राये कस्यचिद्वस्तुनः पूर्वैः प्राथमिकैः दर्शनैः, अवलोकनैः, अन्यथाकृत्य अन्यत्प्रकारकं, विषयं वस्तु, अन्यथा एव केनाप्यन्येनैव रूपाकारेण, अध्यवस्यति निश्चिनोति, कश्चिद्द्रष्टा तथा बुद्धि वाक्ये प्रवर्तते इत्यग्रेऽन्वयः।

यथैवेति। वाक्ये पदाभासः, पदे वर्णाभासः, वर्णे च वर्णावयवाभासोऽवास्तव इति पूर्वमुक्तम्। यदि वर्णपदवाक्यानि निरवयवानि तर्हि कथं तानि सावयवानीव प्रतीयन्ते ? अखण्डो निरवयवश्च स्फोटश्च सक्रमः सावयवश्च प्रतीयते ? इति प्रश्ने दृष्टान्तमुखेन विविच्यते—

दूरादिति। दूराद्दृष्टं वस्तु तमःप्राये वा स्थितं वा वस्तु प्रथमदृष्टि-क्षेपे स्ववास्तविकस्वरूपेण न प्रत्यभिज्ञायते, अपि तु किमप्यन्यथावस्त्वाकारस्तत्र प्रतिभासते। विषयेन्द्रियधर्म एवायं यत्प्रथमग्रहणे न विषयस्वरूपं याथातथ्येन प्रत्यभिज्ञायते, समुचितप्रणिधानाभावे समुचितसन्निकर्षाभावे च। दर्शने तु दूरस्थः क्षीणालोकस्थो विषयो वृक्षादिः प्रथमतो हस्त्यादि-रूपेणान्यथा गृह्यते, सम्यक्प्रणिधाने च स्ववास्तविकेन रूपेण प्रत्यभिज्ञायते, इति लोकप्रसिद्धानुभवः। यथेदं भवति तथा वाक्यादावपीत्यग्रे वक्ष्यति ॥ ८९ ॥

दूर से देखने पर या अँधेरे में रखी हुई वस्तु को देखने पर पहले-पहल उस वस्तु का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। वह वस्तु वास्तव में जो कुछ होती है, वह नहीं दिखाई देती, अपितु कुछ और-ही दिखाई देती है।

यह एक अत्यन्त साधारण लौकिक अनुभव है कि दूर से देखने पर कोई झाड़ी हाथी दिखाई देने लगती है या धुँधले प्रकाश में रस्सी साँप मालूम पड़ती है। ध्यान से देखने पर या अँधेरे में नजर टिक जाने के बाद झाड़ी या रस्सी की पहिचान हो जाती है, परन्तु एकबार तो कुछ-का-कुछ दिखाई देता ही है।

यहाँ प्रश्न यह था कि—वर्ण, पद और वाक्य में यदि अवयव नहीं होते, वाक्यादि निरवयव और अक्रम होते हैं, तो उनमें अवयवों का आभास क्यों होता है? क्या ये आभास ही यह सिद्ध नहीं करते कि वाक्यादि सावयव होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर दूर से देखी जाने वाली वस्तुओं के दृष्टान्त से दिया जा रहा है। इसका निगमन अगली कारिका में है॥ ८९॥

वाक्यस्य भागावग्रहः—

व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥ ९०॥

तथा तेन प्रकारेण, बुद्धिः श्रोतुः बुद्धिः, वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः वाक्यस्य अभिव्यक्तेः अर्थावबोधस्य, हेतवः कारणानि ये, तैः ध्वनिभिः, पदैश्च, वाक्ये व्यज्यमाने प्रकाश्यमाने सति, अभिव्यक्तिदशायां पूर्वं प्रथमतया, भागावग्रहरूपेण, भागानां वर्णपदादिभागानाम्, अवग्रहः स्वीकारः यस्मिन्, तेन रूपेण, भागक्रमेण प्रवर्तते।

वाक्ये व्यज्यमान इति। वाक्यं पदं वर्णश्च निरवयवाः, तथापि तत्तदभिव्यञ्जकैर्ध्वनिभिर्यदा तेऽभिव्यज्यन्ते तदा श्रोतॄणां बुद्धिः प्रथमतया ध्वनिष्वेव प्रवर्तमाना पूर्व-पूर्वभागक्रमेण तान् वाक्य-पद-वर्णान् प्रतिपद्यते। यस्मिन्क्षणे 'र्' ध्वनिः श्रूयते तदा 'र्' वर्णं, ततः 'आ' ततः 'म्' ततः 'अ' ततो विसर्गं, ततश्च 'रामः' इति पदं, ततश्च "रामो गच्छतीति" वाक्यं पूर्वं-पूर्वक्रमेण यथा-यथा ध्वनिषु बुद्धिः प्रवर्तते तथा तथा वर्ण-पद-वाक्यानि प्रतिपद्यन्ते। वस्तुतस्तु वाक्यमेव व्यज्यमानम्। 'व्यज्यमाने' इति व्यञ्जनोक्त्या स्फोट एव व्यज्यमानः। स चाक्रमो निरवयवः। तत्र सक्रमा सावयवा च बुद्धिः पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सङ्गमनीया भवति।

तथेति। यथा दूरात् सन्तमसे वा प्रथमदृष्ट्या वृक्षो हस्त्याकारः परिज्ञायते, अन्यथाकृत्य विषयोऽन्यथा गृह्यते, तथैव निरवयवोऽपि स्फोटः प्रथमदृष्ट्योक्तक्रमेण सावयवः सक्रमश्च प्रतीयते॥ ९०॥

वाक्य की अभिव्यञ्जक ध्वनियों के द्वारा जब वाक्य की अभिव्यक्ति होती है, तब श्रोता-बुद्धि पूर्ण वाक्याभिव्यक्ति से पहले वाक्य को भागों के रूप में ग्रहण करती है।

यह भागों में ग्रहण करने का क्रम वैसा ही है, जैसा अन्धेरे में या दूर से देखने पर वस्तु अपने वास्तविक रूप में न दिखाई देकर कुछ-का-कुछ दिखाई देती है। वाक्य क्योंकि व्यञ्जक ध्वनियों के क्रम से अभिव्क्त होता है, इसलिए बुद्धि भी पूर्ण अभिव्यक्ति से पहले उसका खण्डशः ग्रहण करती चली जाती है। इसीलिए वाक्य में वर्णावयव, वर्ण और पद का आभास होता है। पूर्ण अभिव्यक्ति के बाद वाक्य (स्फोट) निरवयव और अक्रम होता है, परन्तु उससे पहले क्रमिकता की बुद्धि होती अवश्य है। दृष्टि टिकने पर झाड़ी, झाड़ी दिखती है परन्तु उसके पहले वह हाथी दिखती है। वाक्य की भी यही स्थिति समझनी चाहिए ॥ ९० ॥

प्रतिपत्तृबुद्धौ क्रमनैयत्यम्—

यथानुपूर्वीनियमो विकारे क्षीरबीजयोः।
तथैव प्रतिपत्तृणां नियतो बुद्धिषु क्रमः ॥ ९१ ॥

यथा येन प्रकारेण, क्षीर-बीजयोः दुग्धस्य धान्यादिबीजस्य च, विकारे दधिसर्पिरादिविपरिणामे अङ्कुरपादपादिविपरिणामे च जायमाने, आनुपूर्वी-नियमः क्रमिकतानियमः अस्ति, तथैव प्रतिपत्तृणां वाक्यश्रोतृणां गृहीतृणां, बुद्धिषु वर्ण-पद-वाक्येत्येवं क्रमः क्रमिकतानियमः, नियतः निश्चितो भवति।

आनुपूर्वीनियम इति। अन्यथाकृत्यविषयस्यान्यथाग्रहणं यदुदाहृतं तत्रान्यथाग्रहणं न नियतस्वभावम्। दूराद्दृष्टो हि वृक्षः कदाचिद्धस्ती कदाचिच्च राक्षस इति द्रष्टृवासनानुसारेण तदतिरेकेण वा दृश्यते। वाक्य-ग्रहणे तु न तथा भवति, तत्कथं दृष्टान्तसङ्गतिः ? इति प्रश्ने दृष्टान्तान्तर-मिदम्। पूर्वोक्तदृष्टान्तेन वस्तुतत्त्वस्यान्यथाग्रहणं भवतीति निर्भागस्यापि वाक्यस्य भागावग्रहेण ग्रहणं भवतीत्येतावदेव सिध्यति, न तु वाक्यस्य पूर्णं विवेचनं तेन भवति।

विकार इति। दुग्धस्य विकारः सर्पिः, बीजस्य विकारः शालयः। न हि विकृतं दुग्धं शर्करा भवति, न वा शालिबीजानि न्यग्रोधमश्वत्थं वोत्पा-दयन्ति। न हि दुग्धस्य सर्पिर्भावे दधितक्रनवनीतावस्थानामभावो व्युत्क्रमो वा भवति, न वा धान्यबीजस्य व्रीहिभावेऽङ्कुरपादपाद्यवस्थानामभावो

व्युत्क्रमो दृश्यते, तथैव वाक्येऽभिव्यज्यमाने वर्ण-पद-वाक्य-रूपक्रमिकता-नियमोऽस्त्येव ।

प्रतिपत्तॄणामिति । सन्ति केचित्प्रातपत्तारो ये वर्ण-पदरूपभागाकारेणैव वाक्यं तदभिव्यक्तं स्फोटं च प्रतिपद्यन्ते । तेषां तथादर्शनानां सक्रमा सावयवा च स्फोटबुद्धिः । येषां तु 'निरवयवः स्फोटः' इति दर्शनम्, तेषामखण्डमेव वाक्यम् ।

वस्तुतस्तु—वर्णपद इव वाक्यमपि स्फोटाभिव्यञ्जकम् । यथा वर्णो वर्णस्फोटं, पदं पदस्फोटं जनयति, तथैव वाक्यमपि वाक्यस्फोटं जनयति । वर्ण-पद-वाक्यानामभिव्यञ्जकध्वनित्वं त्रयाणामपि सामान्यं निरपवादं च । वाक्ये व्यज्यमाने दृष्टान्तमुखेन यत्क्रमिकत्वमुक्तं तदुचितमेव । न तत्र प्रतिपत्तृविभाग उचितः । पूर्वकारिकायां 'वाक्ये व्यज्यमाने' इत्यस्य 'वर्ण-पदाभ्यां वाक्यस्वरूपे निर्धार्यमाणे' इत्यर्थो बोध्यः । तेन श्रवणीये ध्वन्यात्मके वाक्ये दृष्टान्तोपन्यस्तक्रमिकत्वं "स्फोटः सक्रमोऽक्रमो वे"ति मतभेदमनाश्रित्यापि सुवचमेव । यदि तु "वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः" 'व्यज्यमाने' इत्यभिव्यञ्जनमेवार्थस्तदा तु स्फोटोऽपि सक्रमः । अन्यथोदाहरणसङ्गतिर्न स्यात् ॥ ९१ ॥

दूध या बीज के घी या धान बनने में एक पूर्व-पूर्व क्रम निश्चित है । दूध सीधे ही घी नहीं बन जाता । बीज भी सीधे ही धान के रूप में नहीं परिवर्तित होता, बीच की अवस्थाओं को क्रमशः ग्रहण करते हुए ही ये घी या धान बन पाते हैं । इसी प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का बोध होने से पूर्व श्रोता की बुद्धि में भी एक निश्चित क्रम होता है । पहले वर्ण तब पद और अन्त में वाक्य का बोध क्रमशः उसे होता है ।

इससे पूर्व अँधेरे में रखी वस्तु का उदाहरण दिया गया था । उससे वाक्य की स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती । अँधेरे में रखी वस्तु के स्फुट होने में कोई क्रम निश्चित नहीं है । देखने वाले को ऐसी वस्तुएँ कभी कुछ, कभी कुछ दिखाई देती हैं । इसी प्रकार कभी वस्तु के उर्ध्वभाग से उसका रूप स्फुट होता है, कभी अधोभाग से । आवश्यक नहीं कि अँधेरे में रखी तिपाई प्रत्येक देखने वाले को बिल्ली ही नजर आये । कोई अन्य व्यक्ति उसे कुत्ता भी समझ सकता है । उसकी स्पष्ट पहिचान पैरों की ओर से भी हो सकती और सिर की ओर से भी । यदि दृष्टान्त के अनुसार वाक्य की अभिव्यक्ति भी इसी प्रकार हो तो सब-कुछ उलट-पुलट हो जायगा ।

इस दृष्टान्त से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि—वस्तुस्वरूप का अन्यथा-ग्रहण होता है। अतः निरवयव वाक्य का भी सावयव ग्रहण होना सम्भव है। शब्द-स्वरूप के स्फुट होने में क्रम निश्चित है। यह नहीं हो सकता कि 'रामः' कहने पर किसी को 'श्यामः' का बोध और किसी को 'कामः' का। या पहले विसर्ग का और फिर 'र' का। शब्दस्वरूप निश्चय ही उस क्रम से स्फुट होता है, जिस क्रम से उसका उच्चारण होता है। जैसे बीज से धान बनने में अङ्कुर, पौधा, बालियाँ आदि क्रम निश्चित है, या दूध से घी बनने में दही, छाँछ, मक्खन का क्रम निश्चित है, वैसे ही शब्दस्वरूप स्फुट होने का क्रम भी निश्चित है ॥ ९१ ॥

शब्दस्वरूपभेदो ध्वनिक्रममूलकः—

भागवत्स्वपि तेष्वेव रूपभेदो ध्वनेः क्रमात् ।
निर्भागेष्वप्युपायो वा भागभेदप्रकल्पनम् ॥ ९२ ॥

तेषु वर्ण-पद-वाक्येषु, भागवत्सु अपि सभागेष्वपि, वर्ण-पद-वाक्यानि भागवन्तीत्यभ्युपगमेऽपि, रूपभेदः पदानां सरः-रसः इति रूपभेदः, ध्वनेः वर्णपदाभिव्यञ्जकस्य ध्वने., क्रमात् क्रमवत्वकारणादेव भवति। एवं च तेषु निर्भागेषु अपि अखण्डेष्वपि, अखण्डस्फोटाभ्युपगमेऽपि, भागभेद-प्रकल्पनम् भागानां भेदस्य प्रकल्पनं स्वीकारः, वा उपायः अखण्डवाक्य-स्फोटोपलब्धेरुपाय इति।

भागवत्स्वपीति। वर्ण-पद-वाक्यानि भागवन्तीति केषाञ्चिदभिमतम्। पदसमूहो वाक्यमिति नैयायिकाः। वर्णा एव पदमिति मीमांसकाः। वर्णाः संगताः पदं, पदानि सङ्गतानि वाक्यमिति सामान्या प्रतीतिश्च। वर्णेषु सभागत्वं तु—ऋकारैकारादौ प्रतीयमाना वर्णावयवरूपा वर्णतुरीयपदवाच्या-व्यवहारिकी काचित्स्थितिः। एवं वर्ण-पद-वाक्यानां भागवत्त्वम्। अत्रा-भिमते शब्दस्वरूपे 'नदी-दीन' इत्यादौ 'राम-गोविन्दादौ' वा योऽपि भेदः सः ध्वनिक्रमजनितः। येनैव क्रमेण वर्ण-पद-वाक्याभिव्यञ्जकध्वनयः स्थान-करणाभिघातैरुत्पद्यन्ते, तनैव क्रमेण शब्द-स्वरूपोपलब्धिः। यथाक्रमोपलब्धं वर्ण-पद-वाक्यस्वरूपं च यथायथं वाचकत्वं लभते।

निर्भागेष्वपीति। शाब्दिकास्तु—व्यञ्जकध्वनीनामुच्चरितप्रध्वंसित्वात् तदभिव्यङ्ग्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यापि स्फोटात्मनो निर्भागत्वमत एव चाक्रमत्वमभ्युपगच्छन्ति। निर्भागत्वाभ्युपगमेऽपि भागभेदप्रकल्पनमुपायत्वे-नाङ्गीक्रियत एव। एतदेव "स्फोटरूपाविभागेन" (वा० प० १।८१) इत्या-

रभ्य "व्यज्यमाने तथा वाक्ये" (वा० प० १।६०) इत्यन्तं बहुधा प्रतिपादितम् । तत्रैव पुनरवलोकनीयम् ।

अपीति । अयं च भागभेदप्रकल्पनरूपोपायः सूप-यूपादौ भिन्नशब्दस्वरूपावधारणाय, राज-जरादौ रामगोविन्दादौ च भेदावधारणाय सर्वेण सर्वबोधवारणाय, अशाब्देन पद-वाक्येनापि बोधसम्भवनिरासाय शूकर-शूरादावविशेषाभावसम्पादनाय च शाब्दिकैरप्यवश्यमनुगन्तव्यं भवतीत्यपि द्वयेन सूच्यते । स्फोटाभिव्यक्तावुपायभूतानां ध्वनीनां ध्वनिक्रमाणां च हेयत्वं त्वस्त्येव । तथाप्युपेयावाप्तय उपायानामुपादेयत्वमप्यस्त्येव ।

अत्र चायं विवेकः—स्फोटो हि शब्दस्य काचिद् बोधात्मिका स्थितिः । सा च ध्वनिभिरुपनीतापि ध्वनिविराम उपजायते । वर्णपदवाक्यानां चोभयात्मकं स्वरूपम्—ध्वन्यात्मकं बोधात्मकं च । तत्र ध्वन्यात्मकं श्रवणीयम्, बोधात्मकं च श्रवणीयतोत्तरकालिकम् । अत्रैव स्फुटत्यर्थः । अस्यैव च वाचकत्वम् । अयमेव बाह्यार्थं वस्तुरूपं स्वरूपे शब्दत्वेऽध्यारोपयति, येनार्थोऽपि शब्दाकारः सन् बुद्धाववधार्यते । अर्थाकारेण त्वर्थो बुद्धौ नाधिरोहति, असम्भवात् । अत एव बाह्यानां पदार्थानां स्मरण-चिन्तनादिकं शब्दपूर्वकमेव भवति । सा चेयमध्वनिका शाब्दी स्थितिः । यथेयं स्मरण-चिन्तनादावध्वनिका स्थितिः, तथैव ध्वन्युच्चारणानन्तरं ध्वनिविरामेऽपि । अध्वनिकत्वमुभयत्रापि तुल्यम् । एकत्र स्मृत्यार्थः शब्दस्वरूपतामुपनीयते, अन्यत्र श्रुत्या । उभयत्राप्यध्वनिकायामेव शाब्द्यां स्थित्यां स्फुटत्यर्थः । स्फुटत्यर्थः ? कस्मादिति प्रश्ने—'शब्दात्' इत्युत्तरम् । स च शब्दोऽध्वनिकः, ध्वनिविरामेऽभिव्यक्तत्वात् । अयमेव स्फोटः । इयमेव सा स्थितिर्या तपरसूत्रे भाष्य उक्ता "स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः ।" "स्फोटः शब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायामं उपजायते ।" इति वान्यत्र ।

अथ स्मृत्या शब्दस्वरूपावधारणेऽव्यवहितपूर्वं ध्वनीनामभावात्तत्र स्फोटे ध्वनेर्ग्रहणं भवति न वा भवति, यदि भवति तदा केन रूपेण भवतीति न कोऽपि विचारयति । परन्तु श्रुत्या शब्दस्वरूपावधारणेऽव्यवहितपूर्वं ध्वनीनामवश्यं सद्भावात् प्रतिपत्तिप्रकारभेदेन प्रतिपत्तृभेदात् दर्शनभेदः स्फोटे ध्वनेर्ग्रहणे दृश्यते । ध्वनीनां भेदात् क्रमिकत्वाच्च स्फोटेऽपि सभागत्वं सक्रमत्वं च प्रतीयते । एवं ध्वन्यात्मकानां वर्णपदवाक्यानां सभागत्वं सक्रमत्वं चाभिज्ञाय तदभिव्यङ्ग्यानां स्फोटानामपि केचित् सभागत्वं सक्रमत्वं चाभ्युपगच्छन्ति । अन्ये तु शाब्दिकास्तत्त्वतो नित्यं निरवयवं निष्क्रमं च

स्फोटमङ्गीकुर्वाणा ध्वन्युपरागरञ्जितस्य तस्य सभागत्वं सक्रमत्व च तदुपलब्ध्युपायमात्रं स्वीकुर्वन्ति ।

नैयायिकनये हि--वंशादीनां द्विधाभेदने, पाषाणादावाहनने वा यः फट-फटाशब्दस्तद्वत् कण्ठताल्वादीनां संयोग-विभागाभ्यां जायमानः शब्दः स्फोटः । अत्र नय उपर्युक्तः स्फोटविचारोऽनावश्यकः, हयादीनां चोदनाय जिह्वातालुसंयोगविभागाभ्यामुत्पाद्यमानस्य टिक्-टिकाशब्दस्य[1] स्फोटत्वाभ्युपगमे विचारस्यैव व्यर्थत्वात् ।

मीमांसकानां तु—वर्णः शब्दः । स च नित्यः । वर्णा एव पदं वाक्यं च । ध्वनिक्रमजनित एव शब्दस्वरूपभेदः । अतः शब्दस्य सभागत्वं सक्रमत्वं चानिवार्यम् । अत्र नयेऽपि भागवत्त्वस्वीकारे यदि वाक्यभागाः पदानि, पदभागा वर्णाः, वर्णभागाश्च वर्णावयवास्तदा वर्णावयवभागाः वर्णतुरीयांशाः, तुरीय-तुरीयांशा अपि वेति क्रमेणाव्यपदेश्यत्वं शब्दस्य प्राप्नोति, अभिव्यञ्जकानां तेषां क्षणिकत्वात् । यदि च वर्णानां नित्यत्वान्नाव्यपदेश्यत्वं शब्दस्येति तदा तेषां युगपदवस्थानात् श्रुत्यविशेषप्रसङ्गः 'गवे-वेग' इत्यादौ, 'अर्थान्तरे शब्दान्तरम्' इति स्वीकारे तु नायं दोषः । सावयवत्वं सक्रमत्वं तु शब्दस्य तिष्ठत्येव ।

शाब्दिकानामपि···--नित्येऽखण्डेऽक्रमे शब्दे सावयवत्वं सक्रमत्वञ्चोपायतयोपलब्धेः स्वीकर्तव्यं भवतीति पूर्वकारिकासु बहुधा प्रपञ्चितमिति ।।९२।।

यदि वर्ण, पद और वाक्य में भाग होते हैं तो ध्वनियों के क्रम के कारण एक शब्द से दूसरे शब्द का स्वरूप भिन्न होता है (यह स्वाभाविक ही है ।) परन्तु यदि वर्ण, पद और वाक्य भाग-रहित होते हैं तो भी उनमें भागों की कल्पना सम्पूर्ण शब्द-स्वरूप को जानने के उपाय के रूप में की जाती है ।

मीमांसकों के अनुसार वाक्य में पद, पद में वर्ण होते हैं और वर्ण ही वाक्य की मूल इकाई है । वैयाकरणों के अनुसार वाक्य अखण्ड है । उसमें पद या वर्ण की सत्ता असत्य एवं काल्पनिक है ।

अब यदि मीमांसक-मतानुसार वाक्य या पद को सखण्ड (भाग-सहित) माना जाय तब भी ध्वनियों के उच्चारणक्रम से शब्दों (पदों या वाक्यों) के स्वरूप में भेद होता है । जैसे 'नदी और दीन' या 'सरः और रसः' या 'राज और जरा' आदि शब्दों में ध्वनियाँ जिस क्रम से उच्चरित हुई हैं, उसी क्रम से शब्द-स्वरूप

---

(१) अन्यत्र तु टिकटिकादिशब्दानामपि शब्दब्रह्मत्वं प्रतिपादयिष्यते ।

स्फुट होता है। (गो, हस्ती, मृग आदि शब्दों में भी उच्चारण-क्रम से ही रूप-भेद होता है। नदी-दीन आदि उदाहरण केवल ध्वनिसमता होने पर भी क्रम के कारण रूप-भेद के विशेष उदाहरण होने के कारण दिये गये हैं।) और शब्द-स्वरूप में भेद की प्रतीति होती है।

वर्ण-पद-वाक्य को सभाग मानने पर इस सिद्धान्त में एक दोष यह आता है कि—वाक्य में पद, पद में वर्ण, वर्ण में वर्णावयव और उन वर्णावयवों के भी तुरीयांश अभिव्यञ्जक ध्वनि के रूप में क्षणिक हैं। इन अत्यन्त सूक्ष्म अव्यपदेश्य अतः अव्यावहारिक भागों से, जो कि क्षणिक भी हैं, एक व्यावहारिक शब्द-स्वरूप कैसे स्फुट हो सकता है? और यदि वर्ण को नित्य मानकर इस दोष को हटा भी लें, तो नित्य वर्णों की युगपत् उपस्थिति के कारण 'नदी-दीन' जैसे समान वर्णों वाले पदों के स्वरूप में अन्तर कैसे पहिचाना जायगा? नित्य पदार्थ में क्रमिकता नहीं होती। इस दोष से बचने के लिए एक अन्य सिद्धान्त का उपयोग किया जाता है—"अर्थ बलदनने पर शब्द भी बदल जाता है," इस सिद्धान्त के अनुसार 'न् अ द् ई' ये वर्णध्वनियाँ यद्यपि दोनों शब्दों में आई हैं, तथापि अर्थ में भेद के कारण समान वर्ण-ध्वनि होते हुए भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

वैयाकरण सिद्धान्त में वर्ण, पद और वाक्य तीनों स्वयं में अखण्ड हैं। क्रमवत्ता या भागवत्ता की प्रकल्पना केवल एक उपाय है, उस अखण्ड और अक्रम की उपलब्धि का। इस बात को पिछली कारिकाओं में अनेक प्रकार से बताया गया है और स्वीकारा भी गया है॥ ९२॥

जातिः स्फोटः—

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः।
कैश्चिद् व्यक्तय एवास्याः ध्वनित्वेन प्रकल्पिताः॥ ९३॥

कैश्चित् अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः अनेकाभिः व्यक्तिभिः अभिव्यज्यते या सा जातिः, एकाधिकव्यक्त्यनुगतं सामान्यमेव जातिः, सा च स्वव्याप्यव्यक्तिभिरेव प्रकाश्यते इति जातिरनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या, सा जातिः स्फोट इति पदेन स्मृता। अस्याः 'स्फोट'नाम्न्याः जातेः ध्वनित्वेन ध्वनिरूपेण, व्यक्तयः तज्जातिव्याप्याः व्यक्तयः, एव प्रकल्पिताः अङ्गीकृताः।

अनेकेति। घ-घ-घेत्यनेके घवर्णाः, घट-घट-घटेत्यनेकानि घटपदानि, घटमानय-घटमानय-घटमानयेत्यनेकानि 'घटमानय'-वाक्यानि तत्र-तत्रोच्चरितानि व्यक्तिरूपाणि। एता वर्ण-पद-वाक्यरूपा व्यक्तयः। एताभिः स्व-

स्वानुगतसामान्यं घत्वं घटत्वं 'घटमानयत्व'मभिव्यज्यते। तेनैव व्यक्त्यभिव्यङ्ग्येन सामान्येन व्यवह्रियते न तु व्यक्त्या। यथा 'घट' इत्युक्ते न कस्मिंश्चित् 'घट'व्यक्तिविशेषे व्यवहारः, अपि तु घटत्वावच्छिन्नमात्रे। तेन ज्ञायते व्यक्त्या जातिरेवाभिधीयते एवं च कस्मिंश्चित् प्रयोगविशेषे उच्चारितेन 'घ'वर्णेन 'घट'पदेन वा स्वव्यापिका जातिरेवाभिधीयते। सा च जातिरनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या।

जातिरिति। उच्चरितेभ्योऽभिव्यञ्जकध्वनिभ्यो वर्णव्यक्तिः पदव्यक्तिर्वाक्यव्यक्तिर्वाभिव्यज्यते, उत तत्तद्वर्ण-पद-वाक्यव्यापिका जातिर्वेति सम्प्रश्ने व्यवस्थाप्यते–जातिरिति। स्फोटविषये मतद्वयमस्ति–व्यक्तिस्फोटः जातिस्फोटश्च। तत्र केचिदाचार्या जातिस्फोटमिच्छन्ति। तेषामयमभिप्रायः—उच्चारितेन ध्वनिरूपेण शब्देन तच्छब्दगता जातिरेवाभिव्यज्यते। सर्वाभिरेव व्यक्तिभिर्वा जातिरेवाभिव्यज्यते। यथा घटेन व्यवहर्तव्ये कम्बुग्रीवादिमत्त्वं जलाहरणयोग्यत्वमेवाभिप्रेतं भवति। तच्च कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूपं घटत्वं यत्रापि व्यक्तावुपलभ्यते तेनैव व्यवह्रियते। घटत्वमेव घटाभिधेयमिति। एवं हि 'घट'-शब्दध्वनिना घटत्वं यदभिव्यज्यते तदेव स्फोटः। न हि 'घट'इत्युक्ते उच्चरिता घटव्यक्तिरभिव्यज्यते, अपि तु घटशब्दत्वमभिव्यज्यते, यस्माच्च घटशब्दत्वावच्छिनो यावदर्थः स्फुटति। अनेनैव जातिपक्षाश्रयेण शब्दानां नित्यत्वमुपपद्यते, अन्यथोच्चरिशब्दव्यक्तिनाशे शब्दनित्यत्वं न स्यात्।

स्फोट इति। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावेन जातेः स्फोटत्वम्। ध्वनिव्यङ्ग्यः स्फोट इति पूर्वं प्रतिपादितम्। तद्यदि ध्वनिभिर्जातिरभिव्यज्यते तदा जातिरेव स्फोटः।

व्यक्तय इति। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावेनैव व्यक्तीनां ध्वनित्वम्। स्फोटाभिव्यञ्जकत्वं ध्वनीनां प्रक्रान्तम्। जातेः स्फोटत्वेऽभ्युपगते जात्यभिञ्जकानामेव ध्वनित्वमुचितम्। जातिर्हि तद्व्याप्य-व्यक्तिभिरेवाभिव्यज्यते। अतोऽत्र जातिस्फोटपक्षे तत्तच्छब्दव्यक्तय एव ध्वनित्वेन प्रकल्पिता भवन्ति। यद्युच्चरितध्वनिरूपव्यञ्जकैः शब्दस्वरूपः कश्चिद् व्यङ्ग्यः, तदा ध्वनिर्व्यञ्जकः व्यङ्ग्यः स्फोटः शब्दस्वरूपः। यदि व्यङ्ग्यः स्फोटो जातिः, तदा व्यञ्जिका व्यक्तयो ध्वनिः।

अत्रेदं बोध्यम्—"स्वं रूपमिति कैश्चित्तु" (वा० प० १।६८,६९) इत्यादि कारिकाद्वये "व्यक्तिः संज्ञा" "व्यक्तिः संज्ञिनी" इति पक्षद्वयमुक्तम्, तत्र

"व्यक्तिः संज्ञा" इति पक्षे जातेः सज्ञिनीत्वं वाच्यात्वं, "व्यक्तिः संज्ञिनी" इति पक्षे जातेः संज्ञात्वं वाचिकात्वमुक्तं भवति। वाचकत्वं तु स्फोटस्य लक्षणम्, यत्र पक्षे जातेः सज्ञात्वं वाचकत्वं वाभिमतम्, तत्र पक्षे जातिस्फोटः। जातिस्फोटे च व्यङ्ग्ये उच्चरितशब्दव्यक्तीनामभिव्यञ्जकानां ध्वनित्वं सुतरां सिध्यति।

आकृतिप्रयुक्तोऽयं जातिपक्षः शाब्दिकानां परमसिद्धान्तः। व्यक्तीनामानन्त्यात्प्रत्येकं शक्तिकल्पने गौरवाज्जातिरेव वाचिका। वाचकत्वात्तस्या एव स्फोटत्वम्। तदुक्तम्—

यथा जलादिभिर्व्यक्तं मुखमेवाभिधीयते।
तथा द्रव्यैरभिव्यक्ता जातिरेवाभिधीयते॥
यथेन्द्रियगतो भेद इन्द्रियग्रहणादृते।
इन्द्रियार्थेष्वदृष्टोऽपि ज्ञानभेदाय कल्पते॥
तथात्मरूपग्रहणात् केषांचिद् व्यक्तयो विना।
सामान्यज्ञानभेदानामुपयान्ति निमित्तताम्॥
सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः॥
सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥
तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः॥
प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते।
क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्त्वमिति कथ्यते॥
सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते।
क्रमेण शक्तिभिः स्वाभिरेवं प्रत्यवभासते॥ इति॥

(वा० प० ३।१, २९–३६)

प्रत्यवभाषते व्यज्यते इत्यर्थः॥ ९३॥

"अनेक शब्द-व्यक्तियों से अभिव्यक्त जाति स्फोट है और इस स्फोट-रूप जाति को अभिव्यक्त करने वाली शब्द-व्यक्तियाँ ध्वनियाँ हैं" कुछ शाब्दिकों का ऐसा मत है।

स्फोट के विषय में दो मत हैं—जातिस्फोट और व्यक्तिस्फोट। एक ही घट आदि शब्द अनेक स्थानों पर अनेक बार उच्चरित होता है। उन सभी अवय-

अलग उच्चरित शब्द-व्यक्तियों में एक सामान्य आकृति और सामान्य अर्थबोध-जनिका शक्ति भी होती है। इस सामान्यानुगतधर्म को लेकर घटत्व या पटत्व नामक जाति सिद्ध होती है। जब कोई वक्ता किसी घट-व्यक्ति का उच्चारण करता है तो श्रोता को उससे घटत्व (कम्बुग्रीवादिमत्त्व जलाहरणयोग्यत्व् आदि घट-सामान्य) का बोध होता है। यह घटत्व जिस-किसी भी वस्तु में पाया जाता है, श्रोता उसीसे आवश्यक व्यवहार (लाना ले-जाना आदि) करता है। यह अर्थ-व्यवहार की स्वाभाविक, विना कुछ सोचे-विचारे होने वाली प्रक्रिया है। वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द-व्यक्ति स्वयं उच्चरित-प्रध्वंसी होती है, अतः उससे व्यवहार करना सम्भव ही नहीं होता। शास्त्रीय-प्रक्रिया में भी यही होता है। सूत्रोच्चारित शब्द-व्यक्ति से शास्त्र-प्रयुक्त कार्य-विधान सम्भव नहीं। इस बात का उल्लेख "जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते" (वा० प० १।६६) के द्वारा पहले किया जा चुका है।

स्पष्ट है कि उच्चरित शब्द-व्यक्ति तद्गत शब्द-जाति को अभिव्यक्त करती है। इस प्रकार जाति व्यङ्ग्य और व्यक्ति व्यञ्जक हुई। अभी तक जो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव-सम्बन्ध स्फोट और ध्वनि में बताया जा रहा था, वही सम्बन्ध जाति और व्यक्ति में प्राप्त होता है। यदि जाति व्यङ्ग्य है तो उसकी व्यञ्जिका व्यक्ति है। शब्द-व्यवहार में व्यङ्ग्य-पदार्थ स्फोट और व्यञ्जक-पदार्थ ध्वनि होता है, अतः स्फोट जाति होती है और ध्वनि व्यक्ति। इसी अभिप्राय से भाष्य-कार ने ध्वनि को 'शब्द' कहा है—"अथवा प्रतीत-पदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः।" "तस्मात् ध्वनिः शब्दः।" यहाँ 'प्रतीत-पदार्थक' यह ध्वनि का विशेषण ध्यान देने योग्य है। जिससे अर्थ प्रतीत हो, वह ध्वनि शब्द है। यह स्थिति उच्चरित शब्द-व्यक्ति की है, अर्थात् शब्द-व्यक्ति ध्वनि होती है।

तात्पर्य यह कि इस जाति-स्फोट पक्ष में उच्चरित शब्द से उस शब्द में रहने वाली जाति अभिव्यक्त होती है। इससे पूर्व यह माना जा रहा था कि 'क ख' आदि ध्वनियों से शब्द का स्वरूप अभिव्यक्त होता है। यह जाति-स्फोट पक्ष वास्तविक और वैज्ञानिक है, शाब्दिकों में मान्यता-प्राप्त है। 'क ख' आदि से शब्द-स्वरूप का निर्धारण होने के बाद की प्रक्रिया, जो कि वास्तव में अर्थावबोध और अर्थ-प्रवृत्ति का कारण बनती है, जाति-स्फोट पक्ष में ही सम्पन्न होती है। ध्वनि-श्रवण से शब्द-स्वरूपावधारण होने मात्र से वाग्व्यवहार और अर्थ-प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं। अतः यदि स्फोट के व्यञ्जक का नाम 'ध्वनि' रखना आवश्यक हो तो जाति की व्यञ्जक शब्द-व्यक्ति को ध्वनि कहा जा सकता है। इसी प्रकार

ध्वनि से अभिव्यक्त पदार्थ का नाम 'स्फोट' रखना अनिवार्य है तो 'जाति' स्फोट है। वास्तविक व्यङ्ग्य-व्यञ्जक यही हैं। 'क ख' आदि ध्वनियों और शब्द-स्वरूप का व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव इसकी प्राथमिक स्थिति समझनी चाहिये ॥ ९३ ॥

नित्या चैका शब्दव्यक्तिः, सैव स्फुटति—

अविकारस्य शब्दस्य निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः ।
उपलब्धौ निमित्तत्वमुपयाति प्रकाशवत् ॥ ९४ ॥

निमित्तैः स्थानाभिघातरूपैः कारणैः, विकृतो विकारं प्राप्तः, ध्वनिः अविकारस्य विकृतिरहितस्य, शब्दस्य उपलब्धौ बोधे प्रकाशने वा, प्रकाशवत् घटादेः प्रकाश इव, निमित्तत्वं कारणत्वम्, उपयाति प्राप्नोति ।

अविकारस्येति । विकाररहिता चैकैव शब्दव्यक्तिरित्यन्येषामभिमतम् । तस्या नित्यत्वादेकत्वाच्च व्यक्तीनामनेकत्वाभावात्तदाश्रितजातेरप्यभावे "जातिः स्फोटः" इति न सङ्गच्छते । अतः स्थानकरणाभिघातरूपैः कारणै-रुत्पन्नो ध्वनिरेकस्या एव तस्याः शब्दव्यक्त्या घटादीनां प्रकाश इवाभिव्यञ्जने निमित्तं भवतीति शब्दव्यक्तिरेव स्फुटति, न जातिरिति तेषामभिप्रायः ।

अत्रायं विवेकः —नित्य एक अद्वितीये शब्दतत्त्वे जाति-व्यक्ति-व्यवहार-प्रक्रिया न सङ्घटते, अनुगतानेकसंस्थानाभावात्तद्व्यङ्ग्याया जातेरप्य-भावात् । अस्मिन्पक्षे सदा सर्वत्र च सत्येव शब्दव्यक्तिरुत्पद्यमानैर्ध्वनि-भिस्तथैव प्रकाश्यते यथा सन्त एव भावा दीपादिना प्रकाशेन प्रकाश्यन्ते । यथा प्रकाशस्य भावाभावाभ्यां वृद्धिह्रासाभ्यामेकत्वानेकत्वाभ्यां च भावानां भावाभावौ वृद्धिह्रासौ एकत्वानेकत्वे च न भवतस्तथैव शब्दव्यक्तावपि ध्वनेर्न कश्चित्प्रभावः । उपलब्ध्यनुपलब्धी एव प्रकाशेन ध्वनिभिश्च सम्पाद्येते । लौकिके वाग्व्यवहारे योऽपि शब्दभेदः प्रतीयते सः शब्दतत्त्वस्य शक्तीनामानन्त्याद्विवर्तवशाच्च भवति । अत्र येऽपि पूर्वपक्षास्ते "न चानित्येष्वभिव्यक्तिः" (वा० प० १।९५) इत्यारभ्य "विरुद्धपरिमाणेषु" (वा० प० १।१००) इत्यन्तं समाहिताः ।

जातिपक्षे तु घ-घट-घटमानयेत्यादिशब्दस्वरूपाणां तत्र तत्र प्रयुक्ता-नामनुगतसंस्थानानैक्यात् घत्व-घटत्व-घटमानयत्वरूपा जातयः प्रसिद्ध्यन्ति । एताश्च जातयः शब्दत्वसामान्यादन्या घत्वादिरूपाः ।

एतादशाकृतिप्रयुक्तं चेदं व्याकरणं शास्त्रम्। अन्यथैकत्र प्रयोगे प्रवृत्तं शास्त्रमन्यत्र न प्रवर्तेत, तत्र तत्रानेकशक्तिप्रकल्पने च गौरवं स्यात्। अत एव शक्यत्वं शक्तत्वं चापि जातेरेव स्वीक्रियते शाब्दिकैः। तदुक्तम्—

स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना ॥ (वा० प० ३।१।६)

व्यक्तिस्फोट-जातिस्फोटपक्षावुभावपि शाब्दिकसम्मतौ। सर्वप्रकृतिभूतस्य शब्दतत्त्वस्यैकत्वात् तद्गतजातेरभावात्सर्वत्र सैवैका शब्दव्यक्तिरेव स्फुटतीति व्यक्तिस्फोटवादिनामभिप्रेतम्। तत्र-तत्रोच्चरितशब्दव्यक्तिभिस्तद्गता तत्तच्छब्दजातिर्व्यज्यत इति ध्वनिरूपशब्दव्यक्तिव्यङ्ग्यत्वाज्जातिरेव स्फोट इत्यपरेषाम् ॥ ९४॥

शब्दतत्त्व विकार-रहित और एक है, अतः उसमें जाति की सम्भावना नहीं है। कण्ठ-तालु आदि के संयोग-विभाग से उत्पन्न 'अ' 'क' आदि ध्वनियाँ उस विकार-रहित एवं सदा और सर्वत्र विद्यमान शब्दतत्त्व की उपलब्धि का कारण बन जाती हैं। जैसे प्रकाश पहले से ही विद्यमान (परन्तु प्रकाश न होने से न दिखाई पड़ने वाले) पदार्थों की उपलब्धि का कारण बनता है।

यह 'व्यक्ति-स्फोट'-वादी मत है। इस मत का मूल आधार शब्दतत्त्व का एक होना है। जाति वहीं सम्भव होती है, जहाँ समान गुण-धर्म वाली अनेक वस्तुएँ हैं। शब्दतत्त्व में यह स्थिति घटित नहीं होती। अतः इस मतवाद में जाति मानना सम्भव नहीं।

इस सिद्धान्त में सभी ध्वनियों और ध्वनि-क्रमों से वही एक शब्दतत्त्वव्यक्ति ही अभिव्यक्त होती है; इससे यह न समझना चाहिए कि इस सिद्धान्त में सभी ध्वनियों और ध्वनिक्रमों (घट या पट) का एक ही अर्थ होगा, और इस प्रकार भाषाव्यवहार असम्भव हो जायेगा। शब्दतत्त्व की शक्तियाँ अनन्त हैं, वह एक ही अनेकरूपों में व्यक्त होता है। ध्वनिक्रमों का प्रभाव उसमें लक्षित होता है, इत्यादि प्रसङ्ग पहले आ चुके हैं। इस कारिका में भी ध्वनियों को शब्द-प्रकाशक बताया गया है, आगे की कारिकाओं में प्रकाश्य का प्रकाशक भेदानुवर्तन स्वीकार किया गया है। अन्य भी कई पूर्वपक्ष उठाये गये हैं और उनका समाधान भी किया गया है।

सार यह कि इस पक्ष में भले ही सभी ध्वनियों और ध्वनिक्रमों से एक ही शब्दतत्त्वव्यक्ति अभिव्यक्त होती हो, तब भी भाषा-व्यवहार में कोई असुविधा नहीं

होती। शब्दतत्त्व में सभी अर्थों के वाचक होने की असीम शक्तियाँ हैं और ध्वनि एवं ध्वनिक्रम विवक्षावशात् उन-उन शक्तियों की यथावसर अभिव्यक्ति देती हैं।। ९४।।

अभिव्यक्ता अनित्या इति न नियमः--

न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते ॥ ९५॥

अभिव्यक्तिः स्वरूपाकारेण प्रकटनं, च तु, अनित्येषु नित्यभिन्नाभिमतेषु पदार्थेषु, नियमेन नैयत्येन, न व्यवस्थिता न स्थिता। नित्येष्वपि अभिव्यक्तिः स्थिता दृश्यते, तथा हि--नित्यानां जातीनां गोत्व-घटत्वादीनां, आश्रयैः तत्तज्जात्याश्रयीभूतगो-घट-व्यक्तिभिः, अपि व्यक्तिः अभिव्यक्तिः प्रकटनम्, इष्यते इष्टा अभिमता सर्वेषाम्। अभिव्यक्तिरनित्येष्वेवेति नायं नियमः।

अभिव्यक्तिरिति। अस्ति पक्षद्वयं कार्यभावे पदार्थानाम्—उत्पत्तिपक्षोऽभिव्यक्तिपक्षश्च। तत्रासदेव कार्यं स्वनिमित्तैरुत्पाद्यत इत्युत्पत्तिपक्षः। सदपि कार्यं स्वनिमित्तैरभिव्यज्यत इत्यभिव्यक्तिपक्षः। यथा तन्तुभिः पटम्। उत्पन्नमभिव्यक्तं वा पटमनित्यम्। उत्पन्नं नष्टम्, अभिव्यक्तं वा विलीनमिति। एवं स्थिते यदि ध्वनिभिः शब्दव्यक्तिभिर्वा शब्दोऽभिव्यज्यते तदा तस्यानित्यत्वमापद्यते। यदि चोत्पाद्यते तदा त्वनित्यत्वं स्पष्टमेव।

न नियमेनेति। नास्ति नियमो यदनित्यमेवाभिव्यज्यते। यदपि नैयायिकाः—"शब्दोऽनित्यः, अभिव्यङ्ग्यत्वात्, दीपाभिव्यक्तघटादिवत्" इत्यनुमित्या शब्दस्यानित्यत्वमिच्छन्ति, तन्न युक्तम्, नित्यानामप्यभिव्यक्तेर्दर्शनात्। एवं नित्यानित्येषूभयथाऽप्यभिव्यक्तेर्दर्शनान्नायमपदेशः, अभिव्यक्तमनित्यमिति।

जातीनामिति। घटत्व-पटत्वादिजातीनामभिव्यक्तिस्तदाश्रयीभूताभिर्व्यक्तिभिर्भवति, नित्याश्च जातयः। अभिव्यक्ता घटादयोऽनित्याः, अभिव्यक्ताश्च जातयो नित्याः। एवं स्थिते "यत्र यत्राभिव्यक्तत्वं तत्र तत्रानित्यत्वमिति न व्याप्तिः, जातौ व्यभिचारदर्शनात्। अतः "शब्दोऽनित्यः, अभिव्यक्तत्वात्, घटवत्" नेयमनुमतिर्युक्ता। "अभिव्यक्तोऽपि शब्दो नित्यः, जातिवत्," इत्येवोचितम्।

इदं चाप्यभिधेयम्--प्रकाशाभिव्यक्तानां घटादीनामनित्यत्वं नाभिव्यक्तिप्रयुक्तम् । घटादीनामनित्यत्वं तेषां कार्यत्वादभिव्यक्तावनभिव्यक्तावपि स्थितमेव । नित्यानां नित्यत्वमप्यभिव्यक्तावनिभिव्यक्तौ च तिष्ठति । निविडान्धकारे दिग्बोधशून्यस्य सूर्योदये यदि पूर्वादि-दिशोऽभिव्यज्यन्ते, तेनैव तासां नित्यत्वमनित्यत्वं वा न भवति । दिशः नित्यत्वमभिव्यक्तावनभिव्यक्तावपि सिद्धम्, घटस्य त्वनित्यत्वं सिद्धम् । अतः "अभिव्यक्तत्वात्" इत्यसद्धेतुः ।

सर्वमनित्यमितिवादिनां तु व्यतिरेकव्याप्तेरभावात् नित्या।नित्यत्वे तर्कस्यानवस्थैव ॥ ६५ ॥

"जो पदार्थ अभिव्यक्त होते हैं, वे अनित्य होते हैं," यह नियम नहीं है। अनित्य पदार्थों में ही अभिव्यक्ति दिखाई देती है, ऐसा नहीं है। जाति नित्य होती है, उसकी अभिव्यक्ति उसकी आश्रय व्यक्तियों के द्वारा होती है।

प्रकाश पड़ने पर अभिव्यक्त होने वाले घट-पट आदि पदार्थों को अनित्य देखते हुए कुछ लोग अभिव्यक्त होने वाले सभी पदार्थों को अनित्य मान लेते हैं। इसी आधार पर "क्योंकि शब्द अभिव्यक्त होता है, इसलिए शब्द अनित्य है"। ऐसा उनका कहना है। वे यह भी कहते हैं कि यदि शब्द अभिव्यक्त नहीं होता तो उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से भी शब्द अनित्य है।

परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। सभी अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ अनित्य नहीं होते। जाति को ही लीजिए। जाति अपनी आश्रय व्यक्तियों से अभिव्क्त भी होती है और नित्य भी है। शब्द भी ऐसा ही है। वह जाति के समान ही अभिव्यक्त भी होता है और नित्य भी है।

वास्तव में अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ नित्य ही होते हैं। अभिव्यक्त होने का अर्थ ही नित्य होना है। 'अभिव्यक्ति' अपने से अव्यवहितपूर्व की सत्ता का ही बोध कराती है, जबकि 'उत्पत्ति' से पूर्ववर्ती सत्ताभाव का ज्ञान होता है। प्रकाश से अभिव्यक्त अनित्य पदार्थों को देखकर यह सोचना ही मूलरूप से गलत है कि अभिव्यक्त पदार्थ अनित्य होता है। प्रकाश से यदि घट अभिव्यक्त होता है, तो इसका अर्थ यही होगा कि घट अपने स्वरूप से ही वहां था, प्रकाश रहने और न रहने पर भी वहां रहेगा। यदि यह अभिव्यक्त घट अनित्य है, तो इसका कारण 'अभिव्यक्ति' नहीं है, अपितु कुछ और है। यदि कोई अभिव्यक्त पदार्थ नित्य है, तो उसका कारण भी 'अभिव्यक्ति' नहीं है, कुछ और है। नित्यता और अनित्यता पदार्थों का स्वगत

स्वभाव है और शब्द की भी यही स्थिति है। अभिव्यक्ति या उत्पत्ति, नित्यता या अनित्यता कारण नहीं, प्रमाण हैं ॥ ९५ ॥

अमूर्त्तयोर्ध्वनिशब्दयोर्देशभेदविकल्पेऽपि न भेदः--

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः ॥ ९६ ॥

इह लोके, देशादिभिः देशेन कालेन वा, सम्बन्धः स्थितिनैयत्यं, कायवतां मूर्तिमतां शरीरिणां दृष्टः, न त्वकायवताम्, अतः ध्वनिशब्दयोः ध्वनेः शब्दस्य च, देशभेदविकल्पे देशभेदस्य विकल्पे, सत्यपि न भेदः।

देशादिभिरिति। शब्दोऽभिव्यज्यते नित्यश्चेति स्थापितम्। परन्तु अभिव्यक्ता घटादयः प्रकाशको दीपश्चैकदेशस्था एव व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भावं लभन्ते, न तु भिन्नदेशस्थाः। न ह्यस्मद्गृहस्थो दीपः प्रतिवेशिगृहस्थं घटमभिव्यनक्ति। शब्दाभिव्यञ्जका ध्वनयो वक्तृमुखस्थाः श्रोतृबुद्धिस्थं शब्दं कथमभिव्यङ्क्तुं शक्नुवन्ति। तस्मान्न शब्दोऽभिव्यङ्ग्यः, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकयोर्देशभेदात्। यदि शब्दो नाभिव्यङ्ग्यस्तदोत्पाद्यः, यद्युत्पाद्यस्त-दानित्यः, इत्येवं वादिनं प्रत्युच्यते--

कायवतामिति। येऽपि कायवन्तो मूर्ताः पदार्थास्तेषामेव देश-दिक्काल-सम्बन्धो दृश्यते। त एव देशादिभेदाभेदेन भिद्यन्ते सम्बध्यन्ते वा। ये त्वमूर्ता आकाशादयस्तेषां देशकालसम्बन्धो नास्त्येव। 'अत्रस्थो घटो न तत्रस्थः' इतिवत् 'अत्रस्थ आकाशो न तत्रस्थः' इति न सम्भवति। ध्वनिशब्दा-वप्यमूर्तौ, न तयोर्देशसम्बन्धः। तथासम्बन्धाभावे च 'ध्वनिशब्दौ भिन्न-देशस्थौ' इति वक्तुं न शक्यते। तयोर्व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव उपपन्न एव।

कायवन्तोऽपि भिन्नदेशस्था व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावं लभन्ते--यथा सूर्यः। अत्यन्तविप्रकृष्टदेशस्थोऽपि सविता घटपटाद्यभिव्यञ्जको भवति, समग्रस्य ब्रह्माण्डस्य च। (सन्निकृष्टप्रकाशकापेक्षया विप्रकृष्टप्रकाशकोऽधिकं क्षेत्रं क्षेत्रस्थं च प्रकाशयतीत्यपि बोध्यम्) अतएव विप्रकृष्टदेशस्थो नाभिव्यञ्जक इति न सुवचम्। अभिव्यञ्जकानामभिव्यञ्जनशक्तयोऽपि भिन्ना भवन्ति। दीपप्रकाशः कुड्यबाधां नातिक्रमितुं शक्नोति, ध्वनिस्तु शक्नोति। ध्वनिः काचभित्तिं नातिक्रामति, प्रकाशस्त्वतिक्रामति। येनैव व्यवधानेन प्रकाशो न घटाभिव्यञ्जकस्तेनैव व्यवधानेन ध्वनिरपि न शब्दाभिव्यञ्जक इति न

नियमः । अतो दीपघटदृष्टान्तेन भिन्नदेशत्वात् ध्वनिशब्दयोर्व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावाभावो यदाशङ्क्यते तन्नोपपन्नम् ।

विकल्पेऽपीति । अमूर्तत्वाद् ध्वनिशब्दयोर्न देशसम्बन्धः । मूर्तत्वेऽपि च न व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावाभावः । परं मूर्तत्वे देशसम्बन्धसत्त्वे किन्तयोर्देश-भेदोऽस्ति ? देशभेदोऽस्ति, देशभेदो नास्तीति विकल्पः । सत्यपि मूर्तत्वे ध्वनिशब्दौ न देशभेदभिन्नौ, उभयोराकाशदेशत्वात् मुखाकाशादारभ्य बुद्ध्याकाशं यावदेकमाकाशम् । तदुक्तम् "अइउण्" सूत्रभाष्ये--"श्रोत्रोप-लब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । एकं च पुन-राकाशम्" इति । मुखाकाशं कर्णरन्ध्राकाशं बुद्ध्याकाशमितिभेदस्त्वौपाधिको न वास्तविकः, आकाशस्य व्यापकत्वात् । मूर्तत्वाभिमानो देशसम्बन्धाभि-मानश्च न वास्तवः ॥ ९६ ॥

शब्द और ध्वनि में व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध स्वीकार किया गया है । परन्तु, व्यञ्जक अपने निकटस्थ एक स्थान पर रहने वाले पदार्थों को ही अभिव्यक्त करते हैं, न कि दूसरे स्थान पर रहने वाले पदार्थों को । जैसे एक घर में रखा दीपक दूसरे घर में रखे घट को अभिव्यक्त नहीं करता । ध्वनि वक्ता के मुख में उत्पन्न होती है, स्फोट श्रोता की बुद्धि में । भिन्न-भिन्न स्थानों से सम्बद्ध शब्द (स्फोट) और ध्वनि में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह कि--

देश से सम्बन्ध केवल मूर्तिमत् पदार्थों का ही देखा जाता है । (अमूर्त पदार्थों का नहीं, क्योंकि ध्वनि और शब्द दोनों ही अमूर्त हैं, इसलिए) वक्तृमुख, श्रोतृबुद्धि जैसे काल्पनिक देश-भेद होते हुए भी ध्वनि और शब्द में कोई वास्तविक देश-भेद नहीं है । अमूर्त पदार्थों में देश-भेद या देश-सम्बन्ध होता ही नहीं है ।

देशभेद की बात केवल उस स्थिति में उठती है, जब ध्वनि और शब्द को मूर्त मान लिया जाय । इस स्थिति में भी उनमें व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध नहीं है, ऐसा नहीं है । व्यञ्जक केवल निकटस्थ एकदेशस्थ वस्तुओं को ही व्यञ्जित करते हैं, यह कोई नियम नहीं । सूर्य-जैसे विशाल और व्यापक व्यञ्जक दूरस्थ पदार्थों को भी व्यञ्जित कर देते हैं । वास्तव में यह अभिव्यञ्जनशक्ति की सीमा पर निर्भर करता है । दीप की शक्ति सीमित है, इसलिए वह दूसरे घर में रखे घट को अभिव्यक्त नहीं कर पाता । सूर्य की शक्ति असीमित है, वह समस्त विश्व को अभिव्यक्त कर सकता है । ध्वनि की अभिव्यञ्जन-शक्ति वहाँ तक है, जहाँ स्फोट होता है । जहाँ ध्वनि की शक्ति अवरुद्ध या क्षीण हो जाती है, वहाँ स्फोट अभिव्यक्त नहीं होता ॥ ९६ ॥

व्यङ्ग्यतानैयत्येऽपि न शब्दानित्यत्वम्—

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यतानियता यथा ।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥ ९७ ॥

यथा ग्रहणग्राह्ययोः ग्रहणस्य, गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणमिन्द्रियं तस्य, ग्राह्यस्य च, गृह्यते योऽसौ ग्राह्यो विषयः, तयोः नियता-निश्चिता अव्यतिरेकी योग्यता ग्राह्यग्राहकतारूपा शक्तिः, सिद्धा स्वभावसिद्धा सिद्धान्ततः स्वीकृता चास्ति; तथैव स्फोटनादयोः स्फोटस्य, नादस्य ध्वनेश्च, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावेन व्यङ्ग्यव्यञ्जकता योग्यता नियता सिद्धा च ।

नियतेति । नित्येष्वप्यभिव्यक्तिर्दृश्यत इति शब्दानित्यत्वं वारितम् । ध्वनिशब्दयोर्देशभेदाभावं स्थाप्य शब्दस्य ध्वन्यव्यङ्ग्यत्वमपि निराकृतम् । परमथापि शब्दो न ध्वनिव्यङ्ग्यः, व्यञ्जकानामनियतस्वभावात् । व्यञ्जका हि दीपादयो गृहस्थं घटं पटं मञ्चकं चाविशेषेणानैयत्येनाभिव्यञ्जन्ति । दिवाकरोऽपि घटं, पटं, धरां, सुधाकरं चाविशेषेणानैयत्येनाभिव्यनक्ति । ध्वनयस्तु न तथा । 'क'-ध्वनिः 'क'-वर्णमेवाभिव्यनक्ति, 'ख'-ध्वनिः 'ख'-वर्णमेव । व्यञ्जकानां नायं नियमः, उत्पादकानां त्वयम् । तन्तुः पटमेवोत्पादयति न घटम्, मृद्घटमेवोत्पादयति न पटं न मञ्चकम् । अतः शब्दो न ध्वनि-व्यङ्ग्यः, अपि तूत्पाद्यः । उत्पाद्यश्चानित्यः । अत्र पूर्वपक्षे प्रतिविधीयते—

ग्रहणग्राह्ययोरिति । नियताभिव्यञ्जनं नियतव्यञ्जकापेक्षा वा नोत्पाद्योत्पादकभावे प्रमाणम्, ग्राह्यग्राहकभावसम्बन्धयोर्विषयेन्द्रिययोर्नियता-भिव्यङ्ग्याभिव्यञ्जकत्वस्य दृष्टत्वात् । चक्षुःसमवेतं रूपं बाह्यवस्तुरूप-मेवाभिव्यनक्ति न वस्तुनो द्रव्यत्वं, न गुणान्तरं गन्धादि । रूपं शुक्लाद्यपि स्वाभिव्यक्तये चक्षुरिन्द्रियमेवापेक्षते नेतराणीन्द्रियाणि । एवमभिव्यञ्जननै-यत्येऽपि न विषयेन्द्रिययोर्जन्यजनकभावसम्बन्धः । तयोस्तु ग्राह्यग्राहकभाव-सम्बन्धः ।

स्फोटनादयोरिति । यदि नियताभिव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेऽपि विषयेन्द्रिय-योर्न जन्यजनकसम्बन्धोऽपि तु सम्बन्धान्तरमेव ग्राह्य-ग्राहकरूपम्, तदा ध्वनिशब्दयोरपि व्यञ्जननैयत्येऽपि सम्बन्धान्तरं भवितुमर्हत्येव । तच्च व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव[1] एव ॥ ९७ ॥

---

(१) अत्र ध्वनिशब्दयोः सम्बन्धेन व्यङ्ग्य-व्यञ्जकेत्यत्राक्रमत्वं प्रतीयते । परन्तु ध्वनि-शब्दयोरित्यत्र 'ध्वने'र्घिसञ्ज्ञकत्वात्पूर्वनिपातः व्यङ्ग्य-व्यञ्जकेत्यत्र त्वल्पाच्तरत्वाद् 'व्यङ्ग्य' इत्यस्य । ध्वनिर्व्यञ्जकः, शब्दो व्यङ्ग्य इति तु विवेचनीयम् । एवमन्यत्रापि ।

जैसे विषय और इन्द्रिय में एक निश्चित योग्यता है अपनी-अपनी इन्द्रिय से ग्रहण होने की, और अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की, वैसे ही स्फोट और नाद में भी एक निश्चित योग्यता है, स्व-सम्बद्ध ध्वनि से ही व्यक्त होने की और स्वसम्बद्ध स्फोट को ही व्यक्त करने की।

स्फोट और ध्वनि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव-सम्बन्ध हैं। जब 'अ' ध्वनि का उच्चारण होता है तो 'अ' अभिव्यक्त होता है और जब 'क' ध्वनि का उच्चारण होता है तो 'क' अभिव्यक्त होता है। ध्वनियों की इस नियमित व्यञ्जकता को देखकर यह शङ्का होती है कि ध्वनियाँ व्यञ्जक है या उत्पादक ? स्फोट व्यङ्ग्य है या उत्पाद्य ? क्योंकि जो व्यञ्जक होते हैं वे नियमित रूप से व्यक्तीकरण का काम नहीं करते। जैसे प्रकाश व्यञ्जक है, परन्तु वह कमरे में रखी केवल एक वस्तु को प्रकाशित (व्यक्त) नहीं करता, अपितु सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसी प्रकार व्यङ्ग्य वस्तुएँ भी किसी एक ही दीप से प्रकाशित नहीं होतीं, अपितु किसी भी प्रकाश के पड़ने से व्यक्त हो जाती हैं। व्यङ्ग्य-व्यञ्जकों में ऐसा कोई नियम नहीं है कि अमुक व्यञ्जक से अमुक व्यङ्ग्य ही व्यक्त होगा या अमुक व्यङ्ग्य अमुक व्यञ्जक से ही व्यक्त होगा।

इधर ध्वनियों की स्थिति यह है कि—किसी ध्वनि-विशेष से कोई स्फोट-विशेष ही अभिव्यक्त होता है। यह स्थिति उत्पादकों की है। जैसे सूत से कपड़ा ही बनता है घड़ा नहीं। कपड़े और सूत में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध है, न कि व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध। इस प्रकार ध्वनियाँ स्फोट की उत्पादक ही हो सकती हैं, व्यञ्जक नहीं। ध्वनियाँ उत्पादक हैं तो स्फोट उत्पाद्य है। उत्पाद्य है तो अनित्य है।

परन्तु यह शंङ्का उचित नहीं है। निश्चित अभिव्यक्ति करने वाली सभी स्थितियों में उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं होता। विषय और इन्द्रियों की यही स्थिति है। दाल में नमक या चाय में चीनी की अभिव्यक्ति (बोध) जीभ से ही होती है। फूल के रंग की अभिव्यक्ति आँख से ही होती है। रूप-रस आदि विषय अपनी-अपनी इन्द्रियों से ही व्यक्त होते हैं। व्यक्तीकरण की प्रक्रिया इनमें निश्चित है, तब भी इनमें उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं है। स्पष्ट है कि नियमित अभिव्यक्ति को देख कर ही उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। अतः शब्द और ध्वनि में नियमित अभिव्यञ्जक क्रम होते हुए भी उनमें उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं है, अपितु व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव सम्बन्ध ही है। नियमित अभिव्यङ्ग्यता के कारण शब्द को अनित्य नहीं कहा जा सकता ॥ ९७ ॥

सदृशग्रहणेष्वपि व्यङ्ग्यतानैयत्यम्—

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम् ।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम् ॥ ९८ ॥

सदृशग्रहणानां स्वसमानेन्द्रियग्राह्यानां, गन्धादीनां गन्धरसप्रभृतीनां पदार्थानां, नियतं निश्चितं, प्रकाशकं अभिव्यञ्जकं, निमित्तं हेतुः, लोके प्रतिद्रव्यं द्रव्यं द्रव्यं प्रति, एकपदार्थस्यैकमन्यस्यान्यमिति व्यवस्थितम् अस्ति ।

सदृशग्रहणानामिति । सन्ति केचित् पदार्थाः ये स्वसदृशेनैवेन्द्रियेण गृह्यन्ते, केचिच्च स्वासदृशेणापि गृह्यन्ते । तत्र ये स्वसदृशेनैवेन्द्रियेण गृह्यन्ते ते सदृशग्रहणाः, सदृशेन स्वसदृशेनेन्द्रियेण गृह्यन्ते ये त इति व्युत्पत्त्या, कर्मणि ल्युट् । अन्ये विसदृशग्रहणाः । इन्द्रियाण्यपि स्व-स्वविषयवन्तीति पूर्वैः स्वीकृतानि, यथा—चक्षुस्तैजसम्, रसना जलीया, घ्राणं पार्थिवम्, त्वग्वायवीया, श्रवणं चाकाशीयम् । एवं च घटादयः पदार्थाश्चक्षुषा त्वचा च गृह्यन्ते । कण्टकानां तैक्ष्ण्यं पुष्पाणां मार्दवं चक्षुषापि गृह्यते । गन्ध-रस-शब्दास्तु घ्राण-रसना-श्रोत्रैर्विना नैव गृह्यन्तेऽतस्ते सदृशग्रहणाः ।

गन्धादीनामिति । अत्रायं पूर्वपक्षः—शब्दो नित्यः, ध्वनिस्तस्य व्यञ्जकः, इत्यभ्युपगमे विषयेन्द्रियवत्तस्य ग्राह्यग्राहकभावः कथं सम्भवति । इन्द्रियैस्तु विषयः साक्षात् गृह्यते, शब्दः पुनः बुद्ध्या गृह्यते, एवं स्थिते शब्दबुद्ध्योः विषयेन्द्रियसदृशः कश्चित्सम्बन्धो व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावोऽन्यो वा भवितुमर्हति, न तु ध्वनिशब्दयोः । यदि रूप-चक्षुषोः प्रकाश इव शब्दबुद्ध्योर्ध्वनिरङ्गीक्रियते तदा शब्दस्य नियतव्यञ्जकापेक्षित्वात् तस्य नित्यत्वं विहन्यते । अत्र प्रतिविधीयते—गन्धादयोऽपि घ्राणादिकं प्रति नियतव्यञ्जकापेक्षिणो दृष्टाः, न केवलं शब्दः । नायमपदेशो भवति—नियतव्यञ्जकापेक्षिणां जन्यजनकसम्बन्धो नान्यः ।

नियतमिति । गन्धरसशब्दा उद्भूता अनुद्भूताश्च । उद्भूताश्चैते व्यञ्जकाभावेऽपि गृह्यन्ते । अनुद्भूतास्तु व्यञ्जकमपेक्षन्ते । स च व्यञ्जको नियतः । यथा—कुङ्कुमगन्धो गोघृतेन व्यज्यते । आमलक्या मधुरिमा जलेन व्यज्यते । शब्दस्य वाचकत्वं ध्वनिभिर्व्यज्यते ॥ ९८ ॥

स्वसमान इन्द्रिय से ग्राह्य गन्ध आदि के व्यञ्जक भी निश्चित होते हैं । किसी पदार्थ की गन्ध-रस का कोई व्यञ्जक है, तो किसी अन्य का कोई और । इस स्थिति में शब्द की व्यञ्जक-ध्वनियाँ भी निश्चित होती हैं, तो इतने-भर से उन्हें उत्पाद्य नहीं माना जा सकता ॥ ९८ ॥

प्रकाश्यः प्रकाशकभेदमनुवर्तते—

प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते ।
तैलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके ॥ ६६ ॥

प्रकाश्यः प्रकाशविषयभूतः, प्रकाशयितुमिष्टः, अर्थः पदार्थः, प्रकाशकानां ये प्रकाशयन्ति तेषां प्रकाशस्रोतसां, भेदान् प्रकारान्, अनुवर्तते तदनु व्यवहरति । तत् प्रकाशकभेदानुवर्तनं, तैलोदकादिभेदे तैलं च उदकं च तैलोदकम् आदिना काचादि, इत्येतद्भेदभिन्ने प्रतिबिम्बके प्रतिच्छायायां, प्रत्यक्षं स्पष्टतया दृश्यते ।

प्रकाशकानामिति । अथापि शब्दो नाभिव्यङ्ग्यः । सदृशग्रहणे गन्धादौ नियतव्यञ्जकापेक्षावन्नियतध्वनिव्यञ्जकापेक्ष्ये शब्देऽभिव्यङ्ग्यत्वसिद्धौ सत्यामपि नाभिव्यङ्ग्यः शब्दः, तस्य प्रकाशकानां भेदेन भिन्नत्वात् । अभिव्यङ्ग्या हि घटादयः प्रकाशकानां दीपादीनां संख्याभेदेन प्रकाशमात्राभेदेन वा न भिद्यन्ते । न हि दीपद्वयप्रकाशितो घटो घटद्वयं भवति, न वा दीपप्रकाशे लघुर्घटः सूर्यप्रकाशे बृहद्भवति । शब्दास्त्वभिव्यञ्जकध्वनिसंख्यामात्राभेदेन भिद्यन्ते, कोकादौ कद्वयेन कद्वयात्मिकाभिव्यक्तिः, किम्-कीदृशादौ चेकारमात्राभेदेनेकारस्य ह्रस्वदीर्घाभिव्यक्तिः । अतः शब्दो नाभिव्यङ्ग्य इति पूर्वपक्षः । अत्र प्रतिविधीयते—

अनुवर्तत इति । प्रकाश्येऽर्थे प्रकाशकभेदानुवर्तनं दृश्यते । यथा—श्वेतेन प्रकाशेन प्रकाशितं वस्तु श्वेतं, पीतेन पीतं, नीलेन नीलं दृश्यते । चलचित्रे (सिनेमा) लघ्वपि चित्रं प्रकाशभेदव्यवस्थयैव बृहत् दृश्यते । अतः प्रकाशकानामभिव्यञ्जकानां भेदेन प्रकाश्या अभिव्यङ्ग्या अपि भिद्यन्ते । 'नैव भिद्यन्ते' इति न नियमः ।

प्रतिबिम्बक इति । तैले पतिता मुखच्छाया श्यामा, जले स्वच्छा दृश्यते, इति प्रकाश्यस्य प्रकाशकभेदानुवर्तनस्योदाहरणान्तरे । हरिवृषभवृत्तौ तु—"निम्नेष्वादर्शतलादिषु मुखप्रतिबिम्बमुन्नतं दृश्यते, उन्नतेषु निम्नम्" इत्युदाहृतम् । नेदमनुवर्तनमपि तु प्रत्यनुवर्तनम् ।

वस्तुतस्तु—अत्र प्रकाश्यप्रकाशकसम्बन्धे प्रतिबिम्बकोदाहरणं कारिकागतमप्यसङ्गतम् । प्रतिबिम्बं प्रकाशकं न भवति, यद्गतभेदं प्रकाश्येऽर्थे आरोप्य पूर्वपक्षः समाधीयेत । प्रतिबिम्बं तु, स्वयमपि प्रकाश्यं भवति यत् बिम्बत आगच्छन्तीभिः प्रकाशरेखाभिराक्रियते । प्रतिबिम्बे तैलोदकादितलगतगुणानुगुण्यं तु दृश्यते, येन तैले मुखच्छाया श्यामा, जले च स्वच्छा

च दृश्यते। तदिदं परावर्तकतलभेदानुवर्तनं, न तु प्रकाशकानुवर्तनम्। प्रतिबिम्बप्रकाशकोऽपि प्रकाश एव। प्रतिबिम्बस्य शोभनमुदाहरणं "प्रतिबिम्बं यथान्यत्र" इति (वा० प० १।४९) कारिकायामुपन्यस्तम्।

शब्दप्रकाशको ध्वनिस्तु वस्तुतः प्रकारान्तरेण प्रतिबिम्बस्य स्थितिं भजते। तद्यथा—

ज्ञेयव्यपाश्रयं हि दर्शनानुभवजनितं ज्ञानं वक्तृ-श्रोतृबुद्धौ नित्यत्वेन व्यापकत्वेन च तिष्ठत्येव। तच्च विवक्षावशाद्वस्त्वाकारकं सदपि शब्दाकारकतामध्यारोपितं स्वरूपाभिव्यक्तयेऽर्थप्रकाशनस्वभावतया च तत्तत्स्थानकरणाभिघातजन्येषु दिक्कालावच्छिन्नेषु ध्वनिषु प्रकाश इव जलतलादिषु परिपतति। परिपतितं तत् शब्दस्वरूपं जले सूर्यादिप्रतिबिम्बमिवाभासते। अत एव केचन शब्दस्वरूपेणाभासमानान् ध्वनीनेव शब्दं मन्यमाना दिक्कालावच्छिन्नध्वनीनां पूर्वापरत्वं ह्रस्वदीर्घत्वादिकं च शब्दस्यैवाभिमन्यमानाः शब्दस्यानित्यत्वमिच्छन्ति।

ध्वनयस्तु शब्दस्वरूपप्रतिबिम्बं श्रोतृबुद्धिं प्रति श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण परावर्तयन्ति, यथा जलतलादिकं स्वस्मिन्पतितं प्रतिबिम्बं द्रष्टृबुद्धिं प्रति

(चित्र-सं० ३)
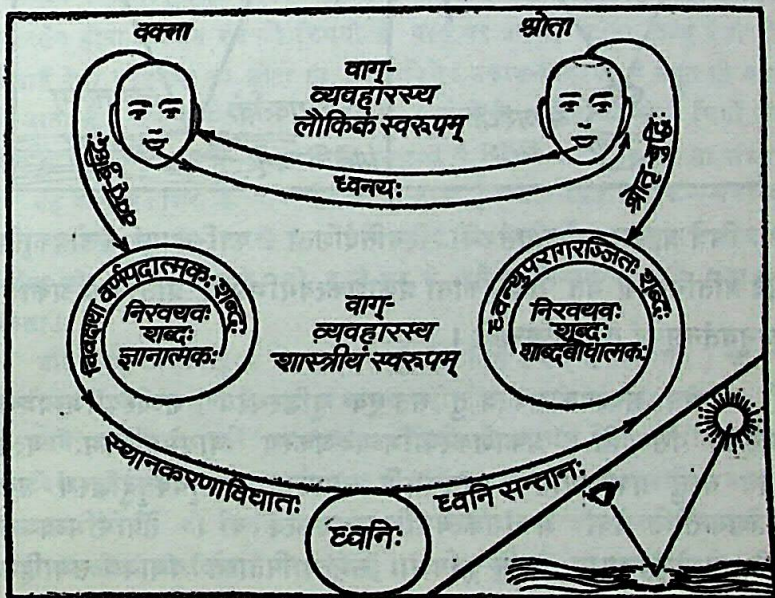
चक्षुर्द्वारेण परावर्तयति। अत्रेदं वेदितव्यम्--सूर्यबिम्बं स्वरूपेण स्थिरमखण्ड-मेकम्, तत्प्रतिबिम्बं तलानुरोधेन चलमनेकं वाभासिकम्, पुनः द्रष्टुर्निर्भ्रम-बुद्धौ स्थिरमखण्डमेकम्। एवं शब्दोऽपि वक्तृबुद्धौ निरवयवोऽक्रमः, ध्वनिषु तदाभासः सावयवः सक्रमः, पुनः श्रोतुर्निर्भ्रमबुद्धौ निरवयवोऽक्रमः। (उपरि निर्दिष्टं ३ संख्याकं चित्रं पश्यत।)

अस्मिन् ध्वनिस्वरूपे ध्वनेर्न प्रकाशकत्वम्, अपि तु परावर्तकत्वम् प्रकाशके परावर्तके चेदमन्तरं वेदितव्यम्--प्रकाशकः प्रकाश्यवस्तुस्वरूप-मभिव्यज्य वस्तुरूपं चक्षुषि व्यनक्ति, नात्मरूपम्। परावर्तकस्तु स्वयम-प्रकाशकः प्रकाशकरूपमेव चक्षुषि व्यनक्ति, न प्रकाशाभिव्यक्तं पतित-प्रकाशमपि स्वतलम्। (अधोनिर्दिष्टं ४ संख्याकं चित्रं पश्यत।)

(चित्र-सं० ४)
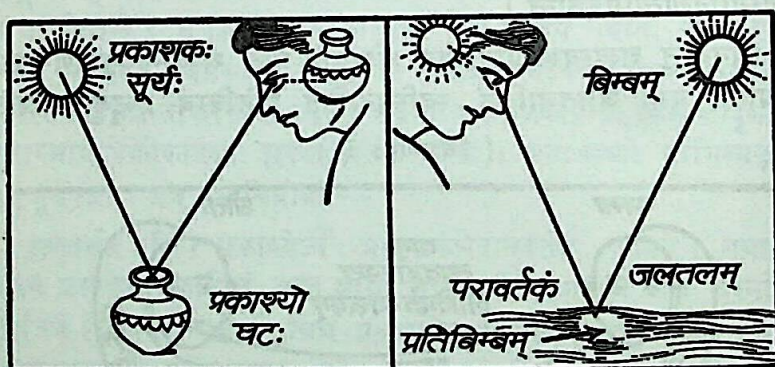
चित्रे प्रकाशक-परावर्तकयोः स्थितिर्दर्शिता। कारिकायां तैलोदकादि-भेदे प्रतिबिम्बके यत् तैलोदकानां प्रकाशकत्वमभिप्रेत्य प्रतिबिम्बे प्रकाश-कानुवर्तनमुक्तं तन्न सङ्गच्छते।

ध्वनीनां शब्दप्रकाशकत्वं तु सत एव बुद्धिस्थस्य शब्दस्याभिव्यञ्ज-कत्वेनैव सिध्यति। प्रकाशकस्याभिव्यञ्जकस्य चायमेव क्रमः यत्सः सदेव वस्तु प्रकाशयति। ध्वनयोऽपि समुत्पन्नाः श्रोतृवक्तृबुद्धिस्थं शब्दं प्रकाशयन्तीति तेषां प्रकाशकत्वमभिव्यञ्जकत्वं वा। तेषामभिव्यञ्ज-कत्वे दोषोद्भावनाय येऽपि पूर्वपक्षाः समुत्थापितास्ते यथायथं समाहिता द्रष्टव्याः॥ ९९॥

स्फोट और ध्वनि के व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी उठता है कि—सामान्य वस्तुओं के प्रकाशक दीप आदि के बड़े-छोटे होने से प्रकाश्य वस्तु घट आदि छोटी-बड़ी नहीं होती या दीप आदि की संख्या बढ़ने-घटने से वस्तुएँ अधिक या कम नहीं होतीं। फिर ध्वनियों से प्रकाशित होने वाला स्फोट ध्वनियों के अनुसार घटता-बढ़ता क्यों है ?

'प्रकाशकों की संख्या घटने-बढ़ने से प्रकाश्य वस्तुएँ घटती-बढ़ती नहीं' यह तो सत्य है, किन्तु 'प्रकाशकों में होने वाली भिन्नताओं का प्रभाव प्रकाश्य-वस्तुओं पर बिल्कुल नहीं पड़ता' ऐसी बात नहीं है।

"प्रकाशकों के भेद के अनुसार प्रकाश्य-पदार्थों में भिन्नता दिखाई देती है। प्रकाश्य अपने प्रकाशकों का अनुवर्तन करते हैं, यह बात तेल पानी या दर्पण आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्बों में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।"

तेल में पड़ी मुखच्छाया धुंधली-श्यामल-सी दिखाई देती है, तो पानी में स्वच्छ और दर्पण में स्पष्ट। पानी की लहरों में या बहुपार्श्व-दर्पण में एक ही मुख अनेक बन जाता है। स्पष्ट है कि प्रकाशकों की भिन्नता का प्रभाव प्रकाश्य-वस्तुओं पर पड़ता है।

यहाँ प्रतिबिम्ब का उदाहरण असंगत है। प्रकाशक-भेदानुवर्तन का ठीक उदाहरण है—दीप पर लगी हुई रंग-बिरंगी चिमनियों के प्रकाश से प्रकाश्य वस्तुओं के रंगों में परिवर्तन होना। जिस रंग की चिमनी से वस्तु पर प्रकाश पड़ेगा, वस्तु वैसी ही दिखाई देगी। सिनेमा का छोटा-सा चित्र विशेष प्रकाश-व्यवस्था से बहुत ही बड़ा हो जाता है। प्रकाश-व्यवस्था बदलने से (लेंसों के समायोजन से) चित्रों को छोटे से बड़ा और बड़े से छोटा (Enlarged & Reduced) किया जा सकता है। यह काम प्रकाशक के परिवर्तन से ही होता है। अतः सिद्ध है कि—प्रकाश्य वस्तु प्रकाशकानुवर्तन करती है। यदि शब्द भी ध्वनियों के अनुसार ह्रस्वत्व दीर्घत्व को अपना लेता है, तो इतने-भर से उसे अनभिव्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता।

प्रतिबिम्ब का उदाहरण तो असङ्गत ही है। जिस तल (तैलोदकादि) के गुण प्रतिबिम्ब में लक्षित होते हैं, वह प्रकाशक नहीं होता। यदि यह वह प्रकाशक हो, तो उसमें प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता। किसी भी प्रकाश देने वाली वस्तु का प्रतिबिम्ब दूसरी प्रकाश देने वाली वस्तु में नहीं बन सकता। जलतलादि प्रकाश के परावर्तक होते हैं, जो किसी दिशा से आने वाली बिम्ब की प्रकाश-रेखाओं को द्रष्टा की आँखों की दिशा में मोड़ देते हैं। ये स्वयं पूर्णतया या अत्यधिक अप्रकाशक होते हैं॥ ९९॥

प्रतिबिम्बं न पदार्थान्तरम्--

विरुद्धपरिमाणेषु वज्रादर्शतलादिषु ।
पर्वतादिसरूपाणां भावानां नास्ति सम्भवः ॥ १०० ॥

विरुद्धपरिमाणेषु, विरुद्धमसदृशं परिमाणं मानं येषां तेषु, स्वपरिमाणासदृशपरिमाणवस्तु, वज्रादर्शतलादिषु, वज्रस्य हीरकादिमणेः, आदर्शस्य दर्पणस्य, तलं समतलप्रदेशः तेषु, (अत्रादिपदं भिन्नक्रमं, वज्रादर्शादितलेष्वितिवक्तव्ये असमर्थः समासः । तलमादिर्येषां स तलादिः, वज्रादर्शयोस्तलादिः, इति विग्रहे तु आदिपदपरामृष्टस्थलान्तरस्याभाव एव यत्र प्रतिबिम्बं पतेत्) पर्वतादिसरूपाणां पर्वतादिसदृशरूपवतां विशालाकाराणां, पदार्थानां वस्तूनां, सम्भवः नास्त्येव ।

विरुद्धपरिमाणेष्विति । प्रकाश्यस्य प्रकाशकभेदानुवर्तने प्रतिबिम्बं यदुदाहृतम्, तत्रेदं पुनराशङ्क्यते--प्रतिबिम्बं न हि बिम्बाभिन्नमपि तु वस्त्वन्तरमेव । तस्मिंश्च तैलोदकादितलभेदेन श्यामत्वं शुक्लत्वं वा दृश्यते, तत्तस्य स्वगत एव धर्मः प्रातिभासिको वास्तवो वा, न तस्य बिम्बेन सह कश्चित्सम्बन्धो येन तस्य श्यामत्वं शुक्लत्वं वा तलगतभेदानुवर्तनं स्वीक्रियेत, अत्र प्रतिविधीयते--

नास्ति सम्भव इति । हीरके दर्पणे च पर्वतस्य वस्त्वाकारेण विद्यमानमानत्वमसम्भवम्, हीरकाद्यपेक्षया पर्वतस्यातिविशालत्वात् । दृश्यते तु पर्वतः स्वविशालतया सहैव हीरके दर्पणे च । तेन ज्ञायते न किमपि वस्त्वन्तरं पर्वतादिरूपं हीरके दर्पणे वा, बिम्बमेव प्रतिबिम्बितं तत्र । ततो न कापि बाधा पूर्वोक्तोदाहरणे । एवं सिद्धं शब्दस्याभिव्यङ्ग्यत्वं सिद्धश्च ध्वनिशब्दयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्धः ।

अत्रेदं बोध्यम् । अस्ति खलु प्रतिबिम्बविषये पूर्वेषां विचारकाणां मतिर्भिन्ना । तत्र केचिद्बिम्बाभिन्नमौपाधिकमाभासमात्रं प्रतिबिम्बं मन्यन्ते । केचिच्च बिम्बभिन्नं वस्त्वन्तरमेव प्रतिबिम्बमङ्गीकुर्वन्ति । वस्त्वन्तराभिमानिनां मतमाश्रित्य समुत्थापितायाः शङ्काया निरासः पर्वताद्युदाहरणेन कृतः । प्रतिबिम्बकतलस्य प्रकाशकत्वं तूभयेषामभिमतम्, यच्चासङ्गतम् । प्रतिबिम्बनिर्माणाय परावर्तकस्य तलस्याप्रकाशकत्वं नितरामावश्यकम् ॥ १०० ॥

भिन्न आकार वाले (बहुत छोटे) हीरे या दर्पण में पर्वत-जैसे विशालकाय पदार्थों का होना सम्भव नहीं है। परन्तु पर्वत-वृक्ष आदि छोटे दर्पण में अपनी पूरी विशालता के साथ दिखाई देते हैं। अब ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि दर्पण के अन्दर का पूरा पहाड़ एक अन्य ही पदार्थ है, जिसे समीपस्थ पहाड़ का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

यह उन मत-वादियों के प्रति उत्तर है जो प्रतिबिम्ब को बिम्ब से भिन्न पदार्थान्तर मानकर यह कहना चाहते हैं कि—जलादि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब में जो शुक्लत्व या श्यामत्व दिखाई देता है, वह उस प्रतिबिम्ब का अपना ही गुण है, क्योंकि बिम्ब से भिन्न पदार्थ है, शुक्लत्व-श्यामलत्व प्रकाशक-तल के कारण बिम्ब में माना जाने वाला प्रकाशक-भेदानुवर्तन यह नहीं है।

और इस प्रकार जब प्रकाश्यों में प्रकाशक-भेदानुवर्तन सिद्ध नहीं हो सका, तो पूर्व-कारिका में दिया गया समाधान भी नहीं हो पायेगा। फिर तो स्फोट में ध्वनि के कारण होने वाले ह्रास-वृद्धि या संख्या-भेद से यही सिद्ध होता है कि स्फोट ध्वनि-व्यङ्ग्य नहीं। व्यङ्ग्य नहीं, तो उत्पाद्य है, उत्पाद्य है, तो अनित्य है।

इस आशङ्का का निवारण पर्वत और दर्पण के उदाहरण से भली भाँति हो जाता है।

वैसे प्रतिबिम्ब का उदाहरण इस प्रसङ्ग में ठीक नहीं है, यह पूर्वकारिका की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है और उचित उदाहरण भी वहाँ दिया जा चुका है। पूर्व-दार्शनिकों के प्रतिबिम्ब-सम्बन्धी विचार निर्भ्रम नहीं थे, यह मानना ही पड़ेगा परावर्तक-तल को प्रकाशक मान लेना एक भ्रम ही है। तल को प्रकाशक मानने का आधार केवल इतना ही है कि तल पर बिम्बाकृति भासित होती है। दर्पणों के सम्बन्ध में भ्रम विश्व-भर में बहुत लम्बे समय तक बना रहा। आज भी सूर्य-ग्रहण के समय चन्द्रमा की कालीकलूटी पीठ को देख कर भी हम उसे प्रकाशक ही समझते हैं॥ १००॥

शब्द-वाक्यानां कालभेदो नादभेदात्—

तस्मादभिन्नकालेषु वर्णवाक्यपदादिषु।
वृत्तिकालः स्वकालश्च नादभेदाद् विभज्यते॥ १०१॥

तस्मात् पूर्वोक्तकारणात्, अभिन्नकालेषु, अभिन्नः भेदाभाववान् कालः उच्चारणसमयः ह्रस्वदीर्घप्लुता रूपः द्रुतमध्यमविलम्बितरूपश्च येषां तेषु, वर्णवाक्यपदादिषु वर्णे वाक्ये पदे च (अत्र वाक्येतिपदमक्रमं वर्णपदवाक्येषु

वक्तव्ये तेषां स्वाभाविकक्रमं "लघ्वक्षरं पूर्वम्" (वा०) इति चोपेक्ष्य छन्दो-ऽनुरोधेनोपन्यस्तम् आदिपदं चानर्थकं ध्वनिभेदभिन्नानां त्रयाणामेवोपादानात्) नादभेदात् ध्वनिभेदात्, वृत्तिकालः द्रुतादिवृत्तीनां कालः, स्वकालः स्फोटस्य स्वात्मनः कालः ह्रस्वादिरूपश्च, विभज्यते भिन्नो भवति।

तस्मादिति। एवं "न चानित्येष्विं"(वा० प० १।९५)त्यारभ्य "विरुद्धपरिमाणेष्वि"(वा० प० १।१००)त्यन्तं येऽपि पूर्वपक्षाः समुत्थापितास्तेषां यथायथं निराकरणाद्धेतोः "शब्दो व्यङ्ग्यः, ध्वनिर्व्यञ्जकः" इति स्थितम्। स्थिते च तयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभावे वर्णे पदे वाक्ये च योऽपि कालभेदः, स्थानभेदः, क्रमभेदश्च दृश्यते प्रतीयते वा, स ध्वनिभेदजनित एवाभासिकः, न तु पारमार्थिकः वर्ण-पद-वाक्यानां नित्यत्वान्निरवयवत्वादखण्डत्वाच्च।

वृत्तिकाल इति। ध्वनीनां द्रुतमध्यमविलम्बितरूपास्तिस्रो वृत्तयः शब्दस्वरूपाभिव्यक्तेरूर्ध्वं जायमानाः। तासां द्रुतादिवृत्तीनां कालो वृत्तिकालः। वृत्तीनां द्रुतादिकालभेदविभाजको ध्वनिभेद एव। यावत्कालं ध्वनिर्वर्तमानस्तिष्ठति स एव द्रुतादिभेदनियामक इत्यर्थः।

स्वकालश्चेति। वर्ण-पद-वाक्यानां स्वकाल इत्यर्थः। स च ह्रस्वत्वादिरूपः। ह्रस्वत्वादिकं तु शब्दस्वरूपाभिव्यक्तेरनिवार्यं तत्त्वम्। न ह्रस्वत्वादिकं विना शब्दस्वरूपमभिव्यज्यते। अत एव तत् वर्ण-पद-वाक्यानां 'स्वकाल' इत्युक्तम्, अन्यथा कालिकत्वं ध्वनेरेव धर्मो न शब्दस्य। अभिन्नकालिकेषु नित्येषु तेषु कालिकायोगात्। शब्दस्य कालयोगस्त्वौपचारिक इति पूर्वमुक्तम् (वा० प० १।७६)।

नादभेदादिति। नादो ध्वनिः। यथा यथा नादो भिद्यते तथा तथा प्राकृतवैकृतध्वनिकालो विभज्यते। स चाभिन्नकालेष्वपि वर्ण-पद-वाक्येषूपचर्यते ॥ १०१ ॥

अतः कालमात्राओं से रहित वर्ण, पद या वाक्य के स्फोट में द्रुत-मध्यम-विलम्बित वृत्तियों का भेद और ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत मात्राओं का भेद ध्वनियों के भेद से होता है। वस्तुतः शब्द एक और अखण्ड है ॥ १०१ ॥

संयोग-विभागजन्यः शब्दः स्फोट इति मतान्तरम्—

यः संयोग-विभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
सः स्फोटः, शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ॥ १०२ ॥

अन्यैः विचारकैः यः करणैः उच्चारणसाधनभूतैः कण्ठताल्वादिभिः, संयोगविभागाभ्यां संयोगद्वारा विभागद्वारा च, उपजन्यते उत्पाद्यते, सः स्फोटः (उदाहृतः) शब्दजाः शब्दाज्जाताः शब्दाः, केचन अन्ये शब्दाः ध्वनयः उदाहृताः कथिताः ।

स्फोट इति । शब्दकार्यतावादिनां मते स्फोटस्य यथोपवर्णितं स्वरूपं न प्रसिध्यति । अतस्ते यथोपवर्णितात्स्फोटादन्यमेव स्फोटमिच्छन्ति । स च स्थानकरणानां संयोग-विभागाभ्यां जायमानः शब्दः । यदा जिह्वा तालुना संयुज्य विभजति तदा श् वा च् वा शब्दो जायते, स एव स्फोट इत्यर्थः । अयं च क्रमो घण्टादावपि दृश्यते । घण्टाया लोलको यदा घण्टाभित्तौ सङ्घट्ट प्राप्य वियुज्यते तदापि टङ्कारशब्दो जायते । उक्तसरण्या चायमपि स्फोट एव । मनुष्येतरप्राणिनां गवादीनां रम्भणादिशब्दा अपि स्फोट एव । प्राणि-शब्दे कण्ठताल्वादीनि स्थानानि, जिह्वादीनि करणानि, तेषां संयोगविभा-गाभ्यां शब्दा जायन्ते । घण्टाशब्दे तु घण्टाभित्ति-लोलकयोः संयोगविभा-गाभ्यां शब्दो जायते । एवमेव वंशपाषाणादावपि । एवं च ध्वनिसामान्यस्यो-त्पत्तौ प्रथमक्षणीया श्रवणसंवेद्या स्थितिरनेन 'स्फोट'-शब्देन निरुच्यते ।

शब्दजाः शब्दा इति । शब्दनित्यतावादिनां मते इयं प्रथमक्षणीया श्रवणसंवेद्या स्थितिः प्राकृतो ध्वनिः । यथोक्तं संग्रहे--"शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते ।" इति । शब्दकार्यतावादिनां मते यदीयं स्थितिः स्फोटस्तदा ध्वनयः क इति सम्प्रश्नेऽत्र मते व्यवस्थाप्यते--शब्दजाः शब्दा ध्वनय इति । संयोगविभागाभ्यां शब्दोत्पत्तिः, शब्दाच्च शब्दोत्पत्तिरिति वैशेषिकाणां नयः । द्रव्याभिघातजन्यः शब्दः स्वाधिष्ठितदेशविशेषात्सर्वदिक्षु स्वसमानरूपशब्दान्तरपरम्परां जनयति, सा च श्रोत्रं प्राप्ता श्रूयते इति । एवं च प्रथमोत्पन्नशब्दादत्र 'स्फोट'-पदेनोपवर्णिताज्जाता अन्ये तत्समान-रूपाः शब्दा ध्वनय इति ॥ १०२ ॥

जो शब्द कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि करणों (शब्दोच्चारण के साधनों) से संयोग या विभाग द्वारा उत्पन्न होता है, वह स्फोट है । इसी स्फोट-रूप शब्द से उत्पन्न होने वाले जो अन्य शब्द हैं, वे ध्वनियां हैं---ऐसा कुछ अन्य विचारकों का मत है ।

जाति-व्यक्ति-स्फोट का जो स्वरूप पहले बताया गया है, वह शब्द को अनित्य मानने वाले विचारकों के मत में घटित नहीं होता । अतः अनित्यतावादी विचारक स्फोट को एक अन्य रूप में देखते हैं । इन लोगों के मत में शब्द अनित्य अथवा

उत्पाद्य है, उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति को स्वीकारना इनके लिए सम्भव नहीं। अतः प्रथमतः श्रूयमाण शब्द को इन्होंने स्फोट माना है। शब्दनित्यता-वादियों के मत में यह प्रथमतः श्रूयमाण शब्द प्राकृत-ध्वनि के नाम से जाना जाता है।

न्याय-वैशेषिक में शब्दोत्पत्ति के दो स्वरूप माने जाते हैं—द्रव्यों के संयोग या विभाग से शब्दोत्पत्ति होती है। जैसे नगाड़े पर डंडे की चोट पड़ने पर शब्द उत्पन्न होता है या बाँस आदि के फटने से शब्द उत्पन्न होता है। यह शब्दोत्पत्ति का पहला स्वरूप है। प्रथमोत्पन्न शब्द से उसीके समान-रूप शब्द उत्पन्न होकर चारों ओर फैल जाते हैं, यह शब्दोत्पत्ति का दूसरा स्वरूप है। इस दूसरे स्वरूप को वीचितरङ्गन्याय से या कदम्बमुकुलन्याय से शब्दोत्पत्ति कहते हैं।

इस प्रकार शब्द के दो रूप हुए—संयोगज (या विभागज) शब्द और शब्दज शब्द। शब्दकार्यतावादियों के अनुसार संयोगज शब्द 'स्फोट' है और शब्दज शब्द 'ध्वनियाँ'। जब कि शब्दनित्यतावादियों के अनुसार संयोगज (या विभागज) शब्द प्राकृत-ध्वनि है। शब्दज शब्द के लिए कोई विशेष वर्गीकरण नित्यतावादियों ने नहीं किया है। हाँ, ध्वनि की स्थिति के अनुसार द्रुत, मध्यम और विलम्बित वृत्तियाँ इस मत में स्वीकार की गई हैं, जिन्हें वैकृत-ध्वनि कहा जाता है।

शब्दनित्यतावादियों के मत का पर्याप्त विवेचन पहले हो चुका है॥ १०२॥

शब्दानित्यतावादिनां मतेऽपि स्फोटोऽभिन्नकाल एव—

अल्पे महति वा शब्दे स्फोटकालो न भिद्यते।
परस्तु शब्दसन्तानः प्रचयाप्रचयात्मकः॥ १०३॥

शब्दे अल्पे महति वा, अल्पकालिके महत्कालिके वा, शब्दे जाते स्फोट-कालः स्फोटस्य कालः, न भिद्यते, स्फोटकालः अल्पः महान् च न भवति। परः स्फोटानन्तरः, शब्दसन्तानः शब्दजशब्दानां ततिः, प्रचयाप्रचयात्मकः, प्रचयः वृद्धिः अप्रचयः अवृद्धिः ह्रस्वदीर्घत्वादीति यावत्, तदात्मकः, ह्रस्व-दीर्घत्वादि-शब्दसन्ताने भवतीत्यर्थः।

स्फोटकाल इति। शब्दनित्यतावादिनां मते स्फोटोऽभिन्नकालः "स्फोट-स्याभिन्नकालस्य" (वा० प० १।७५) इत्यादिना निरूपितः। अत्रानित्यता-वादिनां मतेऽपि स्फोटोऽभिन्नकाल एव। द्रव्याभिघातजन्यः प्रथमक्षणीयः शब्द उच्चरितप्रध्वंसित्वात् प्रथमक्षणमितकालस्थाय्येव सर्वावस्थासु भवितु-मर्हति। अल्पीयसी महीयसी वा श्रावणी प्रतीतिस्तु स्फोटानन्तरं क्रमशो

जायमानानां तद्रूपोपग्राहिणां शब्दानां ततेः स्थितिवशादेव भवति । स्फोटात्परः शब्दसन्तान एव प्रचयाप्रचयात्मको भवति, तेनैव 'शब्दोऽल्पः' 'शब्दो महान्' इति प्रतीतिर्भवति । अतः शब्दजशब्देऽल्पे महति वा श्रूयमाणे प्रथमक्षणीयस्य स्फोटस्य कालोऽभिन्न एव ।

प्रचयाप्रचयात्मक इति । प्रचयो वृद्धिर्महत्त्वम्, अप्रचयोऽवृद्धिरल्पत्वम् । प्रचयाप्रचयौ चेमौ द्विविधौ—दिग्व्याप्तिमन्तौ कालव्याप्तिमन्तौ च । यदि स्फोटात्परः शब्दजः शब्दस्ततिरूपो दूरदेशं यावद्व्याप्नोति, तदा प्रचयात्मकः, यदि निकटतरदेशं व्याप्नोति, तदापचयात्मकः । एवं कालेऽपि बोध्यम् । दिग्व्याप्तिवशाच्छब्दस्य दूराल्पदेशे श्रवणयोग्यत्वं भिद्यते, कालव्याप्तिवशाच्च ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिकम् ।

इदमप्यत्र विवेचनीयं भवति--अल्पत्वमहत्त्वे कथं शब्दे सम्भवतः ? अनित्यत्ववादिनां नये शब्दस्य गुणत्वात्, अल्पत्वमहत्त्वरूपपरिमाणस्य च द्रव्यसमवायित्वात् । नित्यतावादिनां नयेऽपि शब्दस्य द्रव्यत्वस्वीकारेऽपि शब्दस्यामूर्तत्वात्, अमूर्ते परिमाणायोगात् । इदमेवाभिप्रेत्य "स्फोटकालो न भिद्यते" इत्युक्तम् । परं यदि द्रव्याभिघातजन्ये स्फोटाभिधेये शब्दे परिमाणायोगस्तदा शब्दजे शब्देऽपि । शब्दस्य गुणत्वममूर्तत्वं तूभयत्र तुल्यम् । एवं नित्यतावादिनां नयेऽपि ह्रस्वत्वादिको यः प्राकृतध्वनेर्धर्म उक्तः, सोऽपि न प्रसिध्यति । अतः शब्दे प्रचयाप्रचयावुपचार एव प्रसिद्धः ।

वस्तुतस्तु—सर्वस्यापि वस्तुनः परापरत्वरूपावुच्चावचरूपौ दिग्देशधर्मौ यवीयस्त्ववर्षीयस्त्वरूपौ कालक्षणधर्मौ प्रत्यस्तवस्तुसापेक्षतया सर्वत्रैवौपचारिकौ । एतन्मूलिकैव हस्तिमशकादीनां तादृशी प्रसिद्धिः । समूर्तोऽपि हस्ती पर्वतापेक्षया लघुः सन्नपि मशकापेक्षया महान् भवति । तेन "हस्ती महान्" "हस्ती लघुः" इत्युभयव्यपदेशाप्रसिद्धिः । सापेक्षतयैवान्यतरव्यपदेशः प्रसिध्यति । सा चान्यतरप्रसिद्धिरौपचारिकी । एवममूर्ते शब्देऽपि बोद्धव्यम् । गुणे शब्दे तु परिमाणरूपस्य गुणान्तरस्य समवायो नैव सङ्गच्छते । यद्दोषमभिप्रेत्य द्रव्याभिघातजन्ये स्फोटरूपे शब्देऽल्पत्वमहत्त्वेऽनङ्गीकृते शब्दजे शब्देऽपि तदेवापतितम् । सापेक्षतयोपचारिकतया तु गुणेऽप्यल्पत्वभूयस्त्वे भवत एव—"प्रतिशब्दो महानभूत्" इत्यादि, शुक्लतरं शुक्लतममित्यादि च । "स्फोटेऽल्पत्वमहत्त्वे न भवतः" इत्यत्र या सूक्ष्मेक्षिका साग्रे निरूपयिष्यते ।। १०३ ।।

शब्द अल्प हो या महान्, इससे स्फोट-काल में भेद नहीं होता। स्फोट के बाद होने वाला शब्द-सन्तान (शब्द का फैलाव Propagation of Sound) ही प्रचय और अप्रचय (ह्रास-वृद्धि) युक्त होता है।

इस शब्दानित्यतावादी मत में 'स्फोट' वह शब्द है जो दो पदार्थों के टकराने से या दृढ़ता से जुड़े हुए पदार्थ के बलात् अलग किये जाने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार संयोग या विभाग से उत्पन्न शब्द जिस प्रथम क्षण में उत्पन्न होता है, वह 'स्फोटकाल' है। क्योंकि यह क्षण अत्यन्त लघु होता है, अतः यह 'स्फोट-काल' नामक क्षण सभी अवस्थाओं में एक-समान या अभिन्न होता है। या यों कहें कि इसमें ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं होता। उत्पत्ति का प्रधान-क्षण छोटा-बड़ा हो ही नहीं सकता। स्थिति का क्षण ही छोटा-बड़ा (न्यूनाधिक) हो सकता है। इस प्रकार इस मत में भी स्फोट 'अभिन्नकाल' ही माना गया है। शब्दनित्यता-वादी मत में तो 'स्फोट' नित्य पदार्थ है, अतः उसमें काल-सम्बन्धी न्यूनाधिक्य का प्रश्न ही नहीं है।

'स्फोट' रूप में उत्पन्न शब्द की स्थिति न्यून या अधिक काल तक हो सकती है, परन्तु इस मत में स्फोटोत्तर-काल में श्रुत शब्द को शब्दज शब्द के नाम से स्वीकारा गया है। अतः शब्द-सन्तान के रूप में शब्दज शब्द के फैलाव की स्थिति न्यून या अधिक होने पर प्रचय और अप्रचय (वृद्धि-ह्रास या दीर्घत्व-ह्रस्वत्व) स्फोटोत्तरकालिक शब्दसन्तान के धर्म माने गये हैं। शब्दनित्यतावाद में प्रचयाप्रचय प्राकृत-ध्वनि के धर्म हैं। वहाँ स्वभावतः प्रचित या अप्रचित प्राकृत ध्वनि से 'स्फोट' की अभिव्यक्ति मानी गई है, जब कि इस मत में 'स्फोट' पहले उत्पन्न होता है और स्फोटज शब्द या ध्वनि-कालिकस्थितिवशात् प्रचित या अप्रचित होता है।

स्फोट का 'अभिन्नकाल' होना दोनों मतवादियों को अभीष्ट है। परन्तु नित्यतावादी स्फोट को नित्य पदार्थ मानकर अभिन्नकाल मानते हैं, जब कि अनित्यतावादियों का ऐसा मानने का कारण कुछ और है। अनित्यतावादी दर्शन में शब्द एक 'गुण' है। अल्पत्व-महत्त्व भी 'परिमाण' होने के कारण गुण हैं। गुण द्रव्याश्रित ही सकते हैं, गुणाश्रित नहीं। एक गुण दूसरे गुण में नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में शब्द में, जो स्वयं एक गुण है, परिमाण—अल्पत्व, महत्त्व, कैसे रह सकता है? अतः "अल्प शब्द" 'महत् शब्द' (छोटा अ; बड़ा अ) कहना अप-सिद्धान्त होगा। इसीलिए अनित्यतावादी भी उक्त स्फोट को "अभिन्नकाल" मानने को बाध्य हैं।

फिर भी अनित्यतावादियों की यह समस्या सुलझती नहीं। शब्दज शब्द में अल्पत्व-महत्त्व स्वीकारने पर फिर वही अपसिद्धान्त उपस्थित होता है, क्योंकि शब्दज शब्द या शब्द-सन्तान भी शब्द ही है। श्रवणेन्द्रियग्राह्य दोनों ही हैं।

वास्तव में शब्दगत प्रचय और अप्रचय औपचारिक होता है। बल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि दिक् और काल से सम्बन्धित अल्पत्व या महत्त्व प्रत्येक वस्तु में औपचारिक ही होता है। कोई भी वस्तु बड़ी या छोटी, दूर या पास किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही होती है। हाथी पर्वत से छोटा और मच्छर से बड़ा होता है। अब "हाथी बड़ा होता है।" यह कथन पूर्ण सत्य नहीं है और 'हाथी छोटा होता है', यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। इस प्रकार हाथी छोटा या बड़ा दोनों ही नहीं है। अर्थात् अल्पत्व-महत्त्व दोनों ही हाथी के वास्तविक गुण नहीं हैं बल्कि सापेक्षिक और औपचारिक हैं। शब्द की भी यही स्थिति समझनी चाहिये ॥ १०३ ॥

स्फोटस्याभिन्नकालत्वे दीप-घण्टोदाहरणम्—

दूरात् प्रभेव दीपस्य ध्वनिमात्रं तु लक्ष्यते।
घण्टादीनां च शब्देषु व्यक्तो भेदः स दृश्यते ॥ १०४ ॥

दूरात् दूरस्थानात्, दीपस्य प्रभा इव, ध्वनिमात्रं तु केवलं ध्वनिरेव, लक्ष्यते ज्ञायते, न तु स्फोटः, "ध्वनिः लक्ष्यते स्फोटो वा" इति भेदः अन्तरं, घण्टादीनां घण्टायाः भेर्यादेश्च, शब्देषु स भेदः व्यक्तः स्पष्टतया दृश्यते। दूरे आहतायाः घण्टायाः स्फोटरूपः प्रथमः शब्दः दूरस्थितेन पुरुषेण न श्रूयते, अपि तु कतिचित्क्षणानन्तरं घण्टानादसदृशः शब्दः श्रूयते। स तु प्रथम-नादादुत्पन्नः शब्दजः शब्दः ततिरूपेण दूरस्थश्रोतुः कर्णं प्राप्त एव।

दूरादिति। स्फोटे कालभेदो नास्तीत्यत्र दीप-प्रभा दृष्टान्तम्। यथा दीप-चक्षुषोरन्तराले प्रभासन्तानस्तथैव स्फोटश्रोत्रयोरन्तराले शब्द-सन्तानः। समीपस्थे दीपे दीपज्वाला (दीपस्य मुख्यं शरीरं) दीपप्रभा चोभयमपि लक्ष्यते। एवं समीपस्थे शब्दोत्पत्तिस्थले प्रथमोत्पन्नः स्फोटः (शब्दस्य मुख्यं शरीरं) शब्दसन्तानोश्चोभयमपि गृह्यते। अतः समीपस्थे दीपे शब्दे च प्रचयाप्रचयौ दीपे प्रभासन्ताने वा, स्फोटे शब्दसन्ताने वेति निश्चेतुं दुःशकम्; किन्तु दूरस्थे दीपे दीपस्य ज्वालारूपं मुख्यं शरीरं न लक्ष्यते, प्रभामात्रं तु लक्ष्यत इति प्रत्यक्षानुभवः। तेन ज्ञायते दीपस्य मुख्यं

शरीरं तावद्देशकालं न व्याप्नोति, यावद्दीपचक्षुषोरन्तरालः, प्रभासन्तानस्तु व्याप्नोति। न्यूनाधिकदिक्कालव्याप्तिः प्रभायां, न दीपे। एवं शब्देऽपि बोद्धव्यम्। दूरादागते शब्दे ध्वनिमात्रं लक्ष्यते, न तु शब्दस्य मुख्यं शरीरं 'स्फोटो' ('अ' वा 'आ' वा, 'क' वा 'ख' वेति स्फुटतरा श्रावणी प्रतीतिः) लक्ष्यते। न्यूनाधिकदेशकालव्याप्तिः शब्दसन्ताने, न तु स्फोटे। एतेनैव दूरागतः शब्दो न स्फुटतरः श्रूयते, ध्वनिर्भवतीत्येवानूभूयते। अतः द्रव्याभिघातात्प्रथमोत्पन्नः स्फोटाभिधेयः शब्दोऽभिन्नकालः।

घण्टादीनामिति। घण्टादीनां शब्देष्वयं स्फोट-नादयोर्भेदो व्यक्ततया दृश्यत इति दृष्टान्तान्तरम्। तथा हि--दूरे नद्याः परे पार आहताया घण्टाया नाद आहननक्षणात् कतिचित्क्षणानन्तरं श्रूयते। आहन्तुर्हस्तक्षेपः पूर्वं दृश्यते, नादः पश्चात् श्रूयत इति नितरां सामान्या प्रतीतिः। घनगर्जितेऽपि पूर्वं तडिदालोको दृश्यते, ततो गड-गडानादः श्रूयते। तत्र तडिदालोको गड-गडानादश्च घनद्वयसङ्घट्टनक्षणजौ कार्यौ इति निश्चितम्। आलोकः पूर्वमनुभूयते, नादः पश्चात्, एवं स्थिते घण्टनादविषये गडगडानादविषये च द्वे परिकल्पने भवितुमर्हतः—आघातक्षणे नादो नोत्पन्नः, अपि तु श्रवणक्षण उत्पन्नः, अथवा—आघातक्षणीयो नादोऽस्माभिर्न श्रुतोऽपि तु तद्रूपोपग्राही समधिकदेशकालव्यापी कश्चिदन्य एव नादः श्रुतः। तत्र प्रथमा परिकल्पनासम्भवा, श्रवणक्षणे द्रव्याभिघातरूपकारणासत्त्वेऽपि कार्यसम्भवापत्तेः, आघातक्षणे कारणसत्वेऽपि कार्याभावापत्तेश्च। अतो द्वितीयैव परिकल्पना सत्या तिष्ठति। तेन सिध्यति—प्रथमोत्पन्नात्स्फोटादन्यस्तद्रूपापग्राही न्यूनाधिकदेशकालव्यापी, अत एव कालभेदभिन्नः, शब्दजः शब्दो ध्वनिरिति। स्फोटस्त्वभिन्नकाल एव।

अत्रेदमपि बोध्यम्—वीचितरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दोत्पत्तिपक्षेऽत्र मते ध्वनित्वेनाभिमतः शब्दजः शब्दः कार्यः, स्फोटश्च कारणम्। स्फोटरूपकार्यस्य च द्रव्याभिघातः कारणम्। अत्र दीपप्रभोदाहरण इदं विचार्यं भवति यत्—दीपप्रभा दीपेन सहैवोत्पद्यत उत दीपानन्तरम्? एवं ध्वनिः स्फोटेन सहोत्पद्यत उतानन्तरम्? यदि स्फोटो ध्वनेः कारणम्, तदा स्फोटानन्तरमेव ध्वनेरुत्पत्तिर्मन्तव्या भवति। परन्तु दीपप्रभा दीपेन सहैवोत्पद्यते, यथा गन्धो गन्धवत्पदार्थेन सहैवोत्पद्यते, मधुरादिरसा अपीक्ष्वादिना सहैवोत्पद्यन्त एवं ध्वनिनापि स्फोटेन सहैवोत्पत्तुं युज्यते। यथा दीपो गन्धवत्पदार्थो वा स्वस्थानस्थित एव स्वप्रकाशेन स्वगन्धेन वा

परितो दूरस्थानं व्याप्नोति स्फोटोऽपि द्रव्याभिघातस्थानस्थितोऽपि स्वसम्बद्धध्वनिना परितो दूरदेशं व्याप्नोतीति केषांचिदभिमतम्। युक्तं चैतत्। रूप–गन्ध–शब्दाः स्वस्थानस्थिता एवेन्द्रियमनुगृह्णन्ति वायुमाध्यमेनान्येन वा माध्यमेन प्रसृताः। रस–स्पर्शौ त्विन्द्रियघनसन्निकर्षेणैवानुभूयेते न तु माध्यमेन प्रसृतौ ॥ १०४ ॥

दूर से आती हुई दीप-प्रभा के समान दूर-स्थान पर हुए स्फोट की केवल ध्वनि सुनाई पड़ती है। (स्फोट नहीं, दूर-स्थान पर स्फोट सुनाई देता है या ध्वनि ? या दोनों ही ?) यह अन्तर घण्टा, भेरी आदि के शब्दों में स्पष्ट रूप से पहिचाना जा सकता है।

जैसा कि बताया जा चुका है—शब्दानित्यत्व-पक्ष में भी स्फोट और नाद दो भिन्न वस्तुएँ हैं और प्रचयाप्रचयरूप ह्रस्वत्व दीर्घत्व नाद या ध्वनि के धर्म हैं, स्फोट के नहीं, स्फोट अभिन्नकाल होता है। प्रचित और अप्रचित रूप में या द्रुत और विलम्बित रूप में न्यून या अधिक समय तक सुना जाने वाला शब्द 'स्फोट' नहीं होता, अपितु नाद या ध्वनि होता है। इस सम्बन्ध में दीप-प्रभा का उदाहरण दर्शनीय है। अधिक दूर पर रखा दीप (अर्थात् दीये की लौ) नहीं दिखाई देता, परन्तु प्रभामय प्रकाश दिखाई देता है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि लौ, जो कि दिये का मुख्य स्वरूप है, दूर-देश तक दृश्य नहीं होती, हाँ उस मुख्य स्वरूप से प्रस्तुत प्रभा दूर तक दृश्य होती है। या यों कहें कि मुख्य-दीप अपने स्थान से अधिक दिग्देश को व्याप्त नहीं करता, अपितु उसकी प्रभा अधिक दिग्देशव्यापिनी होती है। यदि मुख्य-दीप प्रभा के समान ही अधिक दिग्देशव्यापी होता तो प्रभा के समान ही दूर स्थान तक दृश्य होता। स्फोट भी इसी प्रकार अधिक देशव्यापी नहीं होता। दूर से आता हुआ शब्द स्फुट रूप से (अ या क या ग आदि के रूप में) नहीं सुनाई देता, केवल ध्वनि (शोर आदि) के रूप में सुनाई देता है। इतना तो निश्चित है कि यह सुनी जाने वाली ध्वनि अपनी उत्पत्ति के स्थान पर स्फुट रूप में (अ क ग आदि के रूप में) ही उत्पन्न हुई होगी। इससे स्पष्ट है कि प्रथमतया उत्पन्न शब्द स्फुट रूप में ('स्फोट' के रूप में) अधिक दिग्देश को व्याप्त नहीं करता, हाँ, 'ध्वनिमात्र' के रूप में वह दूर देश तक पहुँच सकता है।

स्फोट की इस सीमित देश-व्याप्ति के समान ही उसकी कालव्याप्ति भी सीमित है। यदि वह अधिक देशव्यापी होता तो निश्चय ही अधिक कालव्यापी भी होता। अधिक (दूर) देश तक प्रसरण (व्याप्ति) करने में उसे अधिक समय

लगता। दूर स्थान पर बजाये गये घण्टे की ध्वनि में यह बात दिखाई देती है। घंटे की प्रथम टङ्कार दूर स्थानों पर नहीं सुनाई देती, परन्तु उसकी विलम्बित-ध्वनि (घन-घनाहट) पर्याप्त दूर और पर्याप्त समय तक सुनाई देती रहती है। घण्टे के लटकन के आघात का क्षण अत्यन्त लघु होता है और प्रथम टङ्कार का क्षण भी, परन्तु बाद की ध्वनि काफी देर तक सुनाई देती रहती है। अतः घण्टे के इस दृष्टान्त से 'स्फोट' का 'अभिन्नकाल' होना और अन्तरीयक नादों का वृत्ति-विशेषक होना और भी स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि प्रकाश और ध्वनि के सम्बन्ध में दीप और घंटे के ये उदाहरण स्थूल एवं लौकिक प्रत्यक्षानुभूति पर आधारित हैं। प्रकाश और ध्वनि का प्रसरण भिन्न-भिन्न माध्यमों में भिन्न-भिन्न होता है। इनके दिखाई पड़ने या सुनाई पड़ने में जो देश या क्षण सम्बन्धी अन्तर पड़ता है, वह प्रसरण माध्यमों के कारण पड़ता है ॥ १०४ ॥

द्रव्याभिघातमात्रा ह्रस्वत्वादेर्निमित्तम्—

द्रव्याभिघातात् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादा वृत्तेर्विशेषकाः ॥ १०५ ॥

द्रव्याभिघातात् कण्ठताल्वादेः अभिघातात्, अभिघातः आहननम्, प्रचितौ वृद्धिप्राप्तौ, दीर्घप्लुतौ अपि दीर्घश्च प्लुतश्चापि, भिन्नौ ह्रस्वात् भिन्नौ, परस्परमपि भिन्नौ, अभिघातमात्रावशात्। अभिघातजन्ये कम्पे कम्पने, उपरते समाप्ते सति, जाताः उत्पन्नाः, नादाः ध्वनयः शब्दजाः शब्दाः, वृत्तेः द्रुतादिरूपायाः वृत्तेः, विशेषकाः भेदकाः, भवन्तीति।

द्रव्याभिघातादिति। शब्दनित्यत्वपक्षे कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्याभिर्ध्वनिभिरभिव्यङ्ग्या, अत एव ध्वनिश्रवणानन्तरं जायमाना ध्वन्युपराम अर्थस्य स्फोटिका वाचकाभिधेया कापि स्थितिः स्फोटः। कण्ठताल्वादिद्रव्याभिघातजन्यत्वं च प्राकृतध्वनीनां धर्मः। तेन प्राकृतध्वनय एवाभिघातप्रचयातंप्रचीयन्ते। अत्रानित्यत्वपक्षे तु द्रव्याभिघातजन्यः स्फोटः, स चाभिन्नकाल एव। परमभिघातप्रचये प्रचितः स्फोटो 'दीर्घः' इति, ततोऽपि प्रचये 'प्लुतः' इति भिद्यते। अभिघातप्रचयाप्रचये स यावान्यादृशश्च तावान्तादृश एवेति तस्याभिन्नकालत्वम्। एवं च ह्रस्वत्वादिकमभिघातप्रचयाप्रचयजन्यं न तु कालजन्यमिति निसृतं भवति। नित्यत्वपक्षेऽपि ह्रस्वत्वादिकं प्राकृतध्वनीनां द्रव्याभिघातजन्यः स्वाभाविको धर्मः। अत्र तु स्फोटस्येतीयान्विशेषः।

अत्रेदं बोध्यम्—ह्रस्वत्वादिकमुभयपक्षेऽपि न कालकृतो भेदः, तथा सति "अकारस्य" देवदत्तऽऽऽ इत्यादिसम्बुद्धौ प्लुतत्वं न प्रसिध्येत। यद्ययं प्लुतः, तदा न "अकारः" (ह्रस्वः), यद्यकारस्तदा न प्लुतः। य एकमात्राकालिकः स न त्रिमात्राकालिक इत्याद्युभयथा निर्वचने स्वरूपासिद्धिः। विवारभेदो ह्रस्वत्वादिकस्य मुख्यो नियामकः, कालभेदस्तु विवारभेदस्य परिणामः। न ह्यधिकविवृतोऽवर्णं एकमात्राकालेन निर्वक्तुं शक्यते, न चात्यधिकविवृत एकमात्राद्विमात्राकालेन वा। 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (पा० अ० १।२।२७) इति तु परिचायकं शास्त्रं न तु विधायकम्। अत एव 'ऊकाल'मनुकृत्य पठति। पश्यति त्वाचार्यो द्विमात्रिकस्त्रिमात्रिको वा पठितोऽतिविवृतोऽत्यधिकविवृत एव वेति। विवारभेदाभावे न कोऽपि ह्रस्वः कालमात्राधिक्येऽपि दीर्घः प्लुतो वा भवितुमर्हतीति निश्चितम्। सत्यपि च कालमात्राधिक्ये संवृतत्वेऽल्पविवारत्वे वा ह्रस्वो निष्पद्यत एवेति न कालकृतभेदो ह्रस्वत्वादिकस्य नियामकः। विवारस्याल्पत्वाधिक्ये कालस्याप्यल्पत्वाधिक्यं यथायथं भवतीति त्वन्यत्।

स चायं विवारो विभागात्मको द्रव्याभिघातः, उभयपक्षेऽपि ह्रस्वत्वादिकस्य नियामकः, नित्यत्वपक्षे प्राकृतध्वनिषु, अनित्यत्वपक्षे च स्फोटे भवतीति विज्ञेयम्। क्रमश्चायं वाग्विषयक एव। घण्टाभेर्यादीनां शब्देषु तु—अभिघातप्रचयात् शब्दस्य (ध्वनेः) तार-मन्द्रत्वं (Pitch) भिद्यते। वागितरशब्देषु विवारजनितह्रस्वत्वादिभेदा न भवन्ति। चिराचिरश्रवणीयत्वरूपाः कालकृता भेदास्तु भवन्ति, न च ते ह्रस्वत्वादयः, तत्र विवारभेदाभावात्।

कम्पे त्विति। द्रव्याभिघाताच्छब्दे जायमाने द्रव्ये कण्ठताल्वादौ कम्पो भवति। स च कम्पोऽभिघातमात्रयोपचीयतेऽपचीयते वा। तत्रैव शब्दस्य ह्रस्वत्वादिधर्मा भवन्ति। कम्पोपचयात्प्रचितौ दीर्घप्लुतौ ह्रस्वाद्भिन्नौ परस्परमपि च भिन्नौ भवत इत्यर्थः। इदं च ह्रस्वत्वादिकं कम्पे वर्तमाने भवति, कम्पोपरतौ तु ये नादास्ते द्रुतादिवृत्तीनां भेदका भवन्ति। कम्पसमाप्तावपि नादा भवन्तीत्यत्राभिमते विशेषः।

अत्रायं विवेकः—कम्पो हि ध्वनिसत्तायामावश्यकमनिवार्यं च तत्त्वम्। कम्पसत्त्वे ध्वनिसत्त्वम्, कम्पाभावे ध्वन्यभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धं विज्ञानम्। एवं स्थिते कम्पोपरतौ वृत्तिविशेषकानां नादानामुपस्थितिरसम्भवैव। अतोऽभिहन्यमाने द्रव्ये योऽभिघातजन्यः कम्पस्तस्मिन्नुपरते सति,

वाय्वादिमाध्यमे जायमाना ये कम्पाः, तज्जनिता नादा वृत्तेर्विशेषका भवन्तीति वक्तुं युज्यते। अत एवाग्रेतनकारिकायां "अनवस्थितकम्पेऽपी"-त्याद्युक्त्वा कम्पोपरतौ नादसम्भवेऽरुचिर्ध्वनिता ॥ १०५ ॥

कण्ठ-तालु (द्रव्य-मूर्तवस्तु) आदि के टकराने से कम्प उत्पन्न होता है और कम्प से अकार, इकार आदि वर्णों की उत्पत्ति होती है। कण्ठ-तालु आदि की टकराहट यदि हलकी (एक सामान्य स्तर की) होती है तो ह्रस्व वर्ण उत्पन्न होता है, परन्तु यदि यह टकराहट (अभिघात) भारी (उच्च या उच्चतर स्तर की) हो तो दीर्घ या प्लुत वर्ण उत्पन्न होता है। अभिघात की मात्रा के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत वर्ण परस्पर भिन्न होते हैं। अभिघातजन्य कम्प की समाप्ति से पूर्व ही ह्रस्व आदि वर्णों के स्वरूप की निष्पत्ति अभिघातमात्रानुसार हो जाती है। कण्ठ-तालु आदि में कम्प समाप्त होने पर जो नाद पैदा होते हैं, वे केवल द्रुतादि वृत्तियों के नियामक होते हैं। (ह्रस्वत्वादि के नहीं।)

यहाँ ध्यान देने योग्य दो बातें सामने आती हैं—

एक तो यह कि—वर्णों के ह्रस्वत्वादि धर्म द्रव्याभिघात की न्यूनाधिकता से पैदा होते हैं, न कि काल की न्यूनाधिकता से। शब्दनित्यता पक्ष में भी वर्णों के ह्रस्वत्वादि धर्म[1] स्वाभाविक माने गये हैं, न कि कालकृत। नित्यता पक्ष में ऐसा मानना स्वाभाविक ही है। स्वभावतः ही कोई वर्ण ह्रस्व या दीर्घ जैसा भी है, वैसा ही है। काल आदि कारणों से नहीं, अपितु स्वरूपतः ही वह वैसा है, अपने स्वरूप में ही वह अभिव्यक्त होता है या अनभिव्यक्त रहता है। अनित्यता पक्ष में, क्योंकि ह्रस्व या दीर्घ-रूप कार्य का कारण होना आवश्यक है, इसलिए द्रव्याभिघातमात्रा को इसका कारण माना गया है। दोनों ही मतों में स्फोट को 'अभिन्नकाल' माना गया है, अतः दोनों ही मतों में ह्रस्वत्वादि को कालकृत धर्म नहीं स्वीकारा गया। वास्तव में कालमात्राएँ ह्रस्वत्वादि की नियामक हैं ही नहीं। अधिक-कालमात्राओं के प्रयोग से ह्रस्व वर्ण दीर्घ या प्लुत नहीं हो जाता। द्रव्याभिघात की मात्रा के न्यूनाधिक्य से ध्वनि (वर्ण) के स्वरूप में परिवर्तन किया जा सकता है। या यों कहें कि —"द्रव्याभिघातमात्रावशात् वर्ण को स्वरूप-लाभ होता है।" वर्ण के इस "स्वरूपलाभ" को नित्यता पक्ष में शब्द की स्वरूपाभिव्यक्ति और अनित्यता पक्ष में द्रव्याभिघातजनित कार्य कह सकते हैं। द्रव्याभिघात

---

(१) स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥ (वा० प० १।७६)

की प्रक्रिया को वर्णों का उच्चारण-प्रयत्न कह सकते हैं। वर्णों में काल का प्रभाव एक बाह्य[1] प्रभाव है, जो उसकी स्वरूपनिष्पत्ति के बाद उसे मिलता है। यह प्रभाव यदि सामान्य हो तो 'मात्रा' और असामान्य हो तो द्रुत-मध्यम-विलम्बित वृत्तियों के नाम से जाना जाता है। अर्थात् सामान्य-काल-प्रभाव-युक्त ध्वनि प्राकृतध्वनि है और असामान्य-काल-प्रभाव-युक्त ध्वनि वैकृतध्वनि है।

दूसरी यह कि—कम्पों के समाप्त होने पर उत्पन्न होने वाले नादों की बात जो यहाँ कही गई है, वह कहाँ तक ठीक है ?··· 'कम्प (Vibration) के बिना ध्वनि (नाद) की सत्ता असम्भव है' यह निश्चित वैज्ञानिक सिद्धान्त है। नित्यतावादियों का 'शब्द' भले ही कम्प के बिना सम्भव हो, परन्तु कार्यतावादियों के जिस स्फोट और नाद की चर्चा यहाँ की जा रही है, उसका कम्प के बिना होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा तो नहीं लगता कि इस मत के विचारक शब्द की उत्पत्ति में कम्प का कोई हाथ नहीं मानते। स्फोट अर्थात् ह्रस्व आदि वर्णस्वरूप की निष्पत्ति तक उन्हें भी कम्प का अस्तित्व स्वीकार है। केवल वृत्तिविशेषक नादों की स्थिति वे कम्प समाप्ति के अनन्तर मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इस मत में कम्प (Vibration) को दो भागों में बाँटा गया है—आहत द्रव्य में होने वाला कम्प और इस कम्प के कारण तरङ्गगति (Wave Motion) से वायु आदि माध्यमों में होने वाला कम्प (Propagation of Sound)। वृत्तिविशेषक नादों की स्थिति इस दूसरे भाग में मानी जा सकती है। जिस समय वायु आदि माध्यमों में कम्प हो रहा हो उस समय तक आहत द्रव्य में कम्प समाप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। आहत द्रव्य में कम्प समाप्त होने से पूर्व, अथवा वायु आदि में कम्प आरम्भ होने से पूर्व वर्ण अपना ह्रस्वादिस्वरूप प्राप्त कर लेता है, यही इस मत का आशय है। वृत्तिविशेषक नाद भी यद्यपि कम्प से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे वायु आदि के कम्प से पैदा होते हैं, आहत द्रव्य के कम्प से नहीं ॥ १०५ ॥

द्रुतादयो वैकृता ध्वनयः कम्पसत्त्वेऽसत्त्वे वेति मतद्वयम्—

अनवस्थितकम्पेऽपि करणे ध्वनयोऽपरे।
स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वालान्तरादिव ॥ १०६ ॥

अनवस्थितकम्पेऽपि अनुपरतकम्पेऽपि, करणे कण्ठादौ, कम्पवत्स्वपि

---

(१) बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः। (महाभाष्यम् २।१।१)

कण्ठताल्वादिषु, अपरे अन्ये, ध्वनयः नादाः, ज्वालान्तरात् एकज्वालायाः अन्याः ज्वालाः इव, स्फोटात् एव जायन्ते प्रभवन्ति।

अनवस्थितकम्प इति। कम्पे तूपरते जाता नादा द्रुतादिवृत्तीनां भेदका भवन्तीति पूर्वमुक्तम्। तत्र कम्पोपरतावपि वृत्तिविशिष्टानां नादानामुत्पत्तिः स्थितिर्वाभिमता, अत्र तु कम्पसत्त्वे।

अपीति। द्रुतादिवृत्तिविषयेऽत्र मतद्वयं प्रदर्शितम्। द्रव्याभिघातजन्यः स्फोटः, अभिघातजन्यकम्पप्रचयापचयाद् ह्रस्वादयः प्राकृता ध्वनयः, कम्पोपरतौ तु वैकृता द्रुतादिवृत्तय इत्येकं मतं पूर्वोक्तम्। कम्पे प्रवर्तमानेऽप्रवर्तमाने च वैकृता ध्वनय जायन्ते इत्यपरं मतमत्रोक्तम्। उभयमत-संग्राहकोऽपिः।

स्फोटादेवेति। पूर्वमते स्फोटः, ह्रस्वादयः, द्रुतादय इत्युत्तरोत्तरक्रमेण पूर्व-पूर्वस्माज्जायन्ते। अत्र मते कम्पवत्स्वपि कण्ठताल्वादौ यदि अपरे द्रुतादयो ध्वनयो जायन्ते, तदा ते कुतो जायन्ते? यतो हि करणकम्पोपचय-मात्रया ह्रस्वादयो जायन्ते, तत एव द्रुतादयोऽपि कथं जायन्ते, इति सम्प्रश्नेऽत्र मते व्यवस्थाप्यते—स्फोटादेवेति। द्रव्याभिघातजः स्फोटः, अभिघात-जश्चैव कम्पो द्रव्ये। तत्र द्रव्ये कम्पे प्रवर्तमाने स्फोटोत्पत्तिसमकालोत्पन्नाः कम्पजाः शब्दा ह्रस्वादयः स्फोटस्वरूपमाकुर्वन्ति, स्फोटश्च कारणतया तानारभत इति तान् स्फोटानुषङ्गान् कथयन्ति पूर्वे। तेषामपि च प्रत्यनु-षङ्गिनो नादान्तरान् द्रुतादीनपि स्फोट एवारभते, यावत्कम्पपरम्परा न विच्छिद्यते। एवं च ह्रस्वादयो द्रुतादयश्चाकम्पपरम्पराविच्छेदं स्फोटा-त्मानमाकुर्वन्त्यनुगृह्णन्ति च।

ज्वाला इति। अत्र ज्वालादृष्टान्तम्—यथा हीन्धनाश्रिता ज्वाला ज्वालान्तरं जनयति, ज्वालान्तरं च ज्वालान्तरम्, एवञ्चेन्धनाश्रितप्रथम-ज्वालायाः कारणभूताया ज्वालान्तरकार्यसन्तानः प्रवर्तते, तथैव प्रथमो-त्पन्नात्स्फोटादेव ह्रस्वादयः प्राकृता ध्वनयोऽपरे वैकृताश्च ध्वनयः कार्य-सन्तानरूपेण प्रवर्तन्ते, यथा च ज्वालाः पदार्थरूपं वस्तुजातं प्रकाशयन्ति तथैव ध्वनयोऽपि पदार्थरूपं (शब्दार्थरूपं) वस्तुजातं (भावजातं) प्रकाशयन्ति।

कम्पसत्त्वे—एव ध्वनिसम्भव इतिवस्तुसत्यरक्षणपरेयं कारिका प्रतीयते। अन्यथा द्रुतादयो ध्वनयः स्फोटाज्जायन्त उतान्यस्मादिति को विशेषः? ॥ १०६ ॥

आहत द्रव्य (कण्ठ-ताल्वादि या घंटादि) में कम्प समाप्त न होते हुए भी द्रुतादि वैकृत ध्वनियाँ भी स्फोट से उसी प्रकार उत्पन्न होती हैं, जैसे एक ज्वाला से दूसरी, तीसरी या चौथी ज्वाला उत्पन्न होती है।

'कम्प समाप्त होने पर भी ध्वनि उत्पन्न होती है' यह बात विज्ञान-सम्मत नहीं है। इसलिए यहाँ एक दूसरा मत उपस्थित किया गया है। पहले मत में यह माना गया है कि आहत द्रव्य में कम्प समाप्त होने के बाद ही वैकृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि द्रव्य पर आघात होने पर 'स्फोट' को स्वरूप मिलता है, जो कि अभिघातमात्रावशात् अप्रचित, प्रचित या अतिप्रचित होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ या प्लुत के रूप में होता है। अभिघातमात्रावशात् अभिघातजनित कम्प स्फोट के स्वरूपलाभ में ही लग जाता है। अतः वैकृत ध्वनियाँ कम्प समाप्ति के बाद ही पैदा होंगी।

परन्तु इस दूसरे मत में कम्प समाप्ति के बाद ध्वनि की उत्पत्ति से किञ्चित् असहमति रखते हुए बताया गया है कि आहत द्रव्य में कम्प के रहते हुए भी वैकृत ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। अभिघातमात्रा और स्फोट की स्वरूपनिष्पत्ति में शत-प्रतिशत अनुपात यह मत नहीं मानता। द्रव्यगत कम्प पूरा-का-पूरा स्फोट की स्वरूपनिष्पत्ति में ही व्यय नहीं हो जाता, अपितु वही वैकृत ध्वनियों को भी उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में ज्वाला का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे— लकड़ी में रहने वाली प्रथम ज्वाला (लपट) प्रकाश के स्वरूप को निष्पन्न तो करती ही है, अन्य ज्वालाओं को भी जन्म देती है।

साधारणतया ढोल आदि में भी यह देखने में आता कि ढोल में आघात होने पर प्रथमोत्पन्न 'डम्' को आवाज (स्फोट) हो जाने पर भी ढोल को पुड़ में कम्पन होता रहता है। इससे स्पष्ट है कि स्फोट की स्वरूपनिष्पत्ति के बाद भी कम्प होता है। यही कम्प बाद में उत्पन्न होने वाली ध्वनियों को जन्म देता है। अतः "अनवस्थित कम्पेऽपि" यह मत अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। यदि कम्प को 'आहतद्रव्यगतकम्प' और 'माध्यमगतकम्प' इन दो भागों में बाँट दिया जाय तो पूर्वमत भी सङ्गत हो सकता है। ध्वनि के लिए कम्प होना आवश्यक है।

प्रस्तुत चित्र में इस पूरे उपक्रम में विवेचित स्फोट, ध्वनि, कालभेद, वृत्तिभेद, द्रव्याभिघात और कम्प को ग्राफ के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। शब्दनित्यतावादि और अनित्यतावादी दोनों ही मतों में स्फोट को "अभिन्नकाल" माना गया है, इसलिए ग्राफ में स्फोट की स्थिति शून्य (0) से दर्शायी गई है। काल-विस्तार नित्यतावादी-मत में ध्वनियों का और अनित्यतावादी-मत में शब्दज शब्दों का धर्म है।
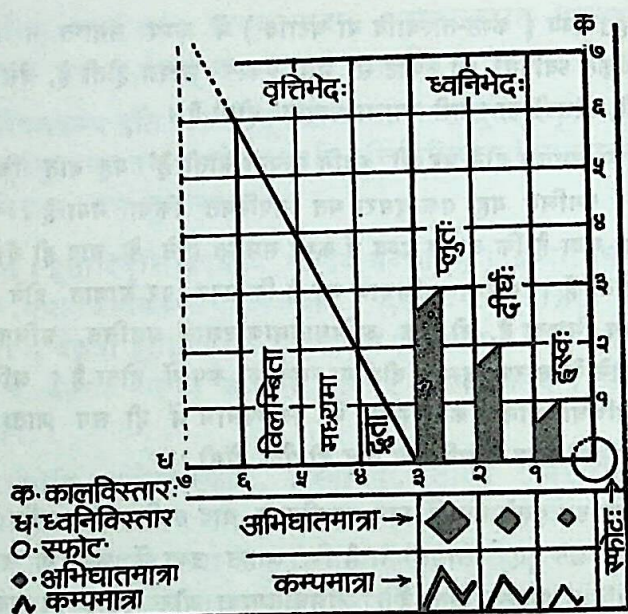
द्रव्याभिघात या स्थानाभिघात से उत्पन्न या अभिव्यक्त होने वाला स्फोट अभिघात-मात्रानुपाती या वक्तृपुरुषप्रयत्नानुविधायी होकर ही, ह्रस्व, दीर्घ या प्लुप्त, जैसा भी हो, स्वरूपलाभ कर लेता है। इस आत्मस्वरूपलाभ के लिए स्फोट को काल-विस्तार की आवश्यकता नहीं होती। दीपप्रभा और घण्टाध्वनि के दृष्टान्तों से इस उपक्रम में दिखाया गया है कि श्रूयमाण ध्वनियाँ, जिनमें काल-विस्तार होता है, स्फोट के उत्तरकाल में श्रुत होती हैं। ध्वनियों (प्राकृत और वैकृत) का काल-विस्तार ऊर्ध्वाधर रेखा '0–क' पर दिखाया गया है, जब कि ध्वनियों का आत्म-विस्तार तिर्यक् रेखा '0–ध' पर दिखाया गया है। तीन कालमात्राओं (काल की इकाई–मात्रा–चाष पक्षी की आवाज) तक ध्वनि प्राकृतध्वनि या शब्दज शब्द कहलाती हैं और अधिक मात्राओं तक पहुँचने पर वैकृतध्वनि। वैकृत-ध्वनियाँ द्रुत, मध्यम और विलम्बित ये तीन है, जो छह मात्रा काल से भी अधिक काल तक विद्यमान रह सकती हैं। इसका सङ्केत दानेदार रेखाओं से किया गया है। स्फोट अभिन्नकाल और अध्वनिक होने के कारण ह्रस्व, दीर्घ या प्लुप्त की मात्राओं तक पहुँच कर ही अभिव्यक्त या श्रुत होता है। द्रव्याभिघात या स्थानाभिघात की मात्रा ह्रस्वत्व, दीर्घत्व या प्लुतत्व की नियामिका होती है। इसे ग्राफ में ■ वर्ग-चिह्न से दर्शाया गया है। द्रव्याभिघात या स्थानाभिघात से उत्पन्न होने वाले कम्प के सम्बन्ध में दो मत हैं—१. कम्प प्राकृतध्वनियों के आत्मविस्तार तक ही रहता है। २. प्राकृत-

ध्वनि के व्यक्त होने के बाद भी कम्प होता रहता है। दूसरा मत अधिक युक्तिसङ्गत है। कम्प अभिघात-मात्रानुसारी होता है, इस बात को ग्राफ में '/\' इस वक्रचिह्न से दर्शाया गया है। कम्प सम्बन्धी मतभेद को ध्यान में रख कर ही कम्प को वृत्तियों के क्षेत्र में नहीं दिखाया गया, क्योंकि दूसरे मतवादी भी प्राकृतध्वनियों के बाद कम्प की सत्ता को मानते हुए भी, वृत्तियों को कम्प से सम्बन्धित नहीं, अपितु स्फोट से सम्बन्धित मानते हैं ॥ १०६ ॥

शब्द-स्वरूपापत्तौ मतत्रयम्—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदो हि प्रवादेष्वनवस्थितः ॥ १०७ ॥

कैश्चित् विचारकैः, वायोः पवनस्य, शब्दत्वापत्तिः शब्दभावः, इष्यते इष्टा, वायुः शब्दरूपे विपरिणमते इति केषाञ्चिन्मतम् इत्यर्थः। कैश्चित् अणूनां पुद्गलानां, शब्दत्वापत्तिः इष्यते, कैश्चिच्च ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिः इष्यते। अत्र प्रवादेषु त्रिषु सिद्धान्तेषु, दर्शनभेदः दृष्टिभेदः दार्शनिक-विचारसरणिः वा, अनवस्थितः हि अनिश्चित एव, अनन्तिम एवेत्यर्थः।

वायोरिति। वायुः शब्दत्वमापद्यत इत्येकं मतम्। तत्र मनुष्यादि-सचेतनानां वाचो विषये वायुः प्राणवायुः। तत्रापि येन 'ऑक्सीजना'-ख्येन (Oxyzen) वायुना सचेतनः प्राणिति, न सः, (यतो हि बहिःश्वसन-काले स ऑक्सीजनाख्यः प्राणो न भवति) अपि तु हृद्गुहाचरो वायुविशेष एव। प्राचस्तु श्वासोच्छ्वासोभयात्मकं वायुं प्राणमुररीकुर्वन्ति। अत एव वायुः प्राणवायुरित्युक्तमस्माभिः। अत्र प्रकरणे सर्वत्रैव प्राणवायुपदेनाय-मेवार्थो बोध्यः। वेणु-शङ्खादिशब्दविषये वायुर्वातः। यदि तत्रापि मुख-संयोगेन हेतुना प्राणवायुरेवेति चेत्, तदा 'हारमोनियम'-'हॉर्न'-आदौ वायुर्वातः। [1]उदाना-पानादिशब्देष्वपि वायुर्वातः एव मन्तव्यो भवति, तत्र प्राणशब्दस्य प्रयोगासम्भवात्। एवञ्च सचेतनाचेतनोभयसम्बन्धेन वायुसामान्यः सम्पीडितः सङ्घृष्टो वा शब्दत्वमापद्यत इत्यर्थः।

अणूनामिति। अणवः शब्दत्वमापद्यन्त इति द्वितीयं मतम्। अणवः खल्वप्यद्यत्वे (Atam) 'ऐटम' इत्यभिधेयाः पदार्थानां मूलघटकाः प्रसिद्धाः।

---

१. केचित्तूदानमेव शब्दोपादानं स्वीकुर्वन्ति, तस्यैव कण्ठगतत्वात्, अस्ति चात्र विप्रतिपत्तिः पूर्वेषाम्।

प्राचीनशास्त्रेष्वपि तेषां मूलघटकत्वेनैव प्रसिद्धिः, परन्तु प्राचामर्वाचां च तेषां स्वरूपपरिकल्पने किमप्यन्तरं वर्तते । न्याय-वैशेषिके सांख्ये चाणूनां न तथा स्वरूपं यथाधुनिके नये । अत्र प्रकरणे सांख्य-वैशेषिकाभिमत-मणुस्वरूपमिति बोध्यम् ।

ज्ञानस्येति । ज्ञानं शब्दत्वमापद्यत इति तृतीयं मतम् । ज्ञानं मूर्तिमताममूर्तिमतां च पदार्थानां दृष्टश्रुतानुभूतो बोधः । अयं च पक्षो मनुष्यादि-सचेतनजन्तुविषयक एव, अन्येषां तादृशबोधाधिकरणस्याभावात् । शाब्दिकानां चायमेव सिद्धान्तपक्षः ।

दर्शनभेद इति । दर्शनभेदो हि मतत्रये कारणमिति ते ते दार्शनिकाः स्वेन स्वेन दर्शनेन शब्दोपादानं पश्यन्ति, त्रिष्वपि दर्शनेषु शब्दोपादान-विषये किमपि तथ्यमस्त्येवेति बोध्यम् । एतच्च यथायथं मूले टीकायां च विवेचयिष्यते ॥ १०७ ॥

कुछ दार्शनिकों का विचार है कि वायु शब्द के रूप में परिवर्तित होता है । कुछ अन्य दार्शनिक मानते हैं कि अणु (या परमाणु) शब्द का रूप धारण करते हैं, तो कुछ अन्यों का मत है कि शब्द ज्ञान का ही परिवर्तित स्वरूप है । इन तीनों मतों में दर्शन-भेद या दृष्टि-भेद ही कारण है । भिन्न-भिन्न विचारक अपने-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार शब्द को देखते परखते हैं । फिर भी इन सभी मतों में कुछ-न-कुछ सत्य तो है ही ।

"वायु शब्द के रूप में परिवर्तित होता है," इस मत में जहाँ तक मनुष्यों और जन्तुओं की वाणी का प्रश्न है, वायु का अर्थ प्राणवायु या उस वायु से है जो फेफड़ों में रहता है । परन्तु सचेतन प्राणियों की वाणी के अतिरिक्त सामान्य शब्द की दृष्टि से देखें तो वायु का अर्थ साधारण हवा ही लेना चाहिए । वायु की सन-सनाहट सीधे तौर पर उसका सम्बन्ध सब्द (या ध्वनि) से जोड़ देती है । पर्वत कन्दराओं में गूँजती ध्वनि आदि से इस मत की स्थापना बड़ी सरलता से हो जाती है, परन्तु घंटा-भेरी आदि अभिघात-जन्य शब्दों को इस मत में समेटना दुष्कर ही है ।

"अणु का शब्द रूप धारण करते हैं," इस मत का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक में वर्णित उन अणुओं से है; जो पृथिवी आदि द्रव्यों के मूल-घटक हैं या उन साङ्ख्यीय तन्मात्राओं से है, जो पञ्चमहाभूतों की प्रकृति हैं । आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुओं (Atoms) का उल्लेख इस मत में है, ऐसा नहीं लगता । फिर भी अणु या परमाणु के विवेचन में प्राचीनों और नवीनों का सम्बन्ध जिस सीमा

तक जोड़ा जा सकता है, उस सीमा तक इसे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण कहा जा सकता है।

"शब्द ज्ञान का ही परिवर्तित रूप है" इस मत का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से मनुष्यों की, अधिक से अधिक जन्तुओं की वाणी से ही है। अन्य प्रकार के शब्द इस मत की सीमा में नहीं आ सकते। ज्ञानाधिकरण-रहित पदार्थ किसी अन्य सचेतन के सहकार के बिना भी शब्द करते हैं, अतः ऐसे पदार्थों से उत्पन्न शब्द ज्ञान[1] का परिवर्तित रूप नहीं कहे जा सकते। वास्तव में यह मत वैयाकरणों का है और उनका सम्बन्ध मनुष्य की वाणी से ही होता है।

इन तीनों मतों का विवेचन अग्रिम करिकाओं में किया गया है॥ १०७॥

वायोः शब्दत्वापत्तिप्रकारः—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥ १०८॥

वक्तुः उच्चारयितुः, इच्छानुवर्तिना इच्छयोत्प्रेरितेन, प्रयत्नेन व्यवसायेन, लब्धक्रियः लब्धा प्राप्ता क्रिया व्यापारः येन सः, प्राप्तव्यापारो वायुः शरीरान्तर्वर्ती प्राणवायुः, स्थानिषु कण्ठताल्वादिषूच्चारणस्थानेषु, अभिहतः आहतः सन्, शब्दत्वं शब्दभावं, प्रतिपद्यते प्राप्नोति।

वक्तुरिति। वक्ता हि कमप्यर्थं विविक्षुः प्रयत्नमारभते, तेन तस्य हृद्गुहाचरो वायुः वचनानुकूलक्रियावत्तां लभते। लब्धक्रियश्च स उच्चारणकरणाभिमुखमूर्ध्वमुच्चरन्तत्तदुच्चारणस्थानेषु कण्ठताल्वादिष्वभिहन्यते। तेन च स्थानाभिघातेन स शब्दत्वमापद्यते। अयं क्रमो हि मानववाग्विषयो जन्तुवाग्विषयको वा। वेणु-शङ्खादिषु वंशवनादिषु पर्वतकन्दरादिष्वप्याघूर्णितो वायुः शब्दभावं प्रतिपद्यते, तत्रापि वायुरभिहत एव शब्दीभवति, परं तत्र तस्य क्रियावत्तोपलब्धिर्न वक्तुरिच्छानुवर्तिना प्रयत्नेन। अनेनैव वाक्शब्दः शब्दसामान्याद् भिद्यते।

वायुरिति। वायोः शब्दत्वापत्तिविषयकमिदं मतं प्रातिशाख्येषु प्रसिद्धम्। तथा च शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये—"वायुः खात्, शब्दस्तत्, सङ्करोपहितः,

---

१. सभी शब्दों और अशब्दों की प्रकृति शब्दतत्त्व है, इसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। यहाँ पर किये गये विवेचन से वैयाकरण-सिद्धान्तों का क्षेत्र सीमित नहीं होता।

ससङ्घातादीन् वाक्" इत्यादिकात्यायनसूत्राणि, वायुः खादाकाशादुत्पद्यते, शब्दस्तदात्मको वाय्वात्मको भवति, स च सम्यक्करणैः वेणुशङ्खादिभिरुपहितः शब्दीभवति, संघातादीन् पुरुषप्रयत्न-स्थानादीन् प्राप्य वाक् भवतीति तद्भाष्याशयः। ऋक्तन्त्रेऽपि—"अथ वाचो प्रवृत्ति व्याख्यास्यामः, वायुं प्रकृतिमाचार्याः, वायुमूर्ध्वं श्वासीभवति, श्वासो नाद इति शाकटायनः, वायुरयमस्मिन् काये मूर्च्छंत्यटतीत्येषोऽर्थः" इत्याद्युक्तम्। ऋक्प्रातिशाख्ये तु—

> वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानम्, कण्ठस्य ते विवृते संवृते वा।
> आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम्॥
> (ऋक् प्रा० १३।१)

इत्युक्तम्। इयं च कारिकेममेवार्थमनुवदतीव प्रतीयते। 'वक्त्रीहायाम्' इति 'वक्तुरिच्छानुवर्तिना' इति च तुलनीयतां भजतः।

अत्रेवं बोध्यम्—वायुरभिहतः सन् शब्दत्वं प्रतिपद्यत इत्यभिघातमात्रया संयोग-विभागजन्यो नैयायिकानामनित्यः कार्यः शब्द एव भवितुमर्हति। परं यदि स वायुः वक्तुरिच्छानुवर्तिना प्रयत्नेन लब्धक्रियो भवति तदाभिघातसाधनमात्रमेव भवेत्, घण्टा-लोलकवत्। घण्टालोलको ह्याहन्तुः प्रयत्नेन लब्धक्रियः सन् शब्दं जनयति, तत्र नहि लोलकः शब्दत्वं प्रतिपद्यते, शब्दस्तु लोलक-घण्टाभित्तिभ्यां भिन्न एव कश्चित्। एवं हि वायोः शब्दभावेऽपि शब्दः कश्चिदन्य एव भवितुमर्हति। स च वक्तुर्विवक्षितोऽर्थ इति॥ १०८॥

जब कोई व्यक्ति शब्द या वर्ण का उच्चारण करना चाहता है तो उस वक्तृपुरुष की इच्छानुसार उसके शरीर या उच्चारण अवयवों में उच्चारणानुकूल प्रयत्न होने लगता है। इस प्रयत्न से शरीरस्थ (नाभि, हृदय या कण्ठ में रहने वाला) वायु सक्रिय हो उठता है और यह क्रिया-शील वायु जब कण्ठ-तालु आदि (उच्चारण) स्थानों से टकराता है तो शब्द के रूप में परिवर्तित हो जाता है।

वायु जब किसी अन्य वस्तु से टकराता है, तो शब्द होता है, यह एक सर्वसामान्य अनुभव है। सम्पीड़ित वायु भी शब्द उत्पन्न करता है। बाँसुरी, शङ्ख, वनों और पर्वत की घाटियों-कन्दराओं आदि में वायु के शब्द-भाव के उदाहरण देखे जा सकते हैं। परन्तु यहाँ जो प्रकार दिखाया गया है, वह स्पष्ट ही मनुष्य की वाणी से सम्बद्ध है। मनुष्य की वाणी में शरीरस्थ वायु वक्ता की इच्छानुसार क्रियाशील

होता है, जबकि अन्य शब्दों के सम्बन्ध में किन्हीं अन्य भौतिक कारणों से। वाणी और सामान्य शब्द में यह एक स्पष्ट अन्तर है।

वायु के शब्दभाव-सम्बन्धी यह मत वैदिक-प्रातिशाख्यों और प्राचीन शिक्षाओं में मिलता है। शुक्लयजुःप्रातिशाख्य में—"वायुः खात्, शब्दस्तत्" कहा गया है, जिसका अर्थ है—वायु आकाश से उत्पन्न होता है और वही शब्द है। ऋक्प्रातिशाख्य में—"वायुः प्राणः·········आपद्यते श्वासतां नादतां वा" कहा गया है। इसका अर्थ है—वायु या प्राणवायु श्वास (श्वास-प्रयत्न वाले वर्ण) और नाद (नाद-प्रयत्न वाले वर्ण) बन जाता है। इसी प्रकार ऋक्तन्त्र-व्याकरण में—"वायुं प्रकृतिमाचार्याः" ऐसा कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि आचार्य वायु को शब्द की प्रकृति मानते हैं। आपिशलि[1] पाणिनि आदि शिक्षाओं में भी यह दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

इस मत के सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि—वायु आहत होकर या आघात करके ही शब्द का रूप धारण करता है, चाहे वह शब्द मनुष्य की वाणी हो या सामान्य शब्द। ऐसी स्थिति में वायु या तो आघात का साधन होगा या आहन्य वस्तु—जैसे घंटा और घण्टे का लटकन या ढोल और ढोल का डगा। इन दोनों के आघात (टकराने) से शब्द उत्पन्न होता है, परन्तु ये दोनों शब्द नहीं होते। फिर वायु, आघातक या आहन्यमान इन दोनों रूपों में, शब्द कैसे हो सकता है? जैसे घंटानाद में शब्द घंटाभित्ति और लटकन दोनों से भिन्न वस्तु है, वैसे ही मनुष्य की वाणी में (शब्द-सामान्य में भी) शब्द शारीरवायु और कण्ठ-ताल्वादि से भिन्न कोई अन्य ही पदार्थ होना चाहिए ॥ १०८ ॥

शब्दत्वापत्तौ वायोः सामर्थ्यम्—

तस्य कारणसामर्थ्यात् वेगप्रचयधर्मणः।
सन्निपाताद्विभज्यन्ते सारवत्योऽपि मूर्तयः ॥ १०६ ॥

तस्य पूर्वोक्तस्य, कारणसामर्थ्यात् कारणतारूपशक्तेः हेतोः, वेगप्रचयधर्मणः, वेगः प्रचयश्च धर्मः स्वभावः यस्य सः वेगप्रचयधर्मा, वेगः शीघ्रतया

---

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात्, समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो, वर्णत्वमागच्छति यः सः शब्दः ॥ १ ॥
(आपिशलिशिक्षा-प्रस्तवना प्रकम)

पाणिनि शिक्षा सूत्रों में भी यह श्लोक ठीक ऐसा ही है।

बलपूर्वकं प्रसरणं, प्रचयो वृद्धिः घनीभावश्च, तस्य वायोः, सन्निपातात् सङ्घट्टनात्, सारवत्यः दृढाः कठिनाः स्थिराश्च पर्वतादयः, मूर्तयः आकृतिमन्तः पदार्थाः, अपि विभज्यन्ते भिन्नाः भवन्ति ।

तस्येति । तस्य पूर्वोक्तस्य वायोः शब्दरूपकार्यजनने कारणतारूपा-शक्तिरस्तीति वायुः शब्दस्य कारणम् । तस्मादेव कारणसामर्थ्यात्सः शब्दत्वपिपित्सायां वेगवान् प्रचयवाँश्च भवति । वेगः प्रचयश्च वायोर्धर्मं इति सामान्या प्रतीतिः । वेगं प्रचयं च प्राप्तवतस्तस्य सन्निपातात् कण्ठताल्वादयो विभज्यन्ते, तेषां विभागेन, वायोः सन्निपातेन (संयोगेन) च संयोग-विभागद्वारा शब्दोत्पत्तिरिति ।

मूर्तय इति । ननु सूक्ष्मस्यामूर्तस्य वायोः सन्निपातात्कण्ठताल्वादीनां विभागः कथं सम्भवेदिति तु नाशङ्कनीयम्; स्यान्नाम वायुः सूक्ष्मोऽमूर्तः, स्पर्शवाँस्तु भवत्येव । वेगं प्रचयं च प्राप्तवतस्तस्य सङ्घट्टनात्सारवत्यो वृक्ष-पर्वतादिमूर्तयोऽपि विभज्यन्ते । एतदेवाह वृषभदेवः—"सारवतां पर्वतादीनामपि वायुना विभागः क्रियते किमङ्ग पुनस्ताल्वादीनाम्" इति । केचित्तु वृषभदेवोक्तं प्रत्याचिख्यासन्तः "नह्यत्र वायुना ताल्वादीनां विभागोऽभिप्रेतः, किन्तु ताल्वादिसन्निपातेन वायो"रिति ब्रुवन्ति, तन्न रुचिरम्, 'वायुरेकघन' इति तैरैव स्वीकृतत्वात्, अत्र च 'मूर्तयो विभज्यन्ते' इति बहुवचनोपादानात् । नह्येकघनस्य विभागात्पूर्वमनेका मूर्तयः सम्भवन्ति, या विभज्यन्ते, पर्वतादिमूर्तिमन्तस्त्वनेके भवन्ति, त एव वायुना विभज्यन्ते । वायोर्मूर्तय इत्यपि न सङ्गच्छते, तस्य रूपरहितत्वात् । यदि च सत्त्वमात्रं मूर्तिरिति मूर्तिमान्वायुस्तदापि वायोर्मूर्तिर्न सारवती, तस्याधारानुसारिरूपग्राहित्वात् । यदि च वेगवान् प्रचयवाँश्च वायुः सारवानित्युच्यते, तदपि न, यतस्तथाभूतः स विभाजयत्यन्या मूर्तीः, न तु स्वयं विभज्यते । अतो वृषभदेवोक्तमेव समीचीनम् । वायुर्विभज्यते करणसन्निपातेन, करणानि विभज्यन्ते वायुसन्निपातेन वेत्युभयथापि संयोगविभागद्वारिकी शब्दनिष्पत्तिः प्रसिध्यति ।

वस्तुतस्तु--वायुर्वेगधर्मा प्रचयधर्मा सन्निपतितोऽभिहतो वा कम्पं जनयति न शब्दम् । कम्पो हि शब्दः, कारणान्तरैरपि जन्यमाने कम्पे शब्दत्वापत्तेः । वायुना द्रव्यान्तरेण वा द्रव्यान्तरे कम्पमाने शब्दोत्पत्तिः, वायुना द्रव्यान्तरेण वा वायौ कम्पमाने शब्दोत्पत्तिरिति निश्चितम् । तत्र वाग्व्यवहारे कण्ठताल्वादिद्रव्यान्तरेषु वायोः सन्निपातेन, वायौ च कण्ठताल्वादी-

नामभिघातेन वा यः कम्पः प्रवर्तते, स एव शब्दत्वमापद्यते। उच्चारण-क्रियायां वेणुगीतादौ च वायुसन्निपातस्य प्राधान्यात् वायोः शब्दत्वापत्तिरिति दर्शनमिति बोध्यम् ॥ १०६ ॥

वायु में शब्द उत्पन्न करने की या शब्द के रूप में परिवर्तित होने की शक्ति होती है। उसकी इस शक्ति के कारण वेगवान् और प्रचित वायु के टकराने से कठोर पदार्थ भी छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

वायु वेगवान् होता है, देखते ही देखते विशालता को प्राप्त कर लेता है, इसे तूफान या प्रकम्पन कहा जाता है और यह तूफ़ान बड़े-बड़े वृक्षों, पर्वतों को छिन्न-भिन्न कर देता है। इतना शक्तिशाली वायु यदि कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों को विभक्त करके शब्द के रूप में परिवर्तित होता है तो इसमें सन्देह कैसा ?

सम्भवतः वायु के शब्दभाव के सम्बन्ध में यह आशङ्का उठाई गई होगी कि अत्यन्त सूक्ष्म शरीर वायु कण्ठ का विवार (फाड़ना, चौड़ा करना) कैसे कर सकता है ? इसका उत्तर इस कारिका में उक्त प्रकार से दिया गया है।

कुछ लोग इसका अर्थ—"कण्ठ आदि से टकराकर वायु छिन्न-भिन्न होता है" ऐसा करते हैं। यद्यपि कारिकागत 'विभज्यन्ते' 'सारवत्यः' 'मूर्तयः' इन बहु-वचनान्त पदों से कारिका का ऐसा अर्थ करना उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि वायु शब्दरूप में परिणत होने के लिए स्वयं भी छिन्न-भिन्न होता है और अन्य सारवती पर्वतादि मूर्तियों को भी छिन्न-भिन्न करता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में संयोग-विभाग की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है और 'संयोग-विभाग' द्वारा शब्दोत्पत्ति सम्भव हो जाती है।

वास्तव में—वायु वेगवान् हो या प्रचित (घनीभूत) हो, टकराया हुआ (सन्निपतित) हो या टक्कर खाया हुआ (अभिहत) हो, कम्प पैदा करता है, शब्द नहीं। कम्प ही शब्द के रूप में श्रुत होता है। इसका प्रमाण यह है कि—वायु के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के टकराने से भी शब्द होता है। वायु वायु से टकराये या अन्य पदार्थों से, शब्द होता है। पदार्थ पदार्थों से टकराये या वायु से, शब्द होता है। इन सभी अवस्थाओं में 'कम्पन' (Vibration) होता है। अर्थात् टकराहट (अभिघात) के परिणाम को यदि आँखों से देखा जाय तो अभिहत पदार्थ (वायु या वस्तु) आगे-पीछे स्थिति बदलता दिखाई देगा, त्वचा से स्पर्श किया जाय तो सरसराहट-सी अनुभव होगी और कानों से सुना जाय तो शब्द सुनाई देगा। जब कोई बच्चा फूले हुए गुब्बारे को मरोड़ता है 'चीं-चीं' शब्द

भी सुनाई देता है और कानों में एक असहनीय-सी खुजली भी होती है। कर्णेन्द्रिय क्योंकि त्वगिन्द्रिय से सम्पृक्त होता है, इसलिए शब्द और सरसराहट दोनों कान में प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि द्रव्याभिघात से जिसमें वाय्वभिघात भी समाविष्ट है, कम्प पैदा होता है, न कि शब्द।

उच्चारण-क्रिया में और शङ्ख-वंशी आदि में स्थूलतया और प्रधानतया वायु का सम्बन्ध होने से ही इस मत की स्थापना हुई है॥ १०९॥

अणूनां शब्दत्वापत्तिसामर्थ्यम्—

अणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः॥ ११०॥

भेदसंसर्गवृत्तयः भेदः विभजनं, संसर्गः संसृष्टिः सङ्घीभवनं, भेदः संसर्गश्च वृत्तिः वर्तनं व्यवहारः येषां ते तथाभूता अणवः, सर्वशक्तित्वात् हेतोः, सर्वाः अनेकाः शक्तयः सामर्थ्यानि येषां ते तथात्वात् कारणात्, छायातपतमःशब्दभावेन एभिर्भावैः परिणामिनः परिणामवन्तः सन्ति। अतस्ते शब्दभावेनापि परिणमन्ते। अत्र छाया प्रकाशावरोधः, आतपः ऊष्मा, तमश्च आतपाभावः। शैत्यमित्यर्थः।

अणव इति। वैशेषिकमते पृथिव्यप्तेजोवायूनां मूलघटकास्तत्तत्परमाणवो नित्याः, आकाशस्य तु नेति चतुर्धा परमाणवः। सांख्यास्तु—रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-'तन्मात्रा'-रूपेण तेजआदिपञ्चमहाभूतानां मूलघटकान् पञ्चपरमाणून् स्वीकुर्वन्ति। जैनाश्च 'पुद्गल'-पदवाच्यान्पञ्चपरमाणून् महाभूतानां घटकान् मन्यन्ते। आधुनिकाश्चापि[1] पदार्थमात्रमणुघटितमिति वदन्ति। तत्र ते परमाणवो भिन्नाः सन्तोऽदृश्या अनाकृतयोऽबोध्या नित्यास्तिष्ठन्ति, संसृष्टाश्च पृथिव्यादिरूपाकृतिं भजन्त इति तेषां भेदसंसर्गवृत्तित्वम्। तत्रापि तेषां समेत्यकारित्वमसमेत्यकारित्वं च तत्र तत्र दर्शनेषु निरूपितम्। तथाहि—पृथिव्यां सर्वेषां परमाणूनां गुणधर्मसद्भावानुरोधेन तेषां समेत्यकारित्वं दृष्टम्, आकाशे त्वेकस्यैवेत्यसमेत्यकारित्वम्। आधुनिकास्तु—"द्रव्यमात्रस्य तत्त्वं (Element) यौगिकं (Compound)

---

१. अत्र पदार्थपदं न द्रव्यगुणकर्मेत्यादिसप्तपदार्थपरम्, अपि तु पदार्थः=Matter मैटरश्चायं भारं दधाति, आकृतिं भजते, स्थानमावृणोति, करोति, विकरोति, प्रतिकरोति च इन्द्रियैश्च गृह्यते।

मिश्रणं (Mixture) इत्यवस्थात्रयं विविच्य प्रत्येकं द्रव्यस्य सूक्ष्मतमकणा-नणून्निरूपयन्ति (Molucules इति) एते चाणवः स्वस्वद्रव्यस्य गुणधर्मं धारयन्ति। परस्पराकर्षणवलेन संसृष्टा संसर्गवृत्तिं दर्शयन्ति स्वसत्तां पृथङ्निरूपयन्तश्च भेदवृत्तिं दर्शयन्ति। अणोरपि सूक्षांशाः परमाणवः (Atoms) तत्त्वस्य। ते चापि स्वतत्त्वे परस्परमाकृष्टा अतः संसृष्टाः, तथापि विरला अतो भेदवन्तो भेदसंसर्गवृत्तयो भवन्ति। परमाणवश्च नाभि-नेमिक्रमेण विभागत्रयं भजन्ते– न्यूट्रॉन (Nutron) प्रोटॉन (Protanc) इलेट्रॉन (Eletranc) इति च। एते चापि न्यूट्रॉनादयः परस्पराकर्षणेन संसृष्टाः, परं परस्परविलग्नास्तिष्ठन्तीति भेदसंसर्गवृत्तिं दर्शयन्ति। यदि केनाप्युपायेन परमाणूनामियं भेदसंसर्गवृत्तिरुच्छेदयितुं शक्येत तर्हि "महत्यूर्जारुत्पद्येत" इति वदन्ति। अत एव परमाणुविखण्ड-नाख्येन कर्मणा (Nuclear Fission) छायातपतमःशब्दा उत्पद्यन्ते तस्य परमाणोः सर्वसमर्थत्वात्।

भेदसंसर्गवृत्तय इति। अणवः (परमाणवः) केनाप्यदृष्टसहकारेण भिन्नाः सन्तस्तत्तद्द्रव्यस्य मूलघटकत्वेन नित्यास्तिष्ठन्ति, संसृष्टाश्च तत्तद्-द्रव्यस्वरूपं निर्मान्ति। भेदः संसर्गश्च तेषां वृत्तिरेवेति प्राचामाशयः। आधु-निकास्तु परमाणोर्न्यूट्रॉनादयस्त्रयोऽवयवाः परस्पराकर्षणवलेन संसृष्टा, विकर्षणवलेन च विप्रकृष्टा वर्तन्त इति जानन्ति। इदमेव तेषां भेदसंसर्ग-वृत्तित्वं मन्तव्यम्, अत्रैव तेषां सर्वशक्तिमत्त्वं निहितमिति च।

सर्वशक्तित्वादिति। अत्रेदं विवेचनीयं भवति यत्–किं परमाणवः पर-माणुत्वावच्छेदेनैकजातीया उत पार्थिवादिभेदेन नानाजातीयाः? यदि पार्थिवाः परमाणवः पृथ्वीं पृथिवीमेव घटयन्ति, तैजसाश्च तेजः, तदा न तेषां सर्वशक्तिमत्त्वं प्रसिध्यति, अत एकजातीया एव परमाणव इति चेत्तदा तेषां पार्थिवादिविभागस्य वैयर्थ्यापत्तिः प्रसज्यते। सन्ति च नानारूपाः परमाणवोऽन्योन्यं भिन्नस्वभावाः (अद्यत्वे पञ्चाधिकशत(१०५)संख्याका ज्ञाताः)। अत्रेदं बोध्यम्–सन्ति हि पार्थिवादिनानाजातीया अन्योन्यं भिन्न-स्वभावाः परमाणवः, तेषां च समेत्यकारितयान्यथा च स्वाश्रितद्रव्यघटना-तिरिक्ताश्छायातपादिभावपरिणामिन्यः शक्तयो भवन्तीति। आधुनिकनये तु परमाणुविखण्डने (Fission) परमाणुसम्पीडने (Fusion) च या 'ऊर्जाः'

---

१. "असन्तो द्वयच्कः" (पा० लिङ्गानुशा० सू० १५१) इत्येतस्मिञ्जागरूकेऽपि" "ऊर्जस्" शब्दः सविशेषं स्त्रियां प्रयुक्त इति ज्ञेयम्। एवमग्रेऽपि।

विसृष्टा भवति सा 'ऊष्माणं' (आतपं) शब्दं च जनयति, अन्याश्च विविधाः शक्तीर्जनयतीति तस्य सर्वशक्तिमत्त्वम् ।

छायेति । प्रत्येकं परमाणवश्छायादिभावेषु परिणमन्त उतैकस्यैकभावेऽन्यस्यान्यभावे, उताहोऽविशेषेणेत्यप्याशङ्कितुं युज्यते । अत्रायं विवेकः– वैशेषिकनये चतुर्धा हि परमाणवः–पार्थिवाः, तैजसाः, आप्याः, वायव्याश्च । तत्र वायव्याः शब्दभावेन परिणमन्त इति प्राधान्येन वक्तव्ये प्रसङ्गादन्येषामप्येकैकमुदाहृतम्, तथा हि–छाया हि पार्थिवानां परमाणूनां परिणामः, आतपस्तैजसानाम्, तम आप्यानामिति । सर्वेषामेकैकशोऽविशेषेण वा सर्वभावापत्तिस्तु न सङ्गच्छते, सर्वशक्तित्वेऽपि [1]कार्यकारणतोच्छेदप्रसङ्गात् । अत एव सर्वशक्तित्वमित्यस्यानेकशक्तित्वमित्यर्थो बोध्यः ॥ ११० ॥

भेद (भिन्न होकर रहना) और संसर्ग (एकत्र होना, संगठित होना) का व्यवहार प्रदर्शित करने वाले अणु (या परमाणु[2]) अनेक प्रकार की शक्तियों से समन्वित होने के कारण छाया, आतप, तम और शब्द के रूप में परिणत होते हैं ।

वैशेषिकों ने चार प्रकार के अणु माने हैं—पार्थिव, तैजस, आप्य और वायव्य परन्तु साङ्ख्यवादियों ने पाँच तन्मात्राओं के रूप में पाँच प्रकार के अणु स्वीकार किये हैं । जैन इन्हीं अणुओं को पुद्गल नाम से अभिहित करते हैं । आधुनिक वैज्ञानिक भी 'मॉल्यूकल' और 'एटम' नाम से अणुओं की गहन व्याख्या करने में संलग्न हैं । इन सबमें अणु सम्बन्धी दो बातें समान रूप से पायी जाती हैं । एक तो यह कि अणु सभी द्रव्यों का मूल-घटक है और दूसरी यह कि इनमें अनेक प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं ।

इनकी भेद-संसर्ग-वृत्तिता प्राचीन दार्शनिक दृष्टि से यह है कि—सृष्टि के आरम्भ में ये अणु भेदवृत्ति से छिन्न-भिन्न होकर रहते हैं, उस समय ये अदृश्य और असंवेद्य होते हैं, इसलिए उस समय पृथिवी आदि द्रव्यों की कोई दृश्य या संवेद्य

---

१. अद्यत्वे हि 'कार्बन'—यौगिकानां बृहती शृङ्खला ज्ञाता वर्तते यथैकस्यैव परमाणोरनेकशक्तित्वं प्रसिद्ध्यति; परं तत्रापि कार्यकारणतोच्छेदो नास्ति ।

२. प्राचीन शास्त्रों में अणु और परमाणु शब्दों का प्रयोग एक ही वस्तुविशेष के लिए अविशेषेण किया गया है । इसी ग्रन्थ में "अणवः सर्व......" और "शब्दाख्याः परमाणवः" एक साथ एक ही प्रसङ्ग में आया है । परन्तु आधुनिक विज्ञान में इन दो शब्दों का प्रयोग क्रमशः Moluculs और Atoms इन दो अलग-अलग अर्थों में होता है ।

सत्ता नहीं होती। इस स्थिति में ये अनश्वर, अतः नित्य होते हैं। साधारणतया किसी वस्तु, घट आदि के नष्ट होने पर घट आदि के अवयव छिन्न-भिन्न होकर मिट्टी-धूल और गवाक्षजाल से आती हुई प्रकाश-रेखा में दिखाई पड़ने वाले कणों के साठवें भाग के रूप में बिखरे हुए अणु अपनी भेदवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इसके विपरीत संसृष्ट होकर यही अणु पृथिवी आदि महाभूतों को स्वरूप प्रदान कर अपनी संसर्गवृत्ति प्रदर्शित करते हैं।

आधुनिक युग में अणुओं और परमाणुओं की संरचना और प्रकृति पर जो अनुसन्धान और प्रयोग हुए और उनके परिणाम सामने आये, उनसे अणुओं की भेदसंसर्गवृत्तिता एक अन्य प्रकार से भी देखने में आयी है। इस नई भेदसंसर्ग-वृत्तिता से अणुओं का सर्वशक्तित्व या नानाशक्तित्व और भी अधिक तर्क-सङ्गत रूप में उजागर होता है। अनुसन्धानों और प्रयोगों में पाया गया कि द्रव्य के अणु (Moluculs) द्रव्य-संहति के अन्दर परस्पर आकर्षण से बंधे होते हैं, परन्तु इनके बीच कुछ स्थान खाली भी होता है। अर्थात् की अणुओं एक-दूसरे के निकट आने की प्रवृत्ति भी है और दूर रहने की प्रवृत्ति भी। इन दो विरुद्ध प्रवृत्तियों के कारण ही द्रव्य के आयतन और घनत्व नियन्त्रित होते हैं। अणुओं का स्वभाव और व्यवहार संसृष्ट होते हुए भी भिन्न रहना या भिन्न होते हुए भी संसृष्ट रहना है। यही इनकी 'भेदसंसर्गवृत्तिता' है।

परमाणुओं (Atoms) के सम्बन्ध में तो यह 'भेदसंसर्गवृत्तिता' और भी रोचक है। परमाणु ब्रह्माण्ड का सूक्ष्मतम अंश होते हुए भी तीन भागों में विभक्त होता है— न्यूट्रॉन (Nutron) प्रोट्रॉन (Proton) और इलेक्ट्रॉन (Electron)। प्रोटॉन और न्यूट्रॉन मिलकर परमाणु के नाभिक (Nucleus) की रचना करते हैं तथा इलेक्ट्रॉन उसके बाह्य खोल (नेमि या परिधि) का निर्माण करते हैं। इनमें प्रोटॉन तथा इलेक्ट्रॉन परस्पर आपर्षण से दृढ़ता के साथ आबद्ध होते हुए भी परस्पर-विलग्न होते हैं, इनके बीच इनके अपने आकार से लाखों-गुणा स्थान खाली होता है। एक परमाणु-नाभिक अपने ही तत्त्व के दूसरे नाभिक से संसृष्ट होते हुए भी भिन्न रहता है, यदि नाभिक को दूसरे नाभिक या नाभिकों से मिलने के लिए बाध्य किया जाय तो भारी मात्रा में ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसे नाभिकीय संलयन (Nuclear Fusion) कहते हैं, इसके विपरीत यदि किसी नाभिक के प्रोटॉन और न्यूट्रॉव के संघटन को छिन्न-भिन्न होने के लिए बाध्य किया जाय तब भी ऊर्जा उत्पन्न होती है। इसे नाभिकीय विखण्डन (Nuclear Fission) कहते हैं। संलयन और विखण्डन से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा को ही परमाणु-शक्ति (Nuclear Power) कहते हैं। इस प्रकार भिन्न होकर संसृष्ट रहना या संसृष्ट

होकर भिन्न रहना परमाणुओं का भीतर तक समाया हुआ स्वभाव है, जो उनकी "भेद-संसर्ग-वृत्तिता" को दर्शाता है।

"अणु (या परमाणु) सर्वशक्तिमान् है" इसका अभिप्राय इतना ही लेना उचित होगा कि वह अपने द्रव्य की संरचना करने की शक्ति के अतिरिक्त अनेक अन्य शक्तियाँ भी रखता है, जो एक दूसरी से भिन्न और विरुद्ध प्रकार की भी हो सकती हैं। अतः अणुओं की शब्दत्वापत्ति कोई स्वीकार न करने योग्य बात नहीं।

सांख्य-दर्शन के अनुसार शब्दतन्मात्राएँ शब्द के रूप में परिणत होती हैं, अतः स्पष्ट ही है कि छाया या आतप शब्दतन्मात्राओं का परिणाम नहीं है। वैशेषिक-दर्शन में न तो आकाश के (जिसका गुण शब्द है) परमाणु होते हैं और न शब्द द्रव्य होता हैं। अतः यह मानना उचित होगा कि—छाया पार्थिव परमाणुओं की, आतप तैजस परमाणुओं की, तमस् आप्य परमाणुओं की और शब्द वायवीय परमाणुओं की परिणति है। यह कारिका वैशेषिक दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करती है ॥ ११० ॥

अणूनां शब्दत्वापत्तिप्रकारः —

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्या परमाणवः ॥ १११ ॥

अथ शब्दाख्याः शब्दाभिधेयाः, परमाणवः अणवः, स्वशक्तौ स्वसामर्थ्ये, व्यज्यमानायां शब्दभावेन व्यक्तीभवनाय प्रवर्त्तमानायां, प्रयत्नेन तदनुकूलव्यापरेण, समीरिताः प्रेरिताः, अभ्राणि इव मेघाः इव, प्रचीयन्ते प्रचयं गच्छन्ति, वर्धन्ते, श्रवणयोग्यस्थूलतां लभन्ते।

शब्दाख्या इति। वैशेषिकनये हि चतुर्विधाः परमाणवो यथापूर्वमुक्ताः। तत्र नैव केचिच्छब्दाख्याः परमाणवः, न च तत्र नये शब्दो द्रव्यम्। साङ्ख्ये तु पञ्चानां पृथिव्यादिमहाभूतानां प्रकृतयस्तन्मात्राभिधेयाः पञ्चविधाः परमाणवः। तत्रान्तिमः शब्दपरमाणुराकाशस्य प्रकृतिः। एवं ह्यत्र नये "तन्मात्राः" पृथिव्यादिमहाभूतस्य तत्सम्बन्धिविषयस्य च कारणभूताः। तथाहि—गन्धतन्मात्रा पृथिव्याः घ्राणेन्द्रियविषयभूतस्य गन्धस्य च कारणम्, रूपतन्मात्रा तेजसश्चक्षुर्ग्राह्यस्य रूपस्य च, रसतन्मात्रा जलस्य रसनेन्द्रियग्राह्यस्य रसस्य च, स्पर्शतन्मात्रा वायोः त्वगिन्द्रियग्राह्यस्य स्पर्शस्य

च, एवं शब्दतन्मात्रा नभसः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यस्य शब्दस्य च कारण-मिति। एवं हि--गन्धाख्याः, रूपाख्याः, रसख्याः, स्पर्शाख्याः, शब्दाख्याश्च परमाणवः प्रसिध्यन्ति। तत्र पञ्चविधपरमाणुषु ये शब्दाख्याः परमाणवस्ते श्रवणीयशब्दत्वेनापद्यन्ते। जैनाश्चापि शब्दं पौद्गलिकं मन्यमानाः शब्द-पुद्गलान् (शब्दपरमाणून्) स्वीकुर्वन्ति।

स्वशक्ताविति। परमाणूनां हि स्व-स्वद्रव्यादिघटने नित्याप्रतिहता शक्तिः। सा तु व्यक्ताव्यक्ता च। अव्यक्तायां स्वशक्तौ परमाणुरक्रियोऽ-रूपश्च वर्तमानस्तिष्ठति परं व्यज्यमानायां तु तस्यां तत्तत्परमाणवो व्यञ्जनानुकूलव्यापारमारभन्ते। तेन व्यापारेण समीरिताः सक्रियतां प्राप्तास्ते प्रचयं गच्छन्ति।

प्रयत्नेनेति। प्रयत्नो नामात्र परमाणुनिष्ठोऽस्मदादिनिष्ठो वेति सम्प्रश्नः। तत्रायं विवेकः--पृथिव्यादिमहाभूतसङ्घटने वज्रनिर्घोषादौ च नैवास्मदादिनिष्ठः प्रयत्नः सम्भवति। अतः परमाणुनिष्ठ एव कश्चित्प्रयत्नः स्व-शक्तिव्यञ्जने भवतीति मन्तव्यं भवति। परं शब्दोच्चारणप्रक्रियायां वक्तृपुरुषनिष्ठप्रयत्नं विना शब्दाभिव्यञ्जनं न भवतीत्यस्मदादिनिष्ठ-प्रयत्नोऽपि शब्दपरमाणुसमीरणे योगं ददातीति।

प्रचीयन्त इति। प्रचयो वृद्धिः, घनीभावश्च। द्व्यणुकादिक्रमेण घनी-भूताः परमाणव इन्द्रियातीतां सूक्ष्मतां विहाय श्रवणीयतां लभन्ते शब्दाख्याः। तत्र दृष्टान्तः--अभ्राणि। जलीयबाष्पाणि नभसि विकी-र्णान्यव्यक्तानि वायुना समीरितानि घनीभूतानि व्यक्ततां प्राप्तानि घनत्वं लभन्ते। एवमुक्तप्रकारेण शब्दाख्याः परमाणवः शब्दत्वमापद्यन्ते शोभनेयमुपमा।। १११।।

शब्द-परमाणु अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था में वक्ता के प्रयत्न से प्रेरित होकर अपनी सूक्ष्मता और विरलता को छोड़कर स्थूलता और घनत्व को प्राप्त कर लेते हैं; जैसे जलीय बाष्पकण वायु की प्रेरणा से एकत्र होकर 'घनत्व' को प्राप्त करते हैं।

वैशेषिकों ने आकाशीय परमाणुओं का उल्लेख नहीं किया है, और शब्द को द्रव्य भी नहीं माना है। सांख्यशास्त्र में पाँच महाभूतों की पाँच तन्मात्राएँ मानी गई हैं, जो पाँचों महाभूतों की प्रकृति हैं, ये तन्मात्राएँ ही तत्तद्द्रव्यों और तत्तद्गुणों की मूलघटक कही जा सकती हैं। इस प्रकार सांख्य-शास्त्रानुसार रूप-परमाणु,

रस-परमाणु, गन्ध-परमाणु, स्पर्श-परमाणु और शब्द-परमाणु सिद्ध होते हैं। ये परमाणु ही अपने-अपने द्रव्य और गुण की संरचना करते हैं। शब्द-परमाणु आकाश और शब्द की संरचना करता है।

सभी परमाणुओं की अपने-अपने द्रव्य-गुण की संरचना करने की शक्ति होती है, किन्तु वह शक्ति कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रहती है। अव्यक्त अवस्था में परमाणु-शक्ति हमारे लिए संवेद्य नहीं होती, परन्तु व्यक्त अवस्था में हमें उसका संवेदन होता है। शब्द-परमाणु जब अपनी अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आना चाहते हैं, अथवा अपनी संरचना-शक्ति को व्यक्त करना चाहते हैं तो उनमें एक स्वनिष्ठ-प्रयत्न, एक घनीभाव की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उस प्रयत्न या प्रक्रिया से घनीभूत होकर वे स्थूल और व्यक्त हो जाते हैं अथवा श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य स्थूलता को प्राप्त कर लेते हैं।

परमाणुओं को व्यक्त होने के लिए कौन सक्रिय या प्रयत्नशील करता है? इस प्रश्न का उत्तर व्यापक रूप में तो यही है कि यह उनकी स्वयं-सिद्ध शक्ति से ही होता है। ईश्वरेच्छा भी इसका कारण मानी जा सकती है। पार्थिव परमाणुओं को पृथिवी के रूप में व्यक्त होने के लिए कौन सक्रिय करता है? जो हो, परन्तु उच्चारण-प्रक्रिया में वक्तृ-पुरुष का प्रयत्न भी शब्द-परमाणुओं को सक्रिय करता है।

"मेघ के समान शब्द-परमाणु प्रचित होते हैं" यह उपमा बड़ी सुन्दर और सटीक हैं। जलीयबाष्प आकाश में अव्यक्त और असंवेद्य अवस्था में रहते हैं। वे जब घन (मेघ) के रूप में व्यक्त होना चाहते हैं, जलधारा के रूप में प्रकट होना चाहते हैं, तो स्वगत या वायुकृत प्रयत्न से घनीभूत (बादल या एकत्र) हो जाते हैं। शब्द-परमाणु की स्थिति ठीक ऐसी है। शब्द का घनीभाव उसका श्रवण-योग्य होना है॥ १११॥

ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिः—

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ ११२॥

अथ सूक्ष्मे अस्थूले, वागात्मनि वाक्स्वरूपे, स्थितः अयं सन्निहितः, स्वशरीरे एव वर्तमानः, आन्तरः अबाह्यः, ज्ञाता ज्ञानाश्रयः, स्वरूपस्य स्वाकारस्य, व्यक्तये प्रकटनाय, शब्दत्वेन शब्दभावेन, विवर्तते निवृत्तो भवति। अथेति परमं पक्षान्तरं द्योतयति।

ज्ञातेति। ज्ञाता नाम ज्ञानाश्रयः, ज्ञानं चेन्द्रियसन्निकर्षजन्यो बोधः। बाह्यकरणसन्निकर्षोपनीतोऽर्थोऽन्तःकरणमाश्रयते। अन्तःकरणं च-मनोबुद्धिरहङ्कार इति। तत्र बुद्धिरेव बोधाश्रया, उभयतो मनोऽहङ्काराभ्यां गुम्फिता सा सूक्ष्मे वागात्मनि तिष्ठति। वाग्रूप एव तस्याः सत्त्वमित्यर्थः, अन्यस्मिन्नर्थादिरूपेऽसम्भवात्। इयं च स्थितिर्बौद्धं स्फोटं निरूपयति। ज्ञाता स्फोट इति निष्कृष्टोऽर्थः। केचित्तु—"मनसस्तु वृत्त्याख्यः परिणामो ज्ञानम्, तदाश्रयत्वान्मनो ज्ञातृपदेनोच्यत इति सिद्धान्तः" इति वदन्ति, तन्नात्र सङ्गच्छते, मनसो ज्ञातृत्वस्वीकारेऽग्रेतनकारिकायां "स मनोभावमापद्य" इति मनसः पुनर्मनोभावतापादनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्, 'ज्ञाता' इति पुँल्लिङ्गपदस्य मनसानन्वितत्वाच्च। अन्यथा "अथेदमान्तरं ज्ञातृ" इत्येव ब्रूयात्। अन्ये तु--ज्ञाता जीव इत्यपि वदन्ति।

इदमत्रानुसन्धातव्यम्--"जानामि" इत्यत्र निर्विकल्पके ज्ञाने ज्ञानस्याहङ्कारसहकृतं ज्ञानकर्तृकं स्वरूपं ज्ञातृत्वेन भासते, "देवदत्तं घटं पटं वा जानामि" इत्यादौ तु विषयपरिच्छेदात्मकं मनःसहकृतं स्वरूपं ज्ञेयत्वेन भासते। एवं च ज्ञान एव ज्ञातृत्वं ज्ञेयत्वं च तिष्ठति। तदुक्तं—"आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।" (वा० प० १।५०)। शब्दत्वापत्तिप्रक्रियायां तु बाह्यं यज्ज्ञेयम्, तज्ज्ञानात्मरूपाश्रये सूक्ष्मे वागात्मन्येव सूक्ष्मवागात्मना तिष्ठति। एवं च ज्ञानस्यात्मस्वरूपं सूक्ष्मवागात्मकमेवान्तरो ज्ञाता। अत एव--"वायोरणूनां ज्ञानस्य" (वा० प० १।१०७) इत्यत्र ज्ञानपदोपादानं सङ्गच्छते। अत एव च "ज्योतिर्वद् ज्ञानानि भवन्ति" इति "आख्यातोपयोगे" इति सूत्रस्थ-भाष्यकारवचनं "ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य" इति तत्रत्यकैयटग्रन्थश्च सङ्गच्छते। स चायमान्तरो ज्ञाता बौद्धः स्फोट एव, बाह्यस्य ज्ञेयस्यार्थस्य ज्ञातृत्वेन वागात्मत्वेन च तस्यैवान्तःस्थितत्वात्, स्थूल-श्रवणीय-शब्दत्वेनापद्यमानत्वाच्च। त्रिपार्श्वात्मको हि शब्दः, अर्थात्मकः, स्फोटात्मकः, ध्वन्यात्मकश्च। तत्रार्थात्मको ध्वन्यात्मकश्च बाह्यौ, स्फोटात्मकस्त्वान्तरः। इदमेवोक्तं प्रसङ्गान्तरे यथा—

> यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
> मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥ (वा०प०१।५२)

यथैव मूर्त्यन्तरस्य गवश्वादेर्मूर्तिर्बुद्धिविषयीभूताक्रियमाणा पटेऽवतरति तथैवार्थः करणसन्निकर्षेण बौद्धो भूत्वोच्चार्यमाणो ध्वनावतरति। आह चैवम्—

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम् ।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ॥ (वा० प० १।४६)

इति श्रुतिरूपशब्दानां बुद्धिस्थः शब्द एव कारणम्। आह चान्यत्र-- "संविज्ञानपदनिबन्धो हि सर्वोऽर्थः स्मृतिनिरूपणयाभिजल्पनिरूपणयाकारनिरूपणया च निरूप्यमाणो व्यवहारमवतरति। इति (वा० प० १।११९ वृत्तौ)।" स च स्फोटः, स एव च ज्ञाता । एतदेव चाग्रे वक्ष्यति--"अन्तःकरणतत्त्वस्येत्यादि (वा० प० १।११४) । विभजन् स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैरित्यादि च (वा० प० १।११५) ।" हरिवृषभवृत्तावपि - "प्रत्यक्चैतन्येऽन्तःसन्निवेशितस्य परसम्बोधनार्था व्यक्तिरभिष्यन्दते" इति, "सूक्ष्मार्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्" इति च (वा० प० वृत्तिः १।१) । अत्र वृत्तौ--परसम्बोधनार्था व्यक्तिरन्तःसन्निवेशितस्य बाह्यस्य कस्याप्युक्ता, स च बाह्यार्थ एव । अर्थ एव करणैरन्तःसन्निवेश्यते प्रत्यक्चैतन्ये, तस्यैव च परसम्बोधनार्था व्यक्तिर्भवति श्रुतिरूपेण । अभिष्यन्दमाना वाक्च सूक्ष्मार्थेनाप्रविभक्ततत्त्वोक्ता । अर्थेनाप्रविभक्ततत्त्वमेव वाचः सूक्ष्मस्वरूपमिति तदर्थः, अतः सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितो ज्ञाता ज्ञेयेनार्थेनाप्रविभक्ततत्त्वो ज्ञानात्मको वागात्मापि ज्ञेयार्थस्य स्फोटकः स्वस्यार्थस्वरूपस्य शब्दस्वरूपस्य च व्यक्तये ध्वनिरूपेण विवर्तत इति ।

'लब्धक्रियः प्रयत्नेन'···, 'अणवः सर्वशक्तित्वाद्'···, 'अथायमान्तरो ज्ञाताः'···इत्यादयः प्रक्रान्ताः कारिकाः "वायोरणूनां ज्ञानस्य"···(वा० प० १।१०७) इत्यस्याः कारिकायाः प्रपञ्चभूताः । तत्र ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिः प्रतिज्ञाता । अत एव--"अथेदमान्तरं ज्ञान"मिति पाठभेदोऽपि दृश्यते, यः खलु 'ज्ञाता' इत्यस्य सरलीकरणप्रवृत्त्या कृतः प्रतीयते । अस्माभिस्तु ज्ञाने एव ज्ञातृत्वं यथापूर्वं प्रतिपादितम् । भाष्यकारोऽपि "आख्यातोपयोगे" (महाभा० सू० १।४।२९) इति सूत्रभाष्ये उपाध्यायादपक्रान्तमध्ययनं 'ज्ञान' पदेनैव परामृशति । तद्यथा--अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्, कथमुपाध्यायादधीत इति। अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम्। यद्यपक्रामति, किं नात्यन्तायापक्रामति, सन्ततत्वात् । अथवा 'ज्योतिर्वद् ज्ञानानि भवन्ति' इति । अत्र वृक्षादपक्रान्तफलवदुपाध्यायादपक्रान्तस्याध्ययनस्यात्यन्तायापक्रमणं सम्भाव्य "सन्ततत्वा"दित्यनत्यन्तायापक्रमणे हेतुरुक्तः। तत्रापि हेतावरुचिमुद्भाव्याह- "अथवे"त्यादि । तस्यार्थस्तु--यथा ज्योतिः ज्वालारूपेण प्रतिक्षणं स्वाश्रयादपक्रम्यमाणमपि स्वाश्रयान्नोच्छिद्यते, तथैव ज्ञानान्यपि स्वाश्रयात् (ज्ञानाश्रयात्, बुद्धेः ज्ञातुर्वा) वर्ण-पद-वाक्यादिरूपेण यथायथमपक्रम्यमाणान्यपि

स्वाश्रयान्नोच्छिद्यन्ते । ("तथैवोपाध्यायज्ञानानि भिन्नानि, भिन्नशब्दरूपतामापद्यमानानि सन्ततान्युच्यन्ते ।" इति कैयटोक्तार्थस्तु न सङ्गतः, सन्ततत्वरूपहेतौ भाष्येऽरुचिप्रदर्शनपुरःसरं हेत्वन्तरोपस्थापनात् ।)

अपि च—ज्ञानं प्रयोक्तुः बाह्योऽर्थो स्वरूपं च प्रतीयते ।
शब्दैरुच्चारितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः ॥ १ ॥
(वा० प० ३।३।१)

अस्याः कारिकायाः "अथायमान्तरो जातः सूक्ष्मो वागात्मनि स्थितिः" इत्यपि पाठभेदः । तत्र कोऽयमान्तरः सूक्ष्मश्च जातः ? जात इत्यस्य कोऽर्थः ? जात इत्यस्य भूतार्थः, दृष्टानुभूतार्थं एवार्थः सम्भवति, स च बाह्यकरणैरन्तःकरणमुपनीत आन्तरः सूक्ष्मो वागात्मनि स्थितश्च भवतीत्यस्मिन्पाठभेदेऽपि शब्दस्य त्रिपार्श्वात्मिका स्थितिः समुज्जृम्भते श्रुतिरूपिण्यां शब्दत्वापत्तौ । अतो ज्ञेयार्थस्य यदान्तरं सूक्ष्मं बौद्धं च शब्दस्वरूपं तदेव ज्ञातृत्वेन शब्दात्मतया च "ज्ञाता" वागात्मा वा वक्तुं शक्यते । अयमेवार्थः—

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ (वा० प० १।४४)

इत्यादिनापि गम्यते । तत्र "उपादीयते स्वरूपेऽध्यारोप्यते येनार्थः; स उपादानशब्दः । स चोपादानशब्दो द्वयात्मकः । तत्र एकः श्रुतिरूपाणां शब्दानां निमित्तम्, यथाह हरिवृषभः—"यदधिष्ठाना यदाधारा यदुपाश्रया श्रुतयः प्रत्याय्यमर्थं प्रतिपद्यन्ते, तस्य निमित्तत्वम्" एवं हि—सूक्ष्मशब्दात्मके स्वस्य रूपेऽर्थजातमुपादाय कश्चित् वागात्मा अर्थप्रत्यायकानां श्रुतीनां निमित्तत्वमादधाति ।

अस्यां कारिकायां "ज्ञाता" इत्यस्य प्रयोग एव सूचयति यत्—ज्ञेयस्यार्थस्य ग्रहीता हि कश्चिदस्ति, यः सूक्ष्मे वागात्मन्याश्रयेऽन्तःस्थितो वर्तते । अर्थस्य ग्रहीतृतया सः बुद्धिरिति, वागात्मतया तु शब्द इति, निष्कर्षतया तु बौद्धः शब्दः, बौद्धः स्फोटः, इत्यर्थः । श्रुतिरूपा ध्वनयस्तु तस्य व्यायामात्, विशिष्टादायामात्, विस्ताराज्जायन्ते इति "स्फोटः शब्दः, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते" इति भाष्योक्तमप्यनेन पथा सुसङ्गच्छते ।

सूक्ष्मे वागात्मनीति । पश्यन्त्यां मध्यमायां वेत्यर्थः । मध्यमायामेवेति वक्तव्यम, पश्यन्त्यां क्रमभेदोपसंहारात् ज्ञातृत्व-ज्ञेयत्वादिविभागस्याविवेच्यत्वादिति ।

व्यक्तय इति । अन्तःसन्निवेशितस्य वागात्मनोऽव्यक्तमतीन्द्रियं स्वरूपं परसम्बोधनेऽव्यवहार्यम् । परसम्बोधनार्था ह्यक्षरव्यक्तिः । ज्ञातृरूपेणान्तः-

सन्निवेशितो वागात्मा स्व-ज्ञातृरूपस्य प्रकटनाय प्रत्यायकत्वेन वैखरी-शब्दरूपेण परसम्बोधनार्थं व्यवहारेऽवतरति। तुलनीयं खल्वेतत्--"लब्ध-क्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना"। (वा० प० १।१०८) "स्वशक्तौ व्यज्यमानायाम्," (वा० प० १।१११) "व्यक्तये स्वस्य रूपस्य" (वा० प० १।११२) इति च। वक्तुरिच्छा, अणुशक्तिव्यञ्जनम्, ज्ञातृस्वरूपव्यक्ति-रिति त्रितयमपि श्रवणीयशब्दाविर्भावे हेतुतां भजतीति।

विवर्तत इति। श्रवणीयशब्दो वागात्मनो विवर्त इति वैयाकरणसिद्धान्तः अत्रापि तुलनीयं खल्वेतत्--"वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते।" (वा० प० १।१०८) अणवः शब्दभावेन परिणामिनः (वा० प० १।११०) ज्ञाता शब्दत्वेन विवर्तते, (वा० प० १। ११२) इति च॥ ११२॥

सचेतन प्राणी का, विशेषतया मनुष्य का आन्तरिक ज्ञान, शब्द के रूप में विवर्तित होता है। यह आन्तर ज्ञाता शब्दमय ही होता है। अत्यन्त सूक्ष्मशब्दमयी यह ज्ञानात्मिका स्थिति अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए परसम्बोध्य स्थूल रूप में, श्रवणीय शब्द के रूप में विवर्तित होती है।

'ज्ञान शब्द के रूप में विवर्तित होता है', यह वैयाकरणों का परम-सिद्धान्त है। ज्ञान क्या है? ज्ञाता कौन है? ये प्रश्न विचारणीय हैं। क्योंकि इस कारिका में शब्द (बाह्य श्रवणीय शब्द) के रूप में विवर्तित होने वाले तत्त्व को 'आन्तर ज्ञाता' कहा गया हैं, जब कि इससे पूर्व "वायोरणूनां ज्ञानस्य" (वा० प० १।१०७) इस कारिका में इसी तत्त्व को 'ज्ञान' बताया गया है। 'ज्ञान' शब्द का सीधा अर्थ वह अनुभव है, जो इन्द्रियों के द्वारा हमें अर्थात् हमारे अन्तःकरण को प्राप्त होता है। 'ज्ञाता' इस अनुभव या ज्ञान को प्राप्त करने वाले या धारण करने वाले को कहते हैं। इसीलिए अनुभव प्राप्त करने वाले अनुभवी व्यक्ति को 'ज्ञाता' कहा जाता है। क्योंकि देह में चैतन्याभिमान एक सामान्य व्यावहारिक बात है, इसलिए देह-व्यक्ति को ही ज्ञाता (या सुखी-दुःखी) मान लिया जाता है। परन्तु यहाँ इस बाह्य ज्ञाता की बात नहीं, आन्तर ज्ञाता की है।

आन्तर ज्ञाता हमारा अन्तःकरण है। इसके तीन विभाग हैं--मन, बुद्धि और अहंकार। अन्तःकरण इनका संगठनात्मक स्वरूप है। अहङ्कार अन्तःकरण को 'मैं' (अहम्) की भावना प्रदान करता है, जबकि 'मन' 'यह' या 'वह', 'ऐसा' या 'वैसा' का विश्लेषण करता है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्रेषित विषय, सम्बन्धी संवेदनों का विश्लेषण करता है, जिससे बुद्धि को निर्णयात्मक स्थिति तक पहुँचने में सहायता मिलती है। अहङ्कार से मिली 'मैं'--भावना से बुद्धि में विषय का

निश्चित स्वरूप स्थिर होता है। "मैं राम को जानता हूँ।" इस जानकारी के तीन पहलू हैं—मैं, राम और जानना। 'मैं' अहन्तत्त्व है, 'राम' मनस्तत्त्व है और 'जानना' बुद्धितत्त्व। 'जानना' अर्थात् 'ज्ञान' बुद्धि में होता है, इसलिए बुद्धि ज्ञानाधिकरण या ज्ञानाश्रय कहलाती है। और क्योंकि ज्ञान धारण करने वाला 'ज्ञाता' या ज्ञानाश्रय होता है, इसलिए इस कारिका में ज्ञाता का अर्थ है बुद्धि।

अब 'बुद्धि' क्या है ? इस पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि–बुद्धि शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि घट-पट, गो-हस्ती, वन-पर्वत आदि पदार्थों के रूप में उसका होना सर्वथा असम्भव है। उसका जो भी, जैसा भी स्वरूप है, वह शब्दमय ही है। भले ही वह शब्दमय स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, परन्तु सूक्ष्म वागात्मा के रूप में ही बुद्धि का अस्तित्व है। बुद्धि ही 'ज्ञाता' है और वह सूक्ष्म वागात्म होकर रहती है।

'ज्ञान क्या है ?' इस पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि– ज्ञान ज्ञेय पदार्थों (विषयों) का 'बौद्ध-स्वरूप' है। बाह्य ज्ञेय-पदार्थों का जो भी, जितना भी संवेदन अन्तःकरण को प्राप्त होता है, वही मन और अहङ्कार की वृत्तियों से समन्वित होकर बौद्ध-स्वरूप को धारण कर लेता है। इस स्थिति को प्रायः "यह विषय मुझे ज्ञात है।" इस प्रकार व्यक्त किया जाता है। ज्ञान के एक छोर पर 'ज्ञेयत्व' और दूसरे छोर पर 'ज्ञातृत्व' की स्थिति होती है। या यों कहें कि ज्ञान में ही ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व, दोनों ही, समाये हुए हैं। "मैं जानता हूँ।" जब इस प्रकार का ज्ञानोन्मेष होता है तो 'ज्ञातृत्व' की प्रधानता होती है और जब "मैं राम को जानता हूँ," ऐसा ज्ञानोन्मेष होता है तो 'ज्ञेयत्व' की प्रधानता होती है। जब ज्ञेयत्व अप्रधान रहता है तो ज्ञान 'निर्विकल्प' कहलाता है, परन्तु जब "राम या श्याम, घट या पट", इस प्रकार विषयपरिच्छद (ज्ञेय पदार्थ का विश्लेषण) मन की वृत्ति के द्वारा होता है तो ज्ञान 'सङ्कल्पात्मक' होता है। 'विषयपरिच्छेद' की उपेक्षा की स्थिति में ज्ञान में केवल ज्ञातृत्व का ही उन्मेष रहता है। ज्ञान की इस स्थिति को 'ज्ञाता' कहा जा सकता है। यदि ज्ञातृत्व की भी उपेक्षा कर दी जाय तो ज्ञान अत्यन्त 'विशुद्ध' रूप में रहेगा (यह स्थिति अत्यन्त दुर्लभ, लगभग असम्भव, तथा दर्शनान्तर में निर्विकल्प-समाधि, त्रिकुटी-भङ्ग, अनाहत-नाद जैसी परिकल्पनाओं की है।) व्याकरण-दर्शन में ज्ञान का यह विशुद्ध स्वरूप ही शब्दतत्त्व है।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों एक ही तथ्य के तीन पहलू हैं। इसीलिए "वायोरणूनां ज्ञानस्य" (वा० प० १।१०७) तथा "अथायमान्तरो ज्ञाता" (वा० प०

१।११२) में एक ही बात के लिए ज्ञान और ज्ञाता का प्रयोग लगभग पर्याय के रूप में किया गया है। इस सन्दर्भ में ज्ञाता की अपेक्षा ज्ञान शब्द का प्रयोग अधिक बार और अधिक स्पष्टता के साथ व्याकरणागम में हुआ है और वैयाकरणों में अधिक प्रचलित भी है। "ज्योतिर्वद् ज्ञानानि भवन्ति" (आख्यातोपयोगे सूत्रभाष्य) में ज्ञान शब्द का प्रयोग भाष्यकार ने किया तो 'ज्ञानस्य शब्दरूपापत्तिरिति दर्शनमत्र भाष्यकारस्य", यह कहकर कैयट ने उसकी व्याख्या प्रस्तुत की। स्वयं वाक्यपदीयकार ने "वायोरणूनां ज्ञानस्य" के अतिरिक्त "आत्मरूपं यथा ज्ञाने" (वा० प० १।५०) तथा "ज्ञानं प्रयोक्तुः बाह्यार्थः स्वरूपं च प्रतीयते", (वा० प० ३।३।१) में ज्ञान शब्द का ही प्रयोग किया है। अतः मन की किसी विशिष्ट स्थिति को जिन लोगों ने ज्ञाता माना है या जिन्होंने ज्ञाता का अर्थ 'जीव' समझा है, वे इस सन्दर्भ को भली प्रकार नहीं समझ पाये, यही कहना उचित होगा।

यहाँ उसी को 'ज्ञाता' मानने की बाध्यता स्पष्ट है, जिसमें ज्ञानाश्रयता होने के साथ-साथ ये तीन बातें भी हों —१. वह आन्तर हो, २. वह वागात्मा हो ३. वह श्रवणीय शब्द के रूप में व्यक्त हो सके। ये सभी बातें बुद्धि की उस वाङ्मयी स्थिति को ही परिभाषित करती हैं, जिसे 'बुद्धिस्थशब्द' या 'स्फोट' कहते हैं। स्फोट ही ज्ञाता है, निष्कर्षतः यही सिद्ध होता है।

शब्द के तीन आयाम होते हैं—ध्वनि, अर्थ और स्फोट। इनमें ध्वनि और अर्थ बाह्य अर्थात् इन्द्रिय (बाह्य करण) संवेद्य होते हैं और स्फोट आन्तर अर्थात् अन्तःकरणसंवेद्य होता है। अन्तःकरणसंवेद्य का अर्थ केवल इतना ही है कि वह अन्तःकरण से सम्बद्ध होता है। वास्तविकता यह है कि अन्तःकरण पूर्णतया वाङ्मय होता है। वहाँ ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञाता अर्थात् विषय, बोध और अहं (कर्तृत्व) केवल वाणी के रूप में ही होते हैं। इस बात का अनुभव कोई भी कुछ देर मौन होकर बड़ी सरलता से कर सकता है। वन-पर्वत, सूची-कृपाण, जल-ज्वाला आदि बाह्य पदार्थों का स्वरूपतः अन्तःकरण में समाना असम्भव तो है ही, खतरनाक भी है। "मैं" (अहम्) का कर्तृत्व भी ऊपर-नीचे, आगे-पीछे करने जैसी वास्तविक क्रियाओं को अन्तःकरण में नहीं सम्पन्न कर सकता। अतः ज्ञेयत्व और ज्ञातृत्व दोनों ही वाङ्मय होकर ही अन्तःकरण में सत्तावत् हो सकते हैं। बोध या ज्ञान तो वाङ्मय होता ही है, सूई की चुभन-जैसे संवेदन भी "हाय ! काँटा चुभा !" जैसे कहे या अनकहे शब्दों के रूप में ही होते हैं। अन्तःकरण का तत्त्व समग्रतया वाङ्मय है। इसीलिए अगली कारिका "अन्तःकरणतत्त्वस्य

वायुराश्रयतां गतः ।" (वा० प० १।११४) में इसी 'ज्ञाता' या 'ज्ञान' को 'अन्तः-करणतत्त्व' नाम से उद्धृत किया गया है। मनुष्य अपने दृष्टानुभूत विषयों के सम्बन्ध में और अपने कर्तृत्व (अहम्) के सम्बन्ध में अन्तःकरण के धरातल पर जो कुछ भी करता है (सोचता है) वह सब वाङ्मय होता है। "मैंने राम को देखा" की घटना जब अन्तःकरण से जुड़ती है तो 'मैं' भी शब्दमय होता है, राम भी, और देखने की क्रिया भी शब्दमयी होती है। इस आन्तर और वाङ्मयी घटना को घटित होने देने के लिए न मुँह चलाने की आवश्यकता है, न आँखें खोलने की, न ही कान खुले रखने की। और यही वह अध्वनिका सूक्ष्मवागात्ममयी स्थिति है, जिसे 'स्फोट' कहते हैं। यह स्थिति अध्वनिका ही नहीं, अश्रोती, अचाक्षुषी, अघ्राणी और अरवाची भी है।

इस 'स्फोटात्मा' में जब 'ज्ञात' को 'ज्ञाप्य' बनाने के उद्देश्य से कर्तृत्व (ज्ञातृत्व) का उन्मेष होता है तो वह विवर्तित होकर श्रवणीय शब्द का रूप धारण करता है। विवर्त की इस प्रक्रिया में उस आन्तर ज्ञाता को स्वरूपाभिव्यक्ति मिलती है। वह ज्ञापक बनकर ज्ञाप्य पदार्थों को स्वरूप (शब्दरूप) में अध्वारोपित करता हुआ ज्ञेय के रूप में पुनः 'अन्तःकरणतत्त्व' बन जाता है। (श्रोता और वक्ता दोनों के लिए।)

'स्फोटात्मा' का सम्बन्ध 'मध्यमा' वाणी से है। मध्यमा ही वह सूक्ष्मवागात्मा है, जिसमें ज्ञेयत्व-ज्ञातृत्व का पृथक्-पृथक् आभास रहता है, विषय-परिच्छेदकता बनी रहती है। ज्ञेयत्व-ज्ञातृत्व-भेद-शून्य अवस्था 'पश्यन्ती' की है।

'वैखरी'-स्वरूप श्रवणीय शब्द के तीन उपादान इस प्रकरण में बताये गये हैं--वायु, अणु और ज्ञान। ये तीनों क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं। ध्यान देने की बात है कि--वायु वक्ता की इच्छा के अनुसार होने वाले वक्ता के ही प्रयत्न से शब्द का रूप धारण कर पाता है। वायु स्वयं शब्द नहीं है, वक्ता उसे वैसा बना देता है। अणु स्वयं की शक्ति से शब्द बनता है, परन्तु स्वयं शब्द नहीं होता। ज्ञान स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए शब्द बनता है। अर्थात् शब्द (वैखरी) ज्ञान का अभिव्यक्त स्वरूप है, या ज्ञान स्वरूपतः ही शब्द है। अन्तर केवल अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त होने का है। कुछ ऐसे ही, जैसे कमरे में बैठा व्यक्ति दरवाजे पर खड़े मित्र से मिलने बाहर आ गया हो। स्वरूपतः एक होते हुए भी मित्र के लिए अदृश्य व्यक्ति दृश्य हो जाता है। शब्द भी तो अपने श्रोता के लिए श्रवणीय हो जाता है।

जहाँ तक शब्द के इन तीन उपादानों का सम्बन्ध है, अपने-अपने क्षेत्र में ये तीनों उचित और आवश्यक हैं। श्रवणेन्द्रिय और वागिन्द्रिय की आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए वायु की उपादेयता अनिवार्य है। भौतिक शक्तियों की व्यापकता को देखते हुए अणुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। 'ज्ञान ही शब्द है' यह तो ऊपर दिखाया ही जा चुका है। वास्तव में सूक्ष्मता से स्थूलता की ओर बढ़ते हुए इन तीनों का श्रवणीय शब्द की निष्पत्ति में क्रमिक योगदान है ॥ ११२ ॥

ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिप्रक्रिया—

स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥ ११३ ॥

स आन्तरो ज्ञाता, मनोभावम् आपद्य मनोमयत्वं प्राप्य, तेजसा शरीरस्थेन मानसिकेन वा तेजस्तत्त्वेन हेतुना, पाकं परिपाकं, आगतः प्राप्तः, प्राणं प्राणाख्यं वायुम्, आविशति प्रविशति। अथ अनन्तरं असौ वायुः उदीर्यते ऊर्ध्वं मुखदिशि गच्छति।

मनोभावमिति। सूक्ष्मे शब्दात्मनि स्थितो ज्ञानघनः स ज्ञाता सर्वज्ञेयोपसंहारेणाप्रविभक्तार्थतत्त्वो निर्विकल्पो ज्ञानरूपेण शब्दरूपेण वा व्यवहारं नावतरति, उभयथापि संहृतक्रमत्वात्। अतः परसम्बोधनार्थायै स्व-स्वरूपाभिव्यक्तये विषयपरिच्छेदात्मकं मनोमयत्वमापद्यते। ततः सविकल्पं परिच्छिद्यते—घटो पटं वेति, 'घः' वा 'पः' वेति च। संहृतक्रमः स ज्ञानघनः शब्दघनश्चोपजनितक्रमो भवतीत्यर्थः।

तेजसेति। तेजो नामात्र मानसी ऊर्जाः, इच्छाशक्तिरित्यर्थः। इच्छाशक्तिर्हि सर्वविधशारीरव्यापारस्य नियामिका वचनव्यापारे विवक्षापदेनोच्यते। यद्यपि प्राचीनाः—"तेजः कायाग्निः, जाठराग्निर्वेति" ब्रुवन्ति, तथापि वचनव्यापारे ज्वालारूपाया ऊष्मरूपाया वोर्जसो न कोऽपि योगः। जिह्वादिसञ्चालने शारीरिकी ऊर्जा उपयुज्यते, शारीरिकी ऊर्जाश्च कायाग्निरिति वक्तुं शक्यते, परं ध्वननव्यापारे काप्यतिरिक्ता ऊर्जा अप्युपयुज्यते। केवलं जिह्वासंञ्चालनेन न जनस्तावच्छ्राम्यति यावद्भाषणैरित्यत्रार्थे प्रमाणम्, अतः पाणिनिशिक्षोक्तं—"मनः कायाग्निमाहन्ति" इति कायाग्नेरत्रत्यतेजःपर्यायत्वेन ग्रहणं न पर्याप्तमिति। ज्ञानघनः शब्दतत्त्वात्मा ध्वनिपदार्थे कयाप्यूर्जसा विपरिणमति। सा चेच्छाशक्तिरेव। 'मनः कायाग्निमाहन्ति' इति वदतामप्यत्रार्थ एव तात्पर्यमिति बोध्यम्।

पाकमिति। पाको हि निष्पत्तिपरको दशाविशेषः। यथाग्निसंयोगेन विक्लितिफलकस्तण्डुलानां पाकः। अत्र तु—निर्विकल्पः स ज्ञानघनो, मनो-

मयः सविकल्पः, इच्छाशक्त्या तेजसा घट एव न पटम्, 'घः' एव न 'पः' इति ज्ञेयरूपे ध्वनिरूपे च विवक्षितार्थं प्रति निश्चयात्मकं पाकं प्राप्नोति । मनोमयस्य सविकल्पस्य सङ्कल्पात्मके परिपाक इत्यर्थः ।

वायुमाविशतीति । प्राणाख्ये वायावात्मशक्तिमावेशयतीत्यर्थः । तथाविष्टश्च स वायुर्ध्वनिरूपमाधातुमूर्ध्वमाक्रामति ।

इतः पूर्वमेषा सर्वापि शब्दत्वापत्तिप्रक्रियान्तरिकी, अभौतिकी च । भौतिकं ध्वनिस्वरूपमाप्तुं शब्दो वाय्यात्मकं भौतिकमाधारमाविशति । भूतात्मा वायुः स्वयं चिदात्मानमभिव्यङ्क्तुमसमर्थः, तेनाविष्टस्तु समर्थो भवतीत्यस्य पक्षस्य मूलाशयः । अन्यथा वायोः शब्दत्वापत्तिपक्ष एव साधीयान्, यतो हीतः परमयमपि पक्षो वायोः शब्दत्वापत्तिपक्षमेव संलपति ॥ ११३ ॥

वह आन्तर ज्ञाता मनोभाव को प्राप्त करके, आन्तरिक तेजस्तत्त्व के द्वारा परिपक्व अवस्था को प्राप्त कर प्राणवायु में प्रवेश करता है । इसके अनन्तर प्राण-वायु ऊपर की ओर उठने लगता है ।

आन्तर ज्ञाता अथवा स्फोट में सभी ज्ञेय पदार्थों से सम्बद्ध ज्ञान समाया रहता है । उस आन्तरिक अवस्था में ज्ञेय पदार्थों का न तो अवयव-क्रम होता है, न पूर्वापर-क्रम, न ही कालक्रम । वह 'सर्वतः संहृतक्रम' होती है । (ऐसा होना नितान्त आवश्यक है । यदि पूर्वापर-क्रम या कालक्रम से बुद्धि में ज्ञानानुभव रखे या सँजोये जाँय तो प्रत्येक मनुष्य की खोपड़ी पृथ्वी से भी कहीं बड़ी बनानी पड़े और पुराने अनुभवों को किसी को बताने में बीस-तीस वर्ष का समय भी कम पड़ने लगे ।) इसे 'ज्ञानघन' अवस्था कह सकते हैं । क्योंकि ज्ञान, ज्ञाता या ज्ञेय आन्तर अवस्था में शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं होते, अतः यही स्थिति 'शब्दघन' होती है । 'ज्ञानघन' और 'शब्दघन' एक ही स्थिति के, दो दृष्टियों से, दो नाम हैं । 'शब्द-घन' को इस तरह भी समझना चाहिए कि यहाँ शब्दों या वर्णों का कोई पूर्वापर-क्रम या ह्रस्व-दीर्घादि क्रम नहीं होता । 'शब्दघन' अवस्था भी 'सर्वतः संहृतक्रम' होती है । (शब्द के सक्रम होने पर वही कठिनाइयाँ हो सकती हैं, जो ज्ञान के सक्रम होने पर हो सकती हैं ।) और इतना तो स्पष्ट ही है कि शब्द या ज्ञान की 'सर्वतः संहृतक्रम' अवस्था लोकव्यवहारोपयोगी नहीं हो सकती । अतः ज्ञाता को अपने घनत्व का परिच्छेदन करना पड़ता है ।

विषय-परिच्छेद का दायित्व मन का है, इसलिए ज्ञाता को व्यवहारोपयोगी स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए मनोमय होना पड़ता है, मनोभाव को प्राप्त करना पड़ता

है। यहाँ पर उस 'ज्ञानघन' का या 'शब्दघन' का, हाथी-घोड़ा वन-पर्वत जैसे विभिन्न विषयों में परिच्छेदन होता है। अर्थात् निर्विकल्प ज्ञाता सविकल्प हो जाता है। यह सविकल्पकता भी स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं होती। इतने ढेर से अगण्यपरिच्छिन्न विषयों में कौन-सा अभिव्यज्य है, कौन-सा नहीं? अर्थात् कौन-सा विवक्षित है, कौन-सा नहीं? इसका निर्धारण होना अभी शेष होता हैं। या यों कहें कि सविकल्प ज्ञान का अभी सङ्कल्पात्मक होना शेष होता है। यह कार्य मन की एक विशिष्ट ऊर्जा, 'इच्छाशक्ति', जिसे वचन-व्यापार में विवक्षा कहते हैं, पूरा करती है। तेजःस्वरूपिणी इच्छाशक्ति (विवक्षा) के सहयोग से अभिव्यज्य विवक्षितार्थ का पूर्ण परिपाक होता है। इसी स्थिति में विवक्षितार्थ का वस्तुक्रम, घटनाक्रम और वर्णक्रम निर्धारित होता है।

इतनी आन्तरिक एवं अभौतिक प्रक्रिया पूरी करने के बाद अन्तःकरणतत्त्व ज्ञानघन शब्दात्मा प्राणवायु में समाविष्ट हो जाता है। प्राणवायु उसे एक ऐसा भौतिक आधार प्रदान करता है, जिससे वह उच्चरणीय और श्रवणीय हो जाता है। अन्तःकरण के उस आन्तर तत्त्व को बाह्य, कहने-सुनने योग्य बनाने के लिए प्राणवायु ऊपर मुखावयवों की ओर बढ़ने लगता है ॥ ११३ ॥

ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिप्रक्रिया—

अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्तते ॥ ११४ ॥

अन्तःकरणतत्त्वस्य, मनः बुद्धिः अहङ्कारः इति त्रयात्मकमन्तःकरणम्, तस्य तत्त्वं ज्ञानं, तस्य ज्ञानस्याश्रयतां गतः, आन्तरज्ञानस्य ज्ञातुर्वा वाहकत्वं प्राप्तः, वायुः प्राणः, तद्धर्मेण ज्ञानस्य ज्ञातुर्वा धर्मेण बोधकत्वरूपेण, आविष्टः संसृष्टः संयुक्तः, तेजसा शारीरेणैवोष्मणा, विवर्तते श्रवणीयशब्दरूपेण विवर्तते।

अन्तःकरणतत्त्वस्येति। मनोबुद्धिरहङ्कार इत्यन्तःकरणम्। तस्य तत्त्वं तु—ज्ञेयत्वं ज्ञातृत्वं सूक्ष्मशब्दात्मत्वं च। एतच्च सर्वं समुदितं ज्ञानपदेनोच्यते। अथवा ज्ञानमेव ज्ञेयम्, ज्ञानमेव ज्ञाता, ज्ञानमेव च शब्द इति विच्छेदेनापि वक्तुं शक्यते। अथवान्तःकरणस्य यदपि किमपि तत्त्वं तच्छब्दस्वरूपमेव, अन्यथाभावेऽसम्भवात्। एवं च ज्ञानस्य ज्ञातुः शब्दस्य वाश्रयतां वायुर्यथा गच्छति तथा पूर्वं प्रतिपादितम्।

तद्धर्मेणेति। अन्तःकरणतत्त्वस्य ज्ञानस्य ज्ञातुः शब्दात्मनो वा धर्मेण बोधकत्वरूपेण प्रत्यायकत्वरूपेण वा समविष्टः, तद्धर्मवान् भूत्वा वायुर्विवर्तते। अत्रेदं बोध्यम्--वायुर्हि सन्निपतितः शब्दत्वं प्रतिपद्यत इति पूर्वं प्रतिपादितम्। तत्र शब्दत्वमित्यस्य ध्वनित्वमेवार्थः। ध्वनयस्तु ध्वनिरूपेण नैवार्थस्य बोधकाः, वृक्षपर्वतादिसन्निपतितवायुजनितध्वनेः (यत्रान्तः-करणतत्त्वसमावेशो नास्ति) विविधार्थबोधनसामर्थ्यस्यादृष्टत्वात्। तेन ज्ञायते--अस्ति खलु कश्चिद्धर्मविशेष उच्चार्यमाणे ध्वनौ, येन स विविधार्थ-बोधने समर्थः, अथवा येन सः शब्दात्मानमभिव्यञ्जयति। वस्तुतः शब्दा-त्मनो 'धर्म एवोच्चार्यमाणेषु विकीर्यमाणेषु च ध्वनिषु स्फुटति, येनार्थोऽ-भिव्यज्यते। वायुस्तु तद्धर्मस्य वाहकः, तस्य श्रवणीयशब्दत्वापत्तौ योग्य-त्वात्, भौतिकत्वाच्च।

तेजसैवेति। अथ कोऽयं 'तेजः'पदार्थः, येनैवायं वायुर्विवर्तते? एकश्च 'तेजः' पदार्थः-"स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः" (वा० प० १।११३) इत्यादिना मनोभावमापन्नस्य ज्ञातुः पाककारक उक्तः, किं स एवायम्? तेजसैवेत्येवकारेण त्वयमेवार्थः प्रतीयते। युज्यते चैवम्। [२]तेजःस्वरूपया विवक्षयैव वायुस्तत्तद्वर्ण-पद-वाक्येषु विवर्तते। अत एव गौरिति विवक्षिते घोटको न भवति। तेजसैव, विवक्षयैव नान्यथेत्येवकारस्वारस्यम्। वायोर्हि सर्वाः श्रुतिशक्तयः कखादिविविधरूपोपग्राहिण्यः शब्दात्मनश्च सर्वाः श्रुत्यर्थशक्तयः। एवं स्थिते विवक्षैव विशिष्टश्रुत्यर्थनिवेशनी भवति। अथ वा--तेजः कायाग्निः, शारीर ऊष्मा। वायोरूर्ध्वसमीरणमारभ्य शारीरिकी प्रक्रिया प्रचलति, तत्र कायाग्निरुपयुज्यते। अनुभूयते च वर्णोच्छ्वसित ऊष्मा। येषां च वर्णानां समुच्चारणे ऊष्ममात्राधिक्यं, ते संज्ञयैवोष्माणः शषसहाः। एवं चात्र पक्षे तेजसैवेत्यस्य शारीरेणोष्मणा सहैव वायुर्विवर्तत

---

१. हरिवृषभस्तु--"सः स्थानेषु शब्दघनः संहन्यमानः प्रकाशमात्रया कया-चिदन्तःसन्निवेशिनः शब्दस्याविभक्तं बिम्बमुपगृह्णाति इत्येवमादि सर्व-मनुगन्तव्यम्" इति पूर्वागमं कञ्चिदुद्धरन्निममेवार्थमाह। (वा० प० १।११४-११५ वृत्तौ)

२. 'सः स्थानेषु शब्दघनः' इत्याद्युद्धरणे 'प्रकाशमात्रया कयाचित्' इति प्रकाशिकायाः कस्या अपि शक्तेरुल्लेखोऽस्ति। तत्र "कयाचित्" इति तस्या अनिर्वचनीयतया कायाग्निरिति नार्थः सम्भवति। 'विवक्षा' इत्यर्थस्तु सम्भवति, विवक्षाया आनन्त्येनानिर्वचनीयत्वात्।

इत्यर्थः सम्पद्यते । अयमर्थः "मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्" इति पाणिनि-शिक्षोक्तप्रकारं संवदति । अन्यान्यपि पूर्वशिक्षाकारमतानि हरिवृषभवृत्तावुद्धृतानि, यथा—"अन्तर्वर्तिना प्रयत्नेनोर्ध्वमुदीरितः प्राणो वायुस्तेजसानुगृहीतः शब्दवहाभ्यः शुषिभ्यः सूक्ष्मांशं धूमसन्तानवत् संहन्ति ।" "मनोऽभिहतः कायाग्निः प्राणमुदीरयति ।" इत्यादीनि । (वा० प० १।११४-१५ वृत्तौ) एषु मतेषु वायोः प्रवृत्तौ तेजसः सहकार उक्तः, न तु ज्ञातुः शब्दात्मनः पाके । अतः पूर्वकारिकायां (वा० प० १।११३) तेजः मानसी ऊर्जाः, इत्यस्मदुक्तोऽर्थः शिक्षाकारैरपि न विरुध्यते । परमस्मिन्पक्षे 'एव' इत्यस्य न किमपि स्वारस्यम् । केचित्तु—'तेजसेव' इति पाठमाश्रित्य "यथेन्धनं तेज आश्रयतां प्राप्तं तेजोधर्मेणाविष्टं तेजोरूपं भवति, तथा वायुरन्तःकरणतत्त्वस्याश्रयतां गतोऽन्तःकरणतत्त्वधर्मेणाविष्टोऽन्तःकरण-तत्त्वरूपो भवति" इति दृष्टान्त इति वदन्ति । तन्न युक्तम्—"तेजसा इव" अत्र इवेत्यस्य प्रयोगे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामानाधिकरण्यस्यावश्यक-त्वात् । "तेजसा इव तद्धर्मेण समाविष्टो वायुः" इत्यर्थस्तु सम्भवति, यदि पाठभेदः समाश्रीयेत ।। ११४ ।।

अन्तःकरणतत्त्व का आधार बना हुआ वायु उस अन्तःकरणतत्त्व के धर्म से युक्त होकर शारीरिक या मानसिक 'तेजस्' के सहयोग से श्रवणीय शब्द के रूप में विवर्तित होता है ।

वायु, जो कि इस प्रकरण में प्राणवायु है, श्वसनीय या वहनीय तो है किन्तु श्रवणीय या उच्चरणीय नहीं है । इसलिए वायु स्वयं श्रवणीय शब्द का रूप धारण नहीं कर सकता । वायु की श्रवणीयता या श्रुतिशक्ति अभिघातजन्य कम्पों का माध्यम (वाहक) होने के कारण ही मानी जाती हैं । उच्चरणीयता भी अभिघातक या अभिहन्यमान होने के कारण ही मानी जाती है । कम्पों के वाहक और उत्पादक अन्य अनेक पदार्थ हैं । इस प्रकार वायु स्वयं स्वरूपतः शब्द नहीं हो सकता । हाँ, जिस प्रकार वायु कम्पों का सर्वसुलभ वाहक है, उसी प्रकार वह (प्राण) अन्तःकरणतत्त्व का सर्वाधिक अन्तरङ्ग (और इसीलिए एक मात्र भी) वाहक है । इसलिए प्राणवायु अन्तःकरणतत्त्व का आश्रय (आधार वाहक या माध्यम) बन जाता है ।

अन्तःकरणतत्त्व स्वयं शब्दमय है, इसका विवेचन पहले हो चुका है । श्रुति-शक्ति और अर्थशक्ति शब्द की शक्तियाँ हैं, शब्द के धर्म हैं । वाच्यता, वाचकता, ग्राह्यता (उच्चरणीयता, बोधकता और श्रवणीयता) ये तीनों धर्म शब्द के हैं,

प्राणवायु के नहीं। परन्तु प्रत्यक्षतः जब मुख से उदीर्यमाण प्राणवायु स्थानाभिघात पाकर श्रवणेन्द्रिय से टकराता है, तो ग्राह्यता, वाचकता, और वाच्यता वायु में ही प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि प्राणवायु शब्दधर्म से समाविष्ट है। शब्दधर्म से समाविष्ट हुए बिना मात्र वायु इन तीनों प्रभावों को उत्पन्न नहीं कर सकता। उच्चरित और श्रुत शब्द तो यथाकथञ्चित् वायु के द्वारा जनित और वाहित कम्पों के परिणाम माने भी जा सकते हैं, किन्तु 'वाचक' शब्द वायु का परिणाम तब तक नहीं हो सकता जब तक वह 'शब्दधर्म' से समाविष्ट न हो। श्रुतिशक्ति वायु में सम्भव है, अर्थशक्ति नहीं। बिजली के तार में स्वयं कोई दाहक, प्रकाशक या यन्त्र-चालन की शक्ति नहीं होती, परन्तु विद्युत से आविष्ट (Charged) तार में विद्युत् के सभी धर्म पाये जाते हैं। यही स्थिति प्राणवायु की है। इसलिए प्राणवायु का 'शब्दधर्माविष्ट' होना भी आवश्यक है।

प्राणवायु को शब्द के रूप में विवर्तित होने के लिए 'तेजस्' का सहयोग मिलना भी आवश्यक है। 'तेजस्' के यहाँ दो स्वरूप हैं—मानसिक ऊर्जा और शारीरिक ऊर्जा। मानसिक ऊर्जा इच्छाशक्ति अथवा विवक्षा है, जो वायु को शब्दधर्म से, विशेषतः 'वाचकता'[३] से समाविष्ट करती है। शारीरिक ऊर्जा वायु को ऊपर उठने स्थानाभिघात करने और मुख से श्रवण तक की मात्रा करने में सहायता देती है॥ ११४॥

ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिप्रक्रिया—

विभज्य स्वात्मनो ग्रन्थीन् श्रुतिरूपैः पृथग्विधैः।
प्राणो वर्णानभिव्यज्य वर्णेष्वेवोपलीयते॥ ११५॥

---

३. उच्चरित एवं श्रुत आनुपूर्वी से किसी शब्द में वाचकता नहीं आती, जब तक कि वह उस विशिष्ट वाचकता (अर्थ) के लिए विवक्षित न हो। इसीलिए समानानुपूर्वी वाले 'विधि' जैसे शब्द अपने अनेक संभावित अर्थों में से वही अर्थ देते हैं जो वक्ता का विवक्षित होता है। इसी तरह अन्य शब्द की विवक्षा में उच्चरित अन्य शब्द अपनी अभिधायकता ही खो देता है, (वा० प० १।१५६) लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों में विवक्षा के कारण ही उच्चरित आनुपूर्वी अपने प्रसिद्ध मूलार्थ से विपरीत अथवा अधिक अर्थ देने लगती है। अतः शब्द में वाचकता का नियामकतत्त्व विवक्षा है, न कि उसकी उच्चरित और श्रुत आनुपूर्वी।

प्राणः, पृथग्विधैः क-खादिपृथक्-पृथक्-प्रकारैः, श्रुतिरूपैः श्रवणीयशब्द-रूपैः उपलक्षितैः, स्वात्मनः स्वस्य, ग्रन्थीन्, विभज्य भङ्क्त्वा उद्घाट्य, विभजन् इतिपाठे तु उद्घाटयन्, वर्णान् कखादिरूपान्, अभिव्यज्य, प्रकटय्य च, पुनः वर्णेष्वेव स्वयं प्रकटीकृतेषु वर्णेषु एव, उपलीयते लीनो भवति।

ग्रन्थीनिति। एकघनो हि प्राणवायुः स्वघटकपरमाणुसंघातः। तस्य च समग्रतया स्वल्पदिक्कालव्यापिषु कखादिश्रुतिरूपेषु विवर्तनमसम्भवम्। अतः स्वल्पश्रुतिरूपेषु विवर्तनाय तस्य विभजनमावश्यकम्। एवं हि पर-माणूनां संसर्गवृत्त्या निविडं ग्रथितः स एकघनः समुदीरणप्रक्रियाप्रवृत्तः स्वपरमाणूनां भेदवृत्तिमुद्बोध्य पृथग्विधैः क-खादिश्रुतिरूपैरुपलक्षितैस्तत्त-द्वर्णानभिव्यञ्जयति। तत्र हि प्राण एकघने परमाणुसंसर्गवृत्तिरूपा लक्षशः कोटिशो वा ग्रन्थयः। तानेव यथायथं विभज्य प्राणो वर्णानभिव्यञ्जयति।

अथ च ग्रन्थिर्हि पोटलिकापर्यायः। पोटलिकानिगृहीतानि वस्तूनि सन्त्यपि न तावत्प्रकाशन्ते यावन्न ग्रन्थिभेदः। एवमेवात्र वायोरात्मग्रन्थि-भेदोऽपि वोध्यः। प्राणो हि पोटलिकाकर्पटस्वरूपः शब्दात्मधर्मेणान्तरा-विष्टोऽत एव निगूहीतशब्दात्मधर्मं आत्मग्रन्थीन् विभजति परसम्बोधनाय। विभक्तेषु च ग्रन्थिषु शब्दात्मनोऽनेके श्रुतिधर्मा (बुद्धिधर्माश्च) अभिव्यज्यन्ते।

श्रुतिरूपैरिति। अत्रोपलक्षणे तृतीया। पृथग्विधश्रुतिरूपवर्णाभि-व्यञ्जनं दृष्ट्वैव प्राणस्यात्मग्रन्थिभेद उपलक्ष्यत इत्यर्थः।

उपलीयत इति। अत्रायं सम्प्रश्नः—प्राणः खलु वर्णानभिव्यज्य क्व याति? अत्र चायं सामान्यो भौतिकः प्रकारः—प्राणो वा वहिस्थो वा वायु-र्वय्वन्तरं[1] द्रव्यान्तरं कर्णशष्कुलिं वाभिहत्य कम्पं जनयित्वा विशीर्यते। अत्र प्रकारेऽयमेव ग्रन्थिभेदो मन्तव्यः। विशीर्णोऽपि यदि पुनरभिघातं करोति कम्पं च जनयति, ततोऽपि श्रूयते, प्रभावमात्राभेदेन। सर्वथा प्रभावहीनो च विलीयत इति वक्तुं शक्यते। अपि चायमपरो भौतिको नयः—नैव द्रव्य-स्यात्यन्तिको नाशः सम्भवति, रूपान्तरापत्तिस्तु भवति। ऊर्जा अपि नात्यन्ताय नश्यति, स्वमात्रानुपातेनान्यस्यामूर्जसि विपरिणमते। प्राणश्चायं श्वसनं बलनं च। तत्र श्वसनरूपे द्रव्यात्मकः वर्णत्वमापद्यते, ऊर्जारूपे च ध्वनिरूपशक्तौ विपरिणमते। स्वरूपहानेन शब्दीभवतीत्यर्थः। अभौतिकः

---

१. अजस्रवृत्तिरपि वायुः स्वपीडन-(Pressure)-शक्तिमात्रया भिद्यते। तेन वायुर्वायुमभिहन्तीति विज्ञेयम्।

प्रकारस्त्वेवम्—शब्दात्मनः श्रुतिधर्मं बोधधर्मं च श्रुतिवर्णेषु सम्पाद्य स्वयं विलीयते कृतकृत्यत्वात्। न हि पोटलिकया कश्चिदर्थस्तद्गतवस्तुग्रहीतृणाम्॥ ११५॥

(मानसिक एवं शारीरिक ऊर्जा के सहयोग से श्रवणीय ध्वनि के रूप में विवर्तित होने के लिए प्रवृत्त) प्राणवायु अपनी ग्रन्थियों को विभक्त कर देता है। अपनी निविडता को छोड़कर 'अ-क-च-ट-त-प' आदि छोटी-छोटी, पृथक्-पृथक् ध्वनियों के रूप में बँट जाता है और इन वर्ण-ध्वनियों को अभिव्यक्त करके स्वयं इन्हीं में लीन हो जाता है।

वायु स्वयं में एक महासंघात (Great mass) है। उसका सीधे-सीधे अत्यल्प-दिक्काल-व्यापी छोटी-सी श्रुति (क आदि ध्वनि) में बदल जाना असम्भव-लगता है। उच्छ्वास के रूप में प्राणवायु भी 'क' आदि श्रुतियों की तुलना में पर्याप्त बड़ा होता है। अतः छोटी-छोटी श्रुतियों के रूप में विवर्तित होने के लिए उसका विभाजन होना आवश्यक है। वैसे प्राण (अपानादि भी) स्वयं महावायु का एक विभक्त रूप है। आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार महासङ्घातों का विभाजन होता ही रहता है। यही यहाँ प्राणवायु का 'आत्म-ग्रन्थिभेद' है। संघात के परमाणुओं की निविड सङ्घटनात्मकता या संसर्गवृत्तिता सङ्घात के अन्दर दृढ़बद्ध ग्रन्थियाँ ही तो हैं। उनके खुलने से ही तो उनके भीतर की ऊर्जा किसी 'नवीन' को जन्म दे पाती है।

शारीरिक प्रक्रिया के रूप में प्राणवायु का ग्रन्थि-भेदन उच्चारणावयवों के द्वारा सम्पन्न होता है। कण्ठ आदि के विवरण-संवरण (सङ्कोच-विकोच) से ऊर्ध्व-समीरित प्राण का भेदन होता है। इसमें वक्तृ-पुरुष की इच्छा और प्रयत्न का मुख्य हाथ है। वायु इसमें स्वयं जड और अक्रिय होता है। यह प्रकार 'वायु की शब्दत्वापत्तिपक्ष' (वा० प० १।१०८) के अनुसार है। परन्तु यहाँ इस कारिका में वायु द्वारा स्वयं आत्मग्रन्थिभेद की बात कही गई है। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि वायु जड नहीं चेतन है और आत्मग्रन्थिभेदन में स्वयं समर्थ है। वास्तविकता भी यही है। ज्ञान की शब्दत्वापत्ति-पक्ष में प्राण केवल श्वासोच्छ्वास नहीं, अपितु शब्द धर्म से समाविष्ट है। शब्दतत्त्व का कर्तृत्व (ज्ञातृत्व) उसमें समाया हुआ है। इसलिए वह विवक्षानुसार स्वयं अपनी ग्रन्थियों का भेदन करता है।

इस दृष्टि से ग्रन्थिभेद का अर्थ यह भी है—आन्तरिक अभौतिक अवस्था में विषय-परिच्छेद का जो काम मन करता है, वही काम इस बाह्य एवं भौतिक अवस्था में वायु द्वारा किया जाता है। शब्द-धर्माविष्ट प्राण में शब्दात्मा की सभी

श्रुतिशक्तियाँ और अर्थशक्तियाँ समाविष्ट होती हैं। लोक-व्यवहार के लिए उनका भेदन होना आवश्यक है। शब्दात्मा से प्राप्त हुए श्रुत्यात्मक और बोधात्मक आवेशों (Charges) को बिना छाँटे, बिना पृथक्-पृथक् निरूपण के, एकदम श्रोता पर उँडेल देने से तो लोक-व्यवहार सिद्ध नहीं होगा।

ग्रन्थिभेद से एक और बात ध्यान में आती है। जैसे गाँठ (पोटली) में बँधी वस्तुएँ गाँठ खोले बिना नहीं दिखाई देतीं या काम में नहीं लाई जा सकती, कुछ वैसी ही स्थिति यहाँ प्राण की है। यहाँ शब्दधर्म प्राणों की पोटली में बँधा है, पर सम्बोधन के लिए यह गाँठ खोलनी ही पड़ेगी। गाँठ खुलने पर तो मदारी के झोले (पोटली, गँठड़ी) में से निकलने वाली वस्तुओं की तरह प्राण की पोटली में से अनेकानेक श्रुतियाँ (ध्वनियाँ) अर्थाभिव्यञ्जन के चमत्कार दिखाती हुई निकल पड़ती हैं।

वर्णों को अभिव्यक्त करके प्राण कहाँ चला जाता है? सीधा-सा उत्तर तो इतना ही है कि प्राण वर्णाभिव्यञ्जनानुकूल कम्प पैदा करके आघातजनित शक्ति के क्षीण हो जाने पर कम्प पैदा करने मे असमर्थ हो जाता है, अर्थात् अश्रवणीय हो जाता है। दूसरा उत्तर यह है कि प्राण-ऊर्जा का ध्वनि-ऊर्जा में रूपान्तरण हो जाता है। ऐसे रूपान्तरण प्रकृति मे होते हैं। बर्फ पिघलकर कहाँ चला जाता है? दूध दही बनकर कहाँ चला जाता है? या आग पानी को गर्म करके कहाँ चली जाती है? पदार्थ का अन्य पदार्थ में, एक ऊर्जा का दूसरी ऊर्जा में रूपान्तर होता ही रहता है। रूपान्तर के बाद वह पहले रूप में नहीं दिखाई देती। इस स्थिति में हम पहले रूप का दूसरे रूप में विलीन होना कह सकते हैं। जैसे आग का ज्वाला-रूप तप्त जल में विलीन हो जाता है, वैसे ही प्राण भी वर्णों में ही विलीन हो जाता है ॥ ११५ ॥

ध्वनिरूपशब्दाभिव्यक्तौ पक्षान्तरम्—

अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।
व्यजनाद् वायुरिव सः स्वनिमित्तात् प्रतीयते ॥ ११६ ॥

यः शब्दः अजस्रवृत्तिः, अजस्रा अविच्छिन्ना वृत्तिः वर्तनं सत्ता वा यस्य सः, सततं सर्वत्र वर्तमानः सन्नपि, सूक्ष्मत्वात् बाह्येन्द्रियग्राह्यस्थूलत्वरहितत्वात् हेतोः, न उपलभ्यते सदा श्रवणपथं नायाति, सः शब्दः, व्यजनात् वृन्तकात्, वायुरिव, स्वनिमित्तात् स्वाभिव्यक्तिकारणात्, विवक्षायाः स्थानाविघाताच्च, प्रतीयते, सततं वर्तमानोऽपि वायुः सदा न प्रतीयते,

वृन्तकाक्षिप्तस्तु प्रतीयते, तथैव शब्दोऽपि। वायोः प्रतीतिनिमित्तं वृन्तकाक्षेपः, शब्दप्रतीतिनिमित्तं स्थानाभिघातः।

अजस्रवृत्तिरिति। शब्दतत्त्वात्मकः स्फोटात्मको वा शब्दो नित्य इति यथापूर्वं व्यवस्थितम्। परन्तु ध्वनिरूपशब्दोऽपि नित्य एव, तस्याजस्रवृत्तित्वादिति पक्षान्तरं श्रवणीयशब्दविषये। "वायोरणूनां ज्ञानस्य" (वा० प० १।१०७) इत्युपाक्रम्य श्रवणीयशब्दविषये यो दर्शनभेदः प्रवर्तितस्ततोऽपि पक्षान्तरमिदं बोध्यम्। तत्र पूर्वोक्तदर्शनभेदे वाय्वादिभ्यः शब्दत्वमापन्नस्य ध्वनिपदार्थस्यानित्यत्वं प्रसिध्यति, उत्तरक्षणे तस्याविद्यमानत्वात्। परमत्र पक्षे नित्यत्वमिति विशेषः।

सूक्ष्मत्वादिति। यदि शब्दोऽजस्रवृत्तिस्तदा सर्वत्र सर्वदा च कथं नोपलभ्यत इति सम्प्रश्ने समाधीयते सूक्ष्मत्वादिति। ध्वनिरूपशब्दः सूक्ष्मो नित्यश्च, यथा वायुराकाशो वा। स च वायुरिवाकाश इव वा सर्वमूर्तीनां बहिरन्तश्चरः। सन्तावपि वाय्वाकाशौ सूक्ष्मत्वाद्यथा नोपलभ्येते, तथा ध्वनिरपि नोपलभ्यत इत्यर्थः।

स्वनिमित्तादिति। सर्वमूर्तीनां बहिरन्तश्चरस्याजस्रवृत्तेर्वायोः प्रतीतौ व्यजनं निमित्तम्। आकाशस्य च घट-मठाद्याकृतयः क्षितिजरेखा वा प्रतीतौ निमित्तम्। शब्दस्य तु कण्ठताल्वादिस्थानभिघातो निमित्तम्।

अत्रेदं बोध्यम्—वायुपरमाणवो नित्यत्वेन सदा सर्वत्र च विद्यमानाः सूक्ष्मतया त्वचा नोपलभ्यन्ते, तालवृन्तकाक्षिप्तास्तूपलभ्यन्ते। वायोः शब्दत्वापत्तिदर्शने त एव वायुपरमाणवः स्थानाभिघातरूपनिमित्तभेदाच्छ्रवणेन्द्रियेणोपलभ्यन्ते। वायुरेव निमित्तभेदाच्छब्दत्वं स्पर्शत्वं चापद्यते। सामान्या चेयं प्रतीतिः—आक्षिप्तोऽभिहतश्च वायुस्त्वचा श्रवणेन च युगपदुपलभ्यते। तेनैव महावाते 'सन्-सन'-ध्वनिः। निमित्तभेदस्तथा तथा प्रतीतौ प्रयोजक इति "स्वनिमित्ता"दित्यस्य स्वारस्यम्। अणुशब्दत्वापत्तिदर्शने तु—तन्मात्रारूपाः शब्दाख्याः परमाणव आकाशस्य प्रकृतिः। घटाद्याकृतिपरिच्छिन्नस्य घटाकाशादेर्घटाद्याकृतयः प्रतीतौ निमित्तम्, स्थानाद्यभिघातश्च शब्दस्य प्रतीतौ निमित्तम्। शब्दतन्मात्रा एव घटाद्याकृतिपरिच्छिन्नाकाशत्वं शब्दत्वं चापद्यन्ते, स्व-स्व-निमित्तभेदात्। ज्ञानशब्दत्वापत्तिदर्शने च—ज्ञानमेव ज्ञेयत्वं ज्ञापकत्वं चापद्यते। तत्र ज्ञेयाः अर्थाः, पदार्थाः। तेषां प्रतीतौ निमित्तं भूतसंघातः। ज्ञापकस्तु शब्दः, तस्य प्रतीतौ निमित्तं

विवक्षा, विवक्षानुसारिस्थानाभिघातश्च। एवं च ध्वनिरूपशब्दोऽपि नित्य एव ॥ ११६ ॥

शब्द अजस्रवृत्ति है, सभी स्थानों पर सदा वर्तमान रहता है, किन्तु सूक्ष्म होने के कारण सदा और सर्वत्र कानों को उपलब्ध नहीं होता। (सुनाई नहीं देता।) उपलब्ध वह तब होता है जब सुनाई पड़ने का उपयुक्त हेतु उपस्थित हो। जैसे वायु सभी स्थानों पर सदा वर्तमान रहता है, परन्तु उसकी स्पर्शानुभूति पंखा झलने पर ही होती है। वायु की प्रतीति का कारण पंखा है और शब्द की प्रतीति का कारण कण्ठ, तालु आदि का अभिघात।

शब्द क्या है ? इस सम्बन्ध में यह एक और मत है। संयोग-विभाग से उत्पन्न होने वाले अनित्य शब्द से यह 'अजस्रवृत्ति' शब्द सर्वथा भिन्न है। साथ ही यह ध्वनि-व्यङ्ग्य स्फोट भी नहीं है। यह तो वायु या आकाश की तरह सभी पदार्थों के बाहर-भीतर वर्तमान है; जब कि स्फोट आन्तर होता है। इस प्रकार यह शब्द-स्वापत्तिविषयक पक्षान्तर है।

इस पक्षान्तर में वायु या आकाश की भाँति शब्द भी एक 'अजस्रवृत्ति' पदार्थ है, जो सदा और सर्वत्र विद्यमान है। वायु और आकाश अपने-अपने निमित्तों से प्रतीत होते हैं। जैसे-पंखा झलने से वायु की प्रतीति होती है। क्षितिज रेखा से ग्रह ग्रह-नक्षत्रों की उपस्थिति आकाश की प्रतीति होती है। इसी प्रकार कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से शब्द की प्रतीति (श्रवण) होती है। वायु और आकाश की भाँति ही शब्द भी श्रोता-वक्ता के आस-पास पहले से ही वर्तमान है, केवल उसकी प्रतीति के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता है, जो कि स्थानाभिघात है।

कुछ प्राचीन शाब्दिक[1] शब्द की स्थिति को 'आकाश' ही मानते आये हैं। अर्थात् 'आकाश' ही स्थानाभिघाद पाकर शब्द बन जाता है। इस दृष्टिकोण में गहराई भी है। सांख्यीय शब्दतन्मात्राएँ ब्रह्माण्ड की परिधि में घिर कर महाकाश, धरातल से लिपट कर आकाश और घट-मठादि में फँस कर (बहिरन्तश्चर होकर) घटाकाश या मठाकाश कहलाती हैं, वे ही शब्दतन्मात्राएँ (शब्दाख्य परमाणु) स्थानाभिघात पाकर ध्वनिरूप शब्द बनती हैं। अर्थात् शब्द और आकाश दोनों का उपादान एक ही तन्मात्रा है। शब्द और आकाश मूल में एक हैं, शाखाएँ दो हैं। यों भी कह सकते हैं कि प्रतीति-निमित्त-भेद से शब्द और आकाश भिन्न हैं, अन्यथा एक ही हैं॥ ११६ ॥

---

(१) स चैकेषामाकाश इति प्रतिपद्यते। (वा० प० हरिवृषभवृत्तौ १।११६)

शब्दस्य प्राणबुद्ध्यधिष्ठानत्वम्--

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता ।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥ ११७ ॥

तस्य शब्दस्य, प्राणे बुद्धौ च या शक्तिः व्यवस्थिता स्थिता, अस्ति, सा एषा स्थानेषु कण्ठताल्वादिषु, विवर्तमाना शब्दत्वमापद्यमाना, भेदं वर्णात्मकं भेदं प्रपद्यते प्राप्नोति ।

तस्येति । तस्येति तत्पदेन वाय्वादिपरिणामिनः शब्दस्य, ज्ञानस्य, अजस्रवृत्तेः शब्दस्य चेति त्रयाणां पृथक्-पृथक् परामर्शः सम्भवति । तद्यथा-'वायोरणूनां ज्ञानस्य' (वा० प० १।१०७) इत्युपाक्रम्य यः शब्दः प्रकान्तस्तस्य प्राणे बुद्धौ च या शक्तिर्व्यवस्थिता, सैषा स्थानेषु विवर्तमाना भेदं प्रपद्यते इति । 'अथायमान्तरो ज्ञाता' (वा० प० १।११२) इति यः ज्ञाता ज्ञानं वा शब्दत्वेन विवर्तते, तस्य प्राणे बुद्धौ च या शक्तिः सेत्यादि । अजस्रवृत्तिः यः शब्दः (वा० प० १।११६) तस्येत्यादि वा । अत्र हरिवृषभ आह-"पक्षभेदा एवैते, नायमनन्तरः प्रचयधर्मा ध्वनिरिह श्लोके निर्दिश्यते । शब्दस्तु पूर्वप्रक्रतः प्रवादभेदैरन्वाख्यायते," इति । (वा० प० १।११७ वृत्तौ) । अन्यतमश्चायं प्रवादभेदो 'वायोरणूना'मित्यादिपूर्वप्रक्रतशब्दविषय इति हरिवृषभो जानाति, परमियं कारिका "अजस्रवृत्तिना शब्देन, ज्ञानेन च, सविशेषमन्वेतीत्यनुपदमेव वक्ष्यते ।

प्राण इति । नित्यः कश्चिच्छब्दात्मा प्राणमधितिष्ठति बुद्धिं च । शब्दः प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्चेत्यर्थः । शब्दस्य स्वाश्रिता योग्यतारूपा शक्तिः प्राणं बुद्धिं चावृणोति । अथवा प्राणः शब्दाय वाय्वात्मकं भौतिकमाधारं प्रयच्छति, बुद्धिश्च ज्ञानमयमर्थसत्तात्मकमाधारम् । तेनाभिव्यज्यमाने शब्दे बाह्यं श्रवणीयत्वमन्तराविष्टं प्रत्यायकत्वं च सम्पद्यते । इदं च "ध्वनिः स्फोटश्च, शब्दस्य ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।" इति भाष्येण संवदति ।

विवर्तमानेति । शब्दस्य प्राणबुद्ध्यधिष्ठाना शक्तिः प्राण-बुद्धिमात्राभ्यां संसृष्टा [१]स्व-श्रौत-स्मार्त-रूपाभिव्यक्तये तत्तदनुकूलस्थानेषु कण्ठताल्वादिषु

---

(१) श्रौतः श्रवणीयः. स्मार्तो बोद्धः । तुलनीयं खल्वेतत् --"संविज्ञानपदनिबन्धनो हि सर्वोऽर्थः स्मृतिनिरूपणयाभिजल्पनिरूपणयाकारनिरूपणया च निरूप्यमाणो व्यवहारमवतरति ।" इति । वा० प० १।११९ वृत्तौ)

कर्णरन्ध्रे चाभिहन्यमाना घूर्णमाणा सञ्चरन्ती विवक्षा-प्रयत्नानुसारेणा-र्थात्मकं वर्णात्मकं च भेदं प्राप्नोति। अत्र विवर्तमानेत्यस्य 'विशिष्टां वृत्तिमाकलयन्ती' इति 'विवर्तमङ्गीकुर्वन्ती' इति चार्थः सम्भवति। तेन तथा तथा वर्ण-पद-वाक्येषु गोघटाद्यर्थेषु च शब्दात्मा विवर्तत इत्यपि वक्तुमुचितम्। तत्तदुपाधिवशाच्च शब्दात्मनि तथा तथा भेदोपरागः।

इदमत्र विवेचनीयं भवति—'तस्य प्राण' इत्यादिः प्रवादभेदोऽयमुत "अजस्रवृत्तिर्यः शब्दः" इत्यस्य प्रपञ्चः? तद्यथा—अजस्रवृत्तिः शब्दः सर्वमूर्तीनां बहिरन्तरश्चरो वायुरिवाकाश इव वा। बहिश्चरश्च चेतनाचेतनो-भयसम्बन्धेन घटादिमूर्तेर्मानवादिजन्तुविग्रहाद्बहिस्थः। अन्तश्चरस्तु घट-मठादेरभ्यन्तरे सावकाशः, मानवादीनां तु प्राणे बुद्धौ च तिष्ठतीति विवेक्तु शक्यते। एवं च तस्मिन्नजस्रवृत्तौ बहिर्वृत्तित्वरूपा, अन्तर्वृत्तित्वरूपा चेति द्वेयोग्यते प्रसिध्यतः। तत्रापि चान्तर्वृत्तित्वेऽचेतने रिक्तस्थानवृत्तित्वं सचेतने तु मुखोदरादिगुहावृत्तित्वं प्राण-बुद्ध्याद्यनवयविवृत्तित्वमिति योग्यता-भेदो भवति। शब्दस्य ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वादिरूपा योग्यतास्तु सन्त्येव प्रसिद्धाः। एवमेतास्वनेकासु योग्यतारूपशक्तिषु या प्राणे व्यवस्थिता या च बुद्धौ, सा स्थानेषु विवर्तमाना भेदं प्रपद्यत इत्यजस्रवृत्ति(वा० प० १।११६)रित्य-स्यैवायं प्रपञ्चः। प्रवादभेदस्वीकारे तु 'या' इत्यस्य न तथा स्वारस्यम्।

ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिपक्षः पूर्वप्रकान्तः, तेनापीयं कारिकान्वेति, तद्यथा—यो हि ज्ञानात्मा ज्ञाता वा शब्दत्वमापद्यते तस्य या शक्तिः प्राणे बुद्धौ च व्यवस्थिता, साभेदं प्रपद्यते इति। ज्ञानशब्दत्वापत्तिदर्शने ज्ञानात्मा शब्द एव सर्वमूर्तीनां बहिरन्तश्चरोऽजस्रवृत्तिरिति पूर्वकारिकाव्याख्याने प्रति-पादितम्। एवं हि "अजस्रवृत्ति"रिति (वा० प० १।११६) "तस्य प्राण" इति (वा० प० १।११७) च कारिकाद्वयं "अथायमान्तरो ज्ञाता" (वा० प० १।११२) इत्यस्यान्वाख्यानम्। तत्र "स मनोभावमापद्य" (वा० प० १।११३) इत्यारभ्य "वर्णेष्वेवोपलीयते," (वा० प० १।११५) इत्यन्तं या शब्दत्वापत्तिप्रक्रिया प्रदर्शिता तस्या इदं पक्षान्तरं बोध्यम्॥ ११७॥

शब्द प्राण में भी रहता है और बुद्धि में भी। शब्द की यह प्राण और बुद्धि में रहने वाली शक्ति ही कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों के बीच गुज़रती हुई, विविध-रूपों को धारण करती हुई क-ख आदि ध्वनि-भेदों को ग्रहण कर लेती है। शब्द-विषयक यह एक अन्य पक्षान्तर है।

"शब्द प्राण में रहता है, (प्राणाधिष्ठान है) इसकी प्रतीति तो इससे ही हो जाती है कि वह प्राण (वायु) के साथ ही मुख से प्रकट होता है। उसके बुद्धि में रहने (बुद्धयधिष्ठान होने) की प्रतीति भी सहज ही हो जाती है। श्रवणीयत्व और बोधकत्व ये दो शब्द के ऐसे पहलू हैं जो उसे स्वाभाविक रूप से प्राण (वायु) और बुद्धि से जोड़ देते हैं। यह प्राणाधिष्ठान और बुद्धयधिष्ठान शब्द, जो कि उच्चारणावयवों के बीच गुजरता हुआ, या विवर्तित होता हुआ श्रवणीय ध्वनियों का रूप धारण कर लेता है। यही श्रवणीय ध्वनियाँ श्रोता के लिए बोधक ध्वनियाँ बन जाती हैं। इसमें प्राणतत्त्व की श्रवणीयता और बुद्धितत्त्व की बोधकता होती है।

यहाँ मूल-कारिका में "तस्य प्राणे च या शक्तिः या च बुद्धौ व्यवस्थिता" से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राण और बुद्धि के अतिरिक्त भी कहीं अत्यन्त शब्द की सत्ता है, और उसकी कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं। प्राण-बुद्धि के अतिरिक्त शब्द द्रव्याभिघातजन्य तथा परमाणु-प्रचयरूप शब्द है। इस प्रकार इस पक्षान्तर का आशय यह हुआ कि सभी प्रकार के शब्द एक ही शब्दतत्त्व के भेद-विभेद हैं। उसकी अनेक शक्तियों में से एक शक्ति प्राण में और एक शक्ति बुद्धि में रहती है जो मिलकर मानवीय ध्वनि-समूह और उसकी अर्थवत्ता का निर्माण करती हैं।

वास्तव में "यः संयोगविभागाभ्याम्" (वा० प० १।१०२) से लेकर शब्द-स्वरूप निर्धारण की चर्चा जो छिड़ी है, उसका समापन इसी बात में समझना चाहिए कि इस बीच वर्णित सभी मतवादों का मूल एक ही शब्द-तत्त्व है। इन सभी मत-दर्शनों से शब्दतत्त्व को समझा जा सकता है। ये सभी मत अपने-अपने ढंग से शब्दतत्त्व पर जो प्रकाश डालते हैं, उससे उसकी व्यापकता बढ़ती जाती है। जिज्ञासु को मानना और जानना होगा कि शब्दतत्त्व में वह सब-कुछ है जो इन मतवादियों ने अलग-अलग कहा है।

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः (वा० प० १।४) ॥११७॥

शब्दा एव विश्वस्य कारणम्

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ ११८ ॥

अस्य विश्वस्य जगतः, निबन्धनी कारणात्मिका, शक्तिः शब्देष्वेव आश्रिता स्थिता, नान्यत्रेत्येवकारेण, शब्दः एव जगत्कारणमित्यर्थः। यन्नेत्रः,

या शक्तिः नेत्रं प्रवर्तिका प्रकाशिका वा यस्य, सोऽयं प्रवर्तमानः प्रतिभात्मा प्रतिभासस्वरूपः (न वास्तवः), भेदरूपः वस्तुगतो भेदः, प्रतीयते प्रतीयते एव न तु वस्तुतोऽस्ति ।

शब्देष्विति । विश्वरूपेऽस्मिञ्जगति तत्तदर्थव्यक्तयः (वस्तूनि, पदार्थाः) तत्र तत्र स्वमूर्तिसत्ताभ्यां वर्तन्ते, परं तथावर्तमानां तासां न कश्चिद्व्यावहारिको प्रयोगः । तासां व्यवहारनिबन्धनी शक्तिस्तद्वाचक-शब्देष्वेवाश्रिता वर्तते । न कस्या अपि शब्दव्यक्तेर्वाच्यतां प्राप्तार्थव्यक्तिः सत्यप्यसत्या तुल्या, असती च शब्दव्यक्तेर्वाच्यतां प्राप्ता सतीव प्रतिभाति । तद्यथाप्राक्कल्प्यते—"अस्ति कश्चिद्ग्रहपिण्डोऽन्तरिक्षेऽद्यावधि अज्ञातः ।" स च सत्तायुक्तोऽस्ति, सत्तायुक्तो नास्तीति सम्भावनाद्वयमस्मत्प्राक्कल्पनेऽस्ति । तत्र यदि स वस्तुतः सत्तायुक्तोऽस्ति, तदा शब्दव्यक्तेर्वाच्यतामप्राप्तो नास्त्येव, [1]लोकेऽव्यवहृतत्वात् । यदि च सत्तायुक्तो नास्ति तदा "अस्ति कश्चिद् ग्रहपिण्डोऽज्ञातः" इत्यस्मदीयवाग्व्यहारस्य वाच्यतां प्राप्तः सत्तायुक्त इव प्रतिभाति । अतोऽस्य विश्वरूपस्य जगतः सत्त्वासत्त्वयोः कारणात्मिका शक्तिः शब्देष्वेवाश्रिता । केनापि कुत्रापि दृष्टानुभूतं वस्तु ज्ञेयत्वेन वाच्यत्वेन च शब्दानुविद्धमेव । यच्च वस्तु न केनापि कुत्रापि कदापि वा दृष्टानुभूतं तन्न ज्ञेयं, न वाच्यम्, न च सत्तायुक्तम् ।

अत्रायं विवेकः—शब्दतत्त्वं हि सर्वप्रकृतिः । तस्मिंश्च श्रुत्यर्थशक्ती संसृष्टे । शब्दार्थयोस्तदेवाधिष्ठानमित्यर्थः । सर्गप्रवृत्तौ शब्दतत्त्वमेव श्रुति-शक्त्या, अर्थशक्त्या च समन्वितं वाच्य-वाचकभावेन शब्दत्वेनार्थत्वेन च नामरूपात्मकतया विवर्तते विपरिणमते वा । एवं च सर्वा अपि शब्दव्यक्त-योऽर्थव्यक्तयश्चेत्युभयमपि शब्दतत्त्वनिबन्धनम् । उभयासामपि व्यक्तीना-मानन्त्यादाकृतिपक्षः समाश्रियते शास्त्रे लाघवार्थम् । तेन शब्दाकृतयोऽर्थाकृतयश्च "सूक्ष्मशब्दाधिष्ठाननिबन्धनाः"[2] इच्युच्यते । ताश्चाकृतयो व्यवहारनिर्वृत्तये स्व-स्वव्यक्तिभिरन्वियन्ति । सर्गादौ विश्वमिदं जगत् सूक्ष्म-शब्दाधिष्ठाननिबन्धनमिति वदन्ति पूर्वे । परमत्रकारिकायां शब्देष्विति बहुवचनोपादानात् सूक्ष्मशब्दतत्त्वस्याबहुत्वादुक्तप्रकारेणाकृतिपक्षाश्रयणं न

---

१. अस्मदादिज्ञानाज्ञानमूलको हि "अस्ति-नास्ति"-प्रयोगः । अस्मदादिज्ञान-विस्तारेण सहैव वस्तुसत्ताविस्तारः ।

२. तत्र केषाञ्चिदाकृतयः सूक्ष्मशब्दाधिष्ठाननिबन्धनाः (वा० प० १।११८ वृत्तौ)

सम्यक् प्रतीयते। अत्र प्रकरणे (ब्रह्मकाण्डे) शब्दतत्त्वपरामर्शकः 'शब्द'-शब्दो नैकदापि बहुवचन उपात्तः। यत्र तु श्रुतिरूपशब्दानां प्रसङ्गस्तत्र बहुवचनप्रयोगो दृश्यते, यथा—"यथा प्रयोक्तुः प्राग्बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।" (वा० प० १।५३, ५४, ५५, ५६) इत्यादौ असतश्चान्तराले यान्छब्दानस्तीति मन्यते (वा० प० १।८६) शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः। (वा० प० १।१३८, १३९, १४०) इत्यादावन्यत्र च। तेन ज्ञायतेऽत्र-कारिकायां 'शब्द'-शब्द उच्चार्यमाणशब्दानामेव परामर्शको न तु सूक्ष्मस्य शब्दतत्त्वस्य। तथा च विश्वस्य निबन्धनी शक्तिर्यथोच्चार्यमाणशब्देष्वाश्रयति, तथा पूर्वमेव निरूपितम्। अयमेवार्थः "अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम्"। (वा० प० १।१३) "यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः।" (वा० प० १।१५) इत्यादावप्यनुसन्धेयः। आकृतिपक्षस्तु शास्त्रप्रकृतिविषयक एव, व्यक्तीनामानन्त्यात्तत्पक्षाश्रयणे व्यक्तिशः शास्त्र-प्रवृत्तेरव्यावहारत्वात्। जातायां शास्त्रप्रवृत्तौ "घटमानये"त्यादिव्यवहारे यावद्घटत्वावच्छिन्नं येन नानीयते तेन ज्ञायते व्यक्तावेव व्यवहारप्रवृत्तिः। एवमेव "अयं घटः" "स घटः" इत्यविशेषेण येनानीयते तेन ज्ञायते—आकृतिप्रयुक्तोऽपि शब्दोऽर्थव्यक्तावेव पर्यवसीयते। जातिस्फोटपक्षस्येदमेव तत्त्वम्। व्यवहारे तु प्रत्येकं शब्दव्यक्तिः प्रत्येकमर्थव्यक्त्यान्वेति, एतदेवा-प्रेत्याह—"जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते।" (वा० प० १।६९)इति।

यन्नेत्र इति। या शक्तिर्नेत्रं यस्य स यन्नेत्रः। नेत्रं हि प्रकाशकं नयन-साधनं वा। नेत्रं यथा वस्तूनि प्रकाश्य घट-पटादिभेदरूपे परिच्छिनत्ति तथा शब्दशक्तिरपि घटोऽयं पटमिदमित्यर्थगतभेदं प्रकाश्य परिच्छिनत्ति। अथवा नयतेः साधनभूतं नेत्रं (नीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या) स्वाश्रयपुरुषं विहरणा-दानादिकर्मसु प्रवर्तयति, शब्दशक्तिस्तथैवार्थक्रियासु प्रवर्तयति।

प्रतिभात्मेति। प्रातिभस्यास्य भेदरूपस्य परिच्छेदिका प्रवर्तिका च शब्द-शक्तिरेव। तत्र घट-पटादिभेदरूपं वाच्य-वाचकभेदरूपं च विश्वं प्रातिभमेव न तु वास्तवम्, शब्द-शक्तिर्यदा यदा यां यां प्रतिभां जनयति, तथा तथा भेदभिन्नं विश्वं विवर्तते परिणमते वेत्यर्थः। मृदियं, घटोऽयमित्यादौ भेदरूपे परमार्थतः पृथ्वीं प्रति शब्दशक्तिजनिता प्रतिभैव कारणम्, उतापि पृथ्वीयम्, तेज इदमित्यादावपि परमतत्त्वं (शब्दतत्त्वं) प्रति पृथ्वीति शब्दव्यक्ति-जनिता प्रतिभैव तादृशभेदरूपस्य हेतुः। अत एवाह हरिः—"विच्छेद-ग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।" (वा० प० २।१४३) इति। एवं च यावदर्थानां भेदरूपेण विच्छेदः प्रतिभात्मक एव, तस्य विच्छेदस्य नेत्रभूता

प्रवर्तिका तु शब्दानां शक्तिः। शब्दावाच्यस्यार्थस्य सत्ता तु नास्त्येवेति तु प्रतिपादितमेव। वाच्यानां भेदोऽपि वाचकशक्त्याश्रित इति।

प्रतीयत इति। भेदरूपोऽयं प्रतीतिरेव, न वास्तवः, तस्य प्रतिभात्मकत्वात्, एकस्यैव शब्दात्मनश्च सत्यत्वात्। इयं हि शब्दात्मनः स्वप्नप्रबोधप्रवृत्तिः। प्रबोधे हि जागृदवस्थायां पृथक्त्वेन प्रतीयमानानां नदी-वन-पर्वत-गृह-कुडच-चैत्र-मैत्रादीनां स्वप्ने पुनः स्वपितरि पुरुष एवोपसंहारः, पुनर्जागरणे च तथैव पृथक्प्रतीतिः, तथैवार्थरूपविषयाणां प्रविनश्यतामिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणां बुद्धिषु, बुद्धीनां च प्रतिसंहृतक्रमे वागात्मन्युपसंहारः। सर्गे पुनस्तेनैव क्रमेण पृथगवस्थानम्। अत्राशङ्कयते--कथं ज्ञायते वागात्मन्येवोपसंहारः, न पुनरीश्वरे, पारे ब्रह्मणि वेति दर्शनप्रकारेण? अत्रोच्यते--यदि शब्दव्यक्तिरर्थव्यक्तेः परिच्छेदिका, यदि चार्थव्यक्तेर्भेदरूपेण सत्त्वमसत्त्वं च शब्दव्यक्त्याश्रितमिति प्रत्यक्षम्, तदार्थव्यक्त्या लयोऽपि शब्दात्मन्येव भवितुमर्हति, तत एव च सर्गः। इदमेव ध्वनितं "शब्देष्वि"ति बहुवचनोपादानेन। अत एव च--

"वागेवार्थं पश्यति, वाग् ब्रवीति, वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं, तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते।" इत्याहुः।

अस्यायमर्थः--वाक्, वाक्तत्त्वं शब्दतत्त्वं वार्थं जानाति, ब्रवीति च, अर्थस्य ज्ञातृ प्रयोक्तृ च वाक्तत्त्वमेवेत्यर्थः। वाचैवार्थो ज्ञानेन्द्रियाणां विषयभूतो भवति, वाचैवोच्यमानस्तथा तथा भेदवान् भवति। एवं च स्वात्मनि वाक्तत्त्वे स्वप्नवत्या निहितमर्थजातं विवक्षानुरोधेन प्रबोधवृत्या वागेव सन्तनोति। अतोऽर्थात्मकं बहुरूपं विश्वं वाच्येव निबद्धमिति फलितोऽर्थः। यस्तु भोक्तृ-भोक्तव्यादिभेदव्यवहारः, स तु तथा-तथाप्रविभक्तस्यैकस्यैव शब्दतत्त्वस्य विवर्त इति॥ ११८॥

नाना भेद-रूपों में प्रतीयमान इस संसार की कारणात्मिका शक्ति शब्दों में ही है। शब्दों की इस कारणात्मिका शक्ति के द्वारा ही यह प्रातिभासिक भेद-रूप प्रतीत होता है।

साधारणतया भौतिक रूप में संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने आकार और सत्ता के साथ जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं, परन्तु उनका कोई व्यावहारिक उपयोग तब तक कुछ भी नहीं है, जब तक वे शब्द के द्वारा उस रूप में वर्णित नहीं किये जाते। कोई भी घड़ा तब तक घड़े के रूप में व्यवहृत नहीं हो सकता, जब तक

वह 'घड़ा' शब्द से वर्णित न हो। यह अवर्णित घड़ा, घड़ा-मिट्टी-पृथ्वी या परम-तत्त्व होकर कहीं पड़ा तो रह सकता है, परन्तु घड़े के रूप में (जलाहरण योग्य वस्तु के रूप में) व्यवहृत नहीं हो सकता। एक अन्य प्रकार की दृष्टि से देखने पर तो उसका मिट्टी-पृथ्वी आदि किसी भी दशा में पड़ा रहना भी सिद्ध नहीं होता, यदि उन दशाओं में भी वह अवर्णित हो। दूसरी ओर सर्वथा सत्ताहीन वस्तुएँ शब्द के द्वारा जिस रूप में वर्णित होती है, उसी रूप में व्यवहार का अङ्ग बन जाती है" जैसे—"शशविषाण" "गधे के सींग" आदि। स्पष्ट है कि—संसार की भिन्न रूपों मे प्रतीति शब्दाश्रित है। शब्द ही वस्तुओं को उन-उन रूपों में प्रकाशित करते हैं। संसार की विश्वात्मकता (विविधता, भेदरूपता) की कारणात्मिका शक्ति शब्दों में ही स्थित है। शब्दशक्ति वस्तुओं को जैसा चाहे वैसा बता दे।

शङ्का उठती है—क्या सूर्य, सूर्य इसलिए है कि कोई या कुछ लोग उसे सूर्य कहते हैं ? क्या लोगों के कहने से ही वह विशाल ज्वालापुञ्ज पैदा हो जाता है ? ऊपर बताये गये तथ्य के रहते इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में ही देना होगा। सूर्य तो क्या इससे भी कहीं बड़े पिण्डों की सत्ता भी शब्द द्वारा वर्णित न होने पर, सिद्ध नहीं हो पाती। एक प्राक्कल्पना द्वारा इस तथ्य की परीक्षा करें। "सूर्य से करोड़ गुणा बड़ा पिण्ड अन्तरिक्ष में है।" यह एक प्राक्कल्पना है। इसमें दो सम्भावनाएँ हैं—या तो ऐसा पिण्ड वस्तुतः होगा या वस्तुतः नहीं होगा। अब यदि वह किसी दिन सचमुच मिल जाय, जैसा कि 'हेली' के धूमकेतु के साथ हुआ, तो शब्द द्वारा वर्णित होने से पहले उसकी व्यावहारिक सत्ता नहीं थी जो कि वर्णित होने के बाद है। ('हेली' नामक धूमकेतु हेली द्वारा वर्णित होने से पहले सत्ता में नहीं था परन्तु वर्णित होने के बाद धूमकेतुओं की सूची में 'हेली' की सत्ता है।) यदि ऐसा पिण्ड वस्तुतः न हो और कभी मिले, तो भी शब्द द्वारा वर्णित होने के कारण, "सूर्य से करोड़ गुणा बड़ा पिण्ड" इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार तो हो ही जाते हैं "वक्रतुण्डमहाकाय, सूर्यकोटिसमप्रभ" जैसे प्रयोग तो हैं ही।

विश्व की करणात्मिका शक्ति शब्दों में ही निहित है। वास्तव में जो पदार्थ कभी किसी के देखने सुनने या अनुभव में न आया हो, वह 'ज्ञेय' नहीं हो सकता, जो ज्ञेय नहीं, वह वाच्य नहीं हो सकता और जो वाच्य नहीं, वह सत्तावान् नहीं हो सकता।

शब्दतत्त्व सबकी मूल-प्रकृति है। इसकी जो शक्तियाँ हैं—श्रुति-शक्ति और अर्थ-शक्ति। इन दोनों शक्तियों से शब्दतत्त्व नाम (शब्द) और रूप (अर्थ) में

विवर्तित होता है। अतः सभी 'नाम और रूप' अथवा 'शब्द और अर्थ' उसी में निहित हैं। श्रुतिशक्ति से समन्वित शब्दतत्त्व वाचक-शब्द बन जाता है तो अर्थ-शक्ति से समन्वित होकर वाच्य-अर्थ बन जाता है। संसार में जितनी भी आकार और सत्तायुक्त अर्थ-व्यक्तियाँ हैं, वे सभी श्रवणीयता-युक्त शब्द से जुड़ी हुई हैं। प्रत्येक वस्तु अपने नाम में समाहित है।

यद्यपि शब्द और अर्थ दोनों ही शब्दतत्त्व के विवर्त हैं, फिर भी उच्चरित-श्रवणीय शब्दों की विशेषता यह है कि वे अपनी वाचकता-शक्ति से अर्थों को भेद-रूपों में स्थापित कर देते हैं। उदाहरणार्थ---'घड़ा' शब्द मिट्टी को मिट्टी से भिन्न किसी अन्य ही रूप में स्थापित कर देता है, भले ही मिट्टी और घड़ा एक ही पदार्थ हैं। मिट्टी स्वयं उस समय पृथ्वी से भिन्न हो जाती है, जब उसे मिट्टी नाम से पुकारा जाता है। इतना ही नहीं; पृथ्वी, मेदिनी और धरा भी एक नहीं रह पाती, इन पृथक्-पृथक् नामों से पुकारने पर। शब्दों में अद्भुत भेदक शक्ति है, जिसे प्रतिभा कहते है। मानना ही पड़ता है कि विश्व-वैविध्य की नियामिका शक्ति शब्दों में निहित है। पदार्थों का सत्त्वासत्त्व शब्दाधीन है।

विश्व की यह भेद-रूपता प्रातिभासिक है, प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। विवर्त-सिद्धान्त के अनुसार यह विश्व शब्दतत्त्व की स्वप्न-प्रबोधवृत्ति से सर्ग और लय को प्राप्त करता है। जैसे स्वप्नावस्था में सोने वाले पुरुष में उसका सारा संसार समा जाता है, उस समय उससे सम्बद्ध सभी वस्तुएँ उसीमें रहती हैं। परन्तु प्रबोध अवस्था में जागने पर वे सभी वस्तुएँ उससे भिन्न होकर बाहर आ जाती हैं, उसी प्रकार सर्ग से पहले शब्दतत्त्व स्वप्नवृत्ति से सभी पदार्थों को अपने में समेटे रखता है। प्रबोधवृत्ति के जागृत होने पर पदार्थ पृथक् आकार-प्रकारों में भासित होने लगते हैं। फिर लय होने की स्थिति में उसी शब्दतत्त्व में स्वप्नवृत्ति से लीन हो जाते हैं।

पदार्थों का यह सर्ग और लय शब्दतत्त्व से ही होता है, किसी अन्य ईश्वर या ब्रह्म से नहीं, इसका प्रमाण यह है कि---विश्ववैविध्य की नियामिका शक्ति शब्दों में ही निहित है, यह सिद्ध किया जा चुका है। यदि विविधता, भेदरूपता की सृष्टि शब्द से होती है, तो लय भी शब्द से ही होना चाहिए। अतः विश्व के सर्ग और लय के लिए शब्दतत्त्व के अतिरिक्त किसी अन्य अधिष्ठान की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए--'वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति'' "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" इत्यादि श्रुतिवाक्य उपलब्ध होते हैं॥ ११८॥

शब्दाश्रितं सर्वमर्थात्मकं जगत्—

षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः ।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निःश्रिताः ॥ ११९ ॥

यतः शब्देन व्याख्यातः बोधितः, षड्जादिभेदः षड्जमध्यमपञ्चमादिरूपः[1] उदात्तानुदात्तस्वरितस्वरभेदः, रूप्यते अवधार्यते, स्वरविधां रूपयितुं शब्दः समर्थः यतो भवति, तस्मात् हेतोः, सर्वाः अर्थविधाः अर्थभेदाः पदार्थभेदाः, शब्दमात्रासु शब्दशक्तिषु, निःश्रिताः, नितरां निश्चयेन चाश्रिताः सन्ति । यथा शब्दानां स्वरभेदबोधने सामर्थ्यं तथैवार्थभेदबोधनेऽपि सामर्थ्यम् ।

षड्जादिभेद इति । षड्जादिस्वरभेदाः सङ्गीतशास्त्रे (साम्नि च) प्रसिद्धाः षड्ज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः । एतेषामेव स्वराणां समायोजनेन भैरवादयो रागा निर्वर्तन्ते । गायकस्तु 'बोल'-'आलाप'-'तराना'-आदिभिः प्रकारैः रागं रूपयति । तत्र न कश्चिदपि सङ्गीतशास्त्रानभिज्ञः षड्जादिस्वरभेदमवधारयितुं समर्थः । अतः स्वरभेद-निरूपणाय निबन्धनपदानि (Notation in western music) प्रकल्पितानि सन्ति-'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' इति । एभिश्च पदैः (शब्दैः) स्वरभेदोऽव-धार्यते । दुरधिगमस्याप्यधिगमः, अरूपस्यापि निरूपणं भवति शब्दैरित्यर्थः ।

रूप्यत इति । परिच्छिद्यते इत्यर्थः । रूपणं परिच्छेदः, भेदेनावधारणम् । आ-आ-ऽऽ इत्यालापेन गायता गायकेन कुत्र कः स्वरः प्रयुक्त इति सामान्यतया न परिज्ञायते, 'सा-रे-ग' इत्यादिनिबन्धनपदप्रयोगे तु निरू-प्यते । यत एतद्भवति ततः सर्वा अर्थविधाः, वस्तुवैविध्यं, शब्दशक्तिष्वा-श्रिता इत्यपि सुसङ्गतमेव ।

अत्रेदमाशङ्कनीयम्—ध्वन्यात्मको हि षड्जादिस्वरभेदः, ध्वन्यात्मका-न्येव च सा-रे-गेत्यादिनिबन्धनपदानि । सजातीयेन सजातीयस्य भेद-निरूपणं भवति, सुगन्धेन दुर्गन्धस्य, नीलेन रक्तस्येत्यादि । एवमेव षड्जेन ऋषभस्य (सा इत्यनेन रे इत्यस्य) 'सा' इत्यनेन षड्जस्य लघुना महतः, एकेन द्वयोरित्याद्यपि । परं न विजातीयेन विजातीस्य भेदनिरूपणं युक्तम्, न हि जातीगन्धेन पीताम्बरस्य भेदो निरूप्यते । एवं स्थिते—"यतः स्वरभेदः

---

१. उदात्ते निषादगान्धारौ, अनुदात्त ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः ॥ (पा० शिक्षा० १२)

शब्देन निरूप्यते तत एव नदी-पर्वत-गो-गर्दभादिविधाभिन्नोऽर्थभेदोऽपि शब्देन निरूप्यत" इत्यत्र का वाचो युक्तिः ? इदं चावश्यमाशङ्कनीयम् ।

एवं चात्र विज्ञातव्यम् –सर्वो ह्यर्थः संविज्ञानपदनिबन्धनः । घट-पटादयोऽर्थाः धारणावरणादियोग्यतावन्तः कम्बुग्रीवाद्याकृतिमन्तो 'घट-पटा'दिप्रसिद्धसंविज्ञानपदनिबन्धनाः, बलीवर्दादीनां हलकर्षणादौ देशभेदेन 'पर-पर' 'बर-बर'—आदयोऽप्रसिद्धसंविज्ञानपदनिबन्धनाः । समाख्येयमसमाख्येयं वा संविज्ञानपदमर्थनिरूपणायावश्यकम् । नहि कश्चिदप्यर्थः स्वाकारेण वस्तुसत्तया वा व्यवहाराङ्गं भवति । संविज्ञानपदैस्तु पदश्रवणानन्तरं प्रथमं स्मृत्या ततोऽभिजल्पेन ततश्चाकारेण निरूप्यमाणो व्यवहाराङ्गं भवतीति प्रत्यक्षा प्रतीतिः । समाख्येयसंविज्ञानपदेष्वियं स्पष्टतरा । संविज्ञानपदजनितप्रतीत्या ह्यर्थः क्रमशो बौद्धिके वाचनिके आकारमये च स्वरूप आविर्भवति, व्यवहारेऽवतरति च । शब्दनिबन्धनं हि वस्तुनः स्वरूपमित्यर्थः । गौरित्युक्ते गोपदार्थः स्मृतोऽभिजल्पितश्च सास्नादिमत्स्वाकारं सत्तां च प्रकल्पयति । अनुक्ते तु सन्नप्यसन्निव । अथ च समाख्येयेष्वर्थेष्वासमाख्येयेष्वपि संविज्ञानपदमेव निबन्धनम् । 'पर्-पर्, बर्-बर्'-आदीनि पदानि नैव गमनाकर्षणाद्यर्थेषु शक्तिमन्ति भवन्ति, नैव च बलीवर्दादयो "याहि" "कर्षय" इत्यादिसमाख्येय-संविज्ञानपदेषु गृहीतशक्तयो भवन्ति । एवं स्थिते यदि पर्-पर्-बर्-बरादयः शब्दाः बलीवर्दादीनां व्यवहारप्रवृत्तिनिबन्धना भवन्ति, तेन ज्ञायते—सर्वा अप्यर्थविधाः शब्दमात्रासु नितरामाश्रिताः सन्तीति । दुरधिगमभेदानां षड्जादिस्वराणां भेदरूपेण 'सा'-'रे' इत्यादिनि संविज्ञानपदान्यप्यत्रार्थे निदर्शनानि । पूर्वोक्तशङ्कावसरस्तु तत्रास्त्येव । 'पर्-पर्-बर्-बर्' इति 'सा-रे' इत्युभयत्राप्यभ्यासस्यैव हेतुता विज्ञेया, मणिरूप्यादिमूल्यावधारणविज्ञानवदिति ।

अर्थविधा इति । अर्थगतं वैविध्यमित्यर्थः । आकृतिभेदेन, अनुभवगम्यताभेदेन चार्थानां विविधता सर्वत्र व्याप्ता । तत्र केचित्समाख्येया गोहस्त्यादयः, केचिच्चासमाख्येयाः, यथा मधुरत्वसामान्येऽपि गुड-शर्करास्वादादौ, ध्वनित्वसामान्येऽपि षड्ज-ऋषभादयः स्वराः । तत्रापि यत्र "सा-रे" इत्यादीनि निबन्धनपदानि प्रयुज्यन्ते तत्र भेदनिरूपणम् भवति, यत्र च गुड-शर्करास्वादादौ निबन्धनपदानि न विद्यन्ते तत्र तयोर्भेदनिरूपणमसम्भवमेव । एवमेव हि लक्ष्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थयोर्वैविध्यमपि बोध्यम् । "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ गङ्गापदनिबन्धनो हि पल्लीसामान्यभिन्नः शैत्य-पावनत्वा-

दिबोधः। लक्ष्य-व्यङ्गययोर्यदनभिधेयमसमाख्येयमर्थवैविध्यं तद्विशिष्ट-पदनिबन्धनमेव।

शब्दमात्रास्विति। शब्दस्य स्वसम्बन्ध्यर्थप्रकाशिकासु शक्तिष्वित्यर्थः। यथा यथा शब्दमात्रा प्रवर्तते परिवर्तते च तथा तथार्थविधापि प्रवर्तते परिवर्तते च। तेन ह्यर्थः शब्दशक्त्या संसृष्टः, शब्देन, मणिरिव सूत्रेणानु-विद्धः, शब्दात्मकश्च सन् प्रकाश्यते, श्रोत्रा गृह्यते, अर्थतया च व्यवहारेऽ-ङ्गीक्रियते॥ ११९॥

"वस्तुगत भेदरूपता का निरूपण करने की शक्ति शब्दों में हैं, यह सिद्ध हो जाने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह भेदरूपता-निरूपण अन्य प्रकार से, देखने-सूँघने आदि से, भी हो जाता है, फिर केवल शब्दों को ही यह श्रेय क्यों दिया जाय? उत्तर यह है कि अन्य साधनों की भेदरूपता-निरूपण-सामर्थ्य बहुत ही स्थूल और सीमित है, परन्तु शब्दों की यह सामर्थ्य अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक है। जैसे—

"संगीत में षड्ज, ऋषभ आदि स्वरों का भेद! इस भेद का निरूपण देखने सूँघने जैसे साधनों से, बल्कि सुनने से भी सर्वसाधारण के लिए, सुलभ नहीं। परन्तु 'सा' 'रे' 'ग' इत्यादि निबन्धनपदों (शब्दों) से षड्जादि स्वरभेद-निरूपण सुगमता से हो जाता है। अब यदि षड्जादिस्वरों का भेदनिरूपण शब्दों से हो जाता है तो समस्त अर्थगत विविधता भी शब्दशक्तियों में ही निहित है, यह भी स्पष्ट ही है।"

गायक जब आलाप आदि में कोई राग गाता है तो षड्ज आदि स्वरों को पहिचाना सब के लिए सम्भव नहीं, परन्तु जब 'सा-रे' आदि निबन्धन-पदों से राग निरूपित किया जाय तो स्वर के अन्तर का बोध साधारण जन को भी हो जाता है। ये अन्तरं बहुत सूक्ष्म हैं, फिर भी ये शब्दों से निरूपित हो जाते हैं। तब यह मानने में क्या कठिनाई है कि पदार्थों का परिच्छेदन करने की शक्ति शब्दों में है।

यहाँ भी यह शङ्का उठती है कि—'षड्ज' आदि स्वर शब्द हैं, 'सा-रे' आदि निबन्धन पद भी शब्द हैं। शब्द से शब्द का भेद-निरूपण सम्भव है। सजातीय से सजातीय का भेद-निरूपण होता ही है। जैसे सुगन्ध से दुर्गन्ध का, या छोटे से बड़ें का। किसी "छोटा" कहने से बड़े से भिन्न हो जाता है। यदि कोई वस्तु स्वरूप में छोटा है तो बड़ा उससे भिन्न होता है। परन्तु विजातीय से विजातीय का भेद-निरूपण नहीं होता। जैसे चन्दन की सुगन्ध से केवड़े की सुगन्ध का भेद तो हो जाता है, परन्तु 'पीताम्बर' का नहीं। इसी प्रकार शब्द से नदी-वन-पर्वतादि का

भेद कैसे हो सकता है ? अतः केवल षड्जादि स्वरों के निदर्शन द्वारा उक्त तथ्य की सिद्धि नहीं होती ।

यह शङ्का एक सीमा तक उचित है । परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि षड्जादि स्वरों के इस निदर्शन में हेतुता में कुछ कमी जरूर है, किन्तु इसके प्रामाण्य में कमी नहीं । शब्दों से विजातीय पदार्थों का परिच्छेदन होते देखा गया है । अन्य भेदकों की अपेक्षा शब्द की भेदकता (परिच्छेदकता) की यह एक अतिरिक्त विशेषता स्वीकारी जानी चाहिए और इस अतिरिक्त विशेषता के कारण उक्त तथ्य (पदार्थ-वैविध्य शब्दशक्ति में निहित हैं ।) की पुष्टि और भी दृढ़ता के साथ हो जाती है।

वैसे वास्तविकता यह है कि—तत्तत् पदार्थों की भेदवती वस्तु-सत्ता अपने-अपने संविज्ञान पदों पर निर्भर करती है । जो अर्थ जिस पद से संज्ञापित होता है, वही उसका संविज्ञान-पद है । ये संविज्ञान-पद दो प्रकार के हैं समाख्येय और असमाख्येय । जिनका समाख्यान हो सकता है, वे समाख्येय हैं । जैसे घट या पट । जिनका समाख्यान नहीं हो सकता वे असमाख्येय हैं । जैसे बैलों को प्रेरित करने के लिए देश-भेद से "रा-रा" 'पर-पर' 'वर-वर' आदि । समाख्येय संविज्ञान-पदों से पदार्थों का परिच्छेदन (भेदेनावधारणम्) होता है, यह स्पष्ट है । 'घट' शब्द का श्रवण होते ही श्रोता की बुद्धि में घड़ा उभर आता है । इसे 'स्मृतिनिरूपण' कहते हैं । श्रोता की बुद्धि में घड़ा ही क्या विश्व के समस्त पदार्थ भेद-रहित अवस्था में पहले ही वर्त्तमान हैं, परन्तु घट-पद-श्रवण से पूर्व घड़े की वहाँ कोई पृथक् सत्ता नहीं है । मानना चाहिए कि— घट' इस संविज्ञानपद से घड़े का आविर्भाव श्रोता की स्मृति में हुआ । इस प्रकार 'स्मृतिनिरूपणा' से परिच्छिन्न हुआ 'घट'-पदार्थ श्रोता के उच्चारण-संस्थानों में खेलने लगता है । अर्थात् श्रोता स्वयं में बुदबुदाने लगता है । इसे अभिजल्पनिरूपणा कहते हैं । यह 'घट'-पदार्थ का वाचनिक आविर्भाव है । यहाँ घड़े का दूसरा परिच्छेदन हुआ । तीसरा परिच्छेदन व्यवहार के समय होता है, जब वही श्रोता "घट है, नहीं है, घट को उठाओ, रखो" आदि के रूप में घट का व्यवहार करता है । श्रोता, जो अब व्यवहर्ता बन गया है, अन्य सभी पदार्थों की वस्तु-सत्ता की अनदेखी करके, घट को उसके आकार के साथ, अन्य-पदार्थों से पृथक् करके, व्यवहार में लाता है । इसे 'आकारनिरूपणा' कहते हैं । संविज्ञानपद-प्रयोग के बिना स्मृति (बुद्धि), वाणी और आकार में सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं होता । वस्तुगत भेद और सत्ता दोनों ही शब्द की शक्तियों में निहित हैं ।

असमाख्येय संविज्ञान-पदों के सम्बन्ध में यह और भी महत्त्वपूर्ण है । बैल जो हल खींचने के व्यवहार में प्रवृत्त होता है, 'चल', 'जल्दी चल' जैसे पदों या वाक्यों

का अर्थ नहीं जानता (इन पदों में उसे शक्ति-ग्रह नहीं होता) और 'पर-पर, वर-वर' आदि का चलना अर्थ नहीं होता। फिर भी बैल में व्यवहार में प्रवृत्त होता है। यह संविज्ञानपद का ही चमत्कार है। षड्जादिस्वरभेद-निरूपण में 'सा-रे-नि' आदि की यही स्थिति समझनी चाहिए ॥ ११९ ॥

शब्दनिष्पत्तिरूपेयं संसृतिः—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ १२० ॥

"अयं संसारः शब्दस्य परिणामः" इति आम्नायविदः आगमज्ञाः, विदुः जानन्तिस्म। जानन्ति कथयन्ति चेत्यर्थः। एतद् विश्वं प्रथमं सर्गादौ प्रथमतः, छन्दोभ्यः विदेभ्यः, सर्ववेदप्रकृतेः प्रणवादित्यर्थः। व्यवर्तत विवृत्तमभवत्।

शब्दस्येति। शब्दशक्तिनिबन्धनमिदं विश्वम्, सर्वा अप्यर्थविधाः शब्दशक्त्याश्रिता इति नास्मत्परिकल्पनामात्रम्, "छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत, अतः शब्दस्य परिणामोऽयं संसारः" इति त्वाम्नायविदोऽपि विदन्ति। तद्यथा—स उ एवैष ऋङ्मयो यजुर्मयः साममयो वैराजः पुरुषः। पुरुषो वै लोकः। पुरुषो यज्ञः। तस्यैता लोकम्पृणास्तिस्र आहुतयस्ता एव त्र्यालिखिता वै त्रयो लोकाः" इति। "एष वै छन्दस्यः साममयः प्रथमोऽक्षन् वैराजः पुरुषो योऽन्नमसृजत, तस्मात्पशवोऽन्वजायन्तः। पशुभ्यो वनस्पतयः, वनस्पतिभ्योऽग्निः।" इति।

इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची।
नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति ॥इति॥
वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद्वाग्बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न पदं यच्च नाह ॥इति॥

इत्यादि श्रुतयः,

विभज्य बहुधात्मानं सच्छन्दस्यः प्रजापतिः।
छन्दोमयीभिर्मात्राभिर्बहुधैव विवेश तम् ॥
साध्वी वाग्भूयसी येषु पुरुषेषु व्यवस्थिता।
अधिकं वर्तते तेषु पुण्यं रूपं प्रजापतेः ॥

इत्यादि पुराकल्पोऽपि।

सर्वमिदं हरिवृषभवृत्तौ यथायथं निर्दिष्टम्--कार्येषु कारणधर्मसमन्वयं दृष्ट्वा यथान्ये दार्शनिकाः सूक्ष्ममणुग्रामं, प्रधानशक्तिमविद्यां वा जगत्कारण व्यवस्थापयन्ति तथैव वैयाकरणाः शब्दात्मानं जगत्कारणमुरीकुर्वन्ति। एतदर्थे च पूर्वोक्ताः श्रुतयः पुराकल्पश्च प्रमाणमिति।

अत्रेदं विचारणीयं भवति—अन्ये दार्शनिकाः कार्येषु कारणधर्मसमन्वयं दृष्ट्वा कारणात्मकस्य मूलतत्त्वस्य परिणामभूतं विवर्तभूतं वा जगत् मन्यन्ते। यथा मृदणुधर्मस्य घटे समन्वयं दृष्ट्वा मृदः परिणामो घट इति। तथैव शाब्दिका कार्यरूपे जगति शब्दस्य कतमं धर्मसमन्वयं पश्यन्ति, येन ते शब्दस्य विवर्तं जगदित्युररीकुर्वन्ति ? श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वं हि शब्दस्य धर्मः, मांसासृगस्थित्वग्लोमादिसंघातभूते गवि को नाम श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वरूपो धर्मो दृष्टः शाब्दिकैर्येन ते गावं शब्दपरिणामभूतमङ्गीकुर्वन्ति। एवमन्यदपि। न च ग्राह्यत्वं, न शब्दधर्म इति वाच्यम्, प्रत्यक्षानुभूतिविषयत्वात्, "ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च" (वा० प० १।५५) इत्यादिना तथा स्वीकाराच्च। न च शब्दतत्त्वात्मकस्य शब्दब्रह्मणो विवर्तं गवादिपदार्थाः, शब्दतत्त्वस्य तूभे श्रुतिशक्तिरर्थशक्तिश्चेति वक्तव्यम्, छन्दोभ्य एव विश्वं व्यवर्तत इत्युक्तत्वात्। छन्दो नाम वेदः "अग्ने नय राये सुपथा (ऋ० १।१।१) इत्यादिमन्त्ररूपो वैखरी वर्णः।

अत्रेदं बोध्यम्—श्रुतिरूपो वैखरीवर्णो ग्राह्यो ग्राहकश्च, मन्त्ररूपेणोच्चार्यमाणो वेदराशिरपि वैखरीवर्ण एव। तस्माच्च वैखरीवर्णान्न विश्वं विवर्तते। शब्दतत्त्वात्तु विवर्तते, तस्य तूभे श्रुत्यर्थशक्ती, याभ्यां तत् नामरूपात्मकतया विवृत्तं भवति। तेन गवादिपदार्थेषु यदि नाम च रूपं च कार्यस्वरूपं दृश्यते तदा केनान्येन तेषां कारणभूतेन भाव्यम् ? ऋते शब्दतत्त्वात्। घटे हि मृत्तत्त्वं पृथिव्याः कारणभूतायाः समायाति, परं 'घट' इत्यभिधानं कुतः समायाति, ऋते च शब्दतत्त्वात्। "अस्तु तावदर्थानां नामात्मकता शब्दतत्त्वमूलिका, रूपात्मकता तु न" इत्यपि न वक्तव्यम्। यद्यर्थानां रूपात्मकता शाब्दी न स्यात्तदा शाब्दे प्रत्यक्षे नैव भासेत, रूपप्रत्यक्षे गन्धानाभासवत्। अत एव शब्दतत्त्वस्य श्रुत्यर्थशक्ती सिद्धान्त-

सिद्धे। शब्दो हि श्रावयति रूपयति च। इदं तु वैखरीवर्णस्याप्यपपन्नम्। शब्दतत्त्वं हि चिदचिदात्मके जगति विवर्तते। तच्च जगत्सचेतनानां मानवानां दर्शनानुभवविषयं सज्ज्ञानात्मा भूत्वा सवाचां बुद्धौ स्फोटरूपेण तिष्ठति। स च ज्ञानात्मा विवक्षावशात् वैखरीवर्णाकारेण तत्तत्पदार्थान् निबन्धनपदैः स्मृतिनिरूपणया, अभिजल्पनिरूपणया, आकारनिरूपणया च परिच्छिद्य व्यवहाराङ्गत्वेन तेषां वस्तुसत्तां करिकल्पयन्निवाविर्भावयति। एषा हि शब्दतत्त्वस्य प्रबोधवृत्तिः। स्वप्नवृत्तौ पुनस्तस्मिन्नित्य एके शब्दात्मनि सर्वेषां लयः। इदं च सर्वं इतः पूर्वं परत्र च यथायथं प्रतिपादितमिति ततस्ततोऽप्यवगन्तव्यम्। अत्र प्रकरणे "छन्दः" "वेदः" इत्यस्य सर्ववेदप्रकृतिः "प्रणव" इत्यर्थो बोध्यः, स च शब्दतत्त्वमेव। "ओंकार एव सर्वा वाक्" इति।
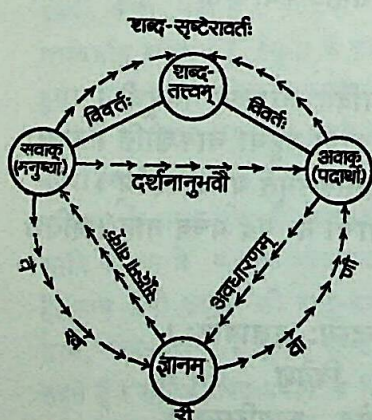
यस्तु नागेशेन—"प्रलये नियतकालपरिपाकानाम्" इत्यादिभिः प्रघट्टकैर्लघुमञ्जूषायां[1] शब्दसृष्टिप्रक्रमः प्रदर्शितः, स तु स्फोटविषयक एव, "एतत्सर्वगतमपि प्राणिनां मूलाधारे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते" इति "तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः" इत्यादिवचनात्। अन्यथा मूलाधारवतां प्राणिनां कुतः सम्भवः ? इत्यनुत्तीर्णं तिष्ठति। जडत्वं चापि शब्दब्रह्मण आपद्यते।

परिणाम इति, व्यवर्ततेति च। परिणाम-विवर्त-शब्दौ हि क्रमशः—"उपादानसमसत्ताककार्यापत्तिः", "उपादानविषमसत्ताककार्यापत्तिः" इति पारिभाषिकौ। अत्र तु परस्परविरुद्धपरिभाषयोर्युगपत्प्रयोगो ग्रन्थकृता कृत इति किमत्र ग्रन्थकृतोऽभिप्रेतमिति सन्देहः। अत्रायं विवेकः—सम्भवत आसीत्परिणामविवर्तयोरविशेषः पूर्वेषाम्, अणु-परमाण्वोरिव।[2] (यथा—वा० प० १।११०, १११) यद्येवं स्यात्तदा परिणामशब्दोऽप्यत्र विवर्तपर एव बोध्यः, सिद्धान्तानुरोधात्, हेलाराजादिभिस्तथैव व्याख्यातत्वाच्च। विवर्तशब्दस्तु न परिणामपरः, पारिभाषिकेऽर्थे विश्वस्य शब्दपरिणामत्वासम्भवात्, अनेकदोषदुष्टत्वाच्च। एतेन—ये केचित् "व्यवर्तत" इत्यस्य

---

१. लघुमञ्जूषा, पृ० १६८ (चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी १९८५ वि०)।

२. यथा शान्तिरक्षितस्य तत्त्वसंग्रहे "अनादिनिधन"मिति वाक्यपदीयकारिकाया भावानुवादः—"यत्तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते" इति।

यथा वा भवभूतिः—"आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान्" अम्भोविकारान् विवर्तान् मनुते।

"व्यजायत" इति सामान्यमुत्पत्तिपरकमर्थमादाय 'विवर्त-परिणाम'-जनित सन्देहमुपेक्षन्ते तेऽपि निरस्ताः । येऽपि "शब्दब्रह्मणो विवर्तं जगत्, वैखरी-वर्णस्य तु परिणामः" इति विविच्य शब्दद्वयोपादानं सङ्गमयन्ति, तेऽपि न युज्यन्ते, वैखरीवर्णोत्पत्त्यनन्तरमर्थपरिच्छेदरूपकार्यक्षणे वैखरीवर्णसत्तायाः सिद्धान्तविरुद्धत्वेन परिणामपरिभाषाभङ्गात् ॥ १२० ॥

"यह संसार शब्द का परिणाम है ।" वेदज्ञ विद्वान् ऐसा कहते हैं । प्रथमतः यह समस्त विश्व वेदों से ही विवर्तित हुआ है ।

संसार का उपादान-तत्त्व शब्द है, ऐसा उल्लेख उपनिषदादियों में बहुधा पाया जाता है । अतः विश्व की निबन्धनी शक्ति शब्दों में निहित है, यह कथन और इस प्रकरण में किया गया उसका विवेचन केवल परिकल्पना नहीं है । आम्नायविद् विद्वानों के उल्लेख इसमें प्रमाण हैं । इन प्रमाणभूत वचनों का निर्देश हरिवृषभ ने अपनी वृत्ति में किया है । (संस्कृत टीका में देखें ।) जैसे अन्य दार्शनिक कार्यों में कारण के धर्म को अनुगत देखकर कार्य के प्रति कारण की परिकल्पना करते हैं और तदनुसार अणुओं को (नैयायिक), प्रधानशक्ति को (सांख्यीय), अविद्या को (वेदान्ती), जगत्कारण मानते हैं तथा वेदों, उपनिषदों में आये हुए उल्लेखों को स्वपक्षपोषण के लिए उद्धृत करते हैं, वैसे ही वैयाकरण भी "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" इत्यादि श्रुतिवचनों को आधार मान कर शब्द को जगदुपादान स्वीकार करते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि—अन्य दार्शनिक, उदाहरणार्थ नैयायिक, तो घड़े में मृत्कणों और पृथिवी में पार्थिव परमाणुओं का धर्म-समन्वय देखकर घड़े या पृथिवी को परमाणुओं का परिणाम मानते हैं और इसीलिए परमाणुओं को जगदुपादान मानते हैं । परन्तु शाब्दिक वैयाकरण जगत् रूप कार्य में कारण के रूप में अभिमत शब्द का कौन-सा धर्मसमन्वय देखते हैं, जो वे शब्द को जगदुपादान मान लेते हैं ? शब्द का स्पष्टतम धर्म है—श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्यता । 'गो' आदि पदार्थों में कौन-सी श्रवणेन्द्रियग्राह्यता शाब्दिकों को दिखाई देती है ? जो वे उसे शब्द का विवर्त मान लेते हैं । "अग्ने नय राये सुपथा अस्मान्" आदि वर्णमय वेदमन्त्रों से विश्व का पैदा होना भी कितनी अट-पटी बात है ?

समाधान यह है कि—श्रवणेन्द्रियग्राह्य वैखरी वर्ण जगदुपादान नहीं है । शाब्दिकों का जगदुपादान वह शब्दतत्त्व है, जिसमें श्रुति-शक्ति और अर्थ-शक्ति ये दोनों शक्तियाँ हैं । इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा शब्दतत्त्व नामात्मक और रूपात्मक होकर विवर्तित होता है । "गौरित्ययं शब्दः" "गौरित्ययमर्थः" इस प्रकार से एक

ही शब्दतत्त्व नाम और रूप, वाच्य और वाचक बन जाता है। इसलिए गो आदि पदार्थों में जो 'नाम' और 'रूप' दिखाई देते हैं, उसका कारण कौन हो सकता है? शब्दतत्त्व के अतिरिक्त। अणुग्राम तो गो-पदार्थ को केवल रूप दे सकता है, नाम नहीं। घड़े में पार्थिवत्व कारणभूत पृथिवी से आता है, तो 'घड़ा' यह नाम कहाँ से आता है? शब्द-तत्त्व के अतिरिक्त। "अच्छा, मान लेते हैं कि पदार्थों में नामात्मकता शब्दतत्त्व से आती है परन्तु रूपात्मकता तो नहीं आती" यह कथन भी उचित नहीं। पदार्थों में रूपात्मकता भी शब्दतत्त्व से ही आती है। यदि ऐसा न होता तो शब्द-श्रवण से रूप की प्रतीति नहीं होती, जैसे रंग (रूप) देखने से गन्ध की प्रतीति नहीं होती। अतः पदार्थों की रूपात्मकता भी शब्दतत्त्व से ही आती है। इसीलिए शब्दतत्त्व की श्रुति-शक्ति और अर्थ-शक्ति दोनों ही सिद्धान्त-सम्मत हैं। शब्द सुनाता भी है और दिखाता भी है। यह गुण वैखरी वर्ण में भी है।

शब्दतत्त्व का विवर्त-क्रम यह है कि—शब्दतत्त्व चित् और अचित् जगत् में अपनी ही नित्य-शक्तियों के द्वारा (जो कि कालशक्ति के आश्रय से कार्य करती हैं) विवर्तित होता है। (देखिए—वा० प० १।२,३) विवर्तरूप वह जगत् सचेतन मनुष्यों के दर्शनानुभव का विषय बनकर मनुष्यों का ज्ञानात्मा बन जाता है। (देखिए—वा० प० १।११२ और उसकी टीका) सवाक् मनुष्यों की बुद्धि में यही स्फोट है। यही विवक्षावशात् वैखरी वर्ण बनता है। (देखिए—वा० प० १।११३, १४, १५) यह वैखरी वर्ण निबन्धन पदों के रूप में स्मृतिनिरूपणा से, अभिजल्प-निरूपणा से और आकारनिरूपणा से तत्तत् पदार्थों का व्यावहारिक आविर्भाव, तिरोभाव करता है। (देखिए—वा० प० १।११८, ११६ और उसकी हिन्दी टीका) आविर्भूत पदार्थ सामान्यतया पुनः मनुष्य का ज्ञानात्मा बन कर तिरोहित हो जाते हैं, फिर समयानुसार उसी क्रम से आविर्भूत हो जाते हैं। हाँ, सर्गान्त में शब्द-तत्त्व में ही लीन होते हैं। यह सारा क्रम शब्दतत्त्व की स्वप्न-प्रबोधवृत्ति कहलाती है। (देखिए—वा० प० १।११८ की टीका) यह सारा विषय इससे पहले और बाद में भी स्थान-स्थान पर वर्णित है, वहाँ भी देख लेना चाहिए। (स्पष्टता के लिए संस्कृत-टीका में चित्र देखें)।

इस कारिका में विवर्त और परिणाम शब्दों का प्रयोग एक-साथ किया गया है, जब कि ये परस्पर विरुद्ध अर्थों में पारिभाषिक हैं। ऐसा लगता है कि किसी समय इनका प्रयोग पर्यायेण होता रहा है। इसके प्रमाण मिलते हैं। इस कारिका में प्रयुक्त 'परिणाम' का अर्थ 'विवर्त' मान लेना ही उचित है। अन्यथा-लेने से कई आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। पूर्व-व्याख्याताओं ने ऐसा ही माना है, सिद्धान्त-सङ्गति भी इसी प्रकार बैठती है ॥ १२० ॥

सर्वा हि लोकप्रवृत्तिः शब्दाश्रया—

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥ १२१ ॥

लोके लोकव्यवहारे, सर्वा इतिकर्तव्यता इदं कर्तव्यमित्येतत्प्रकारको बोधः, शब्दव्यपाश्रया शब्दः व्यपाश्रयः कारणं यस्याः सा, शब्दाश्रितैव शब्दप्रयोगेनैव व्यवहारोऽनुगम्यत इत्यर्थः । यां च इतिकर्तव्यतां पूर्वाहित-संस्कारो जन्मान्तरीयसंस्कारवान्, वंशक्रमानुगत संस्कारवान् बालोऽपि अगृहीतदुग्ध-मात्रित्यादिविशिष्टानुपूर्वीशक्तिः शिशुरपि प्रतिपद्यते (अव-गच्छति) अनुवर्तते (वा) ।

इतिकर्तव्यतेति । प्रकारवचन इतिः । एतत्प्रकारकं कर्म वस्तु कर्तव्यम्, इति कर्तव्यम्, तस्य भाव इतिकर्तव्यता । तव्यतो भाववचने तु स्वार्थे तल् । करणीये प्रवृत्तिः कर्तव्यभावना वेत्यर्थः । "किम्प्रकारकं कर्तव्यम् ?" इति काङ्क्षितेऽनाकाङ्क्षिते च इतिप्रकारकं कर्तव्यमिति शब्दैरेव प्रवृत्तिरव-धार्यते । अतः सर्वापीतिकर्तव्यता शब्दव्यपाश्रयैव । "कुरु"-"गच्छ"-"उत्तिष्ठ"-"आनये"त्यादि करणीयं प्रति प्रवृत्तिः शब्दाधीना । गच्छेत्याद्यन्यैरुक्तः पुरुषः प्रवर्तते । स्वयमेव कार्यप्रवृत्तः पुरुषः स्वेनैव बौद्धेन शब्दव्यापारेण, उपांशुप्रयोगेण वा प्रवर्तते ।

लोक इति । शास्त्रे ह्यर्थात्मकस्य जगतः सत्ता प्रातिभासिकी, विवर्त-सिद्धान्तस्वीकारात्, परं लोकेऽपीतिकर्तव्यतया व्यवहर्तव्यस्य वस्तुनः सत्ता न वास्तवी दृश्यते, शब्दव्यपाश्रया तु सा । न हि कश्चिदर्थसत्तात्मकेन गवा-दिना व्यवहरति, शब्दपरिच्छिन्नेन तु तेनैव पुनर्व्यवहरति । शशविषाणा-दाविदं नितरां स्पष्टम्, असतापि शशविषाणपदप्रकल्पितेन वाचा समुत्थाप्य-मानेनार्थेन लोको येन हेतुना व्यवहरति, तेन ज्ञायते सर्वापीतिकर्तव्यता शब्दव्यपाश्रयैव । काव्य-नाटकादौ रस-निष्पत्तिः साधारणीकरणञ्च शब्द-व्यपाश्रयमेव । स्वशयनीये शयानस्य काव्यपाठकस्य रामादीनां नदी-वन-निर्झराणां च विभावानुभावादीनां शब्दव्यपाश्रयैव प्रतीतिस्तत्कृतकारुण्या-दिना बाष्पविमोक्षणादिव्यवहृतिश्च, बलिं बन्धयति, कंसं घातयतीत्यादौ नाट्येऽभिनेतृणां बन्ध-वधानुभवस्तथा तथा प्रतिक्रिया च ।

बालोऽपीति । सा चेयं शब्दव्यपाश्रयेतिकर्तव्यतागृहीतविशिष्टानुपूर्वी-शक्तिमतां बालानामपि दृष्टा । तत्र हेतुस्तु जन्मान्तरीयः संस्कारः ।

पुनर्जन्मसिद्धान्तानभ्युपगमे तु वंशक्रमानुगतः स्वजातीयपूर्वपुरुषेभ्य आगतः संस्कारो ज्ञेयः। समायान्ति हि पूर्व-पूर्वपुरुषाणां गुण-धर्मसंस्कारा उत्तरोत्तरपुरुषेष्विति सुस्थापितोऽद्यतनः सिद्धान्तः। एवं च पूर्वाहितसंस्कारवान्बालोऽपि शब्दव्यपाश्रयामितिकर्तव्यतां प्रतिपद्यते।। १२१ ।।

"इस प्रकार का कार्य या व्यवहार करना चाहिए" इसका ज्ञान शब्दों पर ही निर्भर रहता है। लोक-व्यवहार में यही दिखाई देता है। शब्दों के कारण ही कर्तव्य का प्रकार निश्चित होता है और उसी से व्यवहार-प्रवृत्ति होती है। अर्थ-प्रवृत्ति के प्रति शब्द की इस अनिवार्य स्थिति की कोई भी उपेक्षा नहीं कर सकता। छोटा-सा बालक भी जन्मान्तरीय संस्कार के कारण या पूर्वपुरुषों के वंशानुगत संस्कार के कारण इसका अनुसरण करता है। बालक में यह पूर्वसंस्कार के कारण स्वतः आ जाती है।

क्या करना है? कैसे करना है? इस प्रकार की कर्त्तव्य-भावना शब्दों के द्वारा ही पैदा होती है। व्यवहर्तव्य पदार्थों का होना या न होना अथवा उनका व्यावहारिक अस्तित्व भी शब्दों में ही निहित है। शब्दपूर्विका अर्थप्रवृत्ति चाहे-अनचाहे अपने आप होती है। किसी के "आओ" "जाओ" कहने पर ही मनुष्य कार्यप्रवृत्त होता है, यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु स्वयमेव कुछ करने के लिए प्रवृत्त मनुष्य में भी प्रवृत्त होने से पहले बौद्धिक या उपांशु शब्द-व्यापार होता है।

शब्द की शक्ति से असत् पदार्थों को भी आकार मिल जाता है। 'सर्प' की अनुपस्थिति में भी 'सर्प' शब्द के श्रवण से पलायन की प्रवृत्ति होती देखी गई है। काव्यों में केवल शब्दों से ही रस-निष्पत्ति और साधारणीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न हो जाती है। शब्दों में निहित इस इतिकर्तव्यता को भाषाज्ञान से रहित बालक भी वंशक्रमानुगत संस्कारों के कारण अपना लेता है। उसे समझता भी है।। १२१ ।।

अनादिर्हि प्राणिनां शब्दभावना—

> आद्यः करणविन्यासः प्राणस्योर्ध्वं समीरणम्।
> स्थानानामभिघातश्च न विना शब्दभावनाम्।। १२२ ।।

आद्यः प्रथमः, करणविन्यासः जिह्वा-कण्ठताल्वादीनां विनियोगः, प्राणस्य प्राणवायोः, ऊर्ध्वं मुखं प्रति, समीरणं प्रेरणं, स्थानानां उच्चारणस्थानानाम्, अभिघातः संयोजन-वियोजने चेति सर्वोच्चारणप्रक्रिया, अशिक्षिते शिशौ या दृश्यते, सा शब्दभावनां विना न सम्भवति।

शब्दभावनामिति। यदुक्तं पूर्वकारिकायां "शब्दव्यपाश्रयामितिकर्तव्यतां बालोऽपि प्रतिपद्यते" इति तत्र बालः शब्दपूर्वकं व्यवहरतीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्यते। पूर्वाहितसंस्कारवान्बाल इत्यत्रापि किं प्रमाणमिति च। तत्रेदं प्रतिविधीयते--दृश्यते हि बालेष्वपि शब्दभावना। यदि सा न स्यात्तदा भाषा-ज्ञानरहितो बालः कथमकारेकारादिवर्णोत्पत्त्यनुकूलतया जिह्वादीन्युच्चारणकरणानि यथायथं विन्यसेत्, तथाकर्तुं वा चेष्टेत? कथं प्राणानूर्ध्वं समीरयेत्, ताल्वादिस्थानानि वाभिहन्यात्? चेष्टते हि बालस्तथा तथा, तेन ज्ञायते--"अस्ति हि बालस्यापि शब्दभावना," यथास्मदास्मदादीनाम्।

अनादिश्चैषा शब्दभावना प्रतिपुरुषमवस्थिता, तेन शब्दपूर्वको ह्यर्थाधिगमः, शब्दव्यपाश्रया हीतिकर्तव्यतेति॥ १२२॥

भाषाज्ञानरहित बालक बोलने की चेष्टा करता है। इससे अनुमान (अनुमान प्रमाण न कि अन्दाजा) होता है कि बालक में शब्द-भावना है। शब्दभावना के विना वह जीभ का सञ्चालन, प्राणवायु को ऊपर उठाना, तालु आदि से जीभ टकराना जैसी वर्णोत्पत्ति के उपयुक्त चेष्टाएँ कैसे करता?

बालकों में शब्दव्यपाश्रया इतिकर्तव्यता होती या नहीं, उसमें वंशक्रमानुगत शब्दसंस्कार-शब्दभावना होती है या नहीं, इस पर शङ्का उठाई जा सकती है। यदि बालक में शब्दभावना न हो तो उसकी इतिकर्तव्यता, अर्थप्रवृत्ति, शब्दव्यपाश्रया नहीं होगी और फिर पूर्वकारिका में स्थापित "इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया", यह सिद्धान्त पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसका समाधान "बालक में शब्दभावना होती है", यह सिद्ध करके सुगमता से किया जा सकता है। "बालक में शब्दभावना होती है" यह तो ऊपर वर्णित अनुमान-प्रमाण से सिद्ध है, अतः "सभी इतिकर्त्तव्यताएँ शब्दों में निहित हैं", यह भी सिद्ध ही है।

वास्तव में सभी प्राणियों में शब्दभावना अनादि और स्वभाव-सिद्ध है॥१२२॥

सर्वं ज्ञानं शब्दानुविद्धम्--

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ १२३॥

सः प्रत्ययः प्रतीतिः बोधो वा, लोके संसारे, नास्ति यः शब्दानुगमात् शब्दस्य अनुगमात्, ऋते शब्दस्यानुगमनमकृत्वा स्यात्। सर्वं ज्ञानं ज्ञानमात्रं,

शब्देन अनुविद्धम् अनुस्यूतम्, इव भासते प्रतीयते। यथा मणयः सूत्रानुविद्धा एव हाराकारं स्वरूपं धारयन्ति तथैव सर्वमपि ज्ञानं शब्दानुविद्धं सत् ज्ञानाकारेण प्रतीयते।

प्रत्यय इति। प्रत्ययः प्रतीतिः, बोधो ज्ञानं वा। ज्ञानं चेन्द्रियार्थसन्निकर्षोपनीतं वस्तुविषकं प्रत्यक्षम्। निद्रा-बुभुक्षा-भयोद्वेग-रत्युत्साहादिकमन्तःकरणसंवेद्यमपि ज्ञानमेव प्रतीत्यनूभूत्यादिशब्दवाच्यम्। एतच्च सर्वं सदर्थविषयकमत्यन्तासदर्थविषयकं सदसदर्थविषयकमिति त्रिधा भवति पुनश्च वक्तृ-श्रोतृ-बुद्धिवृत्तित्वेन द्विधा भवतीति प्रत्ययस्य विस्तारः।

शब्दानुगमादिति। सर्वापीतिकर्तव्यता शब्दव्यपाश्रया, यां बालोऽपि प्रतिपद्यते, शब्दभावनां विना शब्दोच्चारणादिकार्यप्रवृत्ति न सम्भवतीति पूर्वमुक्तम्। अत्र तु प्रत्ययोऽपि शब्दानुगमादृते न सम्भवतीत्युच्यते। ज्ञानमात्रं शब्दानुगतमित्यर्थः। जातेऽप्यर्थप्रत्यक्षे संवेदने वा न तावद् 'ज्ञायते' इत्याकरिका ज्ञानावस्था समुत्पद्यते यावत्तादृशज्ञानविषयकः शब्दो बुद्धौ नाधिरोहति। किं ज्ञायते ? घट इति, किं वेद्यते ? बुभुक्षेति। वस्तुस्वरूपं वेदनस्वरूपं च शब्दाकारेणैव ज्ञाने प्रत्यवभासते। अत्यन्तानिर्वचनीयेषु संवेदनेषु "किमपि किमपि" वेद्यते, इति शब्दानुगतमेव ज्ञानं भवति। अत एव ब्रह्मज्ञाने "नेति-नेति" शब्दप्रयोगः। न केवलं ज्ञानं ज्ञानं भवति, शब्दानुगतं तु ज्ञानं ज्ञानं भवतीति विज्ञेयम्। मूकबधिराणां पशूनां चापि तीव्रसंवेदनेषु "आकारेकारमकारहुङ्कृत्यादयो ज्ञानस्य शब्दानुगतित्वं प्रदर्शयन्ति। सामान्यसंवेदनेषु तिवन्द्रियवैकल्यान्नेति विवेक्तव्यम्।

अनुविद्धमिवेति। यथा मणयः सूत्रेणानुविद्धा हाराकारेण प्रतिष्ठन्ते, तद्वद् ज्ञानं शब्देनानुविद्धमिव भासत इत्युत्प्रेक्ष्यते। सूत्रानुवेधं विना न हारस्य प्रतिष्ठा। शब्दानुवेधं विना न ज्ञानस्य प्रतिष्ठा। ज्ञाने वास्तविकवेधस्यासङ्गतत्वादिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

संसार में ऐसा कोई ज्ञान (जानकारी या संवेदना) नहीं, जो शब्दों के बिना ही हो जाता हो। ज्ञान तो शब्दों से कुछ इस प्रकार से बिंधा हुआ है, जैसे धागे से मणियाँ। ज्ञान की प्रतीति शब्दानुविद्ध होकर ही होती है।

बाह्य इन्द्रियों से रूप-रस आदि की प्रतीति तथा अन्तःकरण में सुख-दुःख आदि की अनुभूति जो-कुछ भी, जैसी भी हमें होती है, वह शब्दानुगम के बिना नहीं होती। जब तक प्रतीति या अनुभूति को प्रकट करने वाला शब्द बुद्धि में नहीं

आता, तब तक वस्तु का प्रत्यक्ष या सुख-दुःख की संवेदना होने पर भी "जान लिया" ऐसी ज्ञानावस्था प्राप्त नहीं होती। क्या देखा ? 'घड़ा' ! क्या लगी है ? 'भूख' ! 'घड़ा' 'भूख' इन शब्दों के रूप में ही तद्विषयक ज्ञान भासित होता है। जो संवेदनाएँ अत्यन्त अनिर्वचनीय होती हैं, जहाँ स्पष्टतः घड़ा, भूख जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं हो पाता, वहाँ भी "कुछ-कुछ-सा लगता है" ऐसी शब्दानुगत प्रतीति होती है। "गूंगे का गुड़" जैसे मुहावरे इसी स्थिति को प्रकट करते हैं, अर्थात् अनिर्वचनीय से अनिर्वचनीय अनुभूति भी शब्दमयी बनकर ही 'ज्ञान' हो पाती है। इसीलिए "ब्रह्मज्ञान" "नेति-नेति" शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। ज्ञान तब तक ज्ञान नहीं, जब तक वह शब्दानुगत न हो, यह सुनिश्चित है।

तर्क और युक्ति-प्रदर्शन के लिए सम्भवतः गूंगे-बहरों और पशुओं के ज्ञान के सम्बन्ध में कोई यह कहे कि इनका ज्ञान शब्दानुगत कैसे होगा ? तो उनका यह कथन उचित नहीं होगा। शब्दभावना के लिए किसी व्यवहृत भाषा का पूर्वज्ञान आवश्यक नहीं होता। गूंगों में, जो बहरे होने के कारण गूंगे होते हैं, जन्मजात शब्दभावना अन्य बालकों के समान होती है। (बालकों में शब्दभावना होती है, इसका प्रतिपादन पहले हो चुका है (वा० प० १।१२२) जो मुख-विकृति के कारण गूंगे होते हैं, उनके पास भाषाज्ञान होता है। अतः उनके सम्बन्ध में यह शङ्का उठती ही नहीं। जहाँ तक पशु-पक्षियों का प्रश्न है, उनकी शब्दभावना उस भाषा में तो नहीं होती, जिसमें मनुष्यों की होती है, परन्तु उनकी शब्द-भावना होती है, यह निश्चित है। उनके व्यवहार और रँभाने-चहचहाने से इसका अनुमान (प्रमाण- न कि अटकल) सहज ही हो जाता है। अपनी अविकसित वागिन्द्रिय के कारण वे स्पष्ट बोल नहीं पाते, यह अलग बात है ॥ १२३ ॥

वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ १२४ ॥

यदि चेत्, शाश्वती नित्या, वाग्रूपता ज्ञानस्य शब्दस्वरूपत्वं, उत्क्रामेत् विच्छिन्ना स्यात्, तदा प्रकाशः ज्ञानं, न प्रकाशेत किमपि ज्ञेयं न विज्ञायेत। हि यतः, सा वाग्रूपता, एव प्रत्यवर्मशिनी ज्ञेयस्य विमर्शहेतुः।

वाग्रूपतेति। ज्ञानस्य हि वाक् रूपम्, यथाग्नेः (प्रकाशस्य) प्रकाशकत्वं रूपम्, अन्तर्यामिणश्च चैतन्यं रूपम्। यदि हि प्रकाशस्य प्रकाशकत्व-मुत्सीदेत्, चैतन्यं वान्तर्यामिणः, तदा प्रकाशोऽन्तर्यामि च नैव भवेताम्। एवं च ज्ञानस्य वाग्रूपतायामुत्क्रान्तायां ज्ञानमपि न भवेत्। प्रकाशो हि प्रकाश्यवस्त्वाकारानुग्रहणेव प्रतीयते, अन्तर्यामी च चैतन्यानुग्रहेण। ज्ञान-

मपि वाग्रूपानुषङ्गेन ज्ञानत्वेनोपादीयते। अतएव वाग्रूपता ज्ञानस्य शाश्वतो धर्मः। यदि सोत्क्रामेत्, ज्ञानं ज्ञेयवस्तुज्ञापने सर्वथासमर्थः स्यात्। ज्ञापनाभावे ज्ञानं नास्त्येव।

प्रकाश इति। प्रकाशो ज्ञानं तेजश्च स्वपररूपप्रकाशकत्वात्। तत्र तेजोरूपी प्रकाशो वस्तुषु पतितोऽपि न तावत्प्रकाशनव्यापारसम्पादने समर्थः, यावत् "घटोऽयम्", 'पटोऽयम्', 'तदिदम्' इत्यादि वाग्रूपतानुषङ्गो नास्ति। प्रकाशितान्यपि वस्तून्यप्रकाशितान्येव वाग्रूपतानुषङ्गाभावे। न प्रकाशते प्रकाशस्तेजोरूपी वाग्रूपतां विना, न च प्रकाशो ज्ञानरूपी वाग्रूपतां विना। वाक् तु प्रकाशमपि (ज्ञानं तेजश्च) प्रकाशयति। अत एव—"योऽयं जातवेदाः, यश्चायं पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः, यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशस्तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धम्, यावत्स्थास्नु चरिष्णु च", इत्याहुः।

प्रत्यवमर्शिनीति। अनुव्यवसायो प्रत्यवमर्शः। प्रकाशितस्य ज्ञातस्य चावधारिका हि वागित्यर्थः। "योऽयं जातवेदाः" इत्यादि श्रुत्युक्तदिशा प्रकाशस्य बाह्यतेजोरूपेण प्रकटस्य, पुरुषान्तरावस्थितस्यात एवाप्रकटस्येत्युभयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशो वाक्। सा तूभयेन प्रकाशेन प्रकाशितमपि प्रकाशयतीति तस्या अनुव्यवसायः। वाग्रूपतानुगमादृते ज्ञातं जातं च सर्वमनुपन्नमिति सैव प्रत्यवमर्शिनी। तस्यामेव सर्वमुपनिबद्धं यावत्स्थास्नु चरिष्णु च। तदुत्क्रमे न किमपीति॥ १२४॥

ज्ञान की यह शाश्वत वाग्रूपता (शब्दमय, शब्दस्वरूप होना) यदि उच्छिन्न हो जाय तो प्रकाश भी प्रकाशित न हो। वाग्रूपता ही प्रकाश को प्रकाशित करनेवाली प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है।

ज्ञान (इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष या संवेदन) का स्वरूप क्या है? जैसे अग्नि का स्वरूप क्या है?...प्रकाशकत्व! अन्तर्यामी जीवात्मा का स्वरूप क्या है?...चैतन्य! यदि ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न किया जाय—ज्ञान का स्वरूप क्या है? तो एक ही उत्तर सामने आयेगा—वाग्रूपता! इस वाग्रपता के बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता। प्रकाशकत्व बिना अग्नि के नहीं, चैतन्य के बिना अन्तर्यामी नहीं और वाग्रूपता के बिना ज्ञान नहीं। (देखें—वा० प० १।१२३)

प्रकाश जब किसी वस्तु पर पड़ता है तो क्या होता है?...क्या वह वस्तु प्रकाशित हो जाती है?...नहीं होती। सम्भवतः ऐसा सुनकर किसी को अट-पटा-

सा लगे, परन्तु वास्तविकता यही है। प्रकाश पड़ने-भर से वस्तुएँ प्रकाशित नहीं होतीं। वे प्रकाशित तब होती हैं, जब "घड़ा" इस प्रकार का वाचनिक या बौद्धिक शब्द-प्रयोग उनके विषय में होता है। भौतिक विज्ञानी शायद चौंकें, परन्तु सत्य यही है कि प्रकाश द्वारा सम्पादित रूप-प्रत्यक्ष का कोई अर्थ नहीं, जब तक वह वाग्रूपता से अनुगृहीत न हो, शब्दों के साँचे में न ढल जाय। सभी प्रत्यक्षज्ञानों की यही स्थिति है। वाग्रूपता उच्छिन्न हो जाय तो प्रकाश भी प्रकाशित न हो। बिल्कुल सीधी-सी बात है।

प्रकाश और ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक होने से समानधर्मा हैं। वाग्रूपता के सम्बन्ध में जो स्थिति प्रकाश की है, वही ज्ञान की है। प्रकाश प्रकाश्य वस्तु के आकार में गृहीत होता है और ज्ञान ज्ञेय वस्तु के आकार में। दोनों की इस समान-धर्मिता के कारण ज्ञान को प्रकाश भी कहते हैं। वाणी या वाक् इन दोनों को प्रकाशित करने वाला तत्त्व है॥ १२४॥

सर्वविद्याकलाशिल्पानां कारणं वाक्—

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥ १२५॥

सा वाग्रूपता सर्वविद्याशिल्पानां सर्वासां विद्यानां, सर्वेषां शिल्पानां कलानां च उपबन्धनी कारणभूता अस्ति। तद्वशात् वाग्रूपतावशात् हेतोः अभिनिष्पन्नं निष्पत्ति स्वरूपाकारसत्तां प्राप्तं, सर्वं वस्तु वस्तुमात्रं पदार्थमात्रं, विभज्यते स्व-स्वरूपेषु विभक्तं भवति।

सेति। जगति खलु प्राकृतिकं कृत्रिमं च वस्तुजातमुपलभ्यते। तत्र प्राकृतिकाः पृथिव्यप्तेजःप्रभृतयः पदार्थाः शब्दतत्त्वस्य विवर्तभूताः सिद्धान्तिताः। विवर्तभूतानामपि तेषां प्रकाशाप्रकाशौ वाग्रूपतायामुपनिबद्धौ, इति च प्रतिपादितम्। परं सन्ति हि वस्तूनि कृत्रिमाण्यपि, तेषां च कर्तारः कारणान्यपि प्रत्यक्षेण समुपलभ्यन्ते। तेषां कार्ये व्यवहारे च वाचः क उपयोगः। अद्यत्वे वायुयानादीनामुत्पादने सञ्चालने च वाचः कतरत्कर्तृत्वं कारणत्वं वा सम्भाव्यते? अत्रोच्यते—वागेव सर्वासां विद्यानां (Knoladge) कारणम्, सर्वेषां शिल्पानां (Technology) कारणम्, सर्वासां कलानां (Arts) च कारणमिति प्रत्यक्षेण सर्वे जानन्त्येव। तद्विद्या-शिल्प-कलावशादभिनिष्पन्नमभिनिष्पादितं च विभिन्नं घट-पटादिकं वायुयान-उपग्रहादिकं च वस्तुजातं वाग्रूपतोपनिबद्धं भवत्येवेति कः शङ्कावसरः।

तद्वशाविति । विद्याशिल्पादयो हि वाग्रूपतायामुपनिबद्धाः । वाग्रूपतावशाच्च सर्वाणि लौकिकानि वैदिकानि च कार्यजातानि निष्पद्यन्ते । पश्वादीनामपि सवाचां मनुष्याणां प्रवर्तनया कार्यजातानि निष्पद्यन्त इति, उक्तप्रकारेण च सर्वोऽपि वस्तुविभागो वाग्रूपतावशादेव ।

विभज्यत इति । प्रतिभात्मके जगति सर्वोऽपि वस्तुविभागो, भेदरूपेण प्रतीतिः, शब्दशक्तिमूलकः । 'घटोऽयम्' 'पटमिदम्' इति वस्तुगतो भेदः शब्दैरेव निरूप्यते । अत्र 'विभज्यते' इत्यस्यायमप्यर्थो ज्ञेयः । (पश्यत—वा० प० १।११८,११६) ॥ १२५ ॥

वाणी सभी विद्याओं, शिल्पों और कलाओं की कारण है । इन विद्या-शिल्पादियों के द्वारा निर्मित या उत्पादित सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्वरूप और सत्ता में आती हैं । इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित व्यवहार और प्रक्रिया से ही ये नाना प्रकार की वस्तुएँ और क्रिया-कलाप सर्वत्र दिखाई देते हैं । इस सारे वस्तुभेद का कारण वाणी ही तो है ।

जैसा कि पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है—सारा जगत् शब्दतत्त्व का विवर्त है । अतः इस पूरे संसार का कारण वाक्तत्त्व या वाणी है । इस विवर्तित संसार के सभी पदार्थों की स्वरूपसत्ता को प्रकाशित करने वाली भी वाणी ही है, यह भी सिद्ध किया जा चुका है । फिर भी कुछ लोग यह सोच सकते हैं कि—घड़ा, वायुयान, दूरदर्शन (T.V.) उपग्रह आदि कृत्रिम वस्तुएँ, जिनमें मिट्टी, लोहा, काँच आदि मानव ने अपने हाथों से लगाया है, वाणी अर्थात् आवाज से कैसे बन सकती हैं ? इसका समाधान यह है कि ये घड़ा, वायुयान आदि पदार्थ किसी विद्या, किसी शिल्प या किसी कला के द्वारा बने हैं और विद्या-शिल्प-कलादियों का विकास वाणी के द्वारा ही सम्भव होता है । वायुयान उपग्रह आदि कृत्रिम पदार्थ भी परम्परया वाणी से ही सम्बद्ध हैं ।

"सभी पदार्थों के भेद-विभेद और वस्तु-सत्ता का कारण वाक्तत्त्व है" । इस तथ्य को प्रकट करने की यह और युक्ति है । ऐसी युक्तियाँ यहाँ और भी हैं । परमार्थतः बात यों है कि विवर्तसिद्धान्त के अधीन सभी कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थ वाक्तत्त्व के विवर्त हैं, इसलिए उपग्रहादि आधुनिकतम कृत्रिम पदार्थों के विषय में अलग से चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा समझना बड़ी भूल होगी कि सुदूर अतीत में कभी सर्गारम्भ हुआ होगा और उसी समय शब्दतत्त्व विवर्तित होकर संसार बन गया होगा, जैसा कि पुराणों में ब्रह्मा से सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन किया गया है । शब्दतत्त्व का विवर्त तो एक सतत प्रवहमान प्रक्रिया है । जो भी

पदार्थ जब भी जहाँ भी उत्पन्न होता है, वह शब्दतत्त्व का विवर्त होता है। जन्मादिषड्भाव-विकार विवर्त ही हैं। (देखिए—वा० प० १।२,३ और उनकी टीका) ॥ १२५ ॥

शब्द एव संसारिणां संज्ञा—

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजातिषु ॥ १२६ ॥

सा च एषा वाग्रूपता, संसारिणां संसारे वसतां प्राणिनां (पदार्थानां वा), संज्ञा संज्ञानमयी चेतना (नामात्मिका), बहिः शरीरात् बहिः, अन्तश्च वर्तते वर्तमाना अस्ति। सर्वजातिषु प्राणिमात्रे, यत् चैतन्यं चेतना, तत् तन्मात्रां वाग्रूपतामात्राम्, अनतिक्रान्तं वाग्रूपतामनतिक्रम्यैव वर्तते। चैतन्यं वाग्रूपतां नातिक्रमति।

संज्ञेति। वाग्रूपता हि संसारिणां संज्ञा। संसारिणस्तु संसारे वर्तमाना जीवाः पदार्थाश्च। संज्ञा च नाम चैतन्यं संवित्, सज्ञानमभिधानञ्च। तेन हि संसारे जीवानां चैतन्यत्वेन संवित्तया च वाग्रूपता संसारिणां संज्ञा। पदार्थानां तु संज्ञानतयाभिधानतया च। एवञ्च चेतनाचेतनानां स्थावर-जङ्गमानां च संज्ञा वाग्रूपतैव। सा तु सर्वेषां बहिरन्तश्च वर्तते सवाचां बहिर्वैखरीरूपेणान्तस्तु पश्यन्तीरूपेण ज्ञानरूपेण वा अथवा जीवानां बहिः स्पर्शादिसंविद्रूपेणान्तस्तु चैतन्याधिष्ठानतया वर्तते। अवाचामजीवानां तु बहिरभिधानतयान्तस्तु शब्दतत्त्वाधिष्ठानतया वाग्रूपतैव संज्ञा।

"ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥"

इत्यादिदर्शनात्।

चैतन्यमिति। चितिक्रियास्वरूपमित्यर्थः। तच्च चैतन्यं सर्वेषूत्पत्तिमत्सु जीवेषु पदार्थेषु च वाग्रूपतामात्रामनतिक्रम्यैव वर्तते। यावान्यावानेव येषु येषु जीवेषु पदार्थेषु च वाग्रूपतानुगमस्तावत्तावदेव तस्य सचेतनत्वम्। एतेनैव सुस्पष्टवाचां मनुष्याणां विशिष्टं सचेतनत्वम्, पशूनां सामान्यं सचेतनत्वम्, वनस्पतीनामल्पम्, पाषाणादीनां त्वचेतनत्वम्, तेषु तेषु तथा तथा वाग्रूपतानुगमस्य ह्रासात्। पाषाणादावत्यन्तमचेतनत्वं तु न सम्भावनीयम्, चिदात्मनः शब्दतत्त्वस्य विवर्तभूतत्वेन पाषाणादीनामपि सनामधेयत्वात्, परचितिक्रियासंस्पर्शेनास्थायिचित्स्फूर्तिदर्शनात्, तद्द्वारा-

संगणकादौ (Computer) स्वतश्चित्स्फूर्ति-संविद्दर्शनाच्च। अत एवाचेतनत्वेनाभिमतानां पदार्थानां सङ्घट्टनेन शब्द एव स्फुटति, न रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः। अत एव च वाक्तत्त्वरूपमेव चितिक्रियारूपमितिदर्शनं पूर्वेषाम्। तथाहि—

> भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
> आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥
> एकत्वमनतिक्रान्ता वाङ्नेत्रा वाङ्निबन्धनाः।
> पृथक् प्रत्यवभासन्ते वाग्विभागा गवादयः॥इति हरिवृषभवृत्तौ॥

यत्तु—

> अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
> तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्॥

इत्युक्तम्। वाग्रूपतानुगमेनैव ससंज्ञ-विसंज्ञव्यपदेश इत्यर्थः। तदिदमेकदेशिकथनम्, अभिधानतया कस्माच्चिदपि पदार्थात्काष्ठकुड्यादेर्वाग्रूपतानुगमस्योत्क्रान्तेरसम्भवात्। यदेवाभिधानवत्तदेव वाग्रूपतानुगतम्, ससंज्ञत्वात्। अभिधानं हि संज्ञा, सा च वाक्।

इदमत्रानुसन्धेयम्--लोके दर्शनान्तरेषु च यश्चेतनाचेतनविभागः सः स्पन्दन-संवेदन-वचन-शक्त्याधारेण निर्धारितः। स्पन्दनादिशक्तयो यस्मिन्पदार्थे यया मात्रयाधिका न्यूना वा स तयैव मात्रया सचेतनोऽचेतनो वा कथ्यते। तासु शक्तिषु वचनशक्तिः सर्वोत्कृष्टं पदमादधाति। अतो वचनशक्त्युत्क्रमे विसंज्ञोऽचेतनो भवति पुरुषः, अनुत्क्रमे तु ससंज्ञः सचेतनश्च। तत्रापीयं सूक्ष्मेक्षिका-संवेदनशक्तिप्रतिक्रियाभूते स्पन्दन-वचनशक्ती। यत्र यत्र संवेदनम्, तत्र तत्र स्पन्दन-वचने। यत्र यत्र न संवेदनम्, तत्र तत्र न स्पन्दनवचने, इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां लोके दर्शनान्तरेषु च सिद्धम्। अस्माकं तु संवेदनमपि वागेव, अन्यथाभावे तस्यासम्भवात्। अत एव—"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" इत्युक्तम् (वा० प० १।१२३) तत्रापि प्रत्ययः (संवेदनम्) शब्दाननुगच्छतीति प्रत्ययस्यैव शब्दानुगमः। यद्यप्यर्थं दृष्ट्वा शब्दप्रवृत्तिः, शब्दं श्रुत्वार्थप्रवृत्तिरित्युभयमपि दृश्यते, तथापि प्रत्ययस्यैव शब्दानुगम उचितः। यतो ह्यत्यन्तासदर्थविषयकः प्रत्ययो भवति वाचा समुत्थाप्यमान आक्रियमाणश्च, परं न भवति वाचः प्रवृत्तिरत्यन्तासदर्थविषयकेन प्रत्ययेन, वाचं विना तादृशप्रत्ययस्यैवात्यन्ताभावात्॥ १२६॥

यह वाग्रूपता या वाणी ही संसार में रहने वाले प्राणियों और पदार्थों की संज्ञा है, चेतना है। यह प्राणि-शरीर, वस्तु-शरीर भीतर और बाहर विद्यमान है। प्राणियों में जो चेतना है, वस्तुमात्र में जो संज्ञा है, वह वाग्रूपता ही है। वाग्रूपता को छोड़कर चेतना या संज्ञा नहीं रह सकती।

संज्ञा का अर्थ है चेतना या संवित्। फिर संज्ञा का अर्थ है पहिचान या नाम। संसार के प्राणियों और पदार्थों में जो चेतना है, जो अनुभव करने की शक्ति है, वह वाणी के कारण ही है। वस्तुमात्र की जो अलग-अलग पहिचान है, उनके जो नामाभिधान हैं, वह सब वाणी ही तो है। इस प्रकार चेतन और अचेतन की संज्ञा वाणी है।

वाणी या वाग्रूपता मनुष्यों और अन्य प्राणियों में वैखरी वाणी के रूप में बाहर और मध्यमा या पश्यन्ती के रूप में भीतर स्पष्ट ही दिखाई देती है। स्पर्शादि संवेदनाओं के रूप में भी यह प्राणियों के बाहर-भीतर दिखाई देती है। प्राणियों सहित सभी पदार्थों के बाहर यह नामाभिधान के रूप में होती है तथा शब्द-विवर्त होने के कारण अर्थशक्ति के रूप में पदार्थों के भीतर भी होती है।

चैतन्य, जो स्पन्दन, संवेदन और वचन का समाहित स्वरूप है, वाणी का, वाग्रूपता का समानुपाती होता है। जिस प्राणी या पदार्थ में जितना-जितना वाग्रूपतानुगम होता है, वह प्राणी या पदार्थ उतना ही सचेतन कहलाता है। इसीलिए मनुष्य विशेष-सचेतन, पशु सामान्य-सचेतन, वनस्पति अल्प-सचेतन और पाषाणादि शून्य-सचेतन या अचेतन कहलाते हैं।

पाषाणादि को सर्वथा चेतनाहीन समझना एक दीर्घकालीन भूल है। पाषाणादि के भी नाम होते हैं, इसलिए वे भी "ससंज्ञ" होते हैं। संज्ञा का अर्थ चेतना है, अतः पाषाणादि 'सचेतन' है। वैसे भी इन पदार्थों में स्पन्दन और संवेदन होता है। विद्युत् (Electricity) और वैद्युत उपकरण (Electronics) इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। सभी भौतिक/रासायनिक ऊर्जाएँ संवेदनशील और स्पन्दनशील होती हैं। इनकी संवेदनशीलता और स्पन्दनशीलता मनुष्य से बहुत विशाल और बहुत सूक्ष्म भी होती है। स्पन्दन-संवेदन की दृष्टि से ये अचेतन नहीं हो सकते। इनके अचेतन कहलाने का मुख्य कारण है इनमें वाग्रूपता की न्यून या अतिन्यून मात्रा।

चैतन्य का प्रधानतत्त्व है वाग्रूपता। कोई भी संवेदन, प्रत्यय या ज्ञान ऐसा नहीं जो वाणी के बिना सम्भव हो सके ॥ १२६ ॥

वागेव सर्वावस्थासु व्यवहारनिबन्धनी—

प्रविभागे यथा कर्ता तया कार्ये प्रवर्तते।
अविभागे तथा सैव कार्यत्वेनावतिष्ठते ॥ १२७ ॥

यथा कर्ता कार्यव्यापारवान् पुरुषः, प्रविभागे जागृदवस्थायां (तत्रैवावस्थायाम् अयं कर्ता, इदं कर्मेति पदार्थप्रविभागो दृश्यते) तया वाचा, कार्ये गमनागमनादिक्रियायां, प्रवर्तते प्रवृत्तो भवति, तथा अविभागे जागृदवस्थाभिन्नायां स्थितौ स्वप्ने, सैव वागेव वाग्रूपतैव, कार्यत्वेन क्रियारूपेण कर्मादिरूपेण च अवतिष्ठते, तदा वाग्रूपतैव पदार्थप्रविभागभूता कर्तृकर्मक्रियाभूता तिष्ठति। "अहं राजानं पश्यामि" इत्यादिस्वप्ने 'अहमि'ति कर्ता 'राजानमि'ति कर्म, 'पश्यामी'ति क्रिया वाग्रूपतैव, वास्तविकास्मदादीनां स्वप्ने सर्वथाभावात्।

प्रविभाग इति। प्रविभक्तसाध्य-साधनरूपो हि शब्दब्रह्मणो विवर्तः। नित्यमेकं च शब्दब्रह्म विवर्तावस्थायां साध्यरूपेण विवृत्तं साधनरूपेण च विवृत्तं प्रविभक्तमिव वर्तते। अत एव जगतो जन्मादिविकारावस्था 'प्रविभागावस्था' इत्युच्यते। तदा तु संवर्ते क्रमरूपोपसंहारेण तस्मिन्नेव शब्दब्रह्मणि जगल्लयं गच्छति तदा साध्यसाधनादिप्रविभागाभावात् "अविभागावस्था" इत्युच्यते। सा चेयं शब्दब्रह्मणो संवर्त-विवर्त-वृत्तिता स्वप्नप्रबोधवृत्तिरित्युच्यते। अस्मदादीनां स्वप्नवृत्तौ स्वपितरि पुरुष एव सर्वबाह्यवस्तूनामुपसंहाररूपोऽविभागः, प्रबोधवृत्तौ च बाह्यवस्तूनां पृथगवस्थानरूपः प्रविभागः। एवं स्थिते—शब्दब्रह्मणः प्रविभागावस्थायां विवर्तभूता अस्मदादयः कर्तारः स्वसाध्यभूते कार्ये प्रवर्तन्ते। तत्र वागेव कारणम्। इयमेव शब्दब्रह्मणः प्रविभागावस्थास्मदादीनामपि प्रविभागावस्था या जाग्रदवस्थेत्युच्यते। अस्यामवस्थायामस्मदायो वाचेव प्रवर्तन्त इति स्पष्टमेव। स्वप्नावस्थायामप्यस्मदादीनां साध्यसाधनादि-प्रविभागप्रतीतिर्भवति, यद्यपि तत्र बाह्यवस्तूनामभावस्तथा प्रविभागस्यासम्भव एव। एवं विप्रतिपत्तौ समाधीयते—अविभागे स्वप्नावस्थायां वागेव बाह्यवस्तुरूपमाधाय साध्यभूतकार्यत्वेनावतिष्ठत इति। अत्र प्रमाणं तु—यथा प्रविभागे विवृत्तं शब्दब्रह्म वस्तुरूपं सदप्यविभागे वाक्तत्त्वमेव तथैवास्मदादीनामपि प्रबोधावस्थायां यया वाचा प्रवृत्तिः, स्वप्नावस्थायामपि सैव प्रवृत्तिनिमित्तं भवितुमर्हति। अतस्तत्र स्वप्ने बाह्यवस्तूनामभावात्सैव साध्यसाधनरूपतामाधाय प्रवृत्तिं साधयतीति।

तथा चोक्तम्--प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान्पृथग्विधान्।
सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रवर्तते ॥ इति ॥१२७॥

अपने दैनिक व्यवहार में लगा हुआ कर्ता पुरुष वाणी के द्वारा ही अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है। मनुष्य के जाग्रत अवस्था के कार्य वाणी के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। परन्तु जब वही मनुष्य स्वप्नावस्था में होता है, तब बाह्य वस्तुओं के अभाव में, वाणी ही कार्यवस्तु बनकर स्वप्नगत व्यवहार को पूरा करती है।

जगत् शब्दब्रह्म का विवर्त है, अतः इसमें साध्य और साधन के रूप में बँटे हुए पदार्थ मूलतः एक ही सब्दतत्त्व में समाहित होते हैं। शब्दतत्त्व जब साध्य और साधन के रूप में बँट जाता है तो वह उसकी 'प्रविभाग' अवस्था होती है, जब साध्य और साधन सिमिट कर शब्दतत्त्व में लीन हो जाते हैं तो वह उसकी 'अविभाग' अवस्था होती है। दोनों ही अवस्थाओं में जगत् शब्दमय है --विवर्त के रूप में और संवर्त के रूप में।

शब्दतत्त्व के समान ही व्यवहर्ता पुरुष की भी प्रविभाग और अविभाग ये दो अवस्थाएँ होती हैं। मनुष्य की जाग्रत अवस्था 'प्रविभाग' है। इस अवस्था में मनुष्य के सभी साध्यभूत और साधनभूत पदार्थ विभक्त, अलग-अलग, होकर रहते हैं। इनका कर्त्ता-व्यवहर्ता, मनुष्य भी स्वयं इनसे विभक्त, अलग, रहता है। इस अवस्था का सारा व्यवहार वाणी के द्वारा सम्पन्न होता है, क्योंकि समस्त अर्थ-प्रवृत्ति शब्दाधीन होती है। इसका विवेचन-प्रतिपादन पहले हो चुका है। (देखिए-वा० प० १।१३,१५,११८ आदि।)

अविभाग अवस्था में, जो कि मनुष्य की स्वप्नावस्था होती है, बाह्य साध्य-साधनों के साथ सुप्त मनुष्य व्यवहार नहीं करता, बल्कि कर नहीं सकता। परन्तु उस अवस्था में भी नदी-वन-पर्वतादि की प्रतीति और उनके साथ व्यवहार की प्रतीति होती है। मानों बाहर का संसार सिमिट सुप्त पुरुष में समा गया हो। वह कौन है? जो सुप्त पुरुष के भीतर साध्य-साधन बन कर कार्यप्रवृत्ति को सञ्चालित रखता है।...उत्तर एक ही है—"वह वाणी है।" यदि कोई स्वप्न-विज्ञानी कहे कि—"वह मनुष्य के विचार-संस्कार, अचेतन मन की वासनाएं-कुण्ठाएँ होती हैं।" तो उस स्वप्न-विज्ञानी को जान लेना चाहिए कि—मनुष्य के समस्त विचार, संस्कार और पूरा अन्तःकरण शब्दमय होते हैं। (देखिए-वा० प० १।११२ और उसकी टीका) अतः उन्हें वाणी के अतिरिक्त कुछ और समझना अर्थहीन बात है।

यदि शब्दतत्त्व की प्रविभाग और अविभाग अवस्थाएँ शब्दमय होती हैं तो मनुष्य की भी वे शब्दमय ही होती हैं यह एक तर्कसङ्गत युक्ति है॥ १२७॥

श्रुतिरेवार्थस्य प्रकल्पिका--

स्वमात्रा परमात्रा वा श्रुत्या प्रक्रम्यते यथा।
तथैव रूढतामिति तया ह्यर्थो विधीयते ॥ १२८॥

स्वमात्रा स्वस्यात्मनः मात्रा स्वरूपम्, परमात्रा परस्य मात्रा स्वरूपम्, वा (जगदिदं द्रष्टृपुरुषस्य जीवस्य स्वस्वरूपमेवेति, परस्य परमात्मनः स्वरूपं वेति मतद्वयम्। तत्र मतद्वये यद्वा तद्वा येषामभिमतं भवेत्) उभयथापि तत्, यथा येन प्रकारेण, श्रुत्या शब्देन, प्रक्रम्यते आरभ्यते, निरुच्यते आक्रियते वा, तथा तेनैव प्रकारेण, तत् स्वमात्रा-परमात्रात्मकं जगत्, रूढतां प्रसिद्धिं, स्वरूपसिद्धिं वा, एति गच्छति, प्राप्नोति। तया हि श्रुत्या एव, अर्थः अर्थात्मकं वस्तुजातम्, विधीयते स्वरूपतया प्रकल्प्यते।

स्वमात्रेति। सर्वमिदं विकारात्मकं जगद्द्रष्टृपुरुषस्य जीवात्मनः स्वस्वरूपमेवेति केषाञ्चिद्दर्शनम्। द्रष्टृपुरुषस्यान्तःसन्निविष्टं बहिः प्रत्यवभासते इत्यर्थः। अस्मिन्दर्शने जगत्स्वमात्रा।

परमात्रेति। जगदिदं परमात्मनः स्वस्वरूपमित्यन्येषां दर्शनम्। यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा, महतः सूक्ष्माः, समुत्पद्यन्ते, यथा वा बीजान्न्यग्रोधवृक्षाः, सूक्ष्मान्महान्तः समुत्पद्यन्ते, तथैव परमात्मनो जगदिदम्। अस्मिन् दर्शने जगत्परमात्रा।

श्रुत्येति। यथा तथा वा भवतु जगत्। तत्तु यथैव श्रुत्या, शब्देन प्रक्रम्यते, तथैव रूढं भवति। यदाकारेण शब्दो वस्तुजातं प्रकल्पयति, तदाकारेणैव सत् स्वरूपसिद्धिं प्राप्नोति। विवदन्तु नाम ते ते दार्शनिकाः स्व-पर-मात्रावादमारभ्य, श्रुतिरेवार्थं प्रकल्पयति संस्करोति चेति सत्यमतिक्रमितुं तु न प्रभवन्ति ॥ १२८ ॥

कुछ दार्शनिक जगत् को 'स्वमात्रा' मानते हैं और कुछ परमात्रा। परन्तु जगत् स्वमात्रा हो या परमात्रा, वाणी उसे जैसा निरूपित करती वह वैसा ही प्रसिद्ध हो जाता है; क्योंकि वाणी ही अर्थ का विधान करती है, रचना करती है।

जीवात्मा, जो कि इस संसार में कार्य-व्यवहार करने वाला मनुष्य होता है, उसका अपना ही स्वरूप यह संसार है। इस जीवात्मा के अपने ही भीतर जो कुछ समाया है, वही बाहर झलकता है। इस प्रकार जीवात्मा के स्वरूप अंश या शक्ति से संसार का निर्माण होता है। यह कुछ दार्शनिकों का मत है। इसको 'स्वमात्रा'-सिद्धान्त कहते हैं।

कुछ अन्य दार्शनिकों का मत है कि संसार की उत्पत्ति परमात्मा से उसी प्रकार हुई है; जैसे आग से चिनगारी उत्पन्न होती है या बीज से वटवृक्ष की। इसको 'परमात्रा' सिद्धान्त कहते हैं।

ये दोनों मतवादी यदि अपने-अपने मत पर दृढ़ रहें तो दोनों मिलकर यही कहेंगे कि जगत् शब्दब्रह्म का विवर्त नहीं है। कुछ देर के लिए शाब्दिक भी उनके इन मतों को स्वीकार करते हुए यह पूछें कि—जगत् चाहे स्वमात्रा हो या परमात्रा, परन्तु इन जागतिक वस्तुओं की अर्थ के रूप में रचना कौन करता है ?...तो उत्तर एक ही होगा—'श्रुति', 'वाणी'। वाणी में ही वह शक्ति है जो जिस वस्तु को जिस रूप में ढालती है, वह वैसी ही हो जाती है, उसी रूप में प्रसिद्ध हो जाती है। आखिर, 'घट' को घट (घटपदवाच्य) और 'पट' को पट (पटपदवाच्य) किसने बनाया ? वाणी ने ही न ?...वाणी असत् को भी सत् बना देती है। जब कोई कहता है—"मैं राजा हूँ।" तो वह इस वाक्यविधान से ही राजा बन जाता है। यदि नहीं बनता, तो उसका असहिष्णु श्रोता उसका खण्डन क्यों करता है ? या सहिष्णु श्रोता उसे स्वीकार क्यों करता है ? जो नहीं है, उसका खण्डन या मण्डन करने की क्या तुक है ?

निष्कर्ष यह कि—वाणी वस्तु को जिस रूप में ढालती है, वह वस्तु उसी रूप में प्रसिद्ध हो जाती है। वाणी ही अर्थ का विधान करती है।

शब्दतत्त्व का विवर्तसिद्धान्त सुव्यवस्थित सिद्धान्त है ॥ १२८ ॥

श्रुतिरसतोऽप्यर्थसत्तां प्रकल्पयति—

अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा ॥ १२९ ॥

अत्यन्तं नितराम् अतथाभूते, यत् तत्प्रकारकं नास्ति तद् अतथाभूतं, अवास्तवमित्यर्थः, तस्मिन्नतथाभूते निमित्ते कारणे, वस्तुभूते कारणेऽसत्यपीत्यर्थः, श्रुत्युपाश्रयात् श्रुत्या वाच उपाश्रयात् आधारात्. वाचमुपाश्रित्य, अलातचक्रादौ, अलातं ज्वलनशीलं काष्ठं, तत्प्रज्वाल्य यदि भ्राम्यते तदा चक्रमिव दृश्यते, तदेवालातस्य चक्रं, तस्मिन्, एवमन्येषु गन्धर्वनगरादिषु, वस्त्वाकारनिरूपणा, वस्तुनः आकारः वस्त्वाकारस्तस्य निरूपणा निरूपणं, रूपकरणं दृश्यते।

अलातचक्रादाविति। चक्रं नाम निरन्तररेखावर्तुलम्। तच्च नैरन्तर्याभावे नोपपद्यते। "अलातचक्रं" नामोल्मुकभ्रमिजनितं वर्तुलम्, वर्तुला-

कारिका प्रतीतिः। तत्रालातवर्तुले प्रतीयमानवर्तुलरेखाया नैरन्तर्यमत्यन्तमतथाभूतम्। तथापि "अलातचक्रम्" इत्यादौ चक्रपदनिरूपिता नैरन्तर्यनिरूपणा तत्र भवत्येव। तत्र चक्र-श्रुतिप्रकल्पितमेव रेखाया वस्तुस्वरूपम्, न प्रत्यक्षानुमानसिद्धम्। एवमेव शशविषाणादावपि "आः दास्याः पुत्रि" इत्यादौ क्षेपे, "त्वं तु मे बहिश्चराः प्राणाः" इत्यादौ प्रियाशंसने च प्रत्यक्षानुमानविरुद्धेऽप्यर्थे वस्त्वाकारनिरूपणा भवत्येव, अन्यथा तैस्तैः शब्दैराक्षिप्ताया आशंसितायाश्च व्यक्तेस्तथा तथा प्रतिक्रिया मा भूत्!

एवं च श्रुतिरेव सदर्थं प्रकल्पयति, असदर्थं प्रकल्पयति, सदसदर्थं प्रकल्पयति, विरुद्धार्थमपि प्रकल्पयति च। अत एव—

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी॥ (वा० प० १।११८)

इति सुसिद्धं सुप्रतिष्ठितं च भवति॥ १२९॥

किसी शब्द-प्रयोग के निमित्तभूत अर्थ के एकदम न होने पर भी यदि शब्द-प्रयोग कर दिया जाय तो उस शब्दप्रयोग के कारण ही उस अर्थभूत वस्तु की आकृति, स्वरूप, उभरने लगती है, भले ही वस्तु वहाँ नहीं होती। "अलातचक्र" में यही बात दिखाई देती है।

'अलातचक्र' एक ऐसे चक्र का नाम है जो सर्वथा अवास्तविक होता है। जलती लकड़ी के टुकड़े को यदि जोर से घुमाया जाय तो एक चक्राकार आकृति बनती है। इसी को अलातचक्र कहते हैं।

अब 'चक्र' शब्द पर ध्यान दिया जाय तो ज्ञात होगा कि चक्र एक ऐसी अच्छिन्न (न टूटी हुई) रेखा को कहते हैं जिसके दोनों सिरे एक-दूसरे से मिलते हों। कहीं पर भी छिन्न होने से यह चक्र नहीं हो सकती। उधर 'अलातचक्र' को बोलने-सुनने वाले जानते हैं कि उसमें केवल एक प्रकाशबिन्दु ही है। रेखा और वह भी अच्छिन्न रेखा का तो वहाँ कोई अस्तित्व ही नहीं। इतना होते हुए भी जब बोलने वाला 'अलातचक्र' शब्द का प्रयोग करता है तो सुननेवाले को वर्तुलाकार अच्छिन्न रेखा स्वरूपतः ही प्रतीत होती है। यह अच्छिन्न रेखा का वस्तु-स्वरूप न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता और न अनुमान प्रमाण से। हाँ, शब्द से सिद्ध होता है, निरूपित होता है, प्रतीत और दृश्यमान भी होता है।

स्पष्ट है कि—शब्द या श्रुति से उस अर्थ का भी वस्तु-विधान, आकार-विधान हो जाता है, जो होता ही नहीं। जिसे प्रत्यक्ष या अनुमान से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

श्रुति (शब्द या वाक्) उस अर्थ को स्वरूप देती है, जो है, जो नहीं है, जो है भी और नहीं भी है। (भूत-भविष्य की घटनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।) शब्द विरुद्ध अर्थ को भी स्वरूप देता है। ('आकाश से आग बरसती है।' ऐसे ही विरुद्धार्थ के उदाहरण हैं।)

'शब्द ही विश्व का कारण है।' यह कथन ठीक ही है ॥ १२९ ॥

शब्दो हि परमात्मतत्त्वम्--

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १३० ॥

अपि प्रयोक्तुः शब्दं व्यवहर्तुः पुरुषस्य, अन्तः शरीरान्तः, अवस्थितं प्रतिष्ठितं वर्तमानं वा, शब्दं शब्दस्वरूपम्, आत्मानं आत्मतत्त्वं, महान्तं सर्वोत्कृष्टम्, ऋषभं देवं, प्राहुः कथयन्ति, श्रुतय इति शेषः, येन शब्दात्मना ऋषभेण, सायुज्यं तादात्म्यम्, इष्यते काम्यते, विज्ञैः शाब्दिकैः।

ऋषभमिति। श्रुतिरूपेषु शब्देषु विश्वस्य निबन्धनी शक्तिराश्रिता। इति यथापूर्वं व्यवस्थापितम्। प्रयोक्तुः, वक्तुः श्रोतुश्चान्तरवस्थितं शब्दात्मानं शब्दस्वरूपिजीवात्मानं वा महान्तमृषभं श्रुतयः कथयन्ति। यथा--

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तसो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥इति॥
(ऋग्वेदसंहिता ४।५८।३, महाभाष्यम्-पस्पशा.)

व्याकरणनिकाये बहुधा व्याख्यातमिदम्।

इत्थम्--द्वौ शब्दात्मानौ, नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यः श्रुतिरूपः। स चान्तरवस्थितस्य शब्दात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। स्वयं भङ्गुरध्वनिरूपोऽपि शब्दात्मनः श्रुत्यर्थशक्त्यनुगृहीतः, आदर्श इव बिम्बभूतस्य शब्दतत्त्वस्य श्रुत्यर्थस्वरूपं प्रतिबिम्बयतीत्यर्थः। (पश्यत--वा० प० १।११२-११५, तट्टीकाश्च।)

नित्यस्तु--"सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः, सर्वेषामन्तःसन्निवेशी, प्रभवो विकाराणाम्, आश्रयः कर्मणाम्, अधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिः, घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः, परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी, प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्यां पर्जन्यवद्

दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः, सर्वेश्वरः, सर्वशक्तिः, महान् शब्द-वृषभः।" इति हरिवृषभवृत्तिर्वर्णितो ज्ञेयः।

सायुज्यमिति। तेन महता शब्दवृषभेण तादात्म्यं शाब्दिकानामिष्टम्। तथा च भाष्यकारः—महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणमिति।

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
(पस्पशा०)

इति। वाग्योगविदो हि शाब्दिका शब्दापशब्दविवेकद्वारा वाचस्तत्त्वं समीक्षमाणाः तस्मिन्नेव वाक्तत्त्वे तादात्म्यं लभन्ते।

अयं च पक्षः श्रोतुर्वक्तुश्चान्तरवस्थितस्य शब्दस्य मध्यमारूपस्य पश्यन्तीरूपस्य वा शब्दतत्त्वात्मकत्वनिरूपको बोध्यः। सत्यपि वागात्मनो विवर्ते जगति, सिद्धे चैतस्मिन् विवर्तसिद्धान्ते, सतीषु यथोक्तासु बह्वीषु युक्तिषु—प्रयोक्तुरात्मानमन्तरवस्थितं शब्दं चापि महान्तं वृषभं श्रुतय आहुरित्यपिना पक्षान्तरं द्योतते। प्रयोक्तुरन्तरवस्थितः शब्दः स्फोटस्वरूपः, तद्विषयकोऽयं पक्षः। हरिवृषभवृत्तौ तु—"सर्वमूर्तीनामपरिमाणा प्रकृतिः, सर्वेश्वरः," इत्यादि विशेषणैः परमशब्दतत्त्वमपि द्योतितम्॥ १२०॥

प्रयोक्ता, श्रोता और वक्ता दोनों, के आत्मा को, श्रोता-वक्ता के अन्तर् में विद्यमान शब्द को भी श्रुतियों (वेद) ने महान् वृषभ कहा है। इसी अन्तरवस्थित शब्दात्म-स्वरूप महान् वृषभ से तादात्म्य स्थापित करना शाब्दिक वैयाकरणों को इष्ट है।

शब्दात्मा दो प्रकार का है—नित्य और कार्य। कार्य शब्द वे ध्वनियाँ हैं जो उच्चरित और श्रुत होती हैं, उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। ये ध्वनियाँ या श्रुतियाँ (श्रवणीय शब्द) अनित्य, नाशवान् होते हुए भी अन्तरवस्थित नित्य शब्दात्मा के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाली होती हैं। अर्थात् शब्दात्मा के बिम्ब को ये प्रतिबिम्बित करती हैं। शब्दात्मा के गुणधर्म श्रुति-शब्दों में प्रकट होते हैं।

नित्य-शब्दात्मा श्रोता-वक्ता के अन्तर् में, अन्तकरण में विद्यमान रहता है। इस अन्तरवस्थित शब्दात्मा महावृषभ का उल्लेख ऋग्वेदसंहिता ४।५८।३ में आया है, जिसको महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत करके उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"यह महान् देव शब्द मनुष्यों में समाया हुआ

है। पद के चार भेद—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, इसके चार शृङ्ग हैं; तीनों काल—भूत, भविष्य और वर्तमान, इसके तीन पैर हैं; दो शब्दात्मा—नित्य और कार्य, इसके दो सिर हैं; सातों विभक्तियाँ—प्रथमा, द्वितीया आदि इसके सात हाथ हैं। यह हृदय, कण्ठ और शीर्ष इन तीन स्थानों में बँधा है। यह इच्छित अर्थ को बरसाने वाला है। यह शब्द करता है। इस महान् देव से हमारा तादात्म्य हो जाय, इसलिए व्याकरण पढ़ना चाहिए।" (मन्त्र का पाठ संस्कृत टीका में दिया गया है।) हरिवृषभवृत्ति में इस नित्य शब्दात्मा को "सर्वव्यवहारयोनिः, संहृतक्रमः" आदि अनेक विशेषणों से वर्णित किया गया है, जिससे नित्यशब्दात्मा के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। (इस वृत्ति का मूल पाठ भी संस्कृत टीका में दिया गया है।)

प्रकृति-प्रत्यय-विभागपूर्वक व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन करके, शब्दापशब्द का सम्यक् विवेचन करके, शब्द की अर्थमयी ग्रन्थियों को छिन्न करके (देखिए—वा० प० १।१९५ और उसकी टीका) इस शब्दात्मा महान् देव से तादात्म्य स्थापित करना शाब्दिकों का परम अभीष्ट मनोरथ है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि—इस कारिका में वर्णित श्रोता-वक्ता के अन्तःकरण में अवस्थित यह शब्दात्मा मध्यमा के रूप में स्फोट अथवा पश्यन्ती वाणी ही हो सकता है, "शब्दस्य परिणामोऽयम्" (वा० प० १।१२०) में वर्णित शब्दात्मा नहीं। अतः इसे एक पक्षान्तर और तत्साधिका युक्ति समझना ही उचित होगा। "अपि प्रयोक्तुरात्मानम्" में 'अपि' के प्रयोग से यही ध्वनि निकलती है॥ १३०॥

शब्दसंस्कार एव परमात्मसिद्धिः—

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते॥ १३१॥

तस्माद् हेतोः, यः शब्दसंस्कारः व्याकरणेन क्रियमाणं शब्दसाधुत्वं, सा परमात्मनः शब्दतत्त्वात्मकस्य सर्वेश्वरस्य, सिद्धिः प्राप्तिः। तस्य शब्दसाधुभावस्य शब्दात्मनश्च, प्रवृत्तितत्त्वज्ञः प्रवृत्तेस्तत्त्वं जानाति यः सः पुरुषः, तद् ब्रह्मामृतं तस्य शब्दब्रह्मणः अमृतम् अमृतमयमास्वादम्, अश्नुते अनुभवति।

तस्मादिति। यतः श्रुतिरेव विश्वस्य निबन्धनी शक्तिः, सैव संसारिणा संज्ञा सैव च सदसदर्थजातं प्रकल्पयति, तामेव प्रयोक्तुरन्तरवस्थितं महावृषभं श्रुतय आहुस्तस्माद्यः शब्दसंस्कारः, सा परमात्मनः सिद्धिरिति।

शब्दसंस्कार इति। शब्दानां साधुभावः, अपशब्दानामपाकरणं च, अपभ्रंशानामपि वाचकत्वाभ्युपगमे तु—तत्तत्कालदेशभाषासु या शब्द-साधुत्वव्यवस्थितिः सैव शब्दसंकारोऽभ्युपेयः।

सिद्धिरिति। शब्द एव परमात्मा जगत्कारणमिति वह्वीभिर्युक्तिभिर्यथा-पूर्वमुपपादितम्। सिद्धिश्च सिद्धावस्था साधुभावः। शब्द-परमात्मनोर-भेदेऽभ्युपगते शब्दसंस्कारः, शब्दस्य सिद्धावस्था परमात्मनश्च सिद्धावस्था-भिन्न एवेति स्पष्टमेव। अत्र—दर्शनान्तरप्रतिष्ठितपरमात्मेव न शब्दात्मा कुत्रापि रहस्यलोके स्थितः, न च तस्य सिद्धये श्वासावरोधादियोगतपः-प्रक्रिया निर्वोढव्या भवन्तीति विज्ञेयम्। सरलतमोऽयं शब्दमार्गः, इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः (वा० प० १।१६)।

प्रवृत्तितत्त्वज्ञ इति। शब्दस्य शब्दात्मनश्च प्रवृत्तिं यो जानाति स इत्यर्थः, अर्थस्य बोधने शब्दस्य प्रवृत्तिः, अर्थानां (पदार्थानां) प्रबोधने तु शब्दात्मनः। शब्दो हि श्रुतिरूपेण जातस्याप्यर्थस्य बोधने प्रवर्तते, शब्दात्मा च विवर्तरूपेणासञ्जातस्यार्थस्य प्रबोधने, प्रबोधवृत्या प्रविभागे स्थापयितुं, प्रवर्तते। इत्थम्—शब्दात्मन उभयात्मिकां प्रवृत्तिं जानाति स तदमृतमयं शब्दब्रह्माश्नुते, व्याप्नोति। तज्ज्ञो भूत्वा तदेव भवतीत्यर्थः। तथा चोक्तम्—

प्राणवृत्तिमतिक्रान्ते वाचस्तत्त्वे व्यवस्थितः।
क्रमसंहारयोगेन संहृत्यात्मानमात्मनि॥
वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम्॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य च्छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते॥
(इति हरिवृषभवृत्तौ)॥ १३१॥

क्योंकि शब्द ही इस विश्व की निबन्धनी शक्ति है, वह अन्तरवस्थित महान् वृषभ है, अर्थमात्र का प्रकल्पक भी है और जगत् की मूल-प्रकृति भी है, इसलिए शब्द का संस्कार ही परमात्मा की सिद्धि है। शब्दात्मा की प्रवृत्ति का तत्त्व जान लेने वाला पुरुष उस अमृतमय शब्दब्रह्म के साथ एकात्म हो जाता है।

शब्द का संस्कार उसका साधुभाव है, जो व्याकरण के द्वारा ज्ञात होता है। शब्द का सम्यक् ज्ञान एवं प्रयोग लौकिक एवं लोकोत्तर अभीप्सितों का साधक होता है, वह ऐसी कामधेनु है जो लौकिक प्रतिष्ठा और पारलौकिक पुण्य प्रदान करती है। उस परात्मा शब्दतत्त्व की सिद्धि शब्द के सम्यक् ज्ञान और प्रयोग में

निहित है। "एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग् भवति।" "सम्यग् वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।" इत्यादि वचनों से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

शब्द-संस्कार की बात से संस्कार-रहित अपभ्रंशों का प्रश्न उठता है। क्या वे परमात्मा की सिद्धि में सहायक नहीं होते? व्यवस्थित साधुभाव की दृष्टि से देखें तो "लौकिकसंस्कृत" भाषा के शब्दों के अतिरिक्त विश्व की किसी भी भाषा के शब्दों का साधुभाव व्यवस्थित नहीं है, 'वैदिकसंस्कृत' (छन्दस्) के शब्दों का भी नहीं। उसमें इतने 'बाहुलक' हैं कि यास्कादि आचार्यों की पूरी शक्ति लग जाने पर भी साधुभाव की व्यवस्था नहीं हो सकी। अन्य भाषाओं की तो बात ही क्या? क्योंकि वे तो म्लेच्छभाषा ही मानी गयी हैं।

"व्यवस्थित साधुभाव के दृष्टिकोण को अपनाने से शब्दात्मा की व्यापकता का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है।" यह भी ध्यान देने योग्य बात है। वास्तव में 'साधुभाव' की अपेक्षा 'वाचकत्व' शब्दसंस्कार का मुख्यतत्त्व माना जाना चाहिए। शब्दों (भाषा) के क्षेत्र में शास्त्र की अपेक्षा व्यवहार को सदा से अधिमान मिलता रहा है। किसी शब्द की वास्तविक सामर्थ्य क्या है? इसका निर्धारण व्यवहार करता है। शब्द का प्रवृत्तितत्त्व व्युत्पत्तितत्त्व पर हावी रहता है, इस तथ्य को सभी जानते हैं। प्रवृत्तितत्त्वज्ञ ही शब्दामृत का आस्वादन कर पाता है॥ १३१॥

शास्त्राणि खलु वेदमूलकानि--

न जात्वकर्तृकं कश्चिदागमं प्रतिपद्यते।
बीजं सर्वागमापाये त्रय्येवादौ व्यवस्थिता॥ १३२॥

कश्चिदपि आगमानुयायी पुरुषः, आगमं स्वमागमं, जातु कदापि, अकर्तृकम् अपौरुषेयं, न प्रतिपद्यते स्वीकरोति, न्याय-वेदान्त-सांख्यादीनामागमानां गौतमकणादव्यासकपिलादयः कर्तारः स्मर्यन्ते। एतेषामागमानां सपौरुषेयत्वे सिद्धे ततः पूर्वं सर्वागमापाये अन्येषां सर्वेषामागमानामसत्त्वे, आदौ बीजं बीजभूता "त्रयी" वेदाः, ऋग्यजुसाम्नां त्रयी, एव व्यवस्थिता वर्तमाना तिष्ठति। तत एव सर्वेषामागमानामुद्भव इत्यर्थः।

त्रयीति। त्रय्येव सर्वारम्भाणां बीजमिति भारतीयानामास्था, इतरेषां तु नैत्यद्यत्वे स्पष्टम् अस्ति, खलु कपिलादिदर्शनानां त्रयी मूलम्, कन्फ्यूसियस-अरस्तू-मुहम्मद-क्राइष्टादीनां तु नास्त्येव, परं यदि त्रयीपदेन प्रणवः

(शब्दतत्त्वं) परामृश्यते तदा तस्य सर्वारम्भबीजत्वं सर्वाद्यव्यवस्थितिश्च सम्यगुपपद्यते, प्रणवस्य सर्ववाङ्मयत्वात्, सर्वज्ञानमयत्वाच्च ।

इदं त्ववश्यमभ्युपेयम् । अन्यथा ऋग्यजुःसाम्नामेव त्रयीपदेन ग्रहणे कृते कपिलादीनामांशिकतया बौद्धादीनां विरुद्धतया 'इस्लाम'-'क्रिश्चेनिटी'-आदीनां पूर्णतया त्रयीबीजत्वाभावे तद्गतज्ञान-दर्शनयोः शब्दतत्त्वाविषयत्वमापद्येत । शब्दतत्त्वस्य तु सदसद् विरुद्धाविरुद्धं च ज्ञानं विषयः । शब्दतत्त्वमेव सर्वापाये सर्वारम्भे च व्यवस्थितम् । तच्च प्रणवः, ततश्च त्रयी, ततश्चान्यानि ज्ञानानि ।। १३२ ।।

कोई भी आगमानुयायी (न्याय-वेदान्तादि दर्शनों के अनुयायी) अपने आगम को अकर्तृक, अपौरुषेय नहीं बताता । इन आगमों का कोई न कोई कर्ता है । अकर्तृक, अपौरुषेय आगम वेद ही हैं । अतः किसी भी अन्य आगम के न होने की स्थिति में त्रयी (वेद) ही, भविष्य में बनने वाले आगमों के बीज के रूप में सबसे पहले विद्यमान थी ।

सभी अन्य आगमों को किसी-न-किसी ने बनाया है । जिन्हें बनाया गया है, वे नष्ट भी होंगे ही । अपौरुषेय केवल वेद हैं, इसलिए वे इन अन्य आगमों के बनने से पहले वर्तमान थे । इनके नष्ट होने पर और फिर नये बनने वाले आगमों के आरम्भ में भी वेद विद्यमान होंगे । वेद सभी आगमों के बीज हैं । वेदों का प्रामाण्य सर्वोपरि है ।

कुछ ऐसे आगम भी हैं, जिनका निर्माण वैदिक बीजों को लेकर नहीं किया गया । इनमें भारतीय और अभारतीय दोनों हैं । कपिल, चार्वाक, लोकायत, बौद्ध, जैन दर्शनों के बीज वेदों से नहीं लिये गये । ये भारतीय दर्शन हैं । अभारतीयों में कन्फ्यूसियस, अरस्तू, मोहम्मद, क्राइस्ट आदि ऐसे दार्शनिक हैं, जिनके दर्शनों का मूल वेदों में नहीं है । अपने-अपने समाजों में ये दर्शन कर्तव्याकर्तव्य के लिए श्रद्धापूर्वक अपनाये जाते हैं ।

अतः इस कारिका को केवल ग्रन्थकार की वेदों के प्रति श्रद्धा न मानना हो तो "त्रयी' का अर्थ 'प्रणव' मानना आवश्यक है । 'प्रणव एव सर्वा वाक्" के आधार पर और 'प्रणव' के शब्दात्मा होने के कारण उपर्युक्त सभी दर्शनों का बीज त्रयी अर्थात् 'प्रणव' है, यह कथन युक्तिसङ्गत हो जाता है । प्रसङ्ग के अनुरोध से और शब्दतत्त्व की व्यापकता को बनाये रखने के लिए ऐसा अर्थ करना अत्यन्त आवश्यक भी है ।। १३२ ।।

शास्त्राभावे वेदोदितो धर्मो लोकप्रवर्तकः—

अस्तं यातेषु वादेषु कर्तृष्वन्येष्वसत्स्वपि ।
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं न लोको व्यतिवर्तते ॥ १३३ ॥

सर्वेषु वादेषु सिद्धान्तेषु, अस्तं यातेषु अस्तङ्गतेषु, अन्येषु कर्तृषु सिद्धान्त-निर्मातृषु च, असत्सु अविद्यमानेषु, लोकः तत्सामयिको जनः, श्रुति-स्मृत्युदितं श्रुत्या वेदैः, स्मृतिभिः मन्वादिभिः, उदितं कथितं, धर्मं न व्यतिवर्तते तद्धर्ममतिक्रम्य न व्यवहरति ।

अस्तमिति । वादाः (दर्शनानि) सकर्तृकत्वात्पौरुषेयत्वाच्चास्तं यान्ति । यथास्मिन्कल्पे कपिलादयस्तेषां वादाश्च जाता अस्तं च गताः । एवमग्रेऽपि सम्भवति । वादद्वयस्थित्यन्तराले लोकः श्रुत्युदितं तदनुसारि-स्मृत्युदितं चोदनालक्षणं धर्मं स्वपरहितसाधकमहितप्रतिघातकं चानुवर्ततेऽनुवर्तिष्यते च । वेदस्य प्रामाण्यं तिष्ठत्येवेत्यर्थः ॥ १३३ ॥

सकर्तृक पौरुषेय दर्शन किसी-न-किसी समय समाप्त हुए होंगे या भविष्य में होंगे । अन्य नये दर्शनों के बनने में भी समय लगेगा । इस अन्तराल में लोग श्रुतियों और स्मृतियों में बताये गये धर्म के अनुसार ही अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण करते हैं और तदनुसार व्यवहार करते हैं । वेदों का प्रामाण्य उस समय भी बना रहता है ॥ १३३ ॥

वेदाम्नायस्यानिवार्यं धर्मज्ञाननिबन्धनत्वम्—

ज्ञाने स्वाभाविके नार्थः शास्त्रैः कश्चन विद्यते ।
धर्मो ज्ञानस्य हेतुश्चेत्तस्याम्नायो निबन्धनम् ॥ १३४ ॥

स्वाभाविके स्वभावतः सिद्धे, ज्ञाने सति, यदि कस्यचित् स्वभावतः नैसर्गिकं ज्ञानं स्यात्तदा, शास्त्रैः सिद्धान्तप्रतिपादकैः न्यायव्याकरणादिभिः, कश्चन अर्थः प्रयोजनं, न विद्यते नास्ति । परन्तु यदि चेत् धर्मः स्मृत्यादि-बोधितो व्यवहारः, ज्ञानस्य हेतुः स्यात्, तदा तत्र ज्ञाने ज्ञानप्राप्तौ, आम्नायः पूर्व-पूर्व-शास्त्रपरम्परा, निबन्धनम् कारणम् भवति । तत्र तु आम्नायस्य हेतुत्वमस्त्येवेत्यर्थः ।

स्वाभाविक इति । आम्नायागमानां ज्ञाने धर्मे च हेतुत्वम् । परन्तु यदि कस्यचित्पुरुषस्य आगमबोधितधर्माचरणमन्तरा स्वाभाविकं ज्ञानमुत्पद्यते

तदा तस्य शास्त्रैः प्रयोजनं नास्ति। यथा कपिलस्य जातमात्रस्य शुकमुनेश्च ज्ञानमासीदिति। एवं स्थिते यद्येकस्य कपिलादेस्तादृशं स्वाभाविकं ज्ञानं सम्भवति तदान्येषामपि भवितुमर्हति, तत्कोऽर्थः शास्त्रैः ? इति शास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्यते। एकस्योपदेशमन्तरा ज्ञानं, नान्येषामिति, तत्रापि कस्यचिद्धर्म-विशेषस्य कारणत्वं कल्प्यं भवति। येषां तूपदेशेनैव धर्मसम्भवः, तेषां शास्त्रप्रयोजनमस्त्येव। अत एव युगे युग आम्नायनिबन्धनं धर्ममासेवमानाः पृथक्-पृथक् शास्त्राणां कर्तारः तत्तच्छास्त्राणि रचयन्तीति तेष्वपि वेदानामनुगमः प्रामाण्यं च तिष्ठत्येव ॥ १३४ ॥

किसी व्यक्ति-विशेष को शास्त्रों के उपदेश के बिना ही स्वाभाविक ज्ञान हो जाय तो शास्त्रों की क्या आवश्यकता है। परन्तु शास्त्र-बोधित धर्म ज्ञान का कारण हो तो शास्त्रों की आवश्यकता होगी ही।

ज्ञान स्वाभाविक होता है या नहीं ? यह एक प्रमाणापेक्षी प्रश्न है। कहा जाता है कि कपिल और शुकदेव को जन्मजात ज्ञान प्राप्त था। ऐसी अवस्था में उन्हें शास्त्रोपदेश की क्या आवश्यकता थी ? यहीं एक प्रश्न यह भी है कि यदि कपिल को स्वाभाविक ज्ञान हो सकता है तो अन्य लोगों को क्यों नहीं हो सकता ? यदि इसका कोई ठोस उत्तर नहीं दिया जाता तो मानना पड़ेगा कि स्वाभाविक ज्ञान सबको हो सकता है। इस स्थिति में तो शास्त्रों का निर्माण ही निष्प्रयोजन हो जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। शास्त्र हैं, उनका निर्माण भी होता है, उनका उपदेश प्राप्त करके लोग ज्ञान-लाभ भी करते हैं। अतः शास्त्रोपदेश-जनित धर्म यदि ज्ञान का कारण हो तो शास्त्र-प्रणयन नितान्त आवश्यक हो जाता है। कपिलादिमहात्माओं का जन्मजात ज्ञान भी जन्मान्तरीय धर्मविशेष के कारण ही था, यह मानना उचित होगा। धर्मसम्पादक शास्त्र स्वयं वेदानुसारी हैं, अतः उनमें भी वेदों-जैसा प्रामाण्य है ॥ १३४ ॥

आगमवाक्यार्थनिश्चये तर्क आवश्यकः—

वेदशास्त्राविरोधी यस्तर्कश्चक्षुरपश्यताम्।
रूपमात्राद्धि वाक्यार्थः केवलान्नावतिष्ठते ॥ १३५ ॥

वेदशास्त्राविरोधी वेदं शास्त्रं च न विरुणद्धि यः सः तर्कः अपश्यतां ज्ञानहीनानामजानतां चक्षुः नेत्रभूतः। अजानतां पुरुषाणां कृते वेदशास्त्रा-विरोधी तर्कश्चक्षूरूपो मार्गदर्शकः यथान्धानां नेत्रम्। यतो हि केवलात् रूपमात्रात् तर्कं विना केवलात् वाक्यस्य स्वरूपसत्ताया एव वाक्यार्थः उद्देश्यभूतः अभिप्रायः न अवतिष्ठते नात्रगम्यते।

तर्क इति। केवलं वाक्यस्य स्वरूपदर्शनेन वाक्यार्थनिश्चयो नोचितः, प्रकरणसामर्थ्यादिना समानानुपूर्विकस्यापि वाक्यस्यार्थभेददर्शनात्। अतस्तर्केण वाक्यार्थानुसन्धानमावश्यकम्। वेदवाक्येष्विदं परमावश्यकम्। तत्र हि शब्दार्थप्रविभागस्तर्केण क्रियते। वेदाविरोधिनि तर्केऽक्रियमाणे विरुद्धदर्शनानां पुरुषाणां विवक्षिताविवक्षितयोर्व्यामोहोऽवश्यम्भावी। "सैन्धवमानय' इत्यादिलौकिकवाक्येष्वपीदं सम्भवति। अत एव वाक्यार्थ-ज्ञाने तर्कश्चक्षुः ॥ १३५ ॥

आगमवाक्यों का अर्थ निश्चित करने में तर्क का आश्रय लेना आवश्यक है। यह तर्क, जहाँ तक आगमाभिप्राय के विरुद्ध न हो, आगमार्थ न जानने वालों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना नेत्रहीनों के लिए नेत्र। केवल वाक्य के स्वरूप को देखने से अर्थ का निश्चय नहीं हो पाता।

सामान्य लौकिक वाक्यों "सैन्धवमानय" इत्यादि में भी तर्क द्वारा प्रकरणादि का ज्ञान करके ही अर्थ-निश्चय किया जाता है। यदि कोई भिन्न या विरुद्ध दृष्टि रखने वाला दार्शनिक वेदवाक्यों का अर्थ केवल उसके स्वरूप से करे तो यह उसकी भयङ्कर भूल होगी। वेद-वाक्यों का अर्थ करने में वेदाविरुद्ध तर्क की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि वहाँ तर्कातीत श्रद्धेय वस्तु भी है और विवक्षितार्थ का सम्यक् ज्ञान न होने पर अनभ्युदय की सम्भावना भी है ॥ १३५ ॥

वाक्यार्थाधिगमे तर्कप्रकाराः—

सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।
इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते ॥ १३६ ॥

सतः वाक्ये विद्यमानस्य पदार्थस्य, अविवक्षा वाक्यार्थेऽनुपादानं, पारार्थ्यं पदार्थस्य परार्थता विशेषणत्वम् उपलक्षणत्वं च, अर्थस्य लैङ्गिकी साङ्केतिकी व्यक्तिः अभिव्यक्तिः, इति एतत्प्रकारः बहुविधः विविधः न्यायः नयः (वाक्यार्थबोधे करणीये सति) तर्केण तर्कद्वारा विभज्यते भिद्यते। वाक्यार्थबोधेऽभीप्सिते तर्कद्वारा बहुविधा न्यायाः समाश्रियन्ते। केवलं रूपमात्राद्वाक्यार्थबोधो दुरधिगमः।

प्रविभज्यत इति। रूपमात्राद्वाक्यार्थो नाधिगम्यत इति यदुक्तम्, तत्र वाक्यार्थाधिगमस्यान्ये प्रकाराः प्रदर्श्यन्ते यथा-सतोऽविवक्षा-कर्तुरीप्सित-तमं कर्म" (पा० अ० १।४।४९) अत्रेप्सिततममिति नपुंसकलिङ्गोपादाने-ऽपि स्त्रीपुंसयोरपि 'लतां पश्य' 'घटं कुरु' इत्यादौ कर्मत्वदर्शनाल्लिङ्गस्या-

विवक्षा, कर्तुरित्यत्र च सत्यप्येकवचने द्वयोस्त्रयाणां (तिसृणां च) वेप्सित-तमं कर्मत्वं लभते, अत्र संख्याविवक्षिता। पारार्थ्यम्--"दृष्टसागरमानये"-त्यादौ 'सागर'--पदस्यानयनक्रियायामनुपयोगात्पारार्थ्यं दृष्टम्, "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसर्जयेत्" इत्यादौ मेघाच्छन्न आकाशे विनापि नक्षत्रदर्शनं कालविशेषे वाग्विसृज्यते, अत्र नक्षत्रपदस्य कालविशेषोपलक्षणत्वेन पारार्थ्यं दृष्टम्। लैङ्गिकी व्यक्तिः-"अक्ताः शर्करा उपदधाति" इत्यादौ केनाक्ताः? इति जिज्ञासायां सर्वाञ्जनद्रव्यप्रसङ्गे "तेजो वै घृतम्" इति स्तूयते, तेन घृतेनाक्ताः शर्करा इति विशेषप्रतिपत्तिर्भवति। एवञ्च न्यायः, वाक्यार्थस्य निर्णयस्तर्कद्वारा प्रविभक्तरूपेण निश्चीयते। रूपमात्रात्तु विवक्षिताविवक्षि-तयोर्व्यामोह एव स्यात्॥ १३६॥

केवल वाक्य स्वरूप को देखकर वाक्यार्थ का निर्णय करना सदा सम्भव नहीं होता; क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान के लिए तर्क द्वारा अनेक न्याय, निर्णायक युक्तियाँ अपनाई जाती हैं। उनमें से कुछ हैं अविवक्षा, उपलक्षण और लिङ्ग। कुछ अन्य युक्तियाँ भी हैं, जैसे--विवक्षा।

इन निर्णायक युक्तियों के कुछ उदाहरण ये हैं--अविवक्षा, वाक्य में विद्यमान पदार्थ की उपेक्षा। "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस वाक्य में ग्रहं (सोमरस रखने का पात्र) में एकवचन है, परन्तु पात्र एक नहीं सभी मांजे जाते हैं। यहाँ एक वचन की उपेक्षा कर दी जाती है। "स्त्रियं ये चोपजीवन्ति प्राप्तास्ते मृतलक्षणम्", (जो स्त्री की कमाई पर जीते हैं, वे मृतक समान हैं) इस वाक्य में 'जीवन्ति' पद में वर्तमानकाल की अविवक्षा कर दी जाती है। अन्यथा जो भूतकाल में स्त्री की कमाई पर जिये और जो भविष्य में जीएंगे वे निन्द्य नहीं माने जाएंगे। उपलक्षण--"काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" (कौओं से दही बचाओ।) इस वाक्य में 'काक' शब्द उन सभी का उपलक्षक है जो दही को नुकसान पहुंचा सकते हैं। लिङ्ग --"अक्ताः शर्कराः" (भीगी हुई शक्कर) इसका अर्थ "घी से भीगी शक्कर" यह अर्थ किया जाता है; क्योंकि पास में ही "तेजो वै घृतम्" यह घृत का स्तुति वाक्य है। इसी का संकेत-लिङ्ग लेकर यह अर्थ किया जाता है। कहीं-कहीं वाक्यगत पदार्थ की अनि-वार्यविवक्षा करनी पड़ती है। जैसे "पशुना यजेत" यहाँ 'पशुना' यह पद पुंल्लिङ्ग में है। पुंल्लिङ्ग की अविवक्षा नहीं की जाती अपितु अनिवार्य--"विवक्षा" करनी पड़ती है और पुंस्त्वविशिष्ट पशु ही यागाङ्ग बनता है।

स्पष्ट है कि तर्क के विना वाक्यार्थ का अभीष्ट विवक्षित बोध होना असम्भव ही है॥ १३६॥

तर्कोऽपि शब्दशक्त्याश्रितः--

शब्दानामेव सा शक्तिस्तर्को यः पुरुषाश्रयः।
शब्दाननुगतो न्यायोऽनागमेष्वनिबन्धनः॥ १३७॥

एवं यः पुरुषाश्रयः पुरुषेण व्यक्तिविशेषेण समाश्रितः तर्कः 'सतोऽविवक्षा'प्रभृतिः, सा शब्दानामेव शक्तिः। न्यायः 'सतोऽविवक्षा' इत्यादिन्यायः खलु शब्दान् तद्वाक्यगतशब्दान्, यद्वाक्येऽविवक्षा क्रियते, तान् अनुगतः अनुसृतः भवति। अनागमेषु तु अनिबन्धनः।

अत्र शब्दान् न अनुगतः न्यायः आगमेषु अनिबन्धन भवति। अनागमेषु अनिबन्धनः भवति, आगमेषु अनिबन्धनः न भवति, इति त्रयोऽन्वयाः सम्भवन्ति।

शब्दानामिति। यः पुरुषेण क्रियमाणस्तर्कोऽविवक्षादिरूपः सोऽपि तत्तद्वाक्यगतशब्दानामेव शक्त्यैव क्रियते, अविवक्षया यदि "ईप्सिततमम्" इत्यादावेकत्वं समुपेक्ष्य द्वित्व-बहुत्वेऽपि तर्क्यते तदा स तथाभूतस्तर्कोऽपि "ईप्सिततमम्" इति शब्दस्यैव शक्तिः। एवमन्यत्रापि। "पुरुषस्तर्कं करोती"त्यादिव्यवहारस्तु शब्दानां तर्कवाक्यभूतानां पुरुषाश्रयत्वाद्भवति। वस्तुतस्त्वेकत्वविशिष्टस्य "ईप्सिततमम्"पदस्यैव द्वित्व-बहुत्वेऽपि शक्तिरस्ति।[1] पुरुषस्य स्वैच्छिकमर्थप्रकल्पनं नाभिमतमिति ध्वन्यते।

शब्दाननुगत इति। अत्र 'शब्दान्' इति द्वितीयान्तम्। न्यायो ह्यागमवाक्यार्थनिर्णयः। स तु--आगमवाक्यगतशब्दान् अनुगतो भवति। ताञ्छब्दाननुगच्छतीत्यर्थः। (शब्दान् + अनुगत इति च्छेदः) सहि न्यायः--अनागमवाक्यगतशब्देषु (विषये) अनिबन्धन एव। अनागमवाक्यान्यपि तेनैव न्यायेन प्रतिपत्तव्यानीति तु न नियम इत्यर्थः। अथवा -- न अनुगतः, अननुगतः। पुनः--शब्दान् अननुगतः, शब्दाननुगतः। ततः--य आगमवाक्यगतशब्दान् न अनुगतः, स न्यायः आगमेषु (विषये) निबन्धनो न भवति। आगमवाक्यार्थबोधने हेतुत्वं न भजत इत्यर्थः। ('न्यायोनागमेषु' इत्यत्र 'न्यायो + न + आगमेषु' इतिच्छेदः, 'आगमेषु निबन्धनः' इति पाठभेदश्च।) पुनः--शब्दान् अनुगतो न्यायः आगमेषु अनिबन्धनः न भवति, निबन्धनो भवत्येवेति बाढं समर्थ्यते।

एवञ्च वाक्यगतशब्दशक्त्यनुगतो न्यायस्तर्कः, तद्भिन्नस्तु शुष्कतर्कः।

यथा--यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।
पीतं न गमयेत्स्वर्गं तत्किं क्रतुगतं नयेत्॥ इति॥ १३७॥

---

[1] शक्तिः सामर्थ्यम्, न त्वभिधावृत्तिः।

वाक्यार्थबोध के लिए जो तर्क (अविवक्षा उपलक्षण आदि) कोई व्यक्ति करता है, वह उस वाक्य में आये हुए शब्दों की ही शक्ति या सामर्थ्य होती है, तर्क करनेवाले पुरुष की नहीं। वाक्यगत शब्दों की शक्ति के विपरीत किया गया तर्क (न्याय, वाक्यार्थ निर्णय) आगम-वाक्यार्थ-बोध का कारण नहीं बन सकता, क्योंकि तर्क का वाक्यगत शब्दों की शक्ति के अनुसार होना आवश्यक है।

वाक्यों का जो अर्थ अविवक्षा आदि के द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह वस्तुतः उन शब्दों में ही निहित होता है, न कि तर्क करने वाले व्यक्ति की अपनी कल्पना द्वारा प्रसूत होता है। तर्क द्वारा प्राप्त न्याय को शब्दानुसारी होना ही चाहिए। उदाहरणार्थ—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इस पाणिनिसूत्र में 'ईप्सिततमम्' में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग है। इस नपुंसकत्व की अविवक्षा न की जाय तो "पुस्तकं पठति" में पुस्तक की तो कर्मसंज्ञा हो जायगी परन्तु 'घटान् कुरु' 'लतां पश्य' में घट और लता की कर्म संज्ञा न हो पायेगी। क्योंकि घट और 'लता' नपुंसकलिङ्ग नहीं हैं। इसी प्रकार 'कर्तुः' में षष्ठी का एकवचन है। इस एकवचन की अविवक्षा न की जाय तो दो या तीन कर्ताओं की ईप्सिततम वस्तु की कर्म संज्ञा नहीं हो पायेगी। 'अहं व्याकरणमध्येमि' में व्याकरण कर्म होगा 'आवां' या 'वयं' का कर्म नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार अविवक्षा से जो स्त्रीत्व-पुंस्त्व, या द्वित्व-बहुत्व प्राप्त हुआ, वह सूत्रगत शब्दों में ही निहित था। तर्क करनेवाले की स्वेच्छा से ऐसा नहीं हुआ। स्वेच्छा से तर्क करने की शक्ति या अधिकार व्यक्ति का नहीं होता। व्यक्ति में यह शक्ति हो तो इसी सूत्र में वह "तमप्" बोधित अतिशय की भी अविवक्षा कर सकता है। ऐसी स्थिति में "पयसा ओदनं भुङ्क्ते" में 'पयस्' की भी कर्मसंज्ञा हो जायगी। अतः तर्क में शब्दों की शक्ति काम करती है, तर्ककर्ता पुरुष की नहीं और इसी कारण तर्कजनित न्याय (वाक्यार्थनिर्णय) वाक्यगतशब्दानुसारी होती है, उसे ऐसा होना ही चाहिए। यदि वह इससे भिन्न हो तो वाक्यार्थनिर्णय का कारण नहीं बन सकता।

जो तर्क वाक्यार्थनिर्णय का कारण नहीं बन सकता वह 'शुष्कतर्क' कहलाता है॥ १३७॥

शब्दा अपि प्रत्यर्थं यतशक्तयो रूपादिवत्—

रूपादयो यथा दृष्टा प्रत्यर्थं यतशक्तयः।
शब्दास्तथैव दृश्यन्ते विषापहरणादिषु॥ १३८॥

रूपादयः रूप-रस-गन्ध-स्पर्शाः, यथा प्रत्यर्थम् अर्थम् अर्थं प्रति, यत-शक्तयः निश्चितशक्तिमन्तो, दृष्टाः अस्माभिरन्यैश्च, शब्दा अपि

विषापहरणादिषु विषस्य अपहरणे निराकरणे अन्येष्वप्येवं भूतेष्वर्थेषु, यतशक्तयः दृश्यन्ते ।

रूपादय इति । रूपादयो हि तत्तदर्थं प्रति यतशक्तयो भवन्ति । न हि प्रत्येकमर्थं प्रति तेषां समा शक्तिः, भिद्यते हि सा । यथा प्रकाशस्य रूप-सामान्यत्वेऽपि मानवान् प्रति वस्तुप्रकाशकत्वं नियतम्, उलूकान् प्रति तु अन्धकारित्वम् । जलस्य रसत्वसामान्येऽपि सर्वत्र शीतकत्वम्, दग्धपाषाणे (चूना इति हिन्द्याम्) सोडियम-हाइड्रो-ऑक्साइड (Sodium Hydro Oxide कॉस्टिक सोडा) इत्याख्ये पदार्थे पतितस्य दाहकत्वं नियतम् । एव-मन्यत्रापि । एवं शब्दानामपि यतशक्तित्वं नियतं दृश्यते । शब्दत्वसामान्येऽपि गारुडमन्त्रेषु विषापहारकत्वं नियतम्, काव्येषु तु नैव । एवं वेदानुपूर्वीष्व-भ्युदयसम्पादकत्वं नियतम्, मद्यपालापेषु तु नैव ॥ १२८ ॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की शक्तियाँ भिन्न भिन्न पदार्थों के प्रति भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं । या किसी विशेष पदार्थ पर इनके प्रभाव एक प्रकार के होते हैं तो दूसरे पदार्थ पर दूसरे प्रकार के । रूपादियों की शक्तियाँ यदि इस प्रकार वस्तु विशेष के प्रति निश्चित होती हैं तो शब्द की शक्तियाँ भी ऐसी ही होती होंगी, यह कहा जा सकता है । विष उतारने के मन्त्र इसके उदाहरण हैं ।

प्रकाश सबके लिए वस्तुएँ प्रकाशित करता है, उल्लू को अन्धा बनाता है । पानी सब जगह ठण्डक देता है, अनबुझे चूने पर पड़कर गर्मी पैदा करता है । फूलों की खुशबू सबको प्रिय लगती है, परन्तु किसी को उससे छींके आती हैं । प्यार से सिर आदि को सहलाने (छूने) से बच्चा सन्तुष्ट होता है, परन्तु पसलियों और पैर के तलवे सहलाने से गुदगुदी के मारे बौखला उठता है । इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हो सकते हैं ।

शब्दों की स्थिति भी ऐसी है । सभी शब्दों की उच्चारणीयता, श्रवणीयता और वाचकता समान होती है । परन्तु एक विशेष प्रकार की शब्दावली (गारुडमन्त्र) सर्प के विष को उतार देती है, परन्तु दूसरी नहीं, जैसे कविता । शब्द दोनों हैं, शक्ति भिन्न है । विषापहारक मन्त्र विष उतार देता है ज्वर नहीं उतार पाता । कविता रसिक को आनन्दित करती है, अरसिक को उबा देती है । इसी प्रकार वेदमन्त्रों में पुण्यजनकता है, प्रमत्तगीतों में नहीं । प्रमत्तगीत (Pop-Songs) भी एक विशेषवर्ग के व्यक्तियों को आह्लादित करते हैं, अन्य लोगों को परेशान करते हैं ।

रूपादि के समान शब्दों में भी विषय-विशेष के प्रति शक्तिनैयत्य होता है ॥ १२८ ॥

शब्दानां यथार्थबोधने शक्तिस्तथा धर्मेऽपि--

यथैषां तत्र सामर्थ्यं धर्मेऽप्येवं प्रतीयताम् ।
साधूनां साधुभिस्तस्माद्वाच्यमभ्युदयार्थिभिः ॥ १३९ ॥

यथा एषां शब्दानां, तत्र विषापहरणादौ, सामर्थ्यं शक्तिः, दृश्यते, एवं साधूनां शब्दानां धर्मेऽपि धर्मसम्पादनेऽपि, प्रतीयताम् ज्ञायताम् । धर्मेऽपि तेषां शक्तिरस्तीति विश्वस्यताम् सर्वैरित्यर्थः । तस्मात् कारणात्, अभ्युदयार्थिभिः कल्याणेप्सुभिः, साधुभिः शब्दैः, वाच्यं वक्तव्यम्, नासाधुभिरिति ।

यथेति । गारुडमन्त्राणां विषापहरणे शक्तिर्दृष्टा । तत्रापि पुनर्यतशक्तित्वं दृश्यते । विषापहारको मन्त्रो ज्वरापहारको न भवति । एवञ्च यथा गारुडमन्त्रशब्दानां विषापहरणादौ शक्तिरस्ति तथैव साधूनां शब्दानां धर्मसम्पादने शक्तिरस्तीति विज्ञातव्यम् । यथा साधूनां विषापहरणे शक्तिस्तथा धर्मेऽपीति तु न योजनीयम्, गारुड-शावरादिमन्त्रेषु साधूनामवश्यं सद्भावाभावात्, तादृशमन्त्रेष्वसाधुशब्दानां बाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् । लोकभाषास्वपि विषाद्यपहारका मन्त्रा दृश्यन्ते । अतः यथा गारुडमन्त्राणां विषापहरणे सामर्थ्यं तथैव साधूनामपि धर्मे सामर्थ्यमित्येव योजना सुसङ्गता । रूपादीनामिव शब्दानामपि यतशक्तित्वमस्ति । तेन शब्दत्व-वाचकत्वयोरविशेषेऽपि साधूनां धर्मे साधकत्वमधर्मेऽसाधकत्वम् । अतएव--

शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम् ।
अर्थप्रत्यायनाभेदे······ ॥ इत्युक्तम् । (वा० प० १।२७)

तस्मादिति । यतः साधूनां धर्मे सामर्थ्यम्, अतोऽभ्युदयार्थिभिः पुरुषैः साधुभिरेव वाच्यं नासाधुभिः ॥ १३९ ॥

जैसे शब्दों की विष उतारने की शक्ति होती है, या विषय-विशेष के प्रति शक्ति-नैयत्य होता है, वैसे ही साधुशब्दों की धर्म सम्पादिका शक्ति भी होती है, ऐसा स्वीकार कर लिया जाना चाहिए और इसीलिए ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण चाहने वाले व्यक्तियों को साधु शब्दों के प्रयोग द्वारा ही अपना वाग्व्यवहार सम्पादित करना चाहिए ।

क्योंकि गारुडमन्त्रों में हमने विषादि को उतारने की शक्ति प्रत्यक्षतः देखी है । हम यह भी जानते हैं कि विशेष स्थितियों में शब्द की विशेष शक्तियाँ होती हैं । अतः यह भी निश्चित है कि साधु शब्दों में धर्मजनिका शक्ति होती है ।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि —"जैसे साधु शब्दों की विषापहरण म शक्ति है, वैसे ही धर्मसम्पादन में भी है", ऐसा अर्थ नहीं किया जाना चाहिए । क्योंकि–

गारुड-शावर मन्त्रों में असाधु शब्दों का बहुलता से प्रयोग होता है और लोकभाषाओं में भी विष उतारने के मन्त्र होते हैं। अतः --"वाचकत्व-विशिष्ट शब्दसामान्य गारुड मन्त्रों से जैसे विषापहरण होता है वैसे ही वाचकत्वविशिष्ट शब्द सामान्य साधु शब्दों से धर्मसम्पादन होता है।" यही अर्थ करना चाहिए ॥ १३९ ॥

अदृष्टफलेषु विधिष्वागमस्यैव प्रामाण्यम्--

सर्वोऽदृष्टफलानर्थानागमात् प्रतिपद्यते ।
विपरीतं च तत्सर्वं शक्यते वक्तुमागमे ॥ १४० ॥

सर्वोऽपि लोकः, अदृष्टफलान् अदृष्टं फलं येषां तान्, अर्थान् विषयान् व्यापारान्, आगमात् शास्त्रात्, प्रतिपद्यते स्वीकरोति अनुगच्छति च। यद्यपि दृष्टार्थानपि आगमादेव अनुगच्छति तथापि प्रत्यक्षफलसद्भावात् कदाचिन्नानुगच्छेत्, अदृष्टार्थे त्वनुगच्छत्येवेत्यर्थः। आगमविषये केनचित् तत्सर्वं, यदागमे शुभमशुभं वोक्तं, विपरीतं च विरुद्धम्-अपि, वक्तुं शक्यते। "हिंसया स्वर्गच्छति," "दानेन निरयं प्राप्नोति" एवंप्रकारकविपरीतागमः यदि केनचित्कृतस्तदा धर्मव्यवस्थायाः किम् स्यात् ? अतः कोऽप्यागमः प्रतिपत्तव्य एव।

आगमादिति। शब्दस्य ह्यर्थबोधने शक्तिः प्रत्यक्षतो दृष्टा, धर्मसम्पादने त्वागमबोधिता "एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" इति। अथ च प्रत्यक्षेणापि शब्दानां विषापहरणादावर्थबोधनादतिरिक्ता शक्तिर्दृष्टा। एवं स्थिते यद्यागमः शब्दानां धर्मजनकत्वं व्यवस्थापयति, तत्तथा स्वीकर्तव्यमेव। अन्येष्वपि दृष्टादृष्टफलवत्सु कार्येषु लोक आगममनु गच्छत्येव।

विपरीतमिति। यद्येवं तर्हि--"यथा शब्दानां विषापहरणादौ सामर्थ्यम्, तथा "अधर्मे" अपीत्यागमः कुतो क्रियते ?······क्रियतां नाम। सर्वमपि विपरीतमागमे कर्तुं शक्यते। "ब्राह्मणं हन्यात् स्वर्गाप्तिकामः" "मातरं गच्छेत् मोक्षकामः" इत्याद्यागमो यावन्न प्रसिद्ध्यति, तावद्वर्तमानेनैवागमेन प्रतिपत्तव्यमिति ॥ १४० ॥

सभी लोग अप्रत्यक्ष फल देने वाले कार्यों को आगमों (वेदादिशास्त्रों) के अनुसार ही करते हैं। आगम जैसा कहते हैं, वैसा मानते हैं। आगमों में इस समय जैसा कहा गया है, उसके ठीक विपरीत भी कहा जा सकता था।

यदि विपरीत कहा गया होता तो लोग उसे भी मान लेते; क्योंकि अप्रत्यक्ष के सम्बन्ध में तर्क की नहीं आगम का अनुगम करने की भावना प्रधान होती है।

यहाँ युक्ति यही होती है कि—यदि 'दृष्ट' के विषय में आगम के कथन और निर्देश ठीक हैं तो 'अदृष्ट' के विषय में भी ठीक ही होने चाहिए। अतः दृष्ट और अदृष्ट दोनों के सम्बन्ध में लोग आगमानुयायी होते हैं।

शब्द की अर्थबोधनशक्ति प्रत्यक्षतः दृष्ट है। धर्मजनकता शक्ति आगमबोधित है। क्योंकि आगम ने साधु शब्दों में ही धर्मजनकताशक्ति बताई है, अतः अभ्युदय के लिए साधु शब्दों का व्यवहार करना चाहिए।

"साधुशब्द प्रयोग से अधर्म होता है।" ऐसा विपरीत आगम क्यों न बनाया जाय? यदि कोई ऐसा कहे तो उत्तर यही ठीक होगा कि—"बताइये महोदय, ऐसा ही विपरीत आगम बनाइये! हम पक्के आगमानुयायी होंगे तो उसे भी मानेंगे। परन्तु जब तक आप ऐसा आगम नहीं बना पाते, तब तक तो वर्त्तमान आगम की व्यवस्थाएँ चलने दीजिये"॥ १४०॥

अविच्छिन्ना चेयं व्याकरणस्मृतिः शब्दसाधुत्वज्ञाने प्रमाणम्—

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम्॥ १४१॥

सा एषा प्रक्रान्ता, व्याकरणस्मृतिः व्याकरणागमः, साधुत्वज्ञानविषया शब्दानां साधुत्वस्य ज्ञानं विषयो यस्या सा तथाभूता अस्ति। शिष्टानां पाणिन्यादीनाम् इदं प्रस्तुतं स्मृतिनिबन्धनं शास्त्रप्रबन्धः, अविच्छेदेन सातत्येन पूर्व-पूर्वस्मृत्यनुसारमस्ति।

व्याकरणस्मृतिरिति। यतो हि दृष्टादृष्टफलेषु व्यवहारेषु प्रवृत्तय आगमः कश्चित्प्रतिपत्तव्यः, सन्ति च भक्ष्याभक्ष्यगम्यागम्यवाच्यविषयका आगमाः। तत्र साधुभिर्वाच्यं नासाधुभिरित्यागमे स्थिते कुतस्तच्छब्द-साधुत्वज्ञानप्रतिपत्तव्यमिति जिज्ञासित उच्यते--अस्ति हि सैषा व्याकरण-स्मृतिः, शब्दसाधुत्वज्ञानमेव यस्या विषयः। शिष्टानां पाणिन्यादीनां सम्बन्धीदं स्मृतिनिबन्धनं पूर्व-पूर्वासां तादृशस्मृतीनामविच्छेदेन कृतम्, न तु स्वकपोलकल्पनामात्रम्। अतोऽन्यासां स्मृतीनामिवास्या अपि स्मृतेः सिद्धं प्रामाण्यम्। अथवा--शब्दानुशासनशिष्टानां साधूनामविच्छेदेनेदं स्मृतिनिबन्धनम्। पूर्वमपि साधुत्वेन स्मृतानां शब्दानां पुनर्निबन्धनमत्र कृतमिति। उभयथापि दृष्टादृष्टफलावाप्तय इयं स्मृतिः प्रतिपत्त-व्येति॥ १४१॥

शब्दों के साधुभाव का ज्ञान कराना इस व्याकरण-स्मृति का विषय है। पाणि-न्यादि आचार्यों ने पूर्व-पूर्व व्याकरणागमों द्वारा बोधित शब्दसाधुत्व को अपनाते हुए इस व्याकरणशास्त्र का प्रणयन किया है।

मनुष्य अपने सभी व्यवहारों के लिए आगमों का अनुसरण करता है। शब्द-साधुत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी उसे किसी आगम की आवश्यकता होती है। अतः पूर्वकाल में भी ऐसी स्मृतियों, आगमों का प्रणयन होता रहा है। आचार्य पाणिनि की यह व्याकरण स्मृति भी उसी परम्परा की एक कड़ी है। ऐसा होता ही है। समयानुसार पूर्वस्मृतियों के स्थान पर नई स्मृतियाँ आती ही हैं। परन्तु ये नई स्मृतियाँ अपनी पूर्व परम्परा से विच्छिन्न नहीं होतीं। इससे उनमें 'प्रामाण्य' बना रहता है। बल्कि उत्तरकाल में हुए क्रमिकविकास को ग्रहण कर लेने के कारण नई स्मृतियों में पूर्वस्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्रामाण्य आ जाता है। "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" यह सिद्धान्त इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है।

शब्दसाधुत्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्याकरण-स्मृति का प्रामाण्य है, इसका अनुसरण करना चाहिए। (सम्प्रति पाणिनीय-व्याकरण-स्मृति को यह गौरव प्राप्त है)॥ १४१॥

व्याकरणं वाचः परमं पदम्—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्याः वाचः परं पदम्॥ १४२॥

इद स्मृतिनिबन्धनं व्याकरणशास्त्रं, वैखर्याः, मध्यमायाः, पश्यन्त्याश्च, एतन्नामत्रयभेदभिन्नायाः, अनेकतीर्थभेदायाः अनेके तीर्थभेदाः यस्याः तस्याः, त्रय्याः त्रिस्वरूपायाः, वाचः शब्दात्मनः, अद्भुतम् आश्चर्यमयं, परं सर्वोत्कृष्टं, पदं स्थानं, विद्यते।

वैखर्या इत्यादि। वाचो हि त्रयो रूपभेदा नामभेदेनाम्नाये महाभारतादौ च वर्णिताः।

तत्र वैखरी—स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥
मध्यमा— केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥
पश्यन्ती— अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी॥

इति तिसृणां वाचां स्वरूपोपवर्णनम्। श्लोकार्थस्त्वेवम्—स्थानेषु कण्ठतालुमूर्धादिषु, वायौ प्राणवायौ विवृते सति वायुरूपतां विहाय कखादिवर्णरूपतामापन्ने, स्पर्शवत्त्वं विहाय श्रवणीयत्वमापन्ने वा, कृतवर्ण-

परिग्रहा, कुतो वर्णानां परिग्रहो स्वरूपग्रहणं यया सा तथाभूता, या प्रयोक्तॄणाम्--उच्चारयितॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना, प्राणानां वृत्तिः श्वासोच्छ्वासौ जीवनशक्तिश्च, सा प्राणवृत्तिर्निबन्धनं कारणं यस्याः सा तथाभूता, (श्वासोच्छ्वासैर्जीवनशक्त्या च वर्णा उत्पद्यन्ते, प्राणो नाम बलनं श्वसनं च) अथवा प्राणवृत्तौ निबन्धनं निबद्धा स्थितिर्यस्या सा तथाभूता वाक् "वैखरी" भवति—इति । या तु केवलं बुद्ध्युपादाना, बुद्धिरुपादानं यस्याः न तु प्राणाः, न मनः, सा तथाभूता; या च क्रमरूपानुपातिनी, क्रमं रूपं चानुपतति, क्रमवती रूपवती चेति सा तथाभूता; या च प्राणवृत्ति, सपद्युक्तप्राणवृत्ति श्वासोच्छ्वासावतिक्रम्य प्रवर्तते सा तथाभूता वाक् "मध्यमा" भवति--इति । या च--अविभागा, वाच्यवाचकविभागरहिता, सर्वतः संहृतक्रमा, ज्ञाने ज्ञेये, ज्ञाप्ये ज्ञापके च पौर्वापर्यरहिता, या च स्वरूपज्योतिरेव स्वरूपतयैव ज्योतिः प्रकाशः, प्रकाशात्मैव, या चान्तः-सूक्ष्मा, अन्तर्वर्तिनी सूक्ष्मा या चानपायिनी, विकृतिरहिता, अपायोपजन-विकाररहिता नित्या सा वाक् "पश्यन्ती" भवति--इति । अयमेवार्थः --हरिवृषभवृत्तौ, वृषभदेवटीकायामन्यैश्च व्याख्यातृभिः प्रकारभेदैः शब्दभेदैश्च निरुक्तः ।

अनेकतीर्थेति । वाचो ह्यनेकानि स्थानान्युक्तानि । तेषु तेषु स्थानेषु तीर्थभूतेषु सा वर्तमाना, प्रवर्तमाना, विवर्तमाना, व्यावर्तमाना च भिद्यते । एतदेवास्या अनेकतीर्थभेदः । प्राणा मनो बुद्धिर्नाभिप्रदेशो हृदयं कण्ठः शिरस्तालुर्मूर्धा दन्ता ओष्ठौ च तत्र तत्र प्रसङ्गे वाचः स्थानान्युक्तानि ।

पदमिति । वाचस्त्रिस्वरूपतोक्ता । त्रिस्वरूपा सा वाक् त्रयी । वेदानां त्रयीति तु नाभिप्रेतम् । तस्यास्त्रय्या वाचः परं सर्वोत्कृष्टमद्भुतमाश्चर्य-जनकं च पदं व्याकरणम् । अत्र व्याकरणशास्त्रे सामान्य-विशेषवल्लक्षणैः प्रकृति-प्रत्ययविभागैरविभागैश्च सम्पूर्णं वाङ्मयं समुपनिबद्धमिति तस्य सर्वोत्कृष्टत्वम् । लघुनोपायेनाखिलशब्दप्रतिपत्तिसाधकत्वेनाश्चर्यजन-कत्वम् । पद्यतेऽनेनेति वाचः, वागात्मनः प्राप्तिसाधनत्वम्, आस्पदत्वं च व्याकरणस्य सिद्धम् । तदुक्तम्--प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः । यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ।। इति, (वा० प० १।१२) 'इदमाद्यं पदस्थानम्' इति (वा० प० १।१६) च ।

अत्र हरिवृषभवृत्तौ वैखर्यादीनामपि प्रविभागाः प्रदर्शिताः । तैश्च प्रविभागैर्वैखर्यादीनां स्वरूपाणि प्रकाश्यन्त इति कृत्वात्रोदाह्रियन्ते--

वाक्
वैखरी
मध्यमा
पश्यन्ती
उच्चारण-दृष्टचा
संस्कार-दृष्टचा
बुद्धिवृत्तिः
प्राणवृत्तिः
क्रमवत्तादृष्टचा
सक्रमा
अक्रमा
प्रतिसंहृत-क्रमा
समाविष्ट-क्रमशक्तिः
'श्लिष्टा व्यक्तवर्णा
पुनः स्थितिदृष्टचा
प्रसिद्ध-साधुभावा
भ्रष्ट-संस्कारा
चला
अचला
पुनश्च
समाधानदृष्टचा
आकारदृष्टचा
अर्थदृष्टचा
प्रतिलब्ध-समाधाना.
आवृता.
विशुद्धा.
सन्निविष्ट-ज्ञेयाकारा.
प्रतिलीना-कारा.
निराकारा.
परिच्छिन्नार्थ-प्रत्यवभासा.
संसृष्टार्थ-प्रत्यवभासा.
प्रशान्तसर्वार्थ-प्रत्यवभासा.
अस्माकं तु वाग्विभागश्चेत्थम्--
वाक् (चिद्रूपिणी)
परा
(प्रकाशात्मा)
अपरा
(ज्ञानात्मा)
पश्यन्ती
(अहङ्कारः)
मध्यमा
(बुद्धिः)
वैखरी
(मनः + प्राणः)
(भूमिका द्रष्टव्या) ॥ १४२ ॥
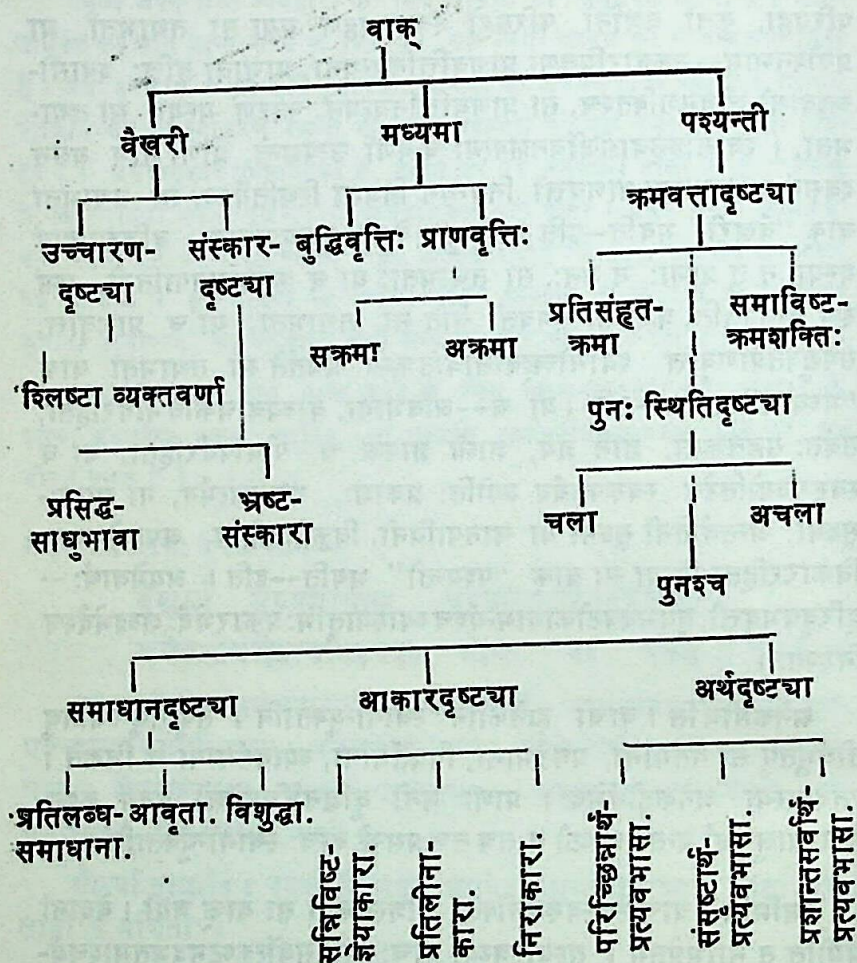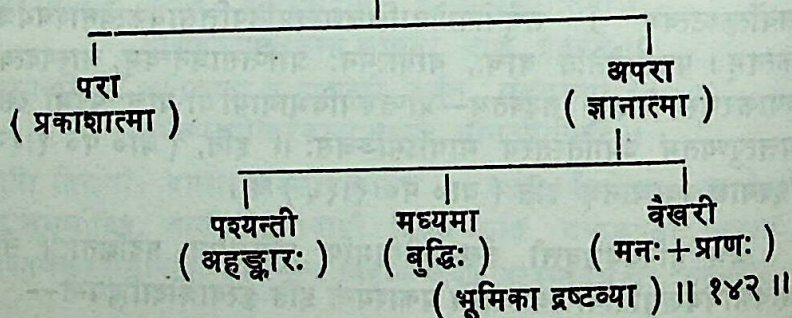
यह व्याकरण-शास्त्र नाभिप्रदेश से लेकर ओष्ठ तक के अनेक तीर्थ-स्वरूपी स्थानों से विविध रूपभेदों में प्रकट होनेवाली, "वैखरी", "मध्यमा" और "पश्यन्ती" के रूपों में त्रयी वाणी का सर्वश्रेष्ठ एवं आश्चर्यमय आस्पद है, प्राप्ति-साधन है।

त्रयी वाणी के कितने भेद विभेद हैं, यह कितने रूपों में परिणत होती है, यह कह सकना प्रायः असम्भव ही है। जीवात्मा-परमात्मा को बाँधने वाली माया के समान ही यह यावद्भावविकारों की जननी है। इसका केवल चतुर्थांश ही मनुष्यों में भासित होता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। महाभाष्य में भी इसे उद्धृत किया गया है। जैसे —

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ इति।
(ऋग्वेद १।१६४।४५)

इस तुरीयांश (चतुर्थांश) का भी कुछ ही भाग व्यावहारिक है। व्यावहारिक भाग में भी बहुत कुछ अपभ्रंश से सङ्कीर्ण है। व्याकरण में वाणी के असङ्कीर्ण (शुद्ध, साधु) स्वरूप की सर्वाङ्गपूर्ण व्यवस्था है, वह भी उत्सर्गापवादविधि के अत्यन्त लघु उपाय से। इसीलिए यह व्याकरण आश्चर्यजनक एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। (अब तो वाणी के सङ्कीर्ण (अपभ्रंश) स्वरूप के भी प्रामाणिक व्याकरण उपलब्ध हैं।)

तीनों वाणियों के स्वरूप इस प्रकार हैं—

वैखरी—कण्ठ, तालु आदि स्थानों में भीतर से उठे हुए वायु के विवर्तित (टकराने या सरकने) होने पर क ख आदि वर्णों का स्वरूप धारण करने वाली वाणी वैखरी वाणी है। यह प्रयोगकर्त्ता के प्राणवायु में रहती है। या प्रयोक्ता पुरुष का प्राणवायु इसकी स्वरूप-निष्पत्ति का कारण होता है।

मध्यमा—प्राणवायु-प्रयोग से पहले की स्थिति में केवल बुद्धि (ज्ञान) को, अपने स्वरूप के लिए, उपादानतत्त्व के रूप में लेकर रहने वाली वाणी मध्यमा वाणी है। हाँ, इसमें वर्णक्रम और ज्ञेय-ज्ञाप्य वस्तुओं का क्रम रहता है।

पश्यन्ती—सब प्रकार के विभाग से और क्रम से रहित, विकारहीन अत्यन्त सूक्ष्म, अन्तःसन्निवेशिनी तथा स्वरूपतः प्रकाशमान वाणी पश्यन्ती वाणी है ॥१४२॥

व्याकरणं हि शब्दसाधुत्वे व्यवस्थितम्—

तद् विभागाविभागाभ्यां क्रियमाणमवस्थितम् ।
स्वभावज्ञैश्च भावानां दृश्यन्ते शब्दशक्तयः ॥ १४३ ॥

तद् व्याकरणं विभागाविभागाभ्यां विभागेन अविभागेन च प्रकृति-प्रत्ययविभागकरणेन, 'पङ्क्ति-विंशति' इत्यादि विना विभागं स्वरूप-कथनेन च क्रियमाणं निर्मीयमाणं, महर्षिभिरिति शेषः, अवस्थितं व्यव-स्थापितम् अस्ति । भावानां पदार्थानां स्वभावज्ञैः शब्दशक्तयः शब्दात्मिकाः शक्तयः दृश्यन्ते प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते । अतस्ते विभागेनाविभागेन वा शब्द-साधुत्वं व्यवस्थापयितुं प्रभवन्ति ।

विभागाविभागाभ्यामिति । विभागो नाम प्रकृति-प्रत्ययविभागः, अविभागस्तु विभागं विनैव स्वरूपकथनम् । आद्यन्तवदेकस्मिन् (पा० अ० १।१।२१) इति सूत्रभाष्येण विभागाविभागयोः स्वरूपं सम्यगवगम्यते, तद्यथा - "यत्तावदयं सामान्येन शक्नोत्युपदेष्टुं, तत्तावदुपदिशति प्रकृतिं, ततो बलाद्यार्धधातुकम्, ततः पश्चादिकारम् । तेनायं विशेषेण शब्दान्तरं समुदायं प्रतिपद्यत इति । अविभागस्तु यत्र शब्दस्य स्वरूपेणोच्चारणम् । तद्यथा दार्धति, दर्धति, दाश्वान्, साह्वान् इति ।"

अविभागे हि प्रत्यक्ष-पक्षेण शब्दानामुपदेशः । विभागे त्वनुमान-पक्षेण ।

स्वभावज्ञैरिति । सत्यपि शब्दस्य "सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा वाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाको-वाक्यमिहासः, पुराणं, वैद्यकम्" इति भाष्योक्त एतावति संहति प्रयोग-विषये, सन्त्येव पाणिन्यादयः पदार्थानां स्वभावज्ञाः, ये "कतमे पदार्थे किं, किमवधि वा ज्ञेयत्वमस्ति" इति पदार्थस्वभावं कात्स्न्येन जानन्ति । अत एव च ते तत्तज्ज्ञेयज्ञापिकाः शब्दानां शक्तीरपि पश्यन्ति, अत एव च तेषां साध्वसाधुव्यवस्थायां सामर्थ्यं प्रामाण्यम् ॥ १४३ ॥

व्याकरण शास्त्र, जो 'त्रयी' वाणी का परमाद्भुत आस्पद है, 'विभाग' और 'अविभाग' विधियों से, पदार्थों के स्वभाव और शब्दों की शक्तियों को पहचानने-वाले मनीषियों के द्वारा रचा गया है। इसलिए वह प्रामाणिक रूप से व्यव-स्थित है।

विभाग का अर्थ है प्रकृति और प्रत्यय का विभाग। व्याकरण में शब्दप्रतिपत्ति के लिए इस विधि का उपयोग किया गया है। जैसे धातु से तव्यत् आदि प्रत्ययों का विधान। 'भवितव्यम्' में भू धातु प्रकृति, 'तव्यत्' प्रत्यय। कहीं कहीं इस विभाग के विना ही शब्दों का सीधे ही स्वरूप-निर्देश भी है। जैसे—दार्धति, दर्धर्ति।

किस वस्तु में क्या और कितना ज्ञेयत्व है? और किस शब्द में उस ज्ञेयत्व को ज्ञापित करने की कितनी शक्ति है? मनीषी इसे जानते हैं। इसीलिए वे विभाग या अविभाग, किसी भी विधि से शब्दप्रतिपत्ति कराने में समर्थ होते हैं ॥१४३॥

अविच्छिन्ना हि स्मृतयो व्याकरणं च—

अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः ॥ १४४ ॥

सर्वे मनीषिणः, श्रुतिं वेदम्, अनादिम् आदिरहितां, कदोत्पन्नेति ज्ज्ञातुं न शक्यते, अत एव अकर्तृकां कर्तारं विनैव, अपौरुषेयाम्, अविच्छिन्नां विच्छेदरहितां, सर्गान्तेऽपि न विच्छिद्यते, आहुः कथयन्ति। स्मृतिस्तु समये समये शिष्टैर्मन्वादिभिः पाणिन्यादिभिश्च, निबध्यमाना ग्रथ्यमाना अपि, न व्यवच्छिद्यते विच्छेदं न प्राप्नोति। सकर्तृकापि सततपरम्परया अविच्छिन्नैव।

अनादिमिति। श्रुतिरनादिः स्मृतयस्तु पौरुषेया इति प्रसिद्धतरो व्यवहारः। तत्र काले काले स्मृतीनां पुनर्निबन्धनेन तासां श्रुतिमूलकत्वं प्रामाण्यं च न विच्छिद्यते। अत्र स्मृतिशास्त्राणां धर्माभ्युदयसम्पादकत्व-विषये पक्षद्वयं पूर्वेषाम्। तद्यथा न हि प्रकृत्या किञ्चिदपि कर्म दृष्टा-दृष्टफलार्थम्। शास्त्रबोधितपथा कर्मानुष्ठानेनाभ्युदयः, अन्यथाकरणे प्रत्य-वायः। एवं स्थिते किम् शास्त्रेण कर्मसु वस्तुषु वाभ्युदयजनकत्वं प्रत्यवाय-जनकत्वं सम्पाद्यते? उत वस्तुस्वभावोऽभ्युदयप्रत्यवायजनकत्वरूपो शास्त्रेणानूद्यते? यथा विषौषधीनां मारण-रोगापनयनरूपो वस्तुनिष्ठः स्वभावश्चिकित्साशास्त्रेणानूद्यते। तत्रायं विवेकः मनीषिणो वस्तुस्वभावं परिज्ञाय तं शास्त्रेणानुवदन्ति, लोकास्तु शास्त्रस्वभावं परिज्ञाय वस्तु-स्वभावमभ्युपगच्छन्तीति। एवं व्याकरणेऽपि मनीषिभिर्भावानां ज्ञापिकाः शब्दशक्तीर्दृष्ट्वा व्याकरणस्मृतिर्निर्मिता, लोकास्तु तत्स्मृतिस्वभावं परिज्ञाय शब्दार्थप्रतिपत्तौ प्रवर्तन्ते ॥ १४४ ॥

श्रुति (वेद) अनादि है, अविच्छिन्न है. अपौरुषेय है, ऐसा सभी मनीषी कहते हैं। व्याकरण सहित सभी स्मृतियाँ भी श्रुतिमुलक हैं। इसलिए पाणिनि आदि शिष्टों के द्वारा समय-समय पुनर्निबद्ध होते हुए भी उनकी परम्परा अविच्छिन्न है ॥१४४॥

स्मृतीनां वेदमूलकत्वम्--

अविभागाद्विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ ।
भाववत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृतिः ॥ १४५ ॥

श्रुतौ वेदे, अविभागात् संवर्तात्, विवृत्तानां विवर्तभूतानां पदार्थानां, स्वप्नवद् अभिख्या आख्यानं वर्णनम् अस्ति । स्मृतिस्तु पदार्थानां भाववत्त्वं स्वभावं, विज्ञाय ज्ञात्वा, लिङ्गेभ्यः श्रुतावुपलभ्यमानेभ्यः सङ्केतेभ्यः, हेतुभूतेभ्यः, विहिता कृता, मनीषिभिरिति शेषः ।

अविभागादिति । शब्दब्रह्मणः स्वप्न-प्रबोधवृत्त्या प्रवृत्तमिदं जगत्, तस्य भावाभावौ च । तत्र स्वप्नप्रवृत्तिरविभागः, स्वप्ने सर्वं बाह्यं वस्तुजातं स्वपितरि पुरुष एव समाविशति, तदा दृश्यद्रष्ट्रोरविभागः । इयं स्वप्नवृत्तिः अविभागः, संवर्तो वा । प्रबोधे तु स्वपितुसर्वमन्तर्गतं बहिर्भूत्वा प्रवर्तते, तद् दृश्यद्रष्ट्रोः पृथक् स्थितिः । इयं प्रबोधवृत्तिः, प्रविभागः विवर्तो वा । एवं न कस्यापि वस्तुन आत्यन्तिको नाशः । प्रविभागाविभागौ तु वर्तेते ।

श्रुताविति । वेदे तु तस्मादेव संवर्ताद्विवृत्तानामर्थानामभिख्या, सा च स्वप्नवद् । स्वप्ने ह्यनिन्द्रियं ज्ञानम्, तथापि प्रत्यक्षम् । (तत्र स्वप्ने वागेव भोक्त्री वागेव भोग्येति पूर्वं प्रतिपादितम्) तत्र ये साक्षात्कृतधर्माण-स्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः स्वमनिन्द्रियं प्रत्यक्षं मन्त्ररूपेण सम्प्रादुः, ते चावरेभ्यः समाम्नासिषुः । तदुक्तं निरुक्ते—"साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽपरे-भ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः, उपदेशाय ग्लायन्तोऽपरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । तेन नित्यत्वम-पौरुषेयत्वं च वेदस्य ।

स्मृतिरिति । स्मृतिरिति जातावेकवचनम्, स्मृतय इत्यर्थः । तास्तु पश्चान्मनीषिभिर्वेदसङ्केतान्यादाय कृताः । यत्र च वेदे साक्षाल्लिङ्गं न दृश्यते तत्र स्वयमपि पदार्थानां भाववत्त्वं विज्ञाय वेदानुगुण्येनैव कृताः । अतः स्मृतीनामपि वेदतुल्यं प्रामाण्यम् । अयमेवार्थः—"प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः ।" (वा० प० ११५) इत्यत्र, "स्मृतयो बहुरूपाश्च

दृष्टादृष्टप्रयोजनाः। तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः।" (वा० प० १।७) इत्यत्रापि च प्रतिपादितः। व्याकरणस्मृतेरपि वेदतुल्यं प्रामाण्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १४५ ॥

श्रुति अपौरुषेय है, यद्यपि मन्त्रों के साथ उनके द्रष्टा-पुरुषों, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि के नाम लिये जाते हैं। इसका कारण यह है कि—श्रुतियाँ शब्दतत्त्व की उस अविभाग अवस्था से आविर्भूत हुई हैं, जिसे 'संवर्त' कहते हैं। 'विवर्त' जो कुछ बाहर बिखर जाता है, वह सब 'संवर्त' में सिमट जाता है, फिर विवर्त में बिखर जाता है। सुप्त पुरुष का बाह्य संसार उसी में सिमट जाता है। स्वप्नावस्था में इन्द्रियों के बिना भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान करता है। जागृत होकर उस प्रत्यक्ष का वर्णन भी करता है। शब्दतत्त्व की यह "स्वप्न-प्रबोधवृत्ति" है। श्रुतियों की स्थिति यह है कि—वे संवर्तमय स्वप्न के इन्द्रिय-रहित प्रत्यक्ष का जागृतावस्था में वर्णन करती हैं। कुछ ऋषियों ने शब्दतत्त्व की इस जागृदवस्था को देखा-सुना तो उन्होंने कुछ औरों को बता दिया। उन्होंने बाद में उन्हें ग्रन्थाकार दे दिया। अतः श्रुतियों का कर्ता के रूप में किसी पुरुष-विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं।

स्मृतिकारों ने वेदोक्त संकेतों के अनुसार स्मृतियों का प्रणयन किया। इसमें उनका स्वयं अपना भी योगदान रहा है। उन्होंने स्वयं वस्तुस्वभाव को देखा और परखा। विष और औषधि के वस्तुस्वभाव जाना और शास्त्रों में स्थान दिया। अदृष्ट फल वाले विधानों में मुख्यतया शास्त्रों के द्वारा ही वस्तुस्वभाव का ज्ञान हो पाता है। यह सब स्मृतिकारों ने श्रुतिलिङ्गों और स्वानुभव से व्यवस्थित किया है ॥ १४५ ॥

'वाग्दोषाणामपाकर्तृ व्याकरणम्'—

कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥ १४६ ॥

काय-वाग्-बुद्धिविषयाः कायविषयाः वाग्विषयाः बुद्धिविषयाः, ये मलाः दोषाः, समवस्थिता स्थिताः सन्ति, तेषां विशुद्धयः अपाकरणं, चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैः चिकित्साशास्त्रेण, लक्षणशास्त्रेण, अध्यात्मशास्त्रेण च भवति। अत्र चिकित्साशास्त्रमायुर्वेदस्तेन शरीरदोषाणां रोगाणामपाकरणं, लक्षणशास्त्रं व्याकरणं, तेन वाणीदोषाणामपभ्रंशानामपाकरणम्, अध्यात्मशास्त्रं योगदर्शनादि तेन बुद्धिदोषाणामपाकरणं भवति।

शास्त्रैरिति। ओषधिभी रोगाणामपाकरणं दृष्टम्। ततः सकलजन-हितेप्सया तत्त्वदर्शिभिः स्वानुभवविज्ञानाभ्यां चिकित्साशास्त्रं निर्मितम्। तेन कायविषया दोषा अपाक्रियन्ते। एवं हि साधूनां शब्दानां लोके परत्र चाभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वं दृष्टम्। अतो वाग्विषयकदोषापकरणाय लक्षणात्मकं व्याकरणं शास्त्रं परम्पराविच्छेदेन व्यवस्थापितम्। एवमध्यात्मशास्त्रमपि। व्याकरणं तु बुद्धिदोषानप्यपाकृत्यापवर्गसाधनमपि भवति। तदुक्तम्--तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्। इति। (वा० प० १।१४)॥ १४६॥

लोक में शरीर के, वाणी के और बुद्धि के जो दोष पाये जाते हैं, उनको चिकित्सा शास्त्र से, व्याकरण शास्त्र से और अध्यात्मशास्त्रों से दूर किया जाता है।

शरीर के दोष रोग हैं, वाणी के दोष अपभ्रंश शब्द और अशुद्धवर्णोच्चारण हैं तथा बुद्धि के दोष राग-द्वेषादि हैं। सामान्यतया वनौषधियों जड़ी-बूटियों के प्रयोग से ज्वरादि रोगों को दूर होते देख, उनके प्रयोग का एक व्यवस्थित शास्त्र रचा गया होगा, जो चिकित्सा शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। वाणी दोषों के सम्बन्ध में भी अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग से लौकिक अप्रतिष्ठा ("प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः" इत्यादि से महाभाष्यपस्पशाह्निक में संकेतित) तथा अदृष्टार्थ की हानि (तेऽसुरा... इत्यादि से महाभाष्य में सङ्केतित) को देखकर तत्त्वदर्शियों ने शब्दागम की परम्परा से जुड़े रहकर समय-समय पर व्याकरण-स्मृतियों का लक्षण-सूत्रों द्वारा प्रणयन किया है। इसी प्रकार बुद्धि के रागद्वेषादि को दूर करने के लिए अध्यात्मशास्त्र, वेदान्त, योग आदि का प्रणयन किया गया है। व्याकरण शास्त्र की विशेषता यह है कि यह वाणी के दोषों के साथ-साथ बुद्धि के दोषों को भी दूर करता है। अध्यात्मशास्त्रों की भाँति यह शास्त्र जगत् के मूल कारण शब्दतत्त्व की प्राप्ति का साधन भी बनता है। इसीलिए इसको मोक्ष का द्वार और वाणी-दोषों की औषधि दोनों ही बताया गया है (देखिये—वा० प० १।१४)॥ १४६॥

अपभ्रंश-लक्षणम्--

शब्दः संस्कारहीनो यः गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशनम्॥ १४७॥

गौरिति प्रयुयुक्षिते प्रयोक्तुम् ईप्सिते, यः संस्कारहीनः साधुत्वसंस्काररहितः, यः शब्दः प्रयुज्यते, तं विशिष्टार्थनिवेशनं विशिष्टे अर्थे निवेशनं

यस्य तथाभूतं शब्दम् "अपभ्रंशम्" इच्छन्ति, तथाभूतः शब्दः "अपभ्रंशः" इतीष्टं विदुषाम् ।

संस्काररहीन इति । गौरिति शब्दः सास्नादिमति पशुविशेषेऽर्थे प्रसिद्ध-साधुभावः । तत्र पशुविशेषेऽर्थे विवक्षिते यदि 'गोणी' इति शब्दोऽशक्त्या प्रमादाद्वा प्रयुज्यते तदा स तथाभूते विशिष्टार्थे निविष्टोऽपभ्रंशः । यतो न हि तस्य तत्रार्थे साधुत्वेन प्रसिद्धिरिति । यदि तु आवपनेऽर्थे विवक्षिते प्रयुज्यते तदा न "गोणी" शब्दोऽपभ्रंशः, साधुरेवेति, तदर्थे तस्य साधुत्वेन प्रसिद्धत्वात् । न हि रूपमत्र साधुत्वासाधुत्वव्यवस्थापकम् ।। १४७ ।।

'अपभ्रंश' वह शब्द है जो साधुत्व संस्कार से रहित हो तथा किसी-किसी अर्थ-विशेष में प्रयुक्त किया गया हो । ऐसे शब्द को शिष्टजन अपभ्रंश कहते हैं, मानते हैं ।

'गो' शब्द एक पशु-विशेष के लिए प्रयुक्त होता है और साधुशब्द के रूप में प्रसिद्ध है । परन्तु इसी पशुविशेष के लिए 'गोणी' शब्द का प्रयोग किया जाय तो वह 'अपभ्रंश' कहा जायेगा । गोणी शब्द अपभ्रंश तब है जब वह 'गो' अर्थ में प्रयुक्त होता है । यदि इसका प्रयोग उस बोरे के लिए हो जो घोड़े-खच्चर की पीठ पर दुतरफा लटका कर लादा जाता है, तो यह अपभ्रंश नहीं है; क्योंकि बोरे के अर्थ में यह साधुशब्द के रूप में (संस्कृत भाषा में) प्रसिद्ध है । केवल वर्णक्रम के आधार पर कोई शब्द साधु या असाधु नहीं माना जाता ।। १४७ ।।

प्रवृत्तिनिमित्तमूलकं साधुत्वं न तु वर्णानुपूर्वी मूलकम्

अस्व-गोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ।। १४८ ।।

अस्व-गोण्यादयः अस्वश्च गोणी च अस्वगोण्यौ तौ आदी येषां ते अस्व-गोण्यादयः, शब्दाः, विषयान्तरे अर्थान्तरे, हयात् भिन्ने अर्थे निर्धने, गोः भिन्ने आवपने, एवमन्येऽन्यार्थे साधवः सन्ति, न तु अश्वे गवि च, साधुत्वं तु सर्वत्र शब्देषु, निमित्तभेदात् प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् व्युत्पत्तिनिमित्तभेदाच्च, व्यवस्थितं स्थितम् अस्ति, अतो निमित्तान्तरमादाय निमित्तान्तरे प्रयुक्तोऽसाधुः, तन्निमित्तमादाय तन्निमित्त एव प्रयुक्तः साधुरेव ।। १४८ ।।

'अस्व' 'गोणी' आदि शब्द (घोड़ा, गाय आदि के अतिरिक्त) अन्य अर्थों में साधु शब्द माने जाते हैं; क्योंकि साधुत्व (अपभ्रंशत्व भी) प्रयोग के उद्देश्य (प्रवृत्तिनिमित्त) के आधार पर ही सभी शब्दों मे वर्तमान रहता है ।

अश्व (घोड़े) के लिए प्रयुक्त होने पर अश्व शब्द साधुशब्द है। परन्तु इस अश्व के स्थान 'अस्व' शब्द का प्रयोग घोड़े के लिए किया जाय तो वह 'असाधु' माना जायगा। परन्तु यही 'अस्व' शब्द निर्धन (नास्ति स्वं धनं यस्य इस व्युत्पत्ति के आधार पर) के लिए प्रयुक्त किया जाय तो साधु माना जायगा। यही स्थिति गोणी आदि शब्दों की भी है। प्रवृत्ति और व्युत्पत्ति के उद्देश्य (कारण, निमित्त) को देखकर ही किसी शब्द को साधु या असाधु ठहराया जा सकता है, उसकी आनुपूर्वी को देखकर नहीं ॥ १४८ ॥

अपभ्रंशेभ्योऽर्थबोधप्रकारः —

ते साधुष्वनुमानेन प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः।
तादात्म्यमुपगम्यैव शब्दार्थस्य प्रकाशकाः ॥ १४६ ॥

साधुषु साधुशब्दार्थेषु, प्रयुक्ताः, ते अपभ्रंशाः असाधवः, अनुमानेन अनुमानद्वारा, प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः, प्रत्ययस्य बोधस्य, उत्पत्तेः जननस्य, हेतवः कारणानि, भवन्ति। (अथवा) तादात्म्यं तत्स्वरूपतां, साधुशब्दस्वरूपताम्, उपगम्य प्राप्य, एव (इव) ते शब्दार्थस्य साधुशब्दार्थस्य, प्रकाशकाः बोधकाः भवन्ति।

त इति। ते ह्यपभ्रंशाः साधूनां शब्दानां विषये अशक्त्यादिना प्रयुज्यमाना अनुमानेन. तज्जनितप्रतीत्या शब्दार्थबोधं जनयन्ति, यथाक्षिनिकोचादयः। यथा कस्यापि नेत्रसङ्कोचं मुखव्यादानं वा दृष्ट्वा "पीडितोऽयम्" "प्रसन्नोऽयम्" इति प्रसङ्गानुसारेण प्रतीतिरुत्पद्यते, तथैव 'गोणी' इत्यपभ्रंशे प्रयुक्ते प्रसङ्गानुसारेण 'गौ'रिति प्रतीतिरुत्पद्यते। तत्रार्थबोधस्तु साधुशब्दद्वारक एव।

तादात्म्यमिति। अपभ्रंशा साधुशब्दप्रतीत्या साधुशब्दद्वारेण प्रत्ययोत्पत्तिहेतवो भवन्तीत्येकः पक्षः। अपरः पक्षस्तु-अपभ्रंशाः साधुशब्दतादात्म्यमुपगम्य शब्दार्थस्य प्रकाशकाः भवन्तीति। गोणीति गौरेवेति तादात्म्यस्वरूपम्, ततश्चार्थबोधः। अत्रोपगम्य—'एव', 'इव' इति पाठभेदः सम्भाव्यते। एवेति पाठे स्पष्ट एव पक्षान्तरः। इवेति पाठे तु—इवशब्दस्य तद्भिन्ने तत्सदृशे च शक्ततया साध्वपभ्रंशयोः पूर्णतया तादात्म्यं नाभ्युपगम्यते। साधुशब्दद्वारकोऽर्थबोध इत्युभयत्रापि तुल्यम् ॥ १४६ ॥

अपभ्रंश, जिनका प्रयोग किसी साधुशब्द के अर्थ में किया जाता है, वे स्वयं अर्थ-बोध नहीं कराते अपितु "इस असाधु का साधुशब्द यह है" इस प्रकार की प्रतीति (आभास या अन्दाजा) कराते हुए साधुशब्द द्वारा अर्थबोध कराते हैं।

या फिर 'यह असाधु वह साधु ही है" इस प्रकार की एकात्मकता को प्राप्त करके अर्थ को प्रकाशित करते हैं।

शब्द के स्थान पर कभी-कभी वक्ता आँखें झपका कर या मुँह बना कर भी अर्थ-बोध कराते हैं। उनके वे कायिक सङ्केत शब्द तो नहीं होते, फिर भी उनसे वक्ता का अभिप्राय प्रकट हो जाता है। ऐसे अवसरों पर श्रोता को उस शब्द या वाक्यांश की प्रतीति हो जाती है, जिसे वक्ता मुँह बना कर छोड़ देता है। श्रोता उसी प्रतीत शब्द या वाक्यांश से अर्थ प्राप्त करता है। अर्थ कायिक सङ्केतों का नहीं, प्रतीत शब्द का ही होता है। यही स्थिति 'अपभ्रंश' की है। वह असाधु होने के कारण स्वयं तो अर्थबोधक नहीं होता, परन्तु वह साधुशब्द की प्रतीति करा देता है। श्रोता उस प्रतीत साधुशब्द से अर्थबोध करता है।

यह प्रतीति दो प्रकार से होती है--अनुमान से (अटकल से) या तादात्म्य से। अनुमान में श्रोता को आभास होता है कि यह अपभ्रंश उस साधुशब्द के स्थान पर किया गया है। (शास्त्रीय अनुमान प्रमाण से भी यह प्रतीति होती है, इसका उल्लेख आगे है।) तादात्म्य में "यह अपभ्रंश वही साधुशब्द है।" ऐसी अभिन्नता श्रोता मान लेता है।

इन सभी स्थितियों में 'साधु-शब्दद्वारक' ही अर्थबोध होता है ॥ १४९ ॥

अपभ्रंशानां साक्षादवाचकत्वम्--

न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः।
ते यतः स्मृतिशास्त्रेण तस्मात्साक्षादवाचकाः। १५० ॥

यतः कारणात्, शिष्टैः विज्ञैः जनैः कर्तृभिः, ते अपभ्रंशाः असाधवः, साधवः साधुशब्दाः, इव, पर्यायाः समानार्थाः, स्मृतिशास्त्रेण व्याकरण-कोषादिद्वारा, न अनुगम्यन्ते न उपादीयन्ते, तस्मात् कारणात्, तेऽपभ्रंशाः साधुशब्दवाच्यार्थस्य, साक्षात् स्वरूपतया, अव्यवधानं वा, आवाचकाः वाचका न भवन्ति। अनुमानद्वारा तु भवन्तीति साक्षात्पदोपादानेन गम्यते ॥ १५० ॥

अपभ्रंशों को शिष्टजनों ने साधुशब्दों के पर्य्याय, समानार्थक के रूप में व्याकरण कोष आदि में स्वीकार नहीं किया है, अतः वे साक्षात्, स्वरूपतः अर्थ के वाचक नहीं होते।

अपभ्रंशों से अर्थबोध होता है, भले ही वह साधुशब्दद्वारक ही हो। ऐसी दशा में उनको सीधे-सीधे अर्थबोधक शब्द क्यों नहीं मान लेते ? इसका एक उत्तर

तो पहले ही दिया जा चुका है–कायिक सङ्केतों के रूप में। केवल अर्थबोध कराने वाले को ही साधुशब्द मान लें तो कायिक सङ्केतों को भी शब्द मानना होगा। दूसरा उत्तर यह है कि शिष्टजनों ने "गौः, धेनुः, सुरभिः" आदि की तरह "गावी, गोणी" आदि को 'गो' का पर्य्याय किसी कोष-व्याकरण में नहीं दर्शाया है, न ही वे 'गौः' के स्थान पर 'गोणी' और 'गोणी' के स्थान पर 'गौः' इस प्रकार पर्य्यायेण (अदल-बदलकर) प्रयोग करते। इसलिए अपभ्रंश साक्षात् वाचक नहीं माने जाते ॥१५०॥

अपभ्रंशानां साक्षादवाचकत्वे निदर्शनम्—

अम्बाम्बेति यदा बालः शिक्षमाणः प्रभाषते।
अव्यक्तं तद्विदां तेन व्यक्ते भवति निश्चयः ॥ १५१ ॥

यदा मात्रा "अम्ब ! अम्ब" इति शिक्षमाणः वाग्व्यवहारमधिगम्यमानः, बालः शिशुः, 'अम्ब' इति वक्तव्ये "मम्म्" इति अव्यक्तं अस्पष्टं, प्रभाषते वक्ति, तदा तद्विदां ज्ञातॄणां, "अम्ब" साधुशब्दज्ञातॄणां समीपस्थवृद्धानां, तेन "मम्म्" इति अव्यक्तेन शब्देन, व्यक्ते स्पष्टे, "अम्ब" इति साधुस्वरूपे, निश्चयः बोधः, ग्रहो वा भवति।

बालो ह्यशक्त्या 'अम्ब' इति वक्तुं यतमानोऽप्यव्यक्तं वक्ति—'मम्म्' इति। श्रोतारस्तु तयाव्यक्तश्रुत्या तत्प्रकृतिभूतं व्यक्तं साधुशब्दं "अम्ब" इत्यवधारयन्ति, तमेव च साधुशब्दं मात्रर्थकमङ्गीकुर्वन्ति, न तु बालोक्तं "मम्म्" इति ध्वनिसमूहम्। एवमेव गौरित्यर्थे 'गावी' इत्यस्य, 'दत्तम्' इत्यर्थे 'दिण्णम्' इत्यस्य, 'वृक्षः' इत्यर्थे "रुक्खो" इत्यस्यापि स्थितिबोध्या। एवमन्येषां च ॥ १५१ ॥

जब कोई माता अपने शिशु को सिखाती है—"बोलो—अम्ब, अम्ब" तो शिशु 'मम्म्' 'मम्म्' बोलकर रह जाता है। उसके इस अव्यक्त शब्द सुनने वाले सयानों को यही लगता है कि शिशु 'अम्ब' बोल रहा है। सयाने 'अम्ब' से ही अर्थबोध करते हैं।

यह "बालाम्ब" का उदाहरण अपभ्रंशों से अनुमान द्वारा अर्थबोध होता है, इस पक्ष को पुष्ट करता है। बालक का 'मम्म्' ध्वनि-समूह किसी अन्य समानान्तर भाषा का शब्द नहीं है कि उसे स्वतन्त्र वाचक मान लिया जाय। निश्चय ही वह एक ऐसा ध्वनि-समूह है, जिसका स्वतन्त्र प्रयोग किसी अन्य भाषा में नहीं होता। सभी बालक 'मम्म्' भी नहीं बोलते। कोई 'बम्म्' बोलता है तो कोई 'म्ब म्ब' बोलता है। ये सभी बालाशक्ति-जनित ध्वनि-समूह हैं। शब्दविद् सयाने इस अव्यक्त ध्वनि-समूह को ही साधुशब्द 'अम्ब' के रूप में लेते हैं, फिर उस साधुशब्द से

अर्थबोध करते हैं। अव्यक्त ध्वनि-समूह से तो अर्थबोध हो नहीं सकता; क्योंकि उसका अन्यत्र किसी भी भाषा में अर्थ है ही नहीं। अपभ्रंशों के विषय में तो यह आशङ्का हो सकती है कि उसका अपना अर्थ किसी समाज में होता और शिष्टजन भी सीधे-सीधे उसी अर्थ को ग्रहण कर लेते हों, साधुशब्द को बीच में लाते ही न हों। 'बालाम्ब' में यह आशङ्का नहीं है ॥ १५१ ॥

साधुव्यवहितेऽर्थेऽपभ्रंशानामभिधानम् --

एवं साधौ प्रयोक्तव्ये योऽपभ्रंशः प्रयुज्यते।
तेन साधुव्यवहितः कश्चिदर्थोऽभिधीयते ॥ १५२ ॥

एवं उक्तप्रकारेण, 'बालाम्बवत्', साधौ निरपभ्रंशे, प्रयोक्तव्ये प्रयोक्तुमिष्टे, यः अपभ्रंशः असाधुः शब्दः, प्रयुज्यते केनापि वक्त्रा, तेन प्रयुक्तेनासाधुना शब्देन, साधुव्यवहितः साधुशब्देन व्यवहितः अन्तरायितः कश्चिद् साधुना यः अभिधेयत्वेनाभिगतः सः, अर्थः अभिधीयते बोध्यते।

एवमिति। अम्बाम्बेति दृष्टान्तस्य निगमनमिदम्। "ते साधुष्वनुमानेन" (वा० प० १।१४९) इत्यादिना यदुपक्रान्तं तदप्यनेन निगम्यते। सङ्कीर्णा हि साध्वी वागपभ्रंशैः। तत्र यदि कश्चिदपभ्रंशं प्रयुङ्क्ते, शिष्टास्तमपभ्रंशं साधुशब्दस्य प्रतीतिलिङ्गं मत्वा प्रतीतेन साधुनार्थमवधारयन्ति। यथा धूमेन लिङ्गेन वह्निरनुमीयते, तथैवापभ्रंशेन लिङ्गेन साधुरनुमीयते, तेनानुमितेन साधुनार्थबोधः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार साधुशब्द के प्रयोग के स्थान पर जो 'अपभ्रंश' प्रयुक्त किया जाता है, उससे होने वाले अर्थबोध से पहले बीच में एक साधुशब्द उपस्थित होता है। अर्थात् अपभ्रंश के श्रवण और अर्थबोध के बीच साधु की उपस्थिति (व्यवधान) रहती है।

'अपभ्रंश' साधुशब्द की उपस्थिति के सङ्केतक-भर होते हैं, अर्थबोधक नहीं। जैसे पर्वत पर उठता हुआ धुआँ वहाँ आग की उपस्थिति का सङ्केतक (लिङ्ग) होता है। धुएँ के सङ्केत (लिङ्ग) से 'पर्वत में आग है' यह अनुमान (प्रमाण) होता है, वैसे ही 'अपभ्रंश' के सङ्केत से 'यहाँ साधुशब्द है', यह अनुमान होता है और यह अनुमान-प्रमाण से सिद्ध सत्य है। शास्त्रीय अनुमान का प्रकार यह है—जैसे "पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात् महानसवत्।" वैसे ही—इदं श्रुतं वाक्यं साधुशब्दवत्, अपभ्रंशसत्त्वात्, बालाम्बवत् ॥ १५२ ॥

विगुणाभिधातॄणां समाजे साधुशब्दोऽवाचको जायते –

पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु ।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः ॥ १५३ ॥

येषु विगुणेषु गुणहीनेषु, अभिधातृषु वक्तृषु विषये, तेषां तु समाजे वा पारम्पर्यात् परम्परावशात्, अपभ्रंशाः असाधवः, प्रसिद्धिं ख्यातिम्, आगताः प्राप्ताः, प्रसिद्धा अजायन्त, तेषां वक्तॄणां च साधुः शब्दः, अवाचकः वाचकः न अस्ति, तेषु अप्रसिद्धत्वात् ।

पारम्पर्यादिति । अत्र "साधुरवाचकः" इति विप्रतिपन्नः प्रयोगः । वाचकत्वाभावे साधोः किं साधुत्वम् ? साधुत्वे पुनः किमवाचकत्वम् ? ग्रन्थाभिप्रायस्त्वेवम्–यो ह्यस्माकं साधुत्वेनाभिमतः शब्दः स तेषामवाचको भवतीति । स्पष्टा चेयं स्वीकारोक्तिरपभ्रंशस्य वाचकत्वावाचकत्वविषये ग्रन्थकारस्य । लोकभाषाणां माहात्म्यमुपस्तूयते हि । अत्र हरिवृषभवृत्तिरुद्ध्रियते––"इहाभ्यासात् स्त्री-शूद्रचाण्डालादिभिरपभ्रंशाः प्रयुज्यमानास्तथा प्रमाद्यत्सु वक्तृषु रुढिमुपगताः, येन तैरेव प्रसिद्धतरो व्यवहारः । सति च साधुप्रयोगात् संशये, यस्तस्यापभ्रंशस्तेन सम्प्रति निर्णयः क्रियते । तमेव चासाधुं वाचकं प्रत्यक्षपक्षे मन्यन्ते, साधुं चानुमानपक्षे व्यवस्थापयन्ति ।" इति । साध्वसाधुविषये प्रत्यक्षानुमानपक्षौ त्वेवम्––शिष्टानां साधुभिः श्रावणप्रत्यक्षेण बोधः । विगुणाभिधातॄणां तु––असाधुभिः श्रावणप्रत्यक्षेण बोधः । इति प्रत्यक्षपक्षः । 'यत्र यत्र सास्नादिमत्यर्थे 'गावी'— प्रयोगस्तत्र तत्र 'गौ'रिति साधुर्भवति' इति व्याप्तिग्रहेण "अनेनाभिधात्रा गावीशब्दः गोपदार्थे प्रयुज्यते, अन्याभिधातृप्रयुक्तवत् ।" इत्यनुमानपक्षः शिष्टानाम् । एवं च––"यत्र यत्र ह्रेषितमत्यर्थे 'घोटक'––प्रयोगस्तत्र तत्र 'घोड़ा' इति शब्दो भवति' इति व्याप्तिग्रहेण अनेन शिष्टेन 'घोटक'-शब्दः 'घोड़ा' पदार्थे प्रयुज्यते, अन्यशिष्टप्रयुक्तवत्" इत्यनुमानपक्षो विगुणाभिधातॄणाम् ॥ १५३ ॥

जिन गुणहीन वक्ताओं में या उनके समाज में लम्बी कालपरम्परा या देश परम्परा से 'अपभ्रंश' प्रसिद्ध हो गये हैं, उनके लिए शिष्ट समुदाय में प्रयुक्त होने वाले साधुशब्द अवाचक बन जाते हैं । गुणहीन वक्ता-श्रोताओं को साधुशब्द से अर्थबोध नहीं होता ।

यद्यपि 'अपभ्रंश के इस सारे प्रकरण में साधुशब्द का अर्थ 'संस्कृत' भाषा के शब्द और अपभ्रंश या असाधु का अर्थ 'प्राकृत' भाषा के शब्द है, तथापि इस

कारिका में (और इस प्रकरण में भी) वर्णित सत्य सभी भाषाओं पर लागू होता है। विश्वभाषाओं का इतिहास बताता है कि शास्त्रानुमोदित शिष्ट भाषाओं के समानान्तर ही लोकभाषाएँ, गुणहीन वक्ताओं की भाषाएँ, सदा रही हैं। भारत में वैदिक काल से लेकर आजतक सभी युगों में इनके अस्तित्व के ठोस प्रमाण मिलते हैं। विश्व के अन्य देशों, भाषाओं की भी यही स्थिति है। आज यह प्रत्यक्ष देखने की बात है कि साधारण (ग्रामीण या शहरी दोनों) लोगों को शिष्ट-प्रयुक्त हिन्दी के शब्द भी समझ नहीं आते। यदि आते भी हैं तो प्रत्यक्षपक्ष से नहीं, अनुमानपक्ष से आते हैं। उन लोगों के लिए अर्थबोध का प्रकार शिष्टजनों के विल्कुल विपरीत होता है। उन्हें साधुशब्द से संशय होता है और वे उसका निवारण अपने असाधु (जो उनके लिए साक्षात् बोधक होता है) से करते हैं। यथा—'मयूर' कहने से उन्हें अर्थसंशय होगा। यह 'मयूर' शब्द उनके लिए अनुमान करने का एक सङ्केत भर है, यदि इससे उन्हें 'मोर' शब्द की प्रतीति हो गई तो उन्हें अर्थबोध हो जायगा—रंग-विरंगे पंखों वाला नाचने वाला पंछी ॥ १५३ ॥

दैवीयं संस्कृताभिधाना वाक्—

दैवी वाग् व्यवकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः ।
अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः ॥ १५४ ॥

इयं दैवी देवस्वरूपिणी संस्कृताभिधा, वाक् वाणी, अशक्तैः असमर्थैः, अभिधातृभिः वक्तृभिः, व्यवकीर्णा असाधुशब्दैरपभ्रंशैः मिश्रीकृता संकीर्णा जाता। अनित्यदर्शिनाम् अनित्यं ये शब्दं पश्यन्ति, ते अनित्यदर्शिनस्तेषां तु, अस्मिन् वादे "इयं संस्कृताभिधा वाक् दैवी वाक्" इति सिद्धान्ते बुद्धिविपर्य्ययः वैपरीत्यमस्ति ।

दैवीति । संस्कृतं नाम दैवी, देवसम्बन्धिनी, स्वयं वा देवस्वरूपिणी वाक्। अत एव सा देववाणी, गीर्वाणवाणी, सुरभारतीत्यादिभिर्नामभिः प्रसिद्धा। सा तु प्रथमं सर्वैरपभ्रंशैरसङ्कीर्णासीदिति पुराकल्पश्रवणम्। यथा पुरा मनुष्याणामनृतादिभिरसङ्कीर्णा वागासीत्तथापभ्रंशैरपीति। सम्यगुच्चारणासमर्थैः शक्तिहीनैर्वक्तृभिः सापभ्रंशैर्मिश्रीकृता।

अनित्यदर्शिनामिति । सन्ति हि केचिद्ये दैवी वाचमनित्यां पश्यन्ति। ते खलु मल्लसमयसदृशीं कृत्रिमां साधुव्यवस्थामभ्युपगच्छन्ति, (मल्लौ हि विजयनिर्णयाय कञ्चित्समयं 'य एवं करिष्यति स जेष्यति" इत्येवंरूपं निर्धारयतः, तं पालयतश्च) सा चेयं व्यवस्था काल-देश-पुरुषानुसारिणी

भवत्येव । तेषां हि काचिदस्ति दैव्या वाचः प्रकृतिभूता वाक्, यस्यां भवः प्राकृतोऽयं साधुशब्दसमूहः । तेषां न साधवो धर्मसाधनम्, न चायमागमः प्रमाणम्—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः ।। इति ।।
(महाभारतम् शा० प० २३१।५६) ।। १५४ ।।

यह देववाणी संस्कृत भाषा शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ वक्ताओं द्वारा अपभ्रंशों से सङ्कीर्ण कर दी गई है । (अन्यथा यह सब प्रकार से शुद्ध एक दिव्या वाणी है ।) इसलिए इसमें अपभ्रंशों का सम्मिश्रण यत्र-तत्र पाया जाता है । परन्तु कुछ लोगों का विचार इससे भिन्न है, वे इस वाणी को दिव्य अनादिवाणी नहीं मानते । अपभ्रंशों की सत्ता को देखते हुए वे इसकी साधुत्व व्यवस्था को कृत्रिम, अर्थात् समय-समय पर विद्वानों द्वारा बनाई हुई मानते हैं ।

सुना जाता है कि बहुत पहले सम्भवतः सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों की वाणी जैसे मिथ्या भाषण आदि दोषों से मुक्त थी, वैसे ही अपभ्रंश प्रयोग से भी मुक्त थी । वेद इसी दिव्य वाणी में प्रकट हुए थे । इसी से संसार के सारे क्रिया-कलाप सञ्चालित हुए । यह अनादि अकृत्रिम और अनन्त भी है । महर्षि व्यास महाभारत में लिखते हैं—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।।

परन्तु अनित्यदर्शी इस विचार से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है कि महाभारत में वर्णित स्थिति से पहले या समकाल में ही कोई ऐसा प्रकृतिभूत वाग्व्यवहार था, जिसका संस्कार-परिष्कार करके यह दिव्यवाणी अस्तित्व में आयी है । वह प्रकृतिभूत वाग्व्यवहार समानान्तर चलता रहा, जिसके अवशेष अपभ्रंश कहलाते हैं । इन अनित्यदर्शियों की दृष्टि में उस प्रकृतिभूत वाग्व्यवहार से उत्पन्न होने के कारण 'साधुशब्द-समूह' ही प्राकृत है । इनमें धर्मसम्पादकत्व जैसी कोई बात नहीं ।। १५४ ।।

अस्ति हि साध्वसाधूनां पृथक् पृथक् वाचकत्वम्—

उभयेषामविच्छेदाद् अन्यशब्दविवक्षया ।
योऽन्यः प्रयुज्यते शब्दो न सोऽर्थस्याभिधायकः ।। १५५ ।।

इति श्रीमत्पद-वाक्य-प्रमाणज्ञमहामहोपाध्यायभर्तृहरिकृते वाक्यपदीये आगमसमुच्चयो नाम प्रथमं ब्रह्मकाण्डम् ।

उभयेषां साधूनामसाधूनां चोभयेषाम्, अविच्छेदात् विच्छदाभावात्, साध्वसाधुव्यवस्थायाः पारम्पर्य्यात् हेतोः, अन्यशब्दविवक्षया यः कश्चिदन्यः शब्दः प्रयुज्यते, सः अर्थस्य विवक्षितार्थस्य, अभिधायकः बोधकः न भवति ।

अविच्छेदादिति । वस्तुतस्तु–अस्ति हि साधूनामसाधूनां चाविच्छेदः । साधव इवापभ्रंशा अप्यनादयः । "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।" इति ऋग्वेदीयो मन्त्रो महाभाष्योद्धृतोऽत्रार्थे प्रमाणम् । ऋग्वेदकालेऽपि वाचः सङ्कीर्णत्वमनेन स्पष्टं बोध्यते । तेन हि साध्वसाधूनां पृथक् पृथक् वाचकत्वमभिधातृभेदेन परम्परयाविच्छेदेन चानादिः प्रसिध्यति ।

अभिधायक इति । एवं च साध्वसाधूनामविच्छेदे पृथग्वाचकत्वे च सिद्धे विवक्षितार्थानाभिधायकत्वं ह्यपभ्रंशलक्षणम् । यस्य हि 'गोणी' इति विवक्षितम्, 'गोणी' इति प्रयुक्तम्, तस्य 'गोणी' इति नापभ्रंशः । यस्य तु ऋतक इति, हेऽरयः इति वा विवक्षितम्, लृतक इति, हेलयो इति वा प्रयुक्तम्, तस्य लृतक इति हेलय इति चापभ्रंशौ । अत एव--"वाग्योगविद्दुष्यति चापशब्दैः" इत्यपि सङ्गच्छते । इदमपभ्रंशलक्षणं साधुत्वेनाभिमतेषु शब्देष्वपि पतति । अश्व इति विवक्षिते गौरिति यदि प्रयुज्यते तदा तस्य विवक्षितार्थानभिधायकत्वेनापभ्रंशत्वं सुनिश्चितम् । परं यदि कैश्चित् "अश्व इत्युक्ते गौरित्यवगन्तव्यम्" इति मल्लसमयः (Codification) कृतः स्यात्तदा तत्राभिधायकत्वसद्भावान्नापभ्रंशत्वमिति वस्तुस्थितिः ग्रन्थकारेण निरुक्ता सिद्धा ।। १५५ ।।

यतो विवर्तते सर्वं येन सर्वमिदं ततम् ।
यत्रैव च लयं याति तस्मै पूर्णात्मने नमः ।।

'गढ़वाल'-मण्डलान्तर्गत-'देवप्रयाग'-वास्तव्यानां परमभागवतानां
'कविचक्रवर्ती'-त्युपाधिभाजां 'श्रीविहारीलाल'-शर्मणामात्मजस्य
वामदेवस्य 'वाक्यपदीय'-'ब्रह्मकाण्ड'-'प्रतिभा' सम्पूर्णा ।।

●

साधु और असाधु दोनों प्रकार के शब्दों की अविच्छिन्न परम्परा है । (अतः कौन किसकी प्रकृति, कौन किसका अपभ्रंश, इस विवाद में पड़े बिना ही यह कहा जा सकता है कि–) किसी एक शब्द के विवक्षित होने पर जो कोई अन्य शब्द

प्रयुक्त किया जाता है, वह विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा पाता। (और इस प्रकार विवक्षान्तर में प्रयुक्त शब्द अनभिधायक होकर अपभ्रंश बन जाता है।)

यहाँ "अन्य शब्द की विवक्षा में अन्य शब्द का प्रयोग" यह एक अटपटी और असङ्गत बात है। "लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्तिना" (वा० प० १।१०८) इस कारिका में वर्णित शब्दत्वापत्ति प्रकार को देखते हुए, साथ ही "अन्तःकरण-तत्त्वस्य" इत्यादि (वा० प० १।११४,११५) कारिकाओं को ध्यान में रखते हुए ऐसा सम्भव ही नहीं कि विवक्षा किसी अन्य शब्द की हो और उच्चारण किसी अन्य शब्द का हो जाय। शब्दों का आविर्भाव एक चिन्मय और ज्ञानमय शब्द-शक्ति के अधीन होता है। मतिभ्रम या व्यासङ्गादि दोषों के बिना कुछ-का-कुछ नहीं बोला जाता। परन्तु ऐसी दशा में भी उच्चरित अविवक्षित शब्द "भूल या गलती' कहलाता है, अपभ्रंश नहीं।

इतनी सूक्ष्मता में न जाकर ग्रन्थाशय यह है कि--साधु और असाधुओं की सत्ता अति प्राचीन है। साधु शब्दों के साथ ही ऋग्वेदकाल में भी असाधुओं की सत्ता के प्रमाण उपलब्ध हैं। अतः इन दोनों की परम्परा अविच्छिन्न है। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश का यही लक्षण हो सकता है कि--अन्य शब्द की विवक्षा प्रयुक्त अन्य शब्द अनभिधायक होता है, अभिधान सामर्थ्य-हीन होने से वह असाधु या अपभ्रंश होता है। परन्तु इस लक्षण से साधु के रूप में प्रसिद्ध शब्दों में भी असाधुता आ जाती है। जैसे--'अश्व' की विवक्षा में प्रयुक्त 'गज'। उक्त लक्षणा-नुसार 'गज' असाधु ही ठहरेगा। इस लक्षण का उचित उदाहरण "तेऽसुरा हेलयो हेलयः कुर्वन्तो पराबभूवुः" यह भाष्योक्त उदाहरण है। यहाँ 'अरयः' के स्थान पर 'अलयः' कह कर असुरों ने अपने अभ्युदय को नष्ट कर दिया।

साधु-शब्दों का अभिधायकत्व एवं अभ्युदयकारित्व तो स्वभावसिद्ध है ॥१५५॥

॥ वाक्यपदीय का ब्रह्मकाण्ड सम्पूर्ण हुआ ॥

॥ हिन्दी प्रतिमा सम्पूर्ण ॥

परिशिष्टम्—१.

वाक्यपदीय-द्वितीय-काण्डभूतस्य वाक्यकाण्डस्य प्रमेयवस्तुसमुच्चयः पुण्यराजेन स्व-'प्रकाश'-नाम्न्याष्टीकायाः समाप्तौ कृतः । तेन वाक्यकाण्डस्य स्वरूपबोधः सपद्येव भवतीति कृत्वाध्येतॄणां सुखायात्रोपन्यस्यते—

वाक्यानामष्टधैवादौ विभागः परिकीर्तितः ।
शास्त्रीयमीमांसकयोः कीर्तनं वाक्ययोस्ततः ॥ १ ॥
बलाबलविचारोऽपि शास्त्रीयो व्याप्तिनिर्णयात् ।
ततश्चात्र समासेन वाक्यलक्षणनिर्णयः ॥ २ ॥
सन्देहश्चागमेनापि वाक्यभेदस्य दर्शितः ।
स्फोट एव तु सिद्धान्ते वाक्यं वाक्येषु साधितम् ॥ ३ ॥
पदवादस्त्वनुमतो नेति व्याकरणे स्थितम् ।
ततोऽन्विताभिधानस्याभिहितान्वयकस्य च ॥ ४ ॥
शब्दभागार्थभागाभ्यां दूषणव्रातकीर्तनम् ।
प्रसङ्गेनापरेऽप्यत्र वाक्यार्था षट् प्रदर्शिताः ॥ ५ ॥
अखण्डवाक्यपक्षे च चोद्यपञ्चककीर्तनम् ।
उपपत्तिः प्रतिनिधेर्नास्तीति प्रथमं यथा ॥ ६ ॥
पिकादिपदसन्देहो नोपपद्यत इत्यपि ।
श्रुति-वाक्य-विरोधे तु श्रुतिरेव बलीयसी ॥ ७ ॥
प्रतिष्ठितस्य न्यायस्याप्येवं त्यागः प्रसज्यते ।
अवान्तराणां वाक्यानामुपपत्तिर्विरुध्यते ॥ ८ ॥
प्रासङ्गिकादिषु तथा लक्षणेष्वप्यसम्भवः ।
प्राप्नोत्येवखण्डेऽस्मिन् वाक्ये दोषा उदाहृताः ॥ ९ ॥
अपोद्धारं समाश्रित्य दोषास्त्वेते निराकृताः ।
संहितायां विभागेऽथ पदयोर्विलयं गते ॥ १० ॥
उपादायावधिं कर्तुं तयोरर्थं प्रकल्प्यताम् ।
इति दूषणमत्राधात् पदे वाक्ये च वाक्यवित् ॥ ११ ॥
तन्त्र-न्यायवशादत्र स्वपक्षे दोषसवृतिः ।
वाक्यार्थस्यात्र भेदोऽपि विकल्प्य परिकल्पितः ॥ १२ ॥
प्रतिभेदं च सिद्धान्ते वाक्यार्थं उपपादितः ।
प्रविभागाश्रयादत्र पदार्थस्यापि सम्भवः ॥ १३ ॥

स च द्वादशधा भिन्न इत्यप्यत्रोपपादितम् ।
प्रतिभा-लक्षणं सम्यग्विधातुं सहितं कृतम् ॥ १४ ॥
पदभागार्थभागाश्च वितत्य प्रतिपादिताः ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विविक्ततोपपादिता ॥ १५ ॥
सनिमित्ता च साप्यत्र नामाख्यातसमाश्रया ।
उपसर्गनिपाताश्च कर्मप्रवचनीयकाः ॥ १६ ॥
पदभेदाः प्रसङ्गेन लक्षणेनोपलक्षिताः ।
सार्थकानर्थकत्वाभ्यां विचारे वर्णनिष्ठिते ॥ १७ ॥
कृतेऽप्यखण्डपक्षोऽत्र प्रतिष्ठामुपनायितः ।
पदवादेऽथ दोषाणां चतुर्णां परिकीर्तनम् ॥ १८ ॥
समासेषु विरुद्धार्थप्राप्तिरादावुदाहृता ।
अध्यादीनां तथा वाक्ये साधनस्याभिधायिता ॥ १९ ॥
अर्थासङ्गतिरप्यत्र बहुव्रीहेरुदाहृता ।
प्रज्ञुसंज्ञ्वादिषु तथा नास्त्यर्थोऽवयवेष्वपि ॥ २० ॥
इति चोद्यचतुष्केण पदवादः पराकृतः ।
स्थापितेऽखण्डपक्षेऽपि चोद्यसप्तकमाहितम् ॥ २१ ॥
द्वन्द्वे समासे नैव स्याद् बह्वर्थस्याभिधायिका ।
विभक्तिरिति दोषोऽत्र प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ २२ ॥
वाक्यस्यार्थसमाप्तिस्तु प्रत्येकं नोपपद्यते ।
परामर्शश्च नैव स्यात् सर्वनामभिरेव च ॥ २३ ॥
अनुष्ठानं क्रमेणाथ वाक्यार्थस्य न जातुचित् ।
स्यादक्रमे त्वनुष्ठानं शक्यते न कथञ्चन ॥ २४ ॥
एकदेशस्य करणे समुदायेऽर्थकारिता ।
अभ्यमन्यत इत्येतदखण्डे नोपपद्यते ॥ २५ ॥
एतानि पञ्च चोद्यान्यपोद्धारस्य समाश्रयात् ।
समर्थितानि वै सम्यगखण्डं वाक्यमिच्छता ॥ २६ ॥
अथाखण्डं यदा वाक्यं समासेष्वर्थवर्णना ।
पृथक् पृथक् तदा तस्याः सा च शास्त्रे प्रकीर्तिता ॥ २७ ॥
नञ्समासे पदार्थस्य विकल्पैर्बहुभिः पुनः ।
प्राधान्यं परिकल्प्याथ भाष्ये पक्षाः परीक्षिताः ॥ २८ ॥
यद्यखण्डमिदं वाक्यं नैषा स्यात्कल्पना क्वचित् ।
दोषावेतावपि शब्दप्रक्रियामात्रमेव च ॥ २९ ॥

शास्त्रप्रवृत्ताविति च निराकरणमेतयोः ।
ततश्चाखण्डपक्षस्य स बाध उपदर्शितः ॥ ३० ॥
जहत्स्वार्थविकल्पेन बहुव्रीह्यादिगामिना ।
प्रत्युत प्रज्ञुदोषश्च पदवादे प्रकीर्तितः ॥ ३१ ॥
प्रकृत्यर्थः प्रत्ययार्थं इति भिन्नौ परस्परम् ।
यावत्स्थितौ तयोरेकोपायेनावगतिः कथम् ॥ ३२ ॥
इहाहं नास्तीति च सा दृष्टा स्याद्वास्तवे कथम् ।
पदार्थं प्रति दोषोऽयं पदवादे समुद्धृतः ॥ ३३ ॥
प्रत्ययद्वयगम्येऽर्थे एकस्मादेव तन्मते ।
अत्तीत्यादौ कथं च स्यात् सत्यतां पदपद्धतेः ॥ ३४ ॥
सत्यत्वेऽथ पदानां स्यात् प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः ।
कथं लक्षणशास्त्रेषु साङ्कर्येण व्यवस्थितिः ॥ ३५ ॥
पदार्थमन्यथैवादौ प्रतिपद्यान्यथा पुनः ।
वाक्यार्थप्रतिपत्तिश्च दृष्टा नैतत् समञ्जसम् ॥ ३६ ॥
सत्यभूतेष्वथ पदेष्विति वाक्यविदो जगुः ।
नञथानुपपत्तेश्च नास्ति वादः पदाश्रयः ॥ ३७ ॥
उपात्तत्यागसम्प्राप्तेः सर्वत्रेति च दूषणम् ।
सह प्रागुक्तदोषैश्चाप्येकादश समीरिताः ॥ ३८ ॥
पदवादेऽत्र दोषास्तु पृथक् पक्षद्वयं पुनः ।
शब्दभागार्थभागाभ्यां विस्तरेण विचक्षणैः ॥ ३९ ॥
निराकृतमतो युक्तो वाक्यवादपरिग्रहः ।
दोषसंज्ञिन्यतिक्रान्तः सूत्रकाराभिसम्मतः ॥ ४० ॥
अपोद्धाराश्रयादत्र गौणमुख्यविचारणा ।
ततः कृता सुनिपुणं टीकाकारेण सादरम् ॥ ४१ ॥
सत्यासत्यविभागोऽपि ज्ञानानामुपपादितः ।
मुख्यमानान्तरीकयोरर्थयोरनिवर्तनम् ॥ ४२ ॥
ततस्त्वर्थचतुष्कस्य चिन्तनं विहितं क्रमात् ।
शब्दार्थनिर्णयोपायाः सादरं परिकीर्तिताः ॥ ४३ ॥
तात्पर्यं पारिपाट्याश्चार्थतात्पर्यमपीति च ।
वाक्यनिष्ठं समासेन विचारितमतः पृथक् ॥ ४४ ॥
उत्सर्गस्यापवादस्य विवेकः परिकीर्तितः ।
संज्ञाशब्देष्वथ कृतो निर्णयः परिवत्सरान् ॥ ४५ ॥

प्रत्येकं समुदाये च समाप्त्या वाक्यनिश्चितिः ।
न्यायः सञ्चिन्तितश्चात्र लक्षितोऽप्यभिधीयते ॥ ४६ ॥
अथ पूर्वोक्तसङ्क्षेपद्वारेणाप्युपपादितः ।
वाक्यवाक्यार्थनिष्ठश्च पदनिष्ठश्च निर्णयः ॥ ४७ ॥
वाक्यैकवाक्यतायाश्च विचारोऽपि निरूपितः ।
साकाङ्क्षत्वं निराकाङ्क्षा वाक्यानां परिकीर्तिता ॥ ४८ ॥

यद्वा चिन्ता समासेऽपि तत्तद्वस्तुनिरूपिता ।
अथात्र तन्त्रन्यायस्य सिद्धिर्भाष्यानुगा स्मृता ॥ ४९ ॥
अवतारोऽपि भाष्यस्य सङ्ग्रहेऽस्तमुपागते ।
निबन्धहेतौ शास्त्रस्य टीकाकारणं कीर्तितः ॥ ५० ॥

सङ्ग्रहार्थाद्यनुगुणरूपत्वं चोपपादितम् ।
विप्लावनमथैतस्य सङ्ग्रहप्रतिपक्षतः ॥ ५१ ॥
कृतमाचार्यदैवज्ञैरावेशविवशैस्ततः ।
भ्रष्टस्याम्नायसारस्य वैयाकरणगामिनः ॥ ५२ ॥
मूलभूतमवाप्याथ पर्वतादागमं स्वयम् ।
आचार्यवसुरातेन न्यायमार्गान् विचिन्त्य सः ॥ ५३ ॥

प्रणीतो विधिवच्चायं मम व्याकरणागमः ।
मयापि गुरुनिर्दिष्टाद् भाष्यान्न्यायाविलुप्तये ॥ ५४ ॥
काण्डत्रयक्रमेणायं निबन्धः परिकीर्तितः ।
ग्रन्थकारेण ग्रन्थेऽस्मिन् स्वस्मिन् गुर्वागमः स्फुटम् ॥ ५५ ॥

इत्येवं वाक्यकाण्डस्य प्रमेयविषया स्फुटम् ।
सङ्गतिः कीर्तिता लघ्वी समासेन निराकुला ॥ ५६ ॥
विद्वज्जनानां (   ) यः खलु सर्वत्र गीयते जगति ।
तत उपसृत्य विरचिता राजानकशूरवर्मनाम्ना वै ॥ ५७ ॥

शशाङ्कशिष्याच्छ्रुत्वैतद्वाक्यकाण्डं समासतः ।
पुण्यराजेन तस्योक्ता सङ्गतिः कारिकाश्रिता ॥ ५८ ॥
गुरवे भर्तृहरये शब्दब्रह्मविदे नमः ।
सर्वसिद्धान्तसन्दोहसारामृतमयाय च ॥ ५९ ॥

परिशिष्टम्—२.

वाक्यपदीयस्य तृतीयं पदकाण्डं प्रकीर्णकाण्डं वातिविस्तृतम्। तस्य दिङ्मात्रविषयावबोधाय तत्रत्यसमुद्देशानां नामानि कारिकासंख्याश्चात्र निर्दिश्यन्ते

१. जातिसमुद्देशः ... १०६ कारिकाः
२. द्रव्यसमुद्देशः ... १८ ,,
३. सम्बन्धसमुद्देशः ... ८८ ,,
४. भूयोद्रव्यसमुद्देशः ... ३ ,,
५. गुणसमुद्देशः ... ९ ,,
६. दिक्समुद्देशः ... २८ ,,
७. साधनसमुद्देशः ... १६७ ,,
८. क्रियासमुद्देशः ... ६४ ,,
९. कालसमुद्देशः ... ११४ ,,
१०. पुरुषसमुद्देशः ... ९ ,,
११. संख्यासमुद्देशः ... ३२ ,,
१२. उपग्रहसमुद्देशः ... २७ ,,
१३. लिङ्गसमुद्देशः ... ३१ ,,
१४. वृत्तिसमुद्देशः ... ६२७ ,,

एतद्योगेन कारिकासंख्या १३२३ कारिकाः।

अत्रायं समुद्देशसंग्रहः—

जातिर्द्रव्यं च सम्बन्धो भूयोद्रव्यं गुणस्तथा।
दिक् साधनं क्रिया कालः पुरुषो दशमः स्मृतः।
संख्या चोपग्रहो लिङ्गं वृत्तिः पुनरिति स्मृता॥

इतः परमपि पुण्यराजटीकायां "लक्षणसमुद्देशः" "उपमासमुद्देशः" चेति-द्वयोरन्ययोः समुद्देशयोरुल्लेखः प्राप्यते। तयोर्लक्षणसमुद्देशः पुण्यराजसमये-ऽप्यनुपलब्धमासीत्। उपमासमुद्देशश्चापि नाद्यत्व उपलभ्यते।

□

परिशिष्टम्–३.

वाक्यपदीय-ब्रह्मकाण्डे कारिकासु प्रतिमायां वा प्रयुक्तानां केषाञ्चिद्विशिष्टानां शब्दानां सार्था सूची ।

अनवस्थितम्–असमाप्तम्, प्रवर्तमानम् ।

अनुकारः–अनुकृतिः, अनुकरणम् । तदाकारेण ग्रहणम्, प्रत्यवभासनम् ।

अनुतन्त्रम्–तन्त्रं शास्त्रम्, तदनु । मुख्यशास्त्रस्य पूरकम् । कात्यायनस्य वार्तिकानि ।

अन्तःकरणतत्त्वम्–मनो-बुद्ध्यहङ्काराणां तत्त्वम् । ज्ञानम् । बाह्यवस्तूनामन्तर्बोधः ।

अपभ्रंशः–प्रकृतेरपगमनम् । अन्यविवक्षायां प्रयुक्तोऽन्यतरः शब्दः ।

अपवर्गः–मोक्षः । कर्म-संसार-बन्धनात्पूर्णा मुक्तिः ।

अपोद्धारः–विभागः । प्रकृति-प्रत्ययविभागः । अपोद्धृता प्रकृतिः प्रत्ययो वा ।

अभिख्या–ज्ञानम् । ख्यापनं वर्णनं च ।

अभिधेयम्–वाच्योऽर्थः ।

अभिव्यक्तिः–प्रकटनम् । व्यक्तीभावः । उत्पत्तिः ।

अर्थक्रिया–पदार्थानामुत्पत्तिस्थित्यादयः ।

अर्थजातिः–पदार्थेषु सामान्येनानुगतम् एकविधवस्तुषु यत्सामान्येनोपलभ्यते ।

अर्थप्रवृत्तितत्त्वम्–अर्थेषु शब्दप्रवृत्तेस्तत्त्वम् । सा च विवक्षा । विवक्षायामर्थस्य सत्त्वमसत्त्वं वा नापेक्ष्यते ।

अर्थवादः–अर्थार्थः प्रयोजनार्थो वा वादः । वेदे विधेर्निषेधस्य च परोक्षकथनम् ।

अलातचक्रम्–उल्मुकभ्रामणेनोद्भूतमग्निरेखावलयम् । तत्रावस्तुन्यपि वस्त्वाकार-निरूपणा भवति ।

अवग्रहः–बोधः । ज्ञानम् । प्रत्यवभासः ।

अवधारणम्–निश्चयः ।

अविभागः–विभागाभावः । प्रकृति-प्रत्यययोरविभक्ता स्थितिः । शब्दब्रह्मणः संवर्तावस्था ।

अविवक्षा–वक्तुमनीहा । वेदादिवाक्येषु सतोऽप्यर्थस्यानुपादानम् । तर्कस्य प्रकारः ।

आकृतिः–आकारः । सर्वानुगताकारः । एकविधव्यक्तिषु यत्सामान्येनानुगतम् । "अनुगताकारा या बुद्धिस्तस्यां प्रतिभासमानस्तदाकारोऽर्थरूपतयावसीयमान-वपुर्दृश्यविकल्पयोरभेदाध्यवसायात् सामान्यमाहुः". (हेलाराजः) ।

आगमः–वेदाः । स्मृतयः । शास्त्राणि । परम्परा । अविच्छिन्न-परम्परा ।

आण्डभावः–अण्डे भवो रसः आण्डः, तस्य भावः । सर्वावयवोत्पादनसामर्थ्येऽपि, अनवयवत्वम् ।

आम्नायः–वेदाः ।

आम्नातम्–वेदाद्याधारेण पौनःपुन्येन कथितम् ।
आवृत्तिः–पुनरुच्चारणम् ।
आसन्नम्–निकटम् । साक्षादुपकारि । उपकारविशेषकृता ह्यासत्तिः समाख्याता । (हरिवृषभवृत्तिः)
इतिकर्तव्यता–एवं कर्तव्यमिति बुद्धिः ।
उपप्लवः–उच्छलनम् । अपगमनम् । भ्रान्तिः । अन्यथाग्रहणम् ।
उपलक्षणम्–चिह्नम्, सङ्केतः । लक्ष्यवृत्तित्वे सति लक्ष्येतरवृत्तित्वम् ।
उपलब्धिः–प्राप्तिः । ज्ञानम् ।
उपादानम् (शब्दः)–उपादीयतेऽर्थः, स्वस्वरूपेऽध्यारोप्यते येन सः ।
उपादानम् (कारणम्)–उपादीयते कार्यं यत् तत् । यथा घटे मृत् ।
उपांशुः–परैरश्रवणीयं वचनम् ।
कम्पः–धात्वादीनामभिघातकृतमावर्तिचलनम् (Vibration) ।
करणम्–उच्चारणोपकरणम् । जिह्वा ।
करणम्–तृतीयं कारकम् । साधनम् ।
करणविन्यासः–उच्चारणकरणनामुच्चारणे विनियोगः ।
कला–शक्तिः । विद्याभेदः । भागः । षोडशो भागः ।
क्रतुः–बुद्धिः । क्रतुरिति शास्त्रान्तरे बुद्धिरुक्ता । शब्दोऽप्यर्थानतिक्रामतीति क्रतुः । यज्ञः । यज्ञपुरुषः ।
गुणः–विशेषणम् । भेदकः । अप्रकृष्टः प्रकर्षहेतुः ।
चितिः–चैतन्यम् । सज्ञा । संवेदनम् ।
चित्–चितिवद् ।
चैतन्यम् चितिवद् ।
छन्दस्यः–छन्दसां समूहः, वेदमन्त्रसमूहः । छन्दसे हितम् । छन्दसि साधुः ।
जातिः–सामान्यानुगतम् । सर्वव्यक्तिष्वनुगतम् । आकृतिग्रहणा जातिः (महाभाष्यम्) ।
तन्त्रम्–शास्त्रम् । एकस्यैव शब्दस्योभयार्थता । शब्दावृत्तिरनेकार्थोपपत्तये ।
तर्कः–वाक्यार्थनिर्णयायाविवक्षादिन्यायाश्रयणम् । वाक्यार्थोपघातकस्तु शुष्कतर्कः ।
द्रव्यम्–पृथिव्यादीनि नव द्रव्याणि । आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि । द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् । (वा० प० ३।२।१)
धर्मः–स्वभावः । वस्तुनो नित्यगुणः । आगमबोधितो व्यवहारः ।
ध्वनिः–शब्दः । शब्दगुणः । स्फोटाभिव्यञ्जकः । श्रावणप्रत्यक्षे प्रतीयमानः । नादः ।
नादः–ध्वनिवत् ।
निबन्धनः, निबन्धनी, निबन्धनम्–कारणम्, स्थितिहेतुः ।
न्यायः–नियमः । निर्णयः । निर्णयसाधिका युक्तिः ।

पदम्–शब्दः । पद्यतेऽनेनार्थः, सुप्तिङन्तं पदम् (प० अ० १।४।१४) । स्थानम् । आस्पदम् ।

पदार्थः–वस्तु । पदस्यार्थः। द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाभावाः सप्त पदार्थाः ।

परमात्रा–परस्य शक्तिः । परशक्त्यनुगृहीतः । परस्य जीवादतिरिक्तस्य परात्मनो मात्रा ।

परिणामः–परिणतिः । फलम् । निष्पत्तिः । सतात्त्विकोऽन्यथाभावः । उपादान-समसत्ताककार्यापत्तिः ।

पश्यन्ती–एतन्नामिका वाणी । अविभागा तु पश्यन्ती, सर्वतः संहृतक्रमा । स्वरूप-ज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी ।

प्रकर्षः–उत्तमता । श्रेष्ठता । भेदकता ।

प्रतिपादकः–शब्दप्रकारः, अन्वाख्येयानां प्रयोगार्हाणां साधूनां शब्दानामुपायभूता भू-तृ-अतीत्यादयः । (हरिवृषभवृत्तिः)

प्रतिभा–बुद्धिः । बुद्धेर्धर्मविशेषः । प्रतिभा सर्वप्राणिसंवेद्या सकलव्यवहारमूलभूता अनपह्नवनीया (पुण्यराजः) । विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते । "वाक्यार्थं इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम् ।" (वा० प० २।१४३) । सा च षड्विधा ।

प्राकृतः–ध्वनिभेदः । शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते । (संग्रहः) प्रकृतौ भवः प्राकृतः, अपभ्रंशपर्यायः ।

बीजम्–मूलकारणम् । बीजाद्धि सारोहप्ररोहः वृक्षः प्रभवति । तथैव यद्भवति तत् बीजम् । अन्तःस्थिता शक्तिः ।

भावः–पदार्थः । क्रिया । मनोवृत्तिः । अभिप्रायः ।

भेदानुकारः–भेदेन ग्रहणम् । ज्ञानस्यैक्येऽपि ज्ञेयवस्तुभेदे ज्ञानभेदः ।

मध्यमा–एतन्नामिका वाणी । केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी । प्राण-वृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते । मध्यमावृत्तिः, वैकृतध्वनिभेदः, द्रुता मध्यमा विलम्बिता, एतास्वेका ।

मात्रा–शक्तिः । परिमितवस्तुभागः ।

मूर्तिव्यापारदर्शनम्–मूर्त्या (आकारस्य) क्रियायाश्च दर्शनम्, अनुभवः (हरि-वृषभवृत्तिः) ।

योग्यता–शक्तिः । स्वाभाविकी शक्तिः ।

लक्षणम्–चिह्नम् । सङ्केतः । पणिनिसूत्राणि । उपलक्षणार्थः ।

लिङ्गम्–चिह्नम् । ज्ञापकम् । हेतुः । स्त्रीत्व-पुंस्त्वबोधकम् ।

लैङ्गिकी–लिङ्गसम्बन्धिनी ।

विकारः–विकृतिः । अवस्थान्तरम् परिणामः । विवर्तः । जन्मादयः षडवस्थाः ।

विभागः (प्रविभागः)–प्रकृति-प्रत्यययोर्विभक्तावस्था । विभागकरणम् । शब्द-ब्रह्मणो विवर्तावस्था । विवर्तः । प्रबोधावस्था ।

विवर्तः–अतात्त्विको अन्यथाभावः। एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्य-विभक्तान्यरूपोपग्राहिता।

विवेकः (प्रविवेकः)–पृथङ्निरूपणम्। विविच्य ग्रहणम्। ज्ञानम्।

वृत्तिः–वर्तनम्। स्थितिः। सत्ता। शब्दशक्तिः। वृत्तिराविर्भावतिरोभावौ शब्दस्य। (हरिवृषभवृत्तौ) कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपा पञ्चवृत्तयः, परार्थाभिधानं वृत्तिः (सिद्धान्तकौमुदी)। वृत्तिः प्रवृत्तिः (पुण्यराजः)। का पुनः वृत्तिः? शास्त्रप्रवृत्तिः (महाभाष्यम्)। द्रुतादयो वृत्तयः।

वेदः–तन्नाम्ना प्रसिद्धो ब्रह्मराशिः। शब्दब्रह्मणोऽनुकारः। प्रणवस्वरूपः। ज्ञानम्।

वैकृतः–विकृतिसम्बन्धी। न प्राकृतः। मूर्ति-क्रिया-विवर्तात्मकं जगत्। वैकृतः ध्वनिभेदः द्रुतादिरूपः।

वैखरी–परश्रवणयोग्या वाणी। स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना।

व्यक्तिः–जात्याश्रयीभूता व्यक्तयः। व्यक्तीकरणम्। प्रकटनम्। आविर्भावः।

व्यञ्जकः–बोधकः। ध्वनिः, स्फोटव्यञ्जकत्वात्। शब्दः, अर्थव्यञ्जकत्वात्। वाचक-लक्षक-व्यञ्जकानामेकतमः।

व्यवच्छिन्नः–भिन्नः। विशेषणविशिष्टः त्रुटितः। सातत्येन न वर्तमानः।

शक्तिः–योग्यता। ऊर्जः। बलम्।

शब्दः–ध्वनिः। स्फोटः। अर्थबोधकः वाणी। येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुद-खुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, सः शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः। स्फोटः शब्दः, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते। श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाश-देशः शब्दः (महाभाष्यम्) द्वौ शब्दौ, एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते। (वा० प० १।४४)।

शब्दतत्त्वम्–शब्दस्य तत्त्वम्। शब्दब्रह्म। शब्दात्मा। वागात्मा। वाक्तत्त्वम् स्फोटः। अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वा० प० १।१)।

शब्दधर्मः–शब्दस्य धर्मः। ग्राह्यत्वम्, ग्राहकत्वं च। श्रवणीयत्वम्, अर्थबोधकत्वं च। ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा। तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते। भेदेनावगृहीतौ द्वौ शब्दधर्मावपोद्धृतौ। भेदकार्येषु हेतुत्वम-विरोधेन गच्छतः॥ (वा० प० १।५५,५८)।

शब्दशक्तिः–शब्दस्य योग्यता। शब्दसामर्थ्यम्। ते च द्वे–श्रवणीयता बोधकता च शब्दस्य श्रुत्यर्थशक्ती प्रसिद्धे। पुनश्च तास्तिस्रः अभिधा लक्षणा व्यञ्जना च।

शब्दसंस्कारः–शब्दस्य संस्कारः। शब्दसिद्धिः। व्याकरण-प्रक्रिया-सिद्धा प्रयोगावस्था। अपभ्रंशानामपाकरणम्। तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः। तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते॥ (वा० प० १।१३१)।

शब्दार्थसम्बन्धः–शब्दस्यार्थस्य च परस्परं सम्बन्धः, बोध्यबोधकरूपः। स च नित्यः। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे (वार्तिककृत्) नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः। (वा० प० १।२३)।

शिष्टः–सभ्यः, अनुशासितः। शास्त्रज्ञः, व्यवहारज्ञः। वैयाकरणः। शिष्टाः वैयाकरणाः, शास्त्रपूर्विका हि शिष्टिः, वैयाकरणाश्च शास्त्रज्ञाः। (महाभाष्यम्)। न शिष्टैरनुगम्यन्ते पर्याया इव साधवः। (वा० प० १।१५०)।

श्रुतिः–वेदः। शब्दः। श्रवणम्। कर्णः।

संग्रहः (कारः)–व्याडिकृतो लक्षश्लोकात्मको ग्रन्थः। वैयाकरणानां श्रद्धास्पदमपि अनुपलब्धोऽयं ग्रन्थः। अस्य कतिचिच्छ्लोकाः हरिवृषभवृत्तौ समुपलभ्यन्ते। "संग्रहे एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति इत्युक्त्या भाष्येऽपि स्मृतोऽयं ग्रन्थः। अस्य कर्ता—संग्रहकारः, व्याडिः।

समयः–कालः, पणः, परस्परं निश्चतोऽर्थः, परम्परया विश्चितोऽर्थः।

सायुज्यम्–योगः, तादात्म्यम्, सिद्धिप्रकारः।

सिद्धिः–सिद्धावस्था। साधनम्। साधनप्रकारः। सफलता। प्राप्तिः।

सोढत्वम्–बुद्धिसहत्वम्। बुद्धिगम्यत्वम् स्मृतिविषयत्वम्। एकस्याः स्मृतिबुद्धेविषयभावः। बुद्धावेकस्य यद्रूपमारोहति तत्।

स्फोटः–बुद्धिस्थः शब्दः, उच्चार्यमाणध्वनीनां कारणम्। स्फोटः शब्दः, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायते (महाभाष्यम्), स च जाति-व्यक्तिभेदेन, वर्णपदवाक्यभेदेन, सखण्डाखण्डभेदेनाष्टधा जायते। स्फुटत्यनेनार्थः सः स्फोटः। अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृतः। (वा० प० १।९३)। शब्दानित्यत्ववादिनां तु संयोग-विभागजन्यो विस्फोटः स्फोटः। यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते, सः स्फोटः··· । (वा० प० १।१०२)।

स्मृतिः–स्मरणम्। मन्वादिस्मृतयः। शास्त्राणि। यथा –व्याकरणस्मृतिः (वा० प० १।१४१)

स्वमात्रा–आत्मनो व्यवहर्तुं पुरुषस्य मात्रा स्वमात्रा। जगदिदं व्यवहर्तुं पुरुषस्य जीवात्मनः स्वस्वरूपमिति स्वमात्रावादः। अयमेव परमात्मसम्बन्धेन परमात्रावादः।

हेतुवादः–अनुमानम्। कार्यमात्रे हेतोरन्वेषणम्। तर्कः।

परिशिष्टम्–४.

कारिकानुक्रमणिका

लेखक परिचय

आचार्यजी का जन्म देवतात्मा हिमालय के अङ्क में बसे, भागीरथीअलकनन्दा के तट पर अवस्थित देवप्रयाग नगर (गढ़वाल, उ. प्र.) में ७ सितम्बर, १९३४ ई. में हुआ। आपकी 'मध्यमा' तक की शिक्षा देवप्रयाग में ही सम्पन्न हुई, तदनन्तर वाराणसी में नव्यव्याकरणाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। लगभग तीन वर्ष तक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के 'फेलो' रहे और पुराण आदि विविध विषयों पर अनुसन्धानकार्य करते रहे। आपने सनातन धर्म-संस्कृत-महाविद्यालय, जालन्धर (पंजाब) के प्रधानाचार्य पद पर कार्य किया। सम्प्रति आप हरियाणा शिक्षा-विभाग में प्राध्यापक के रूप में कार्यरत हैं। व्याकरण के विद्वान् होते हुए भारतीय-दर्शन तथा गणितज्योतिष में भी आपकी गहरी रुचि है। इन विषयों में भी आप विविध अनुसन्धानकार्यों में संलग्न हैं। हिन्दी एवं अंग्रेजी साहित्य का भी आपका गहन अध्ययन है। शास्त्राध्ययन ही आपके जीवन का लक्ष्य है। आपकी समसामयिक वार्ताओं का प्रसारण आकाशवाणी जालन्धर से समय-समय पर होता रहता है।

आपकी रचनाओं में प्रमुख हैं-

१. नागेशः (नाटक)
३. नारी (खण्डकाव्य)
२. कवितोद्वाहः (नाटक)
४. मध्यसिद्धान्तकौमुदी (संस्कृत-टीका)
५.गणित-ज्योतिष पर गवेषणात्मक प्रबन्ध (कार्यरत)
६.वाक्यपदीय-द्वितीय-तृतीयकाण्ड की प्रतिभा (कार्यरत)

इसके अतिरिक्त आप हिन्दी-संस्कृत लेख-प्रबन्ध-कविता-प्रहसन आदि यथारुचि लिखते रहते हैं, जो यथावसर पत्र-पत्रिका,समाचारपत्र, आकाशवाणी आदि के माध्यम से सर्वजनहिताय प्रकाशित-प्रचारित होती रहती हैं।

प्रस्तुत वाक्यपदीय-प्रतिभा आचार्यजी की प्रतिभा का प्रमाण आपके समक्ष है। इसमें परम्परा से हटकर आपने वाक्यपदीय के अध्ययन मे एक नई दिशा प्रदान की है। चित्रों की सहायता से विषय की जटिलता को अत्यन्त सरल बना दिया गया है। आज तक जो विषय केवल बुद्धिगम्य थे, इसमें दृष्टिगम्य बना दिये गये हैं। वाक्यपदीय में विशेषतः ब्रह्मकाण्ड में दर्शन और भाषाविज्ञान दोनो के गूढ़ रहस्य छुपे हैं। प्रस्तुत संस्करण में प्रतिभाकार की प्रतिभा ने नवीनतम अवधारणाओं का समन्वय करते हुए, इन रहस्यों का उद्घाटक किया है।

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
गोलघर (मैदागिन) के पास,
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, वाराणसी - २२१००१ (भारत)
फोन: २३३३४५८ (आफिस), २३३४०३२ एवं २३३५०२० (आवास)

Cover Design by Pratyush Chatterjee